UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182730

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—902—26-3-70—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H801.9 S53A Accession No. P.G. H4178

Author शर्मा, मक्खनलाल

Title आधुनिक हिन्दी आलोचना : स

This book should be returned on or before the date last marked below

# आधुनिक हिन्दी आलोचना : एक अध्ययन

[आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

डॉ० मक्खनलाल शर्मा

एम० ए० ( हिन्दी, अंग्रेजी )

पी-एच० डी०

प्रकाशक

साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली

**मूल्य** : बीस रुपये।

**प्रकाशक** : साहित्य प्रकाशन

१४५८ मालीवाड़ा दिल्ली।

प्रगतिशील प्रकाशन

कटरा खुशहालराय, दिल्ली

**मुद्रक** : शोभा प्रिण्टर्स, मॉडलबस्ती, नई दिल्ली।

परम श्रद्धेय गुरुवर !

(पं० जगन्नाथ तिवारी, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृत-विभाग, जम्मू एवं काश्मीर विश्वविद्यालय, जिनके निर्देशन में यह शोध-प्रबन्ध लिखा गया।)

आपके

समर्पण योग्य तो यह बन नहीं पाया,

फिर भी आपकी स्नेह-शीलता का

बल मुझे प्रेरित करता है।

क्षमा-प्रार्थना सहित—

—मक्खनलाल शर्मा

# भूमिका

हिन्दी साहित्य में आज तक समीक्षा ही सर्वाधिक मात्रा में लिखी गयी है अतः आज उसके मूल्यांकन तथा उस पर पड़े हुए प्रभावों आदि का वैज्ञानिक विवेचन आवश्यक हो गया है। इस शोध-प्रबन्ध में समीक्षा में विकसित होने वाले प्रगतिशील तत्त्वों का क्रमिक विकास तथा प्रगतिशील दृष्टि से हिन्दी समीक्षकों एवं उनकी समीक्षाओं को देखने का प्रयास किया गया है। हिन्दी समीक्षा में आज प्रगतिशीलता के दर्शन हो रहे हैं वह कोई बाह्य प्रभाव मात्र नहीं है और न उसका मूल्यांकन किसी युग या युगीन परिवेश में व्याप्त कारण-विशेष उद्‌घाटन द्वारा किया जा सकता है। आज तक की प्रगतिवादी समीक्षा पर यह आरोप लगाया गया है कि उसमें या तो सिद्धान्तों को यांत्रिक पद्धति से लागू किया गया है अथवा भारतीय सांस्कृतिक परम्परा तथा परिवेश का ध्यान रखे बिना ही मूल्यांकन कर दिया गया है। इसमें सत्यांश है। अतः वस्तुपरक दृष्टिकोण को इन आग्रहों से मुक्त करके समग्र हिन्दी समीक्षा को उसके बहिर्तर रूपों में चलने वाली प्रवृत्तियों, समस्त परिवेशात्मक परिस्थितियों तथा भारतीय साहित्य एवं सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर देखा और परखा गया है। इस विवेचन में कुछ समीक्षा-युगों के पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न सामने आया है जैसे द्विवेदी-युग का तथा समीक्षा-इतिहास में व्याप्त अनेक प्रश्नों पर नया प्रकाश पड़ा है। इस प्रबन्ध में मूल्यांकन की कसौटी पर विचार हो सका है और मैं अतिविनम्रता से इस मान्यता को हिन्दी के सुधी विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि आज भारतीय साहित्य तथा समीक्षा के अपने सीमित घेरे टूट चुके हैं और नित्य-प्रति ऐसी स्थिति आती जा रही है जिससे हम यह अधिकाधिक मात्रा में अनुभव करते जा रहे हैं कि एक विश्व-संस्कृति तथा सार्वदेशिक समीक्षा कसौटी की अनिवार्य आवश्यकता है। यह कसौटी न केवल वर्तमानकालीन साहित्य और कला की मीमांसा तथा मूल्यांकन करने में समर्थ हो वरन् भूत और भविष्य के प्रति भी अपने कर्तव्य को पूर्ण दृढ़ता एवं सफलता के साथ निभा सके। मुझे लगता है कि कोई प्रचलित वादी-मान्यता इस आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ नहीं है, इसलिए इसकी आवश्यकता और भी अधिक बढ़ जाती है तथा यह भी प्रतीत होता है कि ऐसी सर्वमान्य कसौटी उन सभी तत्त्वों को स्वीकार करके चलेगी

जो शाश्वत हैं, चाहे वे भारतीय हों या अन्य देशी और इसका आधार रहेगी भारतीय काव्यशास्त्र की वह यशस्वी परम्परा जो अपनी सीमाओं में रहते हुए भी आज सर्व-मान्यता प्राप्त कर सकती है।

प्रस्तुत ग्रंथ पी-एच० डी० के शोध-प्रबन्ध (आधुनिक हिन्दी आलोचना पर मार्क्सवाद का प्रभाव) का यत्र-तत्र परिवर्तित रूप है। लेखन और प्रकाशन के बीच करीब चार वर्ष का अन्तराल पड़ गया, अतः परिवर्तन और संशोधन का औचित्य स्पष्ट है।

वी ३०८, राजौरी गार्डन,
नई दिल्ली-२७.

मक्खनलाल शर्मा

# विषय-सूची

## अध्याय १

मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धान्त ... ... ... १—४२

द्वन्द्ववाद—भौतिकवाद—द्वन्द्वात्मक विकास तथा अन्तर्विरोध —यांत्रिक—भौतिकवाद बनाम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—आदर्शवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—ऐतिहासिक भौतिकवाद—समाज, उत्पादन और विनिमय—वर्ग-संघर्ष—मार्क्सवाद और साहित्य।

## अध्याय २

रूस में क्रान्ति से पूर्व आलोचना का रूप ... ... ४३—१००

(अ) मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का रूस तथा अन्य भारततर देशों की आलोचना में प्रयोग। प्राचीनकालीन रूसी आलोचना—क्रान्तिपूर्व ब्रेलिन्स्की—द्रोब्रोल्युबोव—हर्जन—प्लेखानव। रूस की क्रान्ति के पश्चात् आलोचना का स्वरूप—लेनिन—गोर्की—चर्नीशेव्स्की।

(आ) वर्तमान रूसी अलोचना।

(इ) वर्तमान चीनी आलोचना।

(ई) अन्य देशों में मार्क्सवादी आलोचना की पूर्वावस्था
अन्य देशों में मार्क्सवादी आलोचना की उत्तरावस्था।

## अध्याय ३

हिन्दी आलोचना का विकास और उसमें मार्क्सवादी आलोचना की पृष्ठ-भूमि—सामान्य परिस्थितियाँ ...१०१—१५०

(अ) भारतेन्दु-युग—नारी के प्रति दृष्टिकोण—हिन्दू-मुस्लिम एकता—साहित्य, राजनीति और इतिहास के प्रति दृष्टिकोण —अर्थाधारित यथार्थवादी दृष्टिकोण—समीक्षा-सिद्धान्त—व्यंग्य-समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग—युग तथा समीक्षा की सामान्य विशेषताएँ।

(आ) द्विवेदी युग—युग तथा समीक्षा की सामान्य विशेषताएँ—समीक्षा में प्रगतिशीलता तथा यथार्थवादी तत्त्व—समीक्षा में अन्तर्भूत कुछ अन्य मार्क्सवादी तत्त्व।

## अध्याय ४

हिन्दी आलोचना पर मार्क्सवाद का प्रच्छन्न प्रभाव—सामान्य परिस्थितियाँ तथा समीक्षा ... ...१५१—२७८

(अ) छायावाद-युगीन आलोचना के सूत्र—छायावादी आलोचना का मार्क्सवादी आधार—छायावादी आलोचना में वर्गसंघर्ष

—छायावादीसमीक्षा और द्वन्द्ववाद—छायावादी आलोचना में धर्म और राजनीति छायावादी आलोचना में यथार्थवाद —छायावादी आलोचना का मानवतावादी दृष्टिकोण— छायावादी आलोचना और नारी—छायावादी आलोचना और लोकजीवन—छायावादी आलोचना में अन्य प्रगतिशील तत्त्व—निष्कर्ष ।

(आ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना और मार्क्सवाद— भौतिकवादी दृष्टिकोण—लोकसंग्रह भाव—शुक्लजी की समालोचना और जन-जीवन—चमत्कार-विरोध—गांधीवाद का विरोध—अन्य प्रगतिशील तत्त्व ।

(इ) प्रेमचन्द की विचारधारा—प्रेमचन्द और मार्क्सवाद— आदर्शोन्मुख यथार्थवाद—अन्य प्रगतिशील तत्त्व ।

(ई) अन्य वर्तमानकालीन हिन्दी आलोचक—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—डा० द्विवेदी तथा मार्क्सवाद—साहित्येतिहास सम्बन्धी दृष्टि—प्रगतिशील आलोचक—मानवतावाद— लोकदृष्टि—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—डा० नगेन्द्र— बा० गुलाबराय—शान्तिप्रिय द्विवेदी—डा० विनयमोहन शर्मा—डा० सत्येन्द्र—निष्कर्ष ।

## अध्याय ५

हिन्दी आलोचना में मार्क्सवादी आलोचना का स्पष्ट तथा पूर्ण विकास...१७९—१७६

मार्क्सवादी आलोचना के विविध रूप तथा मान्यताएँ— शिवदानसिंह चौहान—प्रगतिवादी मान्यताएँ—यथार्थवादी मान्यताएँ—प्रगतिशीलता—ऐतिहासिक दृष्टिकोण— काव्य शास्त्रीय दृष्टिकोण—डा० रामविलास शर्मा—प्रगति-शीलता—सिद्धान्त पक्ष—काव्यशास्त्रीयता—डा० रांगेय राघव—काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण—ऐतिहासिक दृष्टिकोण —प्रगतिशील तत्त्व—ऐतिहासिक दृष्टि—डा० रांगेय राघव की देन—अमृतराय—मार्क्सवाद सिद्धान्त-पक्ष—साहित्य और जन-जीवन—समाजवादी यथार्थवाद—प्रकाशचन्द्र गुप्त— मार्क्सीय सिद्धान्त—प्रगतिशील दृष्टिकोण—अंचल— सिद्धान्त-पक्ष—जन-जीवन और साहित्य—अन्य प्रगतिशील तत्त्व—डा० नामवरसिंह—मन्मथनाथ गुप्त—निष्कर्ष ।

प्रयोगवादी आलोचना—अज्ञेय—धर्मवीर भारती—लक्ष्मी-कान्त वर्मा—डा० जगदीश गुप्त—निष्कर्ष ।

मनोविश्लेषणवादी आलोचना—सिद्धान्त—इलाचन्द जोशी —निष्कर्ष ।

## अध्याय ६

मार्क्सवादी आलोचना का मूल्यांकन तथा भविष्य ... ...१७७—१८८

परिशिष्ट—(१) हिन्दी पुस्तक-सूची—पत्र-पत्रिकाएँ १८९

(२) संस्कृत पुस्तक-सूची ४००

(३) अंग्रेजी पुस्तक-सूची—पत्र तथा पत्रिकाएँ ४०१

# अध्याय 1

## द्वन्द्ववाद

विरोधों की अन्विति में परिवर्तन-शक्ति निहित है, यह तथ्य प्राचीन यूनानी तथा भारतीय मनीषियों को ज्ञात था। इसका सबसे प्रबल प्रमाण स्वयं द्वन्द्व शब्द ही है। द्वन्द्ववाद के अंग्रेजी रूप डायलेक्टिक्स (Dialectics) का विकास ग्रीक के डायलेगो (Dialego) शब्द से माना गया है। इस शब्द के पीछे वार्तालाप (Discourse) एवं वादविवाद (Debate) का अर्थ निहित था [1]। उस समय इस प्रक्रिया द्वारा प्रत्येक वक्ता अपने विरोधी के कथन की असंगतियाँ दिखाकर सत्य का उद्घाटन करता था। ये विचारक यह पूर्ण विश्वास रखते थे कि वैचारिक क्षेत्र में अन्तर्विरोधों के प्रगट होने से सत्य का प्रत्यक्षीकरण सम्भव है [2]। ग्रीक दार्शनिक हैराक्लीट्स की मान्यता है कि प्रत्येक घटना का कारण द्वन्द्व है अतः द्वन्द्व को वे सभी पदार्थों का पिता या स्रोत ठहराते हैं [3]। इस युग में द्वन्द्व के सम्बन्ध में अनेक ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डाला गया था जो आज आकर पूर्ण रूप से सिद्ध हो सके हैं। इस मान्यतानुसार अन्तर्विरोध को कठोर तथा स्थिर नहीं माना गया है, वरन् उसे सापेक्ष ठहराया गया है। वे एक दूसरे से एक विशेष अर्थ में ही भिन्न होते हैं। कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें वे एक दूसरे के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। मध्य-युग में द्वन्द्ववादी विचारधारा के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं, अतः उसका अधिक विकास न हो सका। पूँजीवाद के अभ्युदय तथा सामन्तवाद के समापन-काल में इस द्वन्द्ववाद ने पुनः सिर उठाया। पन्द्रहवीं शताब्दी के विचारकों में एन० कुजान्स्की तथा सोलहवीं शताब्दी में जी० ब्रूनो आदि इसी श्रेणी के विचारक हुए हैं, जिन्होंने विरोधों के समन्वय की बात कही है। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में द्वन्द्ववाद की ओर विद्वानों का ध्यान इसलिए न जा सका कि इस युग में यांत्रिक-प्राकृतिक विज्ञान ने सबको अपनी ओर आकृष्ट किया। सभी अच्छे-अच्छे मस्तिष्क उस ओर लग गये, जिससे द्वन्द्ववाद का विकास रुक गया। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में तथा उन्नीसवीं

---

1. J. Stalin : Dialectical and Historical Materialism : Page 5.
2. M. Cornforth : Dialectical Materialism Vol. I Page 71.
3. Fundamentals of Marxism –Leninism : Page 92.

शताब्दी के आरम्भ में पुनः एक बार विद्वान इस ओर आकृष्ट हुए। इस काल में विशेष रूप से जर्मन दार्शनिकों का एक दल इस क्षेत्र में सक्रिय दृष्टिगोचर होता है। यह विचारधारा इतनी व्यापक सिद्ध हुई कि हेगेल ने तो इसे अपनी मान्यताओं का आधारभूत सिद्धान्त ही घोषित कर दिया तथा इस सिद्धान्त के अनुसार अपने अध्यात्मवाद की सिद्धि की। अध्यात्मवादी हेगेल ने यह माना कि विकास की पद्धति द्वन्द्व पर आधारित है। द्वन्द्व विरोधों में होता है। यह विरोध हेगेल की शब्दावली में अन्तर्विरोध (Contradiction) कहा गया है। इस अन्तर्विरोध में विरोधी तत्व एक पदार्थ में एक ही साथ प्रस्तुत रहते हैं। दार्शनिक क्षेत्र के अन्तर्विरोधों के आधार पर हेगेल ने ब्रह्म की सत्ता सिद्ध की।

हेगेल के इस द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को लेकर मार्क्स ने अपने भौतिकवाद की स्थापना की। मार्क्स ने द्वन्द्ववाद शब्द को तो ले लिया किन्तु हेगेल के साथ अपना भेद स्पष्ट करने के लिए उसने अपनी मान्यता को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) की संज्ञा दी। द्वन्द्ववाद विकास की प्रक्रिया है जिसके क्षेत्र में प्रत्येक पदार्थ, तत्व एवं स्थिति आती है। प्रत्येक पदार्थ, तत्व तथा स्थिति में विनाश और सृजन की क्रिया साथ-साथ होती है[1]। सृजन की इस प्रक्रिया को अग्रसर करने वाले तत्व कहीं बाहर से नहीं आते, वरन् उसी पदार्थ तथा तत्व में अन्तर्निहित रहते हैं। इन्हें तीन स्थितियों में विभाजित करके वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti Thesis) तथा समन्वय (Synthesis) कहा गया है। प्रत्येक पदार्थ में उसके भीतर एक संघर्ष चलता है। इस संघर्ष में जो तत्व उस वस्तु के स्वरूप के पोषक होते हैं, वाद कहलाते हैं, और जो उस वाद में से ही उनका विरोध करने लगते हैं प्रतिवाद कहलाते हैं। इस संघर्ष में जो तत्व ह्रासशील सिद्ध होते हैं, उनका नाश हो जाता है तथा इसके विपरीत जो विकासशील सिद्ध होते हैं, वे उस वस्तु को नया स्वरूप प्रदान करने में समर्थ सिद्ध होते हैं। इस प्रकार द्वन्द्व के द्वारा प्रत्येक वस्तु, तत्व तथा परिस्थिति का विकास प्रत्येक समय होता रहता है। यही विकास का ह्रासवत क्रम है जो चलता रहता है, चल रहा है, तथा भविष्य में भी चलता रहेगा[2]। इस सिद्धान्त का विवेचन करते हुए मार्क्स ने अपने को हेगेल का विरोधी कहा है। आज सभी मार्क्सवादी मानते हैं कि हेगेल जो सिर के बल खड़ा था उसे मार्क्स ने सीधा करके पैरों के बल खड़ा कर दिया है। इस कथन के पीछे भी यही तथ्य छिपा है कि जिस द्वन्द्ववाद

---

1. Development in its most general sense signifies that at any given movement a thing retains its identity and at the same time causes to retain it. Its definiteness remains, but at the same time it changes and becomes different. (*Ibid* : page 94).

2. A : F. Engels : Anti Duhring : page 476.
   B : Fundamentals of Marxism-Leninism : page 91-95.

के द्वारा हेगेल ने अध्यात्मवाद एवं ब्रह्म की पुष्टि की थी उसी के द्वारा मार्क्स ने उसका खण्डन करके भौतिकवाद की स्थापना की है।[1]

ऐंगिल्स ने द्वन्द्व का विवेचन करते हुए लिखा है कि इस सिद्धान्त की परीक्षा प्रकृति निरीक्षण द्वारा की जा सकती हैं। आज विज्ञान की अधुनातन शोधों द्वारा जो निष्कर्ष निकल रहे हैं तथा भविष्य में जो निकलेंगे उनके द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है तथा होती रहेगी। ऐंगिल्स ने यह भी माना है कि प्रकृति का विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से होता है, अन्य किसी पद्धति से नहीं[2]। प्रकृति द्वन्द्वात्मक पद्धति से कार्य करती हुई पुनरावर्तित वृत्त में घूमती रहती हो—ऐसा नहीं है, वरन् वह सदैव परिवर्तनशील रहती है। यह परिवर्तन उसे ऐतिहासिक विकास के क्रम में ले जाता है[3]।

ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में ऐंगिल्स डारविन के विकासवाद की नई देन को स्वीकार करते हुए अपनी मान्यता के समर्थन में प्रस्तुत करते हैं। द्वन्द्व को विश्व के विकास का तरीका मानते हुए प्रकृति को उसके सही रूप में समझने की पद्धति भी वे इसी द्वन्द्ववाद को ठहराते हैं। इस प्रणाली की विशेषताओं का अध्ययन करते हुए यह कहा जा सकता है कि जीवन-मृत्यु तथा प्रतिगामी-पुरोगामी पद्धतियों को वैज्ञानिक रूप से इस पद्धति द्वारा ही समझा जा सकता है। विकास-क्रम में जो अनेक प्रक्रियाएँ आती हैं उनका उचित समाधान इसी पद्धति से हो सकता है[4]। अन्य आदर्शवादी पद्धतियाँ इन सारे प्रश्नों का उत्तर ठीक प्रकार से नहीं दे पातीं। इस मान्यता की सिद्धि न केवल प्रकृति द्वारा होती है, वरन् विज्ञानों के नियमों द्वारा भी होती है। ऐंगिल्स ने गणित, रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भौतिकशास्त्र, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र की कसौटियों पर भी द्वन्द्ववाद को कसा है, और इस प्रकार सिद्ध किया है कि यह पद्धति अत्यन्त वैज्ञानिक तथा समाज के इतिहास को समझने में सहायक है।

---

1. My dialectical method is not only different from the Hegelian but is its direct opposite. (K. Marx : Preface to the Second German edition of volume I of Capital)
2. A—Dialectics, so called objectives, dialectics, prevails throughout nature. (Dialectics of nature : page 280)
   B—Nature is the proof of dialectics, and it must be said for modern science that it has furnished this proof with very rich materials increasing daily, and thus has shown that, in the last resort, Nature works dialectically and not metaphysically. (Karl Marx and F. Engels : Selected Works Volume II page 121).
3. *Ibid* : page 121.
4. *Ibid* : page 121.

द्वन्द्ववाद की सिद्धि विज्ञान द्वारा करते हुए एंगिल्स ने माना है कि जिस प्रकार एक वस्तु में दोनों ध्रुवों की सत्ता का दर्शन चुम्बक के द्वारा हो जाता है, वैसे ही प्रत्येक पदार्थ, तत्व तथा परिस्थिति में दोनों विरोधी शक्तियाँ निवास करती हैं। चुम्बकीय छड़ को यदि हम दो टुकड़ों में विभाजित कर दें, तब भी प्रत्येक टुकड़े में जिस प्रकार दोनों ध्रुवों की स्थिति वर्तमान रहती है, उसी प्रकार पदार्थ में हम चाहे जितने भीतर प्रवेश करते चले जायें, यह द्वन्द्व हमें सर्वत्र दिखाई देगा। यदि हम विद्युत, रसायन, जीव-विज्ञान आदि गहराइयों में प्रवेश करें और उनके परिवर्तन और विकास को देखें तो हमें द्वन्द्ववाद की इस मान्यता पर अधिकाधिक आधारित होना पड़ता है। वनस्पतियों और मानव-जीवन के विकास में यह नियम लागू होता है। वहाँ भी उत्तराधिकार में प्राप्त तथा परिस्थितियों द्वारा गृहीत शक्तियों में अनवरत संघर्ष दिखाई देता है।[1]

द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध में मार्क्स और एंगिल्स के मतों की व्याख्या करते हुए लेनिन ने भी एंगिल्स के समान द्वन्द्ववाद की कसौटी प्रकृति को ठहराया है। आज का विज्ञान ऐसी सामग्री जुटाने में समर्थ हुआ है जिसके आधार पर इस सिद्धान्त की अधिकाधिक सिद्धि सम्भव हो सकी है तथा भविष्य में विज्ञान द्वारा इसे और भी अधिक सिद्धि मिलेगी। प्रकृति के द्वारा पुष्ट यह द्वन्द्ववाद कसौटी पर खरा उतर चुका है। वे स्पष्ट लिखते हैं—

"द्वन्द्ववाद की कसौटी प्रकृति है और यह मानना होगा कि आधुनिक प्रकृति-विज्ञान ने इस कसौटी के लिए बहुत सी सामग्री और दिन पर दिन बढ़ने वाली सामग्री दी है। (रेडियम, इलैक्ट्रान और तत्वों के परिवर्तन की जानकारी के पहले यह लिखा गया था।) इस प्रकार प्रकृति-विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्ततोगत्वा प्रकृति की क्रियाएँ द्वन्द्ववादी हैं, न कि अतिभूतवादी।"[2]

---

1. Polarity begins with magnetism, it is exhibited in one and the same body; in the case of electricity it distributes itself over two or more bodies which become oppositely charged. All chemical processes reduce themselves to processes of chemical attraction and repulsion. Finally, in organic life the formation of the cell uncleus is likewise to be regarded as a polarization of the living protein material, and from the simple cell onwards the theory of evolution demonstrates how each—advance up to the most complicated plant on the one side, and upto man on the other, is effected by the continual conflict between heredity and adoptation. In this connection it becomes evident how little applicable to such forms of evolution are catagories like 'positive' and 'negative'. (F. Engels : Dialectics of Nature : p. 280)

2. व्ला० इ० लेनिन : मार्क्सवाद के विकास की कुछ विशेषताएँ : पृ० ३९।

आगे लेनिन ने इसी निबन्ध में ऐंगिल्स के मत के आधार पर सिद्ध किया है कि जगत् में कुछ भी स्थायी, शाश्वत तथा चिरन्तन नहीं है। सभी कुछ इसके विपरीत नाशवान, क्षणभंगुर, सापेक्षिक तथा विकासमान है। यदि कुछ शाश्वत है तो यह द्वन्द्व का सदैव चलने वाला क्रम ही है, जिसमें नीचे से ऊपर की ओर विकास होता रहता है। इस क्रम में कुछ घटनाएँ आकस्मिक लग सकती हैं किन्तु इस आकस्मिकता में भी एक क्रम और प्रगतिशील विकास मिलता है। अपनी इस मान्यता को पुष्ट करते हुए लेनिन ने लिखा है—

"इस क्रम में आकस्मिक सी लगने वाली घटनाओं के बावजूद, और अस्थायी प्रतिगमन होने पर भी, अंत में प्रगतिशील विकास अपने को प्रकट ही करता है।''' द्वन्द्वात्मक दर्शन के लिए कुछ भी अन्तिम, त्रिकालसत्य और पवित्र नहीं है। वह हर चीज में, और हर चीज की, क्षणभंगुरता का दर्शन कराता है। उसके सामने आवागमन के अबाध क्रम को छोड़कर, निम्न से ऊर्ध्व की ओर अविराम उन्नति को छोड़कर कुछ भी चिरन्तन नहीं है और द्वन्द्वात्मक दर्शन अपने में चिन्ताशील मस्तिष्क में इस क्रम के प्रतिबिम्ब मात्र के सिवा कुछ नहीं है। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार द्वन्द्ववाद बाह्य संसार और मानवीय चिन्तन दोनों की ही गति के साधारण नियमों का विज्ञान है।"[1]

मार्क्स द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के कितने व्यापक और गम्भीर परिणाम निकले जिनके द्वारा समाज, व्यक्ति, इतिहास तथा अन्य मान्यताओं में कितनी विविधता और नवीनता आ गई इसका सुन्दर विवेचन लेनिन ने किया है।[2]

---

1. व्ल.० ई० लेनिन : मार्क्सवाद के विकास की कुछ विशेषताएँ पृ० ३६-४०।
2. By examining the whole complex of opposing tendencies, by reducing them to precisely definable conditions of life and production of the various classes of society, by discarding subjectivism arbitrariness in the choice of various leading ideas or in their interpretation, and by disclosing that all ideas and all the various tendencies, without exception, have their roots in the condition of the material forces of production, Marxism pointed the way to an all embracing and comprehensive study of the process of rise development, and decline of social-economic formation. People make their own history. But what determines the motives of people, of the mass of people that is; what gives rise to the clash of conflicting ideas and strivings; what is sum-total of all these clashes of the whole mass of human societies; what are the objective conditions of production of material life and form the basis of all historical activity of man; what is the law of development of these conditions—to all this Marx drew attention and pointed out the way to a scientific study of history as a Uniform and law governed process in all its immense variety and contradictriness. ( Lenin: Marx-Engels-Marxism: page 28 ).

लेनिन ने द्वन्द्ववाद पर लिखे अपने निबन्ध में द्वन्द्व की परिभाषा, एकता का विभाजन तथा उसके परस्पर विरोधी अंगों की स्वीकृति को माना है।[1] इसके लिए विज्ञान की निम्न मान्यताएँ समर्थन में प्रस्तुत की गई हैं।[2]

| | |
|---|---|
| 1. गणितशास्त्र में— | +और—, भिन्नक तथा अनुकल। |
| 2. यांत्रिकी में— | क्रिया तथा प्रतिक्रिया। |
| 3. भौतिकशास्त्र में— | धनात्मक विद्युत तथा ऋणात्मक विद्युत। |
| 4. रसायनशास्त्र में— | परमाणुओं का संघटन तथा विघटन। |
| 5. समाजशास्त्र में— | वर्गसंघर्ष। |

द्वन्द्व (अन्तर्विरोधों) की स्थिति को स्वीकार करते हुए[3] लेनिन ने इसे विकास और क्रिया के समान शाश्वत माना है।[4] लेनिन के इस परम्परानुमोदित मत को स्टालिन ने भी स्वीकार किया तथा अपनी मान्यताएँ द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद (Dialectical and Historical Materialism) शीर्षक निबन्ध में लिखी कि यह पद्धति एक दृष्टिकोण है जिसे मार्क्स-लेनिनवादी संघ ने स्वीकार कर लिया है। इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसकी पद्धति, प्राकृतिक तत्वों तथा उनकी प्रक्रियाओं का अध्ययन करने की, द्वन्द्व पर आधारित है। यह भौतिकवादी इसलिए माना जाता है, क्योंकि इस पद्धति का दृष्टिकोण तथा व्याख्या भौतिकवादी मान्यताओं पर आधारित है।[5] मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए स्टालिन ने लिखा है :—

(1) द्वन्द्ववाद के अनुसार प्रकृति आकस्मिक रूप से अस्तित्व में नहीं आ गई है, और न उसके तत्व आपस में असम्बद्ध और निरक्षेप हैं, वरन् वे आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित, अन्योन्याश्रित, निरन्तर विकसित होने वाले तथा सापेक्षिक हैं। इस प्रकार द्वन्द्ववाद का यह सिद्धान्त भली प्रकार समझा देता है कि यदि प्रकृति के किसी एक तत्व को अलग से लेकर उसका विश्लेषण करना चाहें तो ऐसा करना सम्भव नहीं होगा। किसी भी तत्व को समझना उसके परिवेश में ही सम्भव है। यदि कोई तत्व प्रकृति की परिवेशात्मक स्थिति से अलग करके देखा जाये तो उसका कोई

---

1. *Ibid* : page 332.
2. *Ibid* : page 332.
3. A—*Ibid* : page 332-333.
   B—V.I. Lenin : Philosophical Note Books : page 263.
4. The unity (co-incidence, identity, resultant) of opposites is conditional, temporary, transitory, relative. The struggle of mutually exclusive opposites is absolute, just as development and motion are absolute. (V.I. Lenin : Marx, Engels, Marxism p. 333)
5. J. Stalin : Dialectical and Historical Materialism : p. 1.

मूल्य नहीं होगा, अतः परिवेश का मूल्य स्थापित करने वाला यह पहला सिद्धान्त है।[1]

(2) द्वन्द्ववाद के अनुसार प्रकृति स्तब्ध नहीं है और न वह निश्चल, स्थिर और नित्य है। वरन् उसमें निरन्तर गति और परिवर्तन होते रहते हैं। जिससे वह नित्य नवीन एवं विकसित होती रहती है। उसमें सदैव कुछ-न-कुछ नया उत्पन्न होकर अभिवृद्ध होता है और कुछ-न-कुछ सदैव ह्रासोन्मुखी होकर नष्ट होता रहता है। इसलिये द्वन्द्व-पद्धति के अनुसार यह आवश्यक हो जाता है कि इसे समझने के लिये केवल उसके भीतरी सम्बन्धों तथा अन्योन्याश्रयित्व तक ही हम सीमित न रह जायें, वरन् उनकी गति, विकास परिवर्तन तथा अस्तित्व में आने और अस्तित्वविहीन बनने पर भी दृष्टि रखनी पड़ती है। द्वन्द्ववाद के अनुसार वे तत्व महत्वपूर्ण नहीं हैं जो इस क्षण उपस्थित हैं, या जिनका ह्रास होना प्रारम्भ हो चुका है, इसकी अपेक्षा उनका अधिक महत्व है जो उदित हो रहे हैं या विकसित हो रहे हैं, चाहे इस समय वे स्थायी न प्रतीत हो रहे हों। ये उदित या विकसित होने वाले तत्व ही विजयी होंगे, अतः उनका मूल्य सर्वाधिक है।[2]

द्वन्द्ववाद की व्याख्या आज के वर्तमान मार्क्सवादी व्याख्याताओं ने भी की है। मौरिस कोर्नफोर्थ ने विरोधों की एकता और संघर्ष को ही द्वन्द्व का आधार माना है। ये विरोध बिना एक-दूसरे की सहायता के नहीं समझे जा सकते हैं।[3] वे द्वन्द्व को प्रकृति तथा समाज में सर्वत्र देखते हैं, जिससे विकास होता रहता है।[4] वस्तुओं के वास्तविक परिवर्तन और विकास के दर्शन की दृष्टि ही द्वन्द्ववाद है। यह पद्धति लोकतन्त्र के उदाहरण के साथ भली प्रकार समझाई गई है। लोकतन्त्र सम्बन्धी मान्यताओं में जिस प्रकार दृष्टिकोण सम्बन्धी विकास धीरे-धीरे और द्वन्द्व-पद्धति से हुआ है, ठीक उसी प्रकार सभी पदार्थों और जगत् का विकास भी हो रहा है[5] जो लोग इस द्वन्द्व में अलगाववादी प्रवृत्तियों के दर्शन करते हैं, उनके सन्देहों का निराकरण करके कोर्नफोर्थ महोदय ने स्पष्ट रूप से बताया है कि वस्तुएँ, तत्व, सम्बन्ध तथा पद्धतियाँ अलग-अलग रहने और चलने वाली नहीं हैं वरन् सर्वत्र विरोध-युग्म — मूल में विरोध ही स्थित होता है। विरोधी तत्व अलग न होकर उसी तत्व का एक अंग होता है जिसे उससे अलग भी नहीं किया जा सकता। अपनी मान्यता के समर्थन से हेगेल आदि के कथनों को प्रस्तुत करके इसकी सतर्क व्याख्या प्रस्तुत की गई है।[6]

---

1. *Ibid* : page 6.
2. *Ibid* : p. 7.
3. This unity of opposites—the fact that opposites cannot be understood in seperation one from another. (Maurice Cornforth: Dialectical Materialism Vol. I : p. 78.)
4. *Ibid* : p. 78-79.
5. *Ibid* : p. 69.
6. *Ibid* : p. 76.

माओत्सेतुंग प्रभृत्ति विचारकों ने भी इस प्रश्न पर अपने विचार प्रकट किए हैं। इन विचारों में कोई नवीनता तथा मौलिक भेद देखने को नहीं मिलता है। किसी-न-किसी प्रकार मार्क्स-एंगिल्स-लेनिन की विचारधारा ही प्रस्तुत की जाती रही है। अपने प्रसिद्ध निबन्ध में माओ ने इस सम्बन्ध में अपने विचार अत्यन्त स्पष्टता के साथ व्यक्त किये हैं—

"वैज्ञानिक अध्ययनों का वर्गीकरण ठीक उनकी विषय वस्तुओं में निहित विशिष्ट असंगतियों पर ही आधारित होता है। इस प्रकार एक खास किस्म की असंगति, जो किसी खास घटना-क्षेत्र की विशेषता होती है, विज्ञान की किसी विशेष शाखा की विषय-वस्तु बनती है। उदाहरणार्थ—गणित में धनात्मक तथा ऋणात्मक अंक, यात्रिकी में क्रिया और प्रतिक्रिया, भौतिकी में धनात्मक विद्युत और ऋणात्मक विद्युत, रसायन में बिबंधन और संयोजन, समाजशास्त्र में उत्पादन शक्तियाँ और उत्पादन के सम्बन्ध वर्ग और वर्गों के बीच संघर्ष, युद्ध विज्ञान में हमला और बचाव दर्शन में भाववाद और भौतिकवाद, अतिभूतवादी दृष्टिकोण और द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण, आदि—इन सबका भिन्न-भिन्न विज्ञानों के रूप में अध्ययन इसीलिए होता है कि इनमें से प्रत्येक एक विशेष असंगति तथा एक विशेष गुण होता है। इसमें सन्देह नहीं कि असंगति की सार्वभौमता को स्वीकार किये बिना हम वस्तुओं की गति के विकास के सार्वभौम कारण या सार्वभौम आधार का किसी तरह पता नहीं चला सकते जो अन्य वस्तुओं के गुणों से भिन्न होता है, वस्तुओं की गति के विकास के विशिष्ट कारण या विशिष्ट आधार का पता नहीं चला सकते, एक वस्तु से दूसरी वस्तु के अन्तर को नहीं पहचान सकते, और न ही वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्रों को निर्धारित कर सकते हैं।"[1]

द्वन्द्व में विपरीत तत्व समरूप हो जाते हैं। कुछ स्थितियाँ ऐसी भी आती हैं जिनमें वे एक दूसरे से बदल जाते हैं और उनका रूप सम हो जाता है। ये विपरीत तत्व सजीव, परिस्थितिबद्ध तथा परिवर्तनशील माने जाने चाहिएँ तथा द्वन्द्ववाद के अनुसार इनका अध्ययन इसी दृष्टिकोण से होना चाहिये। माओत्सेतुंग ने इस सम्बन्ध में अपना अभिमत स्पष्टता के साथ प्रकट किया है। द्वन्द्व के वैविध्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

"प्रत्येक प्रक्रिया में असंगतिपूर्ण पहलू एक दूसरे से पृथक् होते हैं। आपस में संघर्ष करते हैं और एक दूसरे के विरोधी होते हैं। ऐसे असंगतिपूर्ण पहलू बिना अपवाद के विश्व की सभी वस्तुओं की प्रक्रियाओं में तथा मानवीय चिंतन में निहित होते हैं। किसी साधारण प्रक्रिया में विपरीत तत्वों की केवल एक ही जोड़ी होती है, किन्तु किसी संश्लिष्ट प्रक्रिया में एक से अधिक जोड़ियाँ होती हैं। इसके अलावा, विपरीत तत्वों की विभिन्न जोड़ियों का आपस में विरोध होता है। इस तरह वस्तुगत

1. माओत्सेतुंग : माओत्सेतुंग—ग्रन्थावली : दूसरा भाग, पृ० १७।

जगत् में सभी वस्तुओं और मानवीय विचारों की रचना होती है और उन्हें गति के लिए प्रेरणा मिलती है।"[1]

विकास का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उसका कारण वस्तुओं के भीतर निहित होता है, कहीं बाहर उसकी खोज व्यर्थ है। इस विकास के अध्ययन में परिवेश पर दृष्टि रखना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु अपने परिप्रेक्ष्य से प्रभावित होती है तथा परिप्रेक्ष्य को प्रभावित करती है, अतः वस्तुओं के अध्ययन में इसका ध्यान रखना चाहिए।[2]

अमेरिका तथा पश्चिमी देशों में भी द्वन्द्ववाद पर विचार किया गया है। Hans Freistadt ने अपने एक लेख में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को गम्भीर, औचित्यपूर्ण तथा सही वैज्ञानिक दर्शन नहीं माना है। जो विद्वान इसे एक विश्वास मात्र कहकर छोड़ देना चाहते हैं, उनके अभिमत का मण्डन किया है उनकी मान्यता है[3]—

to show that contrary to allegations occasionally made, dialectical materialism is a serious, consistent and in my opinion correct philosophy of science and not a dogma imposed by politicians which know scholar worthy of the name can even discuss in its own terms.

इसका उत्तर देते हुए अलबर्ट ई० ब्लुमबर्ग (Albert E. Blumberg) ने अपने निबन्ध विज्ञान तथा द्वन्द्ववाद में उसके मत को अमार्क्सवादी माना है।[4] इस प्रकार आज भी द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ चल रही हैं, विद्वान विचार कर रहे हैं तथा सत्य को समझने की यह पद्धति भी कसौटी पर चढ़ी हुई है।

## भौतिकवाद

जगत् के रहस्यों का उद्घाटन और व्याख्या दार्शनिकों का प्रिय विषय रहा है। इस सम्बन्ध में सभी कालों, देशों तथा समुदायों में कुछ-न-कुछ प्रयत्न हुए हैं। प्राचीन काल से लेकर आज तक इस सम्बन्ध में अनेक मत निर्धारित हुए हैं। इनमें से दो को मुख्य माना जा सकता है। एक है, अध्यात्मवादियों का भाववाद, तथा दूसरा भौतिकवादियों का भूतवाद। अध्यात्मवादियों ने जगत् से परे सत्ता की स्थिति स्वीकार की तथा भौतिकवादियों ने जगत् को आधार माना। इतना ही नहीं अनेक भाववादी दार्शनिकों ने परोक्ष सत्ता तथा जगत् दोनों को स्वीकार किया। इस प्रकार अनेक सूक्ष्म अन्तरों, भेदों, प्रभेदों आदि के आधार पर असंख्य भाववादी दार्शनिक पद्धतियाँ

1. माओत्सेतुंग : माओत्सेतुंग—ग्रन्थावली—दूसरा भाग, पृ० ३६।
2. वही, पृ० ९।
3. Hans Freistadt: Dialectical Materialism: A Friedly Introduction published in the American Magazine namely "Philosphy of Science" April, 1956 Vol. 23 p. 97.
4. Science and Society : Vol. XXII No. 4 Fall-1958.

चलती रही हैं तथा चल रही हैं। भौतिकवादियों में भी अनेक दृष्टिकोण समय-समय पर विकसित होकर पनपते रहे हैं। जिस प्रकार भाववादी दार्शनिकों में शंकराचार्य का अद्वैतवाद चरम विकास है, उसी प्रकार भौतिकवादियों की चरम परिणिति कार्लमार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी में आकर हुई है।

भौतिकवाद की स्वरूप स्थापना करते हुए कार्लमार्क्स ने उसे अध्यात्मवाद का विरोधी माना है और बताया है कि भाववादी जगत् का आधार ब्रह्म (Idea) को स्वीकार करते हैं, जबकि भौतिकवाद किसी इस प्रकार की मान्यता को प्रश्रय न देकर यथार्थ जगत् को ही सत्य मानता है और उसके लिए भाववाद केवल यथार्थ जगत् की मानसिक परिणिति है।[1] मार्क्स इसको भौतिकवाद इसलिए कहना चाहते हैं कि प्रकृति तथा उसके तत्वों की व्याख्या, उनके प्रति दृष्टिकोण तथा उनका सिद्धान्त भौतिकवादी है।[2]

भौतिकवाद मार्क्स से पूर्व प्रचलित था। यदि भूतवाद के आदिम रूपों का अन्वेषण किया जाय तो वह हमें ग्रीक और भारतीय दर्शनों में ई० पू० शताब्दियों में मिल जाता है। मानव सभ्यता के सर्वप्रथम प्रामाणिक अवशेष वेदों में प्रकृति के विभिन्न रूपों का वर्णन उनके मूल में शक्ति का आरोप करके, किया गया है। आगे चलकर भौतिकवादी दृष्टिकोण योगशास्त्र में पल्लवित हुआ किन्तु वह अध्यात्मवाद से विलग न हो सका। उसमें जितना अंश शरीरशास्त्र से सम्बन्धित है (यही योग का आधार है) भौतिकवादी है, शेष आदर्शवादी। इन भौतिकवादी मान्यताओं का वैशेषिक-दर्शन में सम्यक् विकास हुआ। इस विचारधारा में जगत् को सत्य माना गया है और उसका आधार ईश्वर न होकर अणु (autom) है। असंख्य अणुओं के संयोग से जगत् का निर्माण मानकर इस दर्शन ने नये क्षेत्रों का सृजन किया। इन अणुओं में स्वयं संचालन शक्ति नहीं मानी जा सकी। अन्य अध्यात्मवादी दर्शनों की तरह इन अणुओं की संचालिका शक्ति ईश्वर को ही माना गया। मीमांसाकार ने एक कदम और आगे बढ़कर ब्रह्म से भी पीछा छुड़ा लिया—वह निरीश्वरवादी है, किन्तु कर्मकाण्ड और वेदों की अपौरुषेयता के रहते उसके दर्शन को भी भाववादी कहा जाता है।[3] महात्मा गौतम बुद्ध ने अनात्मवादी (अनीश्वरवादी) मान्यताओं को स्वीकार

---

1. To Hegel,.....the process of thinking, which under the name of 'the idea' he even transforms into an independent subject, is the demiurgos (Creator) of the real world, and the real world is only external, phenomenal form of 'the Idea'. With me on the contrary, the ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind, and translated into forms of thought; (K. Marx: Preface to the Second-German edition of volume I of capital )
2. J. Stalin: Dialectical and Historical Materialism : page 3.
3. डा० वि० ना० उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी-कविता : पृ० ३५२।

करके चली आती हुई परम्परा को धर्म का रूप दिया तथा शरीर, जगत्, दुःख आदि की व्याख्या करके सबकी दृष्टि भौतिकवाद की ओर उन्मुख की; किन्तु, आगे चलकर नागार्जुन आदि दार्शनिकों ने शून्यवाद और विज्ञानवाद की दार्शनिक मान्यताओं की व्याख्या द्वारा उसे भाववादी परिणिति दी और यही दशा जैन मत की भी हुई। भूतवादी परम्परा आगे चलकर चार्वाक मत में पूर्णतः पल्लवित हुई। चार्वाक ने ईश्वर, आत्मा तथा परलोक आदि के प्रश्नों को मूलतः अस्वीकार किया और जगत् तथा देहवाद की स्थापना की। यह देहवाद जनता के बीच प्रारम्भ से किसी-न-किसी रूप में प्रचलित था।[1] जो आगे चलकर तंत्र में पूर्ण रूप से विकसित हुआ।

जिस प्रकार भारतीय दर्शनों में भौतिकवादी प्रवृत्ति मिलती है ठीक उसी प्रकार यूरोपीय दर्शन में भी भौतिकवादी तत्वों के दर्शन होते हैं। यूरोप के अधिकांश प्राचीन भूतवादी दार्शनिक यह मानते थे कि समस्त पदार्थ-रचना अणुओं के द्वारा होती है। डेमोक्रीटस तथा ऐपीक्यूरस आदि ग्रीक दार्शनिकों की मान्यता है कि विश्व की रचना उन छोटे-छोटे अणुओं से होती है जो शून्य में इधर-उधर घूमते रहते हैं। अणुओं के संग्रह को वस्तुओं की संज्ञा मिली है।[2]

मार्क्स से पूर्व फायरबाख ने जिस भौतिकवाद की स्वरूप-रचना की थी, मार्क्स और ऐंगिल्स ने उसी के गूदे को लेकर अपने भौतिकवाद की स्थापना की। फायरबाख की मान्यताओं में जो आदर्शवादी धार्मिक नैतिक दृष्टिकोण था उसे मार्क्स और ऐंगिल्स ने न केवल अस्वीकार किया वरन् उसके स्थान पर भूतवाद की वैज्ञानिक तथा दार्शनिक मान्यताओं को स्थापित किया।[3]

मार्क्सवादी भौतिकवाद कोई रूढ़िवादी पद्धति न होकर वस्तुओं को सही रूप से समझने का एक तरीका है, जो सारे प्रश्नों का उत्तर देता है तथा जिसके मूल में विज्ञान को प्रश्रय मिला हुआ है। इस पद्धति के अनुसार भूत (matter) को केवल छोटे-छोटे अणुओं का समूह नहीं माना जा सकता, जिससे कि सारे पदार्थों की रचना हुई है, वरन् यह तो सृष्टि का असीम समूह है, जिसमें अनेक इस तथा भिन्न प्रकार की दुनियाएँ स्थित हैं। इस अपार भूत में अन्तरिक्षीय गैस तथा धूल के बादल, अपना सौर मण्डल, पृथ्वी तथा उस पर स्थित प्रत्येक वस्तु सम्मिलित है। आज जिन लोकों का ज्ञान तक नही है और जिनका पता आगे चलकर लगेगा, उनके साथ इस क्षेत्र में प्रकाश तथा भौतिकी की वे क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं जिनके द्वारा एक शरीर या अणु की क्रिया को दूसरे में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। इसमें विद्युत-चुम्बकीय तथा नाबकीय भौतिक क्षेत्र भी आते हैं। जैसा कि सभी भौतिकवादियों ने स्वीकार किया है, यदि संक्षेप में कहा जाय तो भौतिकवादी भूत के अंतर्गत उन सब

1. D.P. Chattopadhyaya : Lokayat; Introduction : p. XVII.
2. Fundamentals of Marxism-Leninism : p. 32
3. J. Stalin : Dialectical and Historical Materialism : p. 4-5.

कुछ को स्वीकार कर लेता है जोकि हमारे मस्तिष्क के बाहर तथा उससे स्वतंत्र होकर स्थित है।[1] आज के सारे विज्ञान इस भूत को समझने, उसका अध्ययन करने तथा उसके विभिन्न रूपों के पीछे निहित नियमों और सिद्धान्तों का अध्ययन करने में लगे हैं। भूत में आकर्षण का गुण है। जो लोग इसमें विकर्षण के गुण को भी स्वीकार करते हैं वे आकर्षण को ही ठीक से नहीं समझ पाते हैं। विकर्षण तो आकर्षण का ही दूसरा रूप है। ये दोनों तो अविभाज्य तत्व हैं। जिस प्रकार धनात्मक और ऋणात्मक दोनों एक साथ एक स्थान तथा क्षण में उपस्थित रहते हैं उसी प्रकार इनकी स्थिति भी मानी गई है। जो भूत में केवल आकर्षण मानते हैं, उनका मत एकांगी तथा द्वन्द्ववाद के विपरीत पड़ता है। आकर्षण और विकर्षण के इस नियम का प्रतिपादन करते हुए ऐंगिल्स ने दोनों को अविभाज्य माना है।[2]

Attraction is a necessary property of matter, but not repulsion but attraction and repulsion are as inseparable as positive and negative, and hence from dialectics itself it can already be predicted that the true theory of matter based on mere attraction is false, in adequate and one sided.

यदि गुरुत्वाकर्षण के नियम का अध्ययन किया जाय तो उससे स्पष्ट रूप से यह ज्ञात हो जाता है कि भूत में आकर्षण और विकर्षण दोनोंकी स्थिति है। हेगेल ने भी यह स्वीकार किया है कि भूत में आकर्षण उसके निचोड़ की तरह स्थित रहते हैं।[3]

भूत का स्वरूप निर्धारण करते समय उसका सम्बन्ध गति के साथ माना गया है। भूत और गति अविभाज्य कहे गए हैं।[4]

Motion is the mode of existence of matter. Never any where has there been matter without motion, nor can there be. Motion is cosmic space, mechanical motion of smaller masses on the various celestial bodies, the vibration of molecules as heat or as electrical or magnetic currents chemical disintegration and combination, organic life—at each given moment each individual autom of matter in the world is in one or other of these forms of motion, or in several forms at once.....Matter without motion is just as inconceivable as motion without matter. Motion is therefore as uncreatable and indestructible as matter itself.

---

1. A—Fundamentals of Marxism-Leninism : P. 32
   B –J. Stalin: Dialectical and Historical Materialism; P. 18-19
2. F. Engels : Dialectics of Nature : page 323
3. *Ibid* p. 323.
4. F. Engels : Anti Dhuring : p. 86

जगत् का सृजन गतिशील भूत से हुआ है न कि किसी ब्रह्म द्वारा—ऐसी मान्यता सभी भौतिकवादी विद्वानों की है। ऐंगिल्स ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है।[1] उनकी मान्यतानुसार प्रकृति में जहाँ कहीं हमें गति दिखाई देती है, वह सब भूत में निहित गति ही है। अनेक उदाहरणों द्वारा इस तथ्य को आसानी से समझा जा सकता है। जगत् में गतिशीलता सर्वत्र तथा सभी कालों में रहती है। गतिशीलता के कारण ही यह सक्रिय तथा संचालित है। यदि हम गति की पद्धति का अध्ययन करते हैं तो हमें यह स्पष्ट रूप से पता चल जाता है कि वह नीचे से ऊपर की ओर धावित होती है। इसकी गति जहाँ निम्न से ऊर्ध्व की ओर है, वहीं वह सामान्य से असामान्य और विरल से संकुल की ओर भी है।[2]

Motion in the most general sense, conceived as the mode of existence, the inherent attribute of matter, comprehends all changes and processes occurring in the universe, from mere change of place right up to thinking.

इसी का परिणाम है कि यदि हम विकास का इतिहास देखते हैं तो हमें पहले सारे प्रश्नों और समस्याओं के सीधे-सादे और साधारण उत्तर मिलते हैं। इस जगत् से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों का उत्तर ब्रह्म, माया, जीवात्मा आदि की सीधी-सादी कल्पनाओं द्वारा दे दिया गया। जैसे-जैसे इन विचारों में अधिकाधिक विकास हुआ, वे सादा से अधिक कठिन तथा संकुल निराकरणों की ओर बढ़े। विज्ञान के विकास में भी हमें इसी नियम की सार्वभौम सत्ता दृष्टिगोचर होती है।

गति का एक रूप दूसरे में परिवर्तित किया जा सकता है तथा उसे अन्य में से निकाला जा सकता है। उच्च तथा संकुल गति निम्न और सादा गति के बिना स्थिर नहीं रह सकती। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उच्च और संकुल को निम्न और सादा गति के रूप में घटाया जा सकता है। उच्च और निम्न तथा संकुल और सादा गतियों को एक दूसरे से अलग करना संभव नहीं है, वे एक दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं।[3] गति भूत के ऊपर कहीं बाहर से या किसी वाह्य शक्ति के प्रभाव से लदी हुई नहीं है, वरन् वह तो भूत की प्रकृति में है। भूत के भीतर धड़कन की तरह उसका निवास है, जो सारे विकासों का मूल कारण है। यह गति किसी अन्य शक्ति द्वारा संचालित न होकर स्वचालित है। यह गति एकरूपता से सीमित न होकर अनन्त विभिन्न रूपों में गतिशील है। यह गति भी एकसी नहीं रहती—यह भी विकसित होती रहती है। इसी का परिणाम है कि विश्व में अनेक प्रक्रियाएँ होती रहती हैं। अभी एक वस्तु हमें निर्मित होती दिखाई देती है, वह बदल जाती है (उसका यह बदलाव भी उसी

1. *Ibid* : page 86.
2. F. Engels : Dialectics of Nature : p. 92.
3. M. Cornforth : Dialectical Materialism : Vo. I—page 52.

समय से प्रारंभ हो चुका है जब कि उसका निर्माण प्रारंभ होता है) या अन्य रूप धारण कर लेती है। इन परिवर्तित रूपों में असम्बद्धता नहीं होती। वे एक दूसरे से सम्बन्धित, भीतर-भीतर जुड़े हुए रहते हैं। यदि हम उन रूपों में से किसी एक रूप को समझना और समझाना चाहें तो केवल एक रूप के आधार पर ही यह करना असंभव है।[1] इसके लिए हमें अनिवार्य रूप से उसके आगे पीछे देखना पड़ेगा, उसके विकास की दिशा समझनी होगी। परिवेश का ध्यान रखना होगा। उसके प्रगतिशील और प्रतिगामी तत्वों पर दृष्टि डालनी होगी। तभी उसे समझना संभव है। इस सारी सृष्टि और जगत् को समझने का प्रयत्न जिस मस्तिष्क के द्वारा किया गया है तथा किया जाता है, वह मस्तिष्क क्या इस भूत से भिन्न और परे है? इस सम्बन्ध में मार्क्स ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि हमारा मस्तिष्क भी शरीर का एक अंग है। बिना मस्तिष्क के विचार करना असंभव है। अतः विचार भी भूत का फल है।[2] विचार और भूत को अलग नहीं किया जा सकता। सारे परिवर्तन पदार्थ में ही तो होते हैं।[3] यह भूत अनादि और अनन्त है। न इसे निर्मित किया जा सकता है और न नष्ट करना ही संभव है।[4]

भूत और चेतना के प्रश्न को उठाते हुए मार्क्स ने लिखा है कि मनुष्य की चेतना उसकी सत्ता को निश्चित नहीं करती, इसके विपरीत उसकी सामाजिक सत्ता ही उसकी चेतना को निश्चित करती है।[5] इस कथन की पुष्टि करते हुए लेलिन ने चेतना को अस्तित्व की सच्ची प्रतिमूर्ति कहा है।[6] उसकी मान्यता से यह प्रतीत होता है कि वह जीवन के एक रूप की स्थिति इस चेतना से आंकता है। उस रूप में जब परिवर्तनकारी तत्व अधिक हो जाते हैं और वह (वस्तु) अपना रूप बदलने लगती है, तभी उसकी चेतना लुप्त हो जाती है। इस भूत और चेतना में से किसे प्रथम और किसे द्वितीय स्थान मिलना चाहिए – यह प्रश्न यद्यपि चेतना के विकास से ही स्पष्ट हो जाता है फिर भी इस पर बारबार प्रकाश डाला गया है जिससे अध्यात्मवादी किसी भी प्रकार भौतिकवाद को अपने प्रभाव में न ले आवें। भूत, प्रकृति, अस्तित्व (व्यक्तित्व), शरीर आदि प्रथम स्थान के अधिकारी हैं तथा आत्मा, चेतना, अनुभूति आदि द्वितीय स्थान पर आती हैं। चेतना और शक्ति (energy) में अन्तर है। चेतना जहाँ सम्पूर्ण सत्ता की प्रतिच्छाया है, वहाँ शक्ति (energy) केवल उसका एक रूप है। शक्ति के द्वारा गति का पूर्ण रूप प्रकट नहीं होता, उसका अंश मात्र ही स्पष्ट

1. *Ibid* : page 55.
2. K. Marx : selected works : Vo. I—p. 332.
3. *Ibid* : page 302.
4. Engels : Anti Dubring : p. 93.
5. K. Marx selected works; Vol I.P. 269.
6. V.I. Lenin : Selected works; Vol. XIII—page 266-67.

करने में वह समर्थ होती है।[1] इसमें केवल क्रिया होती है, प्रतिक्रिया नहीं होती।

आज की वैज्ञानिक शोधें तथा अणु आदि के सम्बन्ध में अधुनातन मान्यताएँ मार्क्स और ऐंगिल्स की भौतिकवादी स्थापनाओं को पुष्ट करती हैं।[2] आज नवीन भौतिकी शोधों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि अणु भी मिश्रित निर्माण है जो निरन्तर गतिशील दशा में रहता है। यहाँ तक कि एक पदार्थ के अणु दूसरे पदार्थ के अणुओं के रूप में परिवर्तित किए जा सकते हैं।[3]

भूत की गति का अध्ययन समय और स्थान की सीमा में किया जा सकता है। सभी पदार्थ तथा शरीर जो विश्व में स्थित हैं – शून्य में एक निश्चित स्थान पर स्थित हैं। वे एक दूसरे से एक निश्चित दूरी तथा सीमा में हैं। घूमने वाले पदार्थ और शरीर का एक निश्चित मार्ग है।[4] भूत का स्थान के साथ वही सम्बन्ध है जो गति के साथ है तथा गति का भूत के साथ है। भूत और स्थान अविभाज्य हैं। सामान्य वस्तु, शरीर तथा विश्व में मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम का प्रारंभ और अन्त है, द्वितीय अनन्त और अनादि है। भूत और स्थान के समान ही स्थान और समय भी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।[5] आइन्स्टीन जैसे महान् वैज्ञानिक ने अपने सापेक्षतावाद द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि स्थान (Space) भूत से संयुक्त है। इससे काल की निरपेक्षतावादी मान्यताएँ खंडित हो गई हैं। समय और स्थान से बाहर कुछ भी स्थित नहीं है। समय और स्थान सापेक्षिक हैं।[6] ऐंगिल्स ने वैज्ञानिक मान्यताओं के सिद्ध होने से पूर्व ही इसे कह दिया था।[7] भौतिकवाद विज्ञान और अभ्यास को आधार बना कर आगे चलता है। उसकी मान्यता है कि इस प्रकार धीरे-धीरे प्रकृति और विश्व के सारे रहस्यों से हम परिचित हो सकते हैं। इस दुनिया में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे जाना न जा सकता हो। यह ठीक है कि आज जो कुछ हमें ज्ञात है, उसकी अपेक्षा अज्ञात बहुत अधिक है। इस विषय में वे आशावादी हैं।[8]

## द्वन्द्वात्मक विकास तथा अन्तर्विरोध

मार्क्स तथा ऐंगिल्स ने विकास का आधार द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद को माना है। विकास के सम्बन्ध में मूलतः जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। उनके अनुसार प्रकृति तथा समाज में विकास उछाल (leap) के द्वारा होता है। ये उछाल क्रम

---

1. F. Engels : Dialectics of Nature : page 107.
2. *Ibid* : Preface to Dialectics of Nature : page 12.
3. Fundamentals of Marxism-Leninism : page 33.
4. *Ibid* : p. 37.
5. *Ibid* page 38.
6. *Ibid* : p. 38.
7. F. Engels : Dialectics of Nature : page 325.
8. J. Stalin : Dialectical Materialism : page 20-21.

को बनाए नहीं रखते, वरन् उसे तोड़ देते हैं। इससे विकास हो जाता है। इस उछाल का उत्तरदायित्व उस वस्तु में निहित आंतरिक विरोधों पर है।[1]

जैसा कि पीछे दिखाया जा चुका है, प्रत्येक पदार्थ में विरोधी तत्व निहित रहते हैं। इन तत्वों का अस्तित्व वस्तु के अस्तित्व के साथ ही जुड़ा हुआ है। इन तत्वों के बीच चलने वाला संघर्ष भी वैसा ही सदैव टिकने वाला है, जैसा कि प्रत्येक पदार्थ में इन तत्वों की स्थिति। जब संघर्ष उस दशा को पहुँच जाता है जहाँ उसमें गुणात्मक परिवर्तन हो जाना चाहिए, तब यकायक परिवर्तन होता है. स्थिति बदल जाती है, क्रम टूट जाता है, नया रूप उत्पन्न हो जाता है, इसी को विकास कहते हैं—जो एक स्थिति से दूसरी स्थिति में ला देता है।[2]

इस मान्यता को सबसे पहले प्रस्तुत करने वाले हेगेल हैं। उन्होंने बच्चे के पैदा होने की घटना को आधार बनाकर विकास का विश्लेषण किया है। वह मानते हैं कि भ्रूण गर्भ में यथेष्ट काल तक चुपचाप पड़ा रह कर अभिवृद्धि पाता रहता है, जिससे उसमें परिमाणात्मक परिवर्तन होता रहता है। जब यह परिमाणात्मक परिवर्तन उस सीमा पर पहुँच जाता है, जबकि, गुणात्मक परिवर्तन हो सके, तभी यकायक उछाल के द्वारा उसकी क्रमिक विकास-दशा बदल जाती है—नयी स्थिति (श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया) उत्पन्न हो जाती है—बच्चा जन्म ले लेता है। उसमें गुणात्मक अन्तर आ जाता है।[3]

It is as in the case of the birth of a child, after a long period of nutrition in silence, the continuity of the gradual growth in size, of quantitative change, is suddenly out short by the first breath drawn—there is a break in the process, a qualitative change and the child is born.

हेगेल की इस मान्यता को मार्क्स ने प्रकृति तथा समाज आदि के विकास पर लागू किया और इसको प्रामाणिक बनाने के लिए विज्ञान की सहायता ली गई। मार्क्स, ऐंगिल्स आदि ने बताया—विश्व स्थिर तथा अपरिवर्तनशील नहीं है।[4] अन्त-विरोधों द्वारा जैसा कि द्वन्द्ववाद से सिद्ध है—उसमें सदैव परिवर्तन और विकास होता रहता है।[5] इस विकास की दिशा क्रमशः अग्रसर नहीं होती वरन् उसमें क्रमिक विकास की गति भी बीच में आने वाली उछालों की प्रक्रिया से बाधित होती है और इसी से विकास होता है।[6]

---

1. M. Cornforth : Dialectical Materialism : Vol. I—p. 56.
2. *Ibid* : page 60.
3. Hegel : Phenomenology of Mind : Preface
4. K Marx and F. Engels : Selected works : Vol. XIV—p. 848.
5. Lenin : Selected works : p. 30.
6. *Ibid* Vol. VI—p. 17.

मार्क्स तथा ऐंगिल्स ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से हेगेल-मत को समझकर विज्ञान तथा समाज का अध्ययन प्रस्तुत किया है तथा उन्होंने बताया है कि शुद्ध परिमाणात्मक अभिवृद्धि या अवृद्धि (कमी) गुणात्मक उछाल के रूप में बदल जाती है। पानी का उदाहरण देकर उन्होंने सिद्ध किया है कि पानी को अगर गर्म किया जाय तो एक सीमा तक तो वह लगातार अधिकाधिक मात्रा में गर्म होता जायगा और एक निश्चित सीमा पर पहुंच कर उसका अधिक गर्म होना बन्द हो जायगा—एक उछाल लेकर वह भाप के रूप में परिवर्तित हो जायगा। यही परिमाण का गुण में परिवर्तन होना कहा गया है।[1]

This is precisely the Hegelian nodal line of measure relations, in which, at certain definite nodal points, the purely quantitative increase or decrease gives rise to a qualitative leap, for example, where boiling point and freezing points are the nodes at which—under normal pressure—the leap to a new aggregate state takes place, and where consequently quantity is transformed into quality.

यह विकास की प्रक्रिया प्रकृति द्वारा सिद्ध की गई है। माना गया है कि प्रकृति में विकासवाद का जो सिद्धान्त डारविन ने स्थिर किया है, वह ठीक है।[2] मार्क्स का द्वन्द्वात्मक-विकास इसके अनुकूल है। विकास को प्रकृति के अतिरिक्त विज्ञान के सिद्धान्तों द्वारा भी सिद्ध किया गया है, जिससे वह वैज्ञानिक माना गया है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में विकास परिमाण से गुणात्मक विकास में माना गया है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण पानी का भाप में बदल जाना ऊपर दिया जा चुका है।

भौतिकी[3] तथा रसायनशास्त्र[4] के द्वारा मार्क्स तथा ऐंगिल्स ने इस सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया है तथा बताया है कि विकास अन्तर्विरोधों के कारण होता है। मार्क्स से पूर्व अनेक दार्शनिक विकास का कारण ब्रह्म (Idea) को मानते थे। मार्क्स तथा ऐंगिल्स ने सभी आदर्शवादी मान्यताओं का खंडन किया। इन्होंने विकास के कारणों को वस्तु में ही निहित माना है, वे कहीं बाहर से नहीं आते।[5] इस सम्बन्ध में अध्यात्मवादियों की मान्यता है कि संघर्ष केवल वैचारिक हो सकता है जब कि मार्क्स ने इसे वस्तुगत और वैचारिक दोनों प्रकार का माना है।[6] अन्तर्विरोध परिवर्तन की संचालन शक्ति है। इस अन्तर्विरोध के कारण आन्तरिक दशा इस प्रकार की हो जाती है कि परिवर्तन अपरिहार्य हो उठता है, उसे रोका

1. K. Marx and F. Engels : Selected works, Vol. XIV—p. 45-46.
2. *Ibid* : p. 23.
3. K. Marx and F. Engels : Selected works : Vol. XIV—p. 527-28.
4. *Ibid* p. 528.
5. M. Cornforth : Dialectical Materialism : Vol. I—p. 102.
6. *Ibid* : p. 104.

जाना संभव नहीं होता। संघर्ष (अन्तर्विरोध) विहीन प्रक्रिया में पुनरावृत्ति होती चली जायगी, विकास नहीं होगा, विकास तो तभी संभव है जबकि उस वस्तु की भीतरी शक्तियों को उसका कारण माना जाय।[1] ये अन्तर्विरोध सार्वभौमिक नियम के अंतर्गत कार्य करते हैं, किन्तु प्रत्येक प्रक्रिया विशेष में ये अन्तर्विरोध विशिष्ट भी होते हैं। अर्थात् अन्तर्विरोध सार्वभौमिक होते हुए भी विशिष्ट होते हैं। इस सम्बन्ध में माओत्सेतुंग ने स्पष्ट रूप से लिखा है—

"वे यह नहीं समझ पाते कि असगति की सार्वभौमता ठीक असंगति की विशिष्टता में ही निहित है।.....जब हम वस्तुओं में निहित असंगति के नियम का विश्लेषण करें तो हमें पहले असंगति की सार्वभौमता का विश्लेषण करना चाहिये, फिर विशेष के साथ असंगति की विशिष्टता का विश्लेषण करना चाहिए। अंत में असंगति का विश्लेषण करना चाहिए और फिर असंगति की सार्वभौमता पर फिर लौट आना चाहिए।"[2]

अन्तर्विरोध सार्वभौमिक होने के साथ ही साथ निरपेक्ष भी होते हैं, जिनका अस्तित्व प्रत्येक प्रक्रिया में प्रारंभ से लेकर अन्त तक विद्यमान रहता है।[3] जब कोई नई एकता तथा उसके संघटक विपरीत तत्व पुराचीन प्रक्रिया का स्थान ग्रहण करते हैं तो इस नवीन प्रक्रिया में भी अन्तर्विरोध उसी के साथ उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उस वस्तु का इतिहास अन्तर्विरोधों का इतिहास कहा जा सकता है।[4] प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक गति में अन्तर्विरोध होता है और यह अन्तर्विरोध अपनी विशिष्टता रखता है। पदार्थ की गति के विशिष्ट तत्वों को ध्यान में रख कर ही हम वस्तुओं में भेद कर सकते हैं। प्रत्येक वस्तु का जो अपना विशिष्ट गुण होता है, उसका कारण उसके अन्तर्विरोध की विशिष्टता है। इसी कारण एक वस्तु दूसरी से भिन्न दिखाई देती है। यह नियम प्रकृति तथा समाज सभी पर लागू होता है।[5] विकास परिवर्तन मात्र नहीं है। परिवर्तन (Change) तथा विकास (Development) में भेद है। इसी प्रकार बढ़ोतरी (Growth) और विकास भी एक नहीं है। बढ़ोतरी में वस्तु बढ़ती जाती है, यह परिवर्तन परिमाणात्मक होता है, जबकि विकास गुणात्मक परिवर्तन में माना जाता है। इसके लिए यह उदाहरण दिया जा सकता है कि भ्रूण जब तक बढ़ता रहता है उसमें परिमाणात्मक परिवर्तन होता है, उसे बढ़ोतरी कहेंगे, किन्तु, जैसे ही उसमें श्वास-प्रश्वास-प्रक्रिया का प्रारंभ हो जाता है, विकास कहा

1. *Ibid* : p. 106.
2. माओत्सेतुंग : माओ ग्रन्थावली : दूसरा भाग : पृ० १२।
3. *Ibid* : p. 15.
4. *Ibid* : p. 15.
5. *Ibid* p. : 16-17.

जाता है —यह गुणात्मक परिवर्तन का परिणाम है [1]

अन्तर्विरोधों का जब अध्ययन किया जाता है तो उनके अन्तर सम्बन्धों तथा उनकी सम्पूर्णता में देखने भर से काम नहीं चलता। इसके लिए यह भी आवश्यक होता है कि अन्तर्विरोधों को प्रत्येक पहलू से देखा जाय तथा उस विकासशील पदार्थ या समाज के प्रत्येक स्तर पर देखा जाय—तभी उसकी असलियत का पता लग सकता है। अन्तर्विरोधों के यह सब अध्ययन आत्मगत पद्धति से न होकर वस्तुगत पद्धति से होने चाहिएँ। अध्ययन की इस पद्धति को ठोस विश्लेषण-पद्धति कहा गया है। इस सम्बन्ध में माओत्सेतुंग ने स्पष्ट लिखा है—

"ठोस विश्लेषण किए बिना किसी भी असंगति के विशिष्ट स्वरूप के बारे में कोई जानकारी हासिल नहीं की जा सकती। हमें लेनिन के इन शब्दों को हमेशा याद रखना चाहिए : ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण।"[2]

इस मान्यतानुसार यह सिद्ध है कि सत्य ठोस होता है। सत्य पहले से निश्चित योजनानुसार नहीं जाना जा सकता है और सत्य की कोई विशिष्ट पद्धति भी नहीं है, वह तो वस्तुओं के सही परिस्थितियों, गतियों तथा सम्बन्धों में अध्ययन करने पर प्रकट होता है। इस सम्बन्ध में लेनिन ने अपना स्पष्ट अभिमत देकर संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रहने दिया है।[3]

Genuine dialectics by means of a thorough, detailed analysis of a process in all its concreteness. The fundamental thesis of dialectics is : there is no such thing as abstract truth, truth is always concrete".

सत्य को आदर्शवादी शाश्वत एवं निरपेक्ष मानते हैं। वे उसका सम्बन्ध ब्रह्म से स्थापित करते हैं। इसके विपरीत मार्क्सवाद में सत्य को परिवर्तनशील तथा सापेक्ष माना गया है। यह आंशिक सत्य ही हो सकता है, पूर्ण नहीं। इसका संभावित रूप ही संभव है, सही सही (exact) रूप नहीं बताया जा सकता और विज्ञान द्वारा भी निरपेक्ष सत्य का समर्थन नहीं होता है। सत्य के सम्बन्ध में फ्रेडरिक ऐंगिल्स का मत यह है कि सत्य अपरिवर्तनशील नहीं होता। जब-जब मानव शाश्वत सत्य की सीमा तक पहुँचा है और उसने इसकी घोषणा की है, तब तब यह इसलिए सम्भव हो सका है कि उसके यथार्थ और शक्ति की सीमा आ गई है, वह उस सीमा से आगे जाने में असमर्थ हो गया है। इसका प्रमाण यह है कि जिन बातों को एक समय में शाश्वत मान लिया गया था—आगे चलकर उनके आगे भी सचाई बढ़ी और कभी तो छिछला शाश्वत

---

1. M. Cornforth : Dialectical Materialism : Vol I—p. 93.
2. *Ibid* : p. 26.
3. Lenin : one step forward, Two steps back : section R, something about dialectics : Quoted from Dialectical Materialism By M. Cornforth Vol. I : p. 88.

सत्य बिल्कुल असत्य सिद्ध हुआ।[1]

विज्ञान के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि शाश्वत सत्य की बात कहना अनुपयुक्त है।[2] जो शाश्वत सत्य की बात कहता है, वह किसी लाभकारी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता है।[3] ध्रुवीय अन्तर्विरोध के समान विचारों का विकास तथा सत्य का विकास सचाई और गलती के द्वन्द्व से होता है। इसमें सत्य मिथ्या और मिथ्या सत्य सिद्ध हो सकते हैं।[4]

As soon as we apply the antithesis between truth and error outside of that narrow field which have been referred to above it becomes relative and therefore unserviceable for exact scientific modes of expression : and if we attempt to apply it as absolutely valid out side that field we really find ourselves altogether beaten; both poles of antithesis become transformed into their opposites, truth become error and error truth.

स्टालिन का मत है कि विश्व में सब कुछ परिवर्तित होता रहता है और उसके साथ सत्य भी इसी नियम से संचालित है। अतः सत्य स्थिर नहीं है– परिवर्तनशील है।[5]

वस्तुगत सत्य से यह अर्थ लिया जाता है कि वह ऐसा मानवीय ज्ञान है जिसके द्वारा वस्तुगत संसार प्रतिबिम्बित होता है। यह इन्द्रियानुभव या प्रत्यक्षदर्शन पर आधारित है। मानव का इन्द्रियानुभव उसके विचारों के समान वस्तुओं का प्रतिबिम्ब या मानसचित्र होता हैं। इन्द्रियबोध वस्तुवादी विश्व का व्यक्तिवादी प्रतिबिम्ब है।[6] सत्य की कसौटी व्यवहार है। जो सत्य व्यवहार की कसौटी पर खरा उतरता है— यथार्थ पर आधारित है, उसी को स्वीकार किया जा सकता है।[7]

विकास के सम्बन्ध में निषेधात्मकनिषेध (Negation of the Negation) के सिद्धान्त पर भी मार्क्स ऐंगिल आदि ने विस्तार से प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में बताया गया है कि सामान्य निषेध ध्वंसात्मक होता है किन्तु जब निषेध (ध्वंस) का निषेध किया जाता है तब वह सृजन की परिस्थिति उत्पन्न करता है। इस दुहरे निषेध द्वारा उन परिस्थितियों का सृजन संभव होता है, जिनका पहले विनाश हो चुका है। उसी के द्वारा विकास हो सकता है। निषेधात्मक निषेध विकास का एक मुख्य तथा सुन्दर नियम माना गया है। यह नियम प्रकृति, चिंतन तथा इतिहास आदि क्षेत्रों में समान रूप से लागू होता है। ऐंगिल्स ने लिखा है कि निषेध का अर्थ सामान्य प्रकार नहीं है। विकास की प्रक्रिया में जब पुरातन नवीन को स्थान देकर

1. F. Engels : Anti Duhring : p. 123.
2. *Ibid* p. 127.
3. *Ibid* : p 126.
4. F. Engels : Anti Duhring : p. 128.
5. J. Stalin Anarchisim and Socialism Chapter I.
6. Lonin : Selected works Vol. XIV—p. 106.
7. Fundamentals of Marxism Leninism : p. 12?

हट जाता है, तो नवीन जब तक पुराचीन का निषेध नहीं करेगा, तब तक उसकी स्थापना नहीं हो सकती है। इस प्रकार निषेध स्वीकारात्मक विकास है। दूसरी ओर पुराचीन जिसका निषेध हो गया है, वह भी प्रगति के स्तर का निर्माण करता है और इस प्रकार विकास की प्रक्रिया पूर्ण होती है। उदाहरणस्वरूप कह सकते हैं —

पूँजीवादी व्यवस्था का स्थान समाजवादी व्यवस्था लेती है। समाजवाद पूँजीवाद का निषेध करता है, किन्तु वे परिस्थितियाँ जिन्होंने समाजवाद को विकसित किया है, पूँजीवाद की देन हैं। इस प्रकार समाजवाद का विकास पूँजीवाद से होता है—समाजवाद पूँजीवाद का अगला चरण है। उत्पादन की सारी उपलब्धियाँ तथा प्रगति, सांस्कृतिक उपलब्धि आदि जो पूँजीवादी व्यवस्था की देन थीं, वे तब भी जीवित रहती हैं, जबकि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का अन्त हो जाता है। इसके विपरीत उनका संरक्षण किया जाता है तथा उन्हें और अधिक विकसित किया जाता है।[1] इस सम्बन्ध में मार्क्स की मान्यताएँ अत्यन्त स्पष्ट हैं।[2]

The capitalist mode of appropriation, the result of the capitalist mode of production, produces capitalist private property. This is the first negation of individual private property, as founded on the labour of the proprietor. But capitalist production begets, with the inexorability of a law of nature, its own negation. It is the negation of negation.

वे निषेधात्मक निषेध का अर्थ प्राचीन की पुनरावृत्ति न लेकर वस्तु का उच्चस्तर पर विकास स्वीकार करते हैं। इस नियम के द्वारा मार्क्सवादियों ने प्रकृति और समाज का विकास दिखाया है।[3] कोई विकास जो पदार्थ या विचार आदि किसी क्षेत्र की भूतपूर्व दशा को परिवर्तित नहीं कर देता है, विकास ही नहीं माना जा सकता है।[4]

## यांत्रिक भौतिकवाद बनाम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

जैसा कि पीछे स्पष्ट हो चुका है, अणुवाद की स्वीकृति ग्रीक दार्शनिकों तथा भारतीय दार्शनिकों ने हजारों वर्ष पूर्व की थी। मध्ययुगीन धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध 16-17 वीं शताब्दी में उसका पुनरुद्धार हुआ। इसके विकास का कारण यूरोप की औद्योगिक क्रांति मानी जाती है। यांत्रिक भौतिकवाद को इसीलिए पूँजीवादी दर्शन की संज्ञा दी गई है। इसके अनुसार इस जगत् की उत्पत्ति अणुओं से मानी गई है। ये अणु स्वतन्त्र, मुक्त, एक दूसरे से अलग तथा विशिष्ट सत्ता युक्त हैं।

1. M. Cornforth : Dialectical Materialism : Vol. I—p. 128.
2. K. Marx : Capital. Vol.—page 763.
3. F. Engels : Anti Duhring : page 897.
4. According to the statement of K. Marx; quoted in Fundamentals of Marxism-Lenin; page 101.

इन अणुओं के संयोग से जगत् का सृजन हुआ है। जिस प्रकार यन्त्र के अनेक पुर्जे मिलकर कार्य करते हैं—वे अलग-अलग होते हैं फिर भी मिलकर एक मशीन का रूप पा जाते हैं—वैसे ही प्रकृति का रूप बनता है।[1] चूँकि यह यन्त्र के सादृश्य पर आधारित है, अतः इसे यांत्रिकवाद कहा गया है।

इस यन्त्र को अन्य यन्त्रों के समान संचालन करने वाली शक्ति कौन है ? यह प्रश्न उपर्युक्त मान्यता के पश्चात् का स्वाभाविक प्रतिफल है। इसके लिए अध्यात्मवादियों का पुराना उत्तर ब्रह्म था ही—इन लोगों ने भी उसे स्वीकार कर लिया। प्रकृति के विकास की इन लोगों की प्रक्रिया मार्क्स के द्वन्दवाद से भिन्न है।[2]

यांत्रिक भौतिकवादी भी प्रकृति में दिखाई पड़ने वाले परिवर्तनों की सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु उसकी संचालिका शक्ति किसी अविनाशी—शाश्वत सत्ता को मान लेते हैं। यह संचालिका शक्ति अपरिवर्तित है—जो परिवर्तन का कारण तो है किन्तु परिवर्तन करके भी वह स्वयं अपरिवर्तनशील रहती है[3]। इस विचारधारा को सामन्तवाद के विरोध में प्रगतिशील कहा गया है। सामन्तवादी मान्यताओं में चर्च को जो महान् पद मिला हुआ था उसका प्रभाव धीरे-धीरे सामन्तवाद के ह्रास के साथ ही कम हो रहा था। इस विचारधारा के अनुसार कृषक का शोषण जो अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया था, वह जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित कर रहा था, उसने प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन किया और उसी का परिणाम यह नवीन दृष्टिकोण था।[4] यंत्र पर आधारित होने के कारण इसे यांत्रिक तो कहा गया, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं था कि इसका कारण यंत्रविज्ञान की उन्नति था। मार्क्सवादियों की मान्यता है कि इसके मूल में पूँजीवादी समाजव्यवस्था को स्थायी बनाने की मनोवृत्ति थी। इस विचारधारा ने ध्वस्त सामंती विचारों को नष्ट कर पूँजीवादी विचारों को प्रश्रय दिया।[5]

उस समय के वैज्ञानिकों ने जिनमें न्यूटन, लैमेट्री आदि प्रमुख हैं, इसी दृष्टिकोण को अपनाया और शरीर के समान जगत् को भी यंत्रमात्र माना। विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी इस मान्यता को प्रश्रय मिला। हार्वे जैसे शरीर शास्त्री ने सिद्ध किया कि हमारे शरीर में रक्त संचालन-प्रक्रिया यांत्रिक है। उसने इस यांत्रिक प्रक्रिया के अन्तर्गत हृदय को एक पम्प माना, जिसके द्वारा रक्त समस्त धमनियों में प्रवाहित होता रहता है।

यांत्रिक भौतिकवाद के अनुसार मुख्यतः स्वीकार किया गया कि यांत्रिकता के

---

1. M. Cornforth : Dialectical Materialism Vol. I—page 36.
2. *Ibid* : page 36-37.
3. *Ibid* : page 36-37.
4. *Ibid* : page 38.
5. *Ibid* : page 40.

अंग स्थायी होते हैं (उनमें परिवर्तन नहीं होता) तथा उन्हें जोड़ दिया जाता है।[1] इन अंगों के संयुक्त रूप (यंत्र) को संचालित करने के लिए किसी बाहरी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यदि एक बार इसे संचालित कर दिया जाय तो फिर यह निरन्तर संचरित रहती है। इसके अंग एक दूसरे से सम्बन्धित रहकर कार्य करते रहते हैं, जिसका अनिवार्य परिणाम नियमानुसार होता चलता है। इन नियमों को समझा और समझाया जा सकता है। समझने और समझाने के लिए इसके अंगों को अलग-अलग ग्रहण करना तथा उनका अध्ययन करना होता है। वाह्य शक्ति की आवश्यकता केवल एक बार होती है, फिर तो वह अपने आप क्रियाशील बनी रहती है तथा उसकी गति अपना प्रभाव प्रकट करती रहती है। प्रकृति को यंत्र स्वीकार कर लेने पर यंत्रों के समान उसमें संशोधन, परिवर्द्धन तथा अधिक उपयोगी बनाकर काम में लेने की गुंजायश स्वीकार की गई।[2] इसके लिए प्रकृति को नए दृष्टिकोण से देखा गया। नवीन शोधें होने लगीं तथा मानव की आवश्यकता को अधिकतम दशा में अधिकाधिक उत्तम रीति से प्रकृति द्वारा पूरा कराये जाने का आन्दोलन दिन-दिन बढ़ने लगा था। यह पद्धति व्यवहारवाद को साथ लेकर चली थी अतः इसका अच्छा स्वागत हुआ। इसके पीछे मानवतावादी दृष्टिकोण था जिसमें अध्यात्मवाद को विखंडित करके प्राकृतिक शक्तियों को मान्यता दी गई थी। विश्वास का एकान्त निराकरण इसमें भी न हो सका और यह होना संभव भी न था। रोवर्ट ओविन जैसे यांत्रिक भौतिकवादी की मान्यताओं पर विचार करते हुए मौरिस कौर्नफोर्थ ने इस विचारधारा को वर्गवादी दृष्टिकोण माना है यद्धपि उसकी - मानवतावादी दृष्टि को सीमाओं के भीतर प्रशंसा योग्य भी कहा है।[3] इसके द्वारा बुर्जुआ नीति की उत्पादन प्रधान नीति स्पष्ट हो जाती है, जिसमें आदमी को यन्त्र से अधिक महत्त्व नहीं मिल पाता है। यह विचारधारा एक सीमा के अन्तर्गत तो उचित एवं तर्कसम्मत प्रतीत होती है किन्तु आगे चलकर उस सीमा का अतिक्रमण करने पर उसकी एकांगिता, संकुचित दृष्टिकोण तथा अवास्तविकता आदि दुर्गुण स्पष्ट होने लगते हैं। वस्तुओं के समग्र रूप पर विचार न कर उसके अंग-प्रत्यंगों पर विचार करने से वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध बिछड़ जाता है तथा उचित परिणाम सामने नहीं आता। वस्तुएँ निरपेक्ष रूप में प्रतीत होने से उनका विकास नहीं समझा जा सकता।[4]

...sooner or later reaches a limit, beyond which it becmes one sided, restricted, abstract, lost in insoluble contradiction. In the contemplation of individual things, it forgets the connection between them ;

---

1. F. Engels : selected works : Vol. II—page 100.
2. M Cornforth : Dialectical Materialism : Vol. I—page 43.
3. M. Cornforth : Dialectical Materialism Vol. I—page 4 .
4. F. Engels : Selected works Vol. II—page 120.

in the contemplation of their existence, it forgets the beginning and end of that existence; of their repose, it forgets their motion. It cannot see the wood for the trees.

यांत्रिक भौतिकवाद की सीमाओं का स्पष्ट निर्देशन द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों ने किया है। इसकी सीमाओं का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि इसमें भौतिकवाद की मान्यता औचित्यपूर्ण पद्धति से सिद्ध नहीं हो सकी हैं। भौतिवाद एक सीमा पर जाकर रुक जाता है। वहाँ से आगे वह चलता नहीं है, यदि खींचकर आगे ले जायं तो उसके परिणाम औचित्य की कसौटी पर दोषपूर्ण सिद्ध हो जाते हैं। यांत्रिक भौतिकवाद को स्वीकृति देने का अर्थ है अनेक नवीन प्रश्नों को आमंत्रित करना, जैसे इस यंत्र (जगत् शरीर, प्रकृति आदि) का निर्माणकर्त्ता कौन है? कम से कम एक बार संचालित करने तथा उसका परिणाम देखने को तो ब्रह्म की आवश्यकता रहती ही है। इस प्रकार क्या इसे भौतिकवाद कहा जा सकेगा? यह तो अध्यात्मवाद का एक रूप मात्र बनकर रह जाता है। यांत्रिक भौतिकवाद के अनुसार यह माना जाता है कि सर्वत्र तथा सार्वकालिक परिवर्तन-क्रम चलता है। यदि इस परिवर्तन में, जैसा कि आगे चलकर द्वन्द्ववाद ने बताया किसी विकास का क्रम नहीं माना जाता तो यह केवल पुनरावृत्ति बनकर रह जाता है, जिसमें उसी प्रकार के परिवर्तनों की आवृत्ति पुनः पुनः होती रहती है। यांत्रिकता के साथ यह सीमा अनिवार्य है। यांत्रिकता के कारण ही गर्मी को वे भूत के अणुओं की गति का आधिक्य (परिमाणात्मक आधिक्य) मात्र ही मानकर रह जाते हैं, जबकि रसायनशास्त्री इसके उपयोग से गुणात्मक परिवर्तन विकास स्वीकार करते हैं। यांत्रिक भौतिकवाद की सीमाएँ[1] और अधिक स्पष्टता के साथ तब प्रकट होती हैं, जब उसके द्वारा सामाजिक विकास की व्याख्या करने का अवसर आता है। इस मान्यतानुसार समाज का विकास सिद्ध नहीं होता। समाज में होने वाले परिवर्तनों का कारण केवल संयोग ही ठहराया जा सकता है। इसके द्वारा (जैसा कि द्वन्द्ववादी मानते हैं) समाज के विकास का आर्थिक आधार सिद्ध नहीं होता। यहाँ आकर हम ऐसी स्थिति में पहुँच जाते हैं जहाँ कि एक ओर तो ब्रह्मवाद का मार्ग निकल जाता है और दूसरी ओर समाज निरपेक्ष व्यक्तिवादी मान्यताओं का। द्वन्द्ववाद इन दोनों का विरोधी है तथा इन दोनों का खंडन करके द्वन्द्व पर आधारित विकास सिद्ध करता तथा भौतिकवाद की औचित्यपूर्ण व्याख्या देता है।[2]

---

1. K. Marx : Selected works : Vol. II—page 333.
2. *Ibid* : page 366.

# आदर्शवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

आदर्शवाद भौतिकवाद का विरोधी है। इसमें आइडिया (IJea) अर्थात् ब्रह्म को--आदर्श या अध्यात्म को प्रमुखता मिलती है। भूत को उस पर आधारित माना गया है। अध्यात्मवादियों में कुछ जगत् को सत्य मानते हैं[1]—कुछ असत्य;[2] किन्तु ब्रह्म को सत्य सभी मानते हैं। विज्ञान की शोधों तथा भौतिकवादी मान्यताओं ने आदर्शवादी दार्शनिकों को आज बाध्य होकर जगत् की सत्ता को उतना ही यथार्थ स्वीकार करना पड़ा है, जितना कि ब्रह्म को वे स्वीकार करते आए हैं। अरविन्द ने भौतिकवाद और आदर्शवाद का समन्वय करने का प्रयत्न किया है, किन्तु, इस समन्वय से उनकी आदर्शवादी मान्यताओं की घोषणा के साथ ही जगत् के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ गए हैं। मार्क्सवादी परिमाण से गुण के विकास का कारण द्वन्द्व मानकर चलते हैं। आदर्शवादी अरविन्द ने उसका उत्तर देते हुए माना है कि जड़ में जीवन, जीवन में मन तथा मन में ब्रह्म है।[3] मन भी ब्रह्म है, जीवन भी ब्रह्म है तथा जड़ भी ब्रह्म है। योगिराज अरविन्द ने भौतिकवादी मान्यताओं को आसान तथा नकारात्मक माना है। उनके द्वारा हमारी जिज्ञासा आगे बढ़ने में असमर्थ हो जाती है, अतः वे इन्हें अग्राह्य मानते हैं।[4] मार्क्सवादी मान्यता (पदार्थ से मन का विकास हुआ है) अरविन्द को अग्राह्य है। वे भूत से चेतना की ओर न चलकर चेतना से भूत की ओर आते हैं। जगत् का निर्माण इच्छा-शक्ति के द्वारा हुआ है और यह शक्ति चेतना ही हो सकती है।[5] अन्य अध्यात्मवादियों के समान अरविन्द ने भी दो लोकों की कल्पना की है तथा चेतना को परोक्ष लोक से सम्बन्धित माना है।[6] ऐंगिल्स ने आदर्शवादी तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी मान्यताओं को अलग-अलग स्पष्ट किया है तथा बताया है कि आदर्शवाद ब्रह्म को तथा भौतिकवाद प्रकृति को प्राथमिकता देते हैं।[7] अरविन्द तथा अन्य आदर्शवादियों के सम्बन्ध में मार्क्सवादियों की

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद् ३-१-२।
2. (अ) ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या····· (शंकराचार्य)
   (आ) आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
   आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति।
   (तैत्तिरीयोपनिषद्, अनुवाक ६-१)
3. Life is already involved in Matter and Mind in life because in essence Matter is form of Veiled life, life a form of veiled consciousness. (Aurobindo : The life Divine : Vol. I—p 4)
4. *Ibid* : page 10.
5. *Ibid* : page 132.
6. Aurobindo : The Life Divine : Vol. I—page 132.
7. F. Engels : Selected works : Vol. II—page 335.

स्पष्ट मान्यता है कि वे पुराणपंथी तथा प्रतिक्रियावादी हैं। व्यवहार में आते ही उनकी कलई खुल जाती है।[1] अरविन्द ने भौतिकवादियों की मान्यताओं के सम्बन्ध में जिस प्रकार के संकीर्णतावाद का आरोप लगाया है, उन सब के सम्बन्ध में एंगिल्स पहले से ही परिचित थे। फायरबाख पर लिखे हुए अपने लेख में इनका उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है[2]—

By the word materialism the philistine understands gluttony, drunkenness, lust of the eye, lust of the flesh, arrogance, cupidity, miserliness, profit hunting and stock exchange swindling in short all the filthy vices in which he himself indulges in private. By the word idealism he understands the belief in virtue universal philanthropy and in a general way a better world of which he boasts before others.

अरविन्द ने जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दो लोकों की मान्यता प्रस्तुत की है, उसके मूल में आर्थिक भावनाएँ, आधिभौतिक शक्तियों में विश्वास, परम्परानुमोदन आदि रहे हैं।[3] आदर्शवाद के मुख्यतः तीन सिद्धान्त हैं।[4]

1. प्रत्यक्ष जगत् परोक्ष सत्ता पर आधारित है।

2. ब्रह्म (आत्मा आदि सम्बोधन भी किए गए हैं) भूत (पदार्थ या मैटर) से भिन्न तथा स्वतन्त्र है। अद्वैतवादी इस सम्बन्ध में अतिवादी सीमाओं का स्पर्श करते हैं तथा मानते हैं कि दृश्यमान जगत् सत्य नहीं है, भ्रम है, माया है—मिथ्या है।

3. विज्ञान, अनुभव तथा अन्य भौतिक साधनों से जो कुछ ज्ञात हो जाता है उससे ऊपर एक परोक्षा सत्ता है जो अज्ञात तथा रहस्यमय है।

आदर्शवाद के उन सिद्धान्तों का खंडन करते हुए भौतिकवादी दर्शन ने अपनी निम्न संस्थाएँ प्रस्तुत की हैं।

1. जगत् भौतिक है। प्रत्येक वस्तु जो दिखाई देती है, भूत की गति के सिद्धान्तानुसार विकसित होकर अस्तित्व में आई है – तथा इसका भौतिक कारण रहा है।

2. भूत-मैटर वस्तुगत यथार्थ है जिसका अस्तित्व मस्तिष्क से स्वतन्त्र तथा बाहर है।

3. विश्व के सारे नियम तथा अज्ञात रहस्य जाने जा सकते हैं। कुछ भी ऐसा नहीं है जिन्हें जाना न जा सके।[5]

---

1. M Cornforth Dialectical Materialism : Vol. I—page 22.
2. F. Engels : Selected works Vol. II—page 341-342.
3. M. Cornforth Dialectical Materialism : Vol. I—page 26-27.
4. *Ibid* : page 30.
5. A—J. Stalin : Dialectical and Historical Materialism p. 17-18.
   B—*I bid* : page 18-19.
   C—*I bid* : 20-21.

इन दोनों पद्धतियों के गुण और अवगुण तब अच्छी तरह प्रकट हो जाते हैं जबकि इन्हें व्यवहार में लाया जाता है। व्यवहार में लाने पर मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सही तथा आदर्शवाद हेय सिद्ध होता है।

## ऐतिहासिक-भौतिकवाद

जब द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति से सामाजिक जीवन की व्याख्या की जाती है तो उसे ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा जाता है। इसके अंतर्गत समाज, उसके अंग तथा उसका इतिहास सभी कुछ आता है।[1] इस पद्धति की मान्यताएँ तथा सिद्धान्त भौतिकवादी होते हैं तथा इस पद्धति से समाज का अध्ययन किया जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जब सामाजिक अवस्था का अध्ययन किया जाता है तो मुख्यत. तीन सिद्धान्त सामने आते हैं।[2]

१. समाज का विकास वस्तुगत (objective) नियमों के अनुसार होता है, तथा इन नियमों की खोज विज्ञान द्वारा की जा सकती है।

२. समाज के विकास का आधार (base) आर्थिक होता है। आर्थिक विकास के अनुसार विचारधारा, संस्थाएँ, आदर्श, राजनीति तथा सांस्कृतिक मान्यताएँ विकसित होती हैं। इसे आर्थिक आधार का ऊपरी ढाँचा (superstructure) कहा गया है।

३. विचारधारा तथा आदर्श जिनका आधार आर्थिक होता है, वे भी आर्थिक जीवन के विकास में महत्वपूर्ण सहयोग देते हैं। अर्थात् जो बाहरी ढाँचा आर्थिक नींव पर खड़ा माना गया है, उसका नींव के विकास पर प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार वे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

समाज का विकास वस्तुगत नियमों के अनुसार होता है, इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक घटनाएँ तभी होती हैं जबकि उनके कारण उपस्थित हो जाते हैं, इसी प्रकार जब कोई घटना हो जाती है तो उसके परिणाम उसका अनुगमन करते हैं। इन परिणामों पर समाज के व्यक्तियों का प्रभाव नही पड़ता—बाद की घटनाएँ उन्हें प्रभावित कर सकती हैं—बदल सकती हैं किन्तु व्यर्थ नहीं कर सकतीं। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं एवं पहले वाली परिस्थितियाँ फिर दुबारा कभी नहीं आतीं। फिर भी घटनाओं में हम एक समान कारणिक सम्बन्ध देखते हैं।

इससे यह पता चलता है कि समाज का विकास ठीक उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कि प्रकृति का होता है। इसका कारण यह है कि प्रकृति जड़ है, जबकि समाज चैतन्य प्राणियों का समूह है, जिसमें क्रियाएँ जान-बूझ कर तथा भाव प्रेरित होकर किसी उद्देश्य विशेष को सामने रखकर की जाती हैं। अतः यह अन्तर

1. J. Stalin : Dialectical and Historial Materialism p. 3.
2. M. Cornforth : Dialectical Materialism Vol. II page 21.

स्वाभाविक है।[1] अब प्रश्न आता है कि ये उद्देश्य क्या है? इस सम्बन्ध में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाज को नियमित और विकसित करने वाले मूलभूत नियम आर्थिक हैं। इन आर्थिक नियमों में उत्पादन का विकास, उत्पादन की परिस्थितियाँ तथा विनिमय मुख्य रूप से आते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि हम वर्ग-विकास, वर्ग-सम्बन्ध तथा अन्त में वर्ग-संघर्ष तक पहुँच जाते हैं।[2]

जैसा कि पहले बताया जा चुका है आर्थिक आधार पर सामाजिक विचार-धारा पनपती है। भौतिकवादी समाजविज्ञान से स्पष्ट हो जाता है कि समाज के भौतिक जीवन से ही आध्यात्मिक जीवन नियंत्रित रहता है। इसी बात को मार्क्स ने इन शब्दों में लिखा है[3]—

It is not the consciousness of man that determines their being, but, on the contrary their social being that determines their consciousness.

भौतिक जीवन जहाँ हमारे मस्तिष्क से स्वतंत्र है, वहाँ आध्यात्मिक जीवन भौतिक जीवन का प्रतिविम्ब मात्र है।[4] किसी भी ऐतिहासिक युग की विचारधारा की व्याख्या उस युग की आर्थिक परिस्थितियों के विश्लेषण द्वारा ही हो सकती है।[5] जब आर्थिक परिस्थितियाँ बदल जाती हैं तो उनके साथ ही साथ व्यक्तियों के स्वभाव, आदतें, दृष्टिकोण आदि भी तदनुसार परिवर्तित हो जाते हैं।[6]

इस सम्बन्ध में तीसरा सिद्धान्त यह मानता है कि आर्थिक परिस्थितियों के कारण जो विचारधारा उत्पन्न होती है, वह समाज के भौतिक जीवन को विकसित करती है। व्यक्ति सामान्यतः अपने भौतिक कार्यों के सम्पन्न करने से पूर्व उस पर विचार करते हैं। विचार के पश्चात् क्रिया के सिद्धान्त से इसकी पुष्टि हो जाती है। भौतिक जीवन को क्रियाशील बनाने से पूर्व यह विचार आर्थिक सम्बन्धों का प्रतिफलन रहा है, किन्तु इससे उसकी भौतिक जीवन को परिवर्तित करने की शक्ति का खंडन नहीं होता।[7] द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदर्शवादी मान्यताओं का खंडन करते हुए जहाँ यह बताता है कि स्वीकृत भौतिक स्थितियों में विचार किस प्रकार मस्तिष्क में उठते

---

1. F. Engels : Selected works : Vol. II page 353-54.
2. M. Cornforth Dialectical Materialism Vol. I page 29.
3. K. Marx : Selected works : Vol I page 269.
4. J. Stalin : Dialectical Historical Materialism page 25.
5. The conceptions and ideas of each historical period are most simply to be explained from the economic condition of life. (F. Engels : Selected works Vol II page 150).
6. First the material conditions change, and then the ideas of men, their habits, and their world outlook change accordingly. (J. Stalin : Anarchism or Socialism : Ch. 2)
7. M. Cornforth : Dialectical Materialism Vol. II page 42-43.

हैं, उसी प्रकार यह भी स्पष्ट करता है कि मानव की इन भौतिक परिस्थितियों को बदलने में भी यह विचारधारा कहाँ तक कार्य करती है।

समाज की स्थिति और विकास को समझने के लिए उसका आर्थिक आधार समझना आवश्यक है। आर्थिक आधार पर ही समाज की इमारत खड़ी हुई है अतः इस आर्थिक आधार को समझना है। इस आर्थिक आधार में मुख्यतः उत्पादन तथा विनिमय के दौरान व्यक्तियों में सम्बन्ध बनते बिगड़ते चलते हैं—अलग-अलग वर्ग बन जातेहैं—उनमें सघर्ष होता है जिससे उत्पादक साधनों, सम्बन्धों तथा ऊपरी ढाँचे में भी परिवर्तन आ जाता है। अतः इस सम्बन्ध में कुछ विस्तार से विवेचन की अपेक्षा है।

## समाज, उत्पादन और विनिमय

समाज के विकास का आधार मानव जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। समाज के मौलिक जीवन की परिस्थितियों को प्रभावित करने वाली आर्थिक शक्ति ही समाज के विकास को नियंत्रित करती है। इसी शक्ति को हम समाज की मूलभूत आवश्यकताओं को प्राप्त कराने वाला मानते हैं। इन मूलभूत आवश्यकताओं में भोजन, वस्त्र, आवास आदि मुख्य रूप से आते हैं क्योंकि इनके बिना जीवन का चलना सम्भव नहीं होता और न इनके अभाव में समाज ही विकसित हो सकता है।[1] इन वस्तुओं तथा सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए इनका उत्पादन आवश्यक सिद्ध होता है। उत्पादन के लिए आवश्यक सामग्री तथा सज्जा अपेक्षित होती है। सज्जा और सामग्री को भी हमें उत्पन्न करना होता है तथा उसका उपयोग करके उत्पादन किया जाता है—तब उत्पादन का मार्ग हो सकता है। ये सभी मिलकर समाज की उत्पादक शक्ति बनते हैं।[2] इस उत्पादन के मध्य उत्पादन करने वालों के बीच में कुछ सम्बन्ध रहता है, मनुष्य और वस्तुओं का सम्बन्ध बनता बिगड़ता है, मनुष्यों का उत्पादन तथा उसके साधनों से सम्बन्ध हो जाता है, उत्पादन के लिए व्यक्ति प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करता है, प्रकृति की शक्ति को उत्पादन में लगाता है—उससे उत्पादन को शीघ्र तथा अधिक बनाने का प्रयत्न करता है और यह सब वैयक्तिक रूप से न होकर सामाजिक रूप से होता है। अतः इससे सम्बन्धित अनेक प्रश्न उठते तथा मिटते हैं। मार्क्स के अनुसार उत्पादन सभी अवस्थाओं एवं कालों में सामूहिक होता है।[3]

In production men not only act on nature but also on an another. They produce only by co-operating in certain way and mutually axchanging their activities. In order to produce, they enter into definite connections and relations with one another and

1. J. Stalin : Dialectical and Historical Materialism page 36.
2. *Ibid* : page 37.
3. K. Marx. and F. Engels : Selected works Vol. V page 429.

only within these social connections and relations does their action on nature; does production, take place.

उत्पादन कभी भी एक स्थिर दशा में नहीं रहता—उसमें पुनरावृत्ति मात्र नहीं होती रहती वरन् परिवर्तन-विकास होता है। परिवर्तन धीरे-धीरे विकास की रचना करता है। उत्पादन के साधनों में विकास हो जाता है। उत्पादन-सम्बन्ध बदल जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप सारी सामाजिक अवस्था बदल जाती है। आर्थिक आधार का परिवर्तन सारे ऊपरी ढाँचे (कला, संस्कृति, राजनीति का ढाँचा, विचारधारा आदि) को भी बदलने में समर्थ सिद्ध होता है।[1]

The production of the immediate material means of subsistence and consequently, the degree of economic development attained by a given people or during a given epoch from the foundation upon which the state institutions, the legal conceptions, the ideas on art, and even on religion, of the people concerned have been evolved.

एक समाज के उत्पादन-साधन जैसे होंगे उसी के अनुरूप उसकी जीवनपद्धति होगी[2] एवं जीवनपद्धति पर आधारित ही उसकी विचारधारा हो सकती है। इससे यह परिणाम निकलता है कि समाज के विकास का इतिहास और कुछ नहीं है वरन् उत्पादन के विकास का इतिहास ही है,[3] जिसमें मनुष्य का उत्पादन के प्रति सम्बन्ध भी आ जाता है। इस मान्यतानुसार इतिहास के कंधों पर मुख्य उत्तरदायित्व उत्पादक शक्तियों के विकास-नियमों, उत्पादक सम्बन्धों तथा आर्थिक-सामाजिक-नियमों के अध्ययन तथा स्पष्टीकरण का आ जाता है।

उत्पादन की एक विशेषता यह है कि जब भी उसमें परिवर्तन या विकास होता है तो उसका प्रारम्भ उत्पादक साधनों से ही होता है। इन उत्पादक साधनों में भी परिवर्तन उत्पादक यंत्रों में होता है।[4] इससे सिद्ध है कि उत्पादन शक्ति अत्यन्त क्रान्तिकारी तथा संचरणशील है। जब समाज की उत्पादन शक्ति परिवर्तित या विकसित हो जाती है तब उस पर निर्भर रहने वाले—मनुष्यों और उत्पादन के बीच के सम्बन्ध भी बदल जाते हैं—मनुष्यों और मनुष्यों के बीच के सम्बन्ध भी बदलते हैं—विचारधारा बदलती है, और इस प्रकार समाज बदल जाता है।

मार्क्स ने उत्पादन के इस आर्थिक पहलू को स्वीकार करके सारे मानव-इतिहास का मूल्यांकन किया। इससे न केवल इतिहास की नवीन व्याख्या दी जा

---

1. F. Engels : Selected works Vol. II page 153.
2. A. *Ibid* : page 125.
   B. K. Marx : The poverty of Philosophy : Ch 2 Section I.
3. A. M. Cornforth : Dialectical Materialism Vol. II page 54.
   B. J. Stalin : Dialectical and Historical Materialism p. 39.
4. *Ibid* : page 41.

सकी वरन् इतिहास द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि भी हुई। उत्पादन सम्बन्धों का विवेचन करते हुए इतिहास को मार्क्स ने पाँच भागों में विभक्त किया है जिन्हें आदिम साम्यवाद-युग, दास-युग, सामन्त-युग, पूंजीवादी-युग तथा समाजवादी-युग की संज्ञाएं प्रदान की हैं। आदिम साम्यवादी व्यवस्था में, उत्पादन सम्बन्धों का आधार, उत्पादन साधनों पर सामाजिक स्वामित्व का होने से इसे साम्यवादी कहा गया है। मानव इतिहास की यह प्रथम अवस्था मानी गई है। इस अवस्था में आने से पूर्व मानव को अपने विकास की अनेक अवस्थाएं पूरी करनी पड़ी हैं, जिनसे जूझते हुए उसने अपने को अन्य जीवों से भिन्न बनाया है। इस युग की प्रारम्भिक अवस्था में मानव के पास उत्पादन-साधन पत्थर के अस्त्र थे, जिनकी सहायता से वह अपना भोजन प्राप्त करता था। धीरे-धीरे उसने धनुष-बाण का आविष्कार किया किन्तु मनुष्य की शारीरिक शक्ति ही मुख्यतः उत्पादन-शक्ति थी। इस युग में व्यक्ति प्रकृति पर विजय पाने तथा जानवरों का शिकार करने का प्रयत्न व्यक्तिगत रूप से करता था, किन्तु अनुभव ने उसे सिखाया कि उसे यदि जीवित रहना है, जंगली जानवरों का शिकार नही बनना है, तो मिलकर रहे, मिलकर उत्पादन करे। सामूहिक उत्पादन के कारण उत्पादन-साधनों का स्वामित्व भी सामूहिक ही हुआ। इस समय तक व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उत्पादन-साधनों की व्यक्तिगत मालिकियत का प्रश्न नहीं उठा। उत्पादन के वे साधन जो जंगली जानवरों से सुरक्षित बने रहने के लिए आवश्यक थे, व्यक्तिगत समझे जा सकते हैं। इस युग में न वर्ग था और न शोषण।[1] उत्पादन-साधन इतने अविकसित और अपर्याप्त थे कि उनके द्वारा उतना ही उत्पादन हो पाता था जिससे सब लोगों का काम कठिनाई से चलता था। आवश्यकता से अधिक उत्पादन तथा उसके संग्रह का प्रश्न ही नहीं उठता था। शोषण न होने से शोषण-विरोधी प्रवृत्तियां भी नहीं थीं।[2] यह व्यवस्था धीरे-धीरे ह्रासोन्मुखी होकर मृत्यु की ओर अग्रसर होने लगी। इसका कारण उत्पादन-साधनों में परिवर्तन होना था। धीरे-धीरे व्यक्तियों ने धातुओं को पिघलाना, कृषि करना, कृषि-यंत्र (हल आदि) बनाना, लोहे के बाण, भाला तथा अन्य फेंक कर मारने वाले हथियार आदि बनाना सीखा। उत्पादन के साधनों में यह परिवर्तन-विकास, उत्पादन का विकास सिद्ध हुआ, जिससे सारा समाज बदल गया। इस परिवर्तन से श्रम का सामाजिक विभाजन किया गया। कृषि, पशुपालन तथा दस्तकारी विकसित होकर श्रम के विभिन्न प्रकार बन गए। श्रमोत्पादनों का विनिमय पहले तो कबीलों में और फिर अपने कबीले के भीतर ही प्रारम्भ हुआ। कबीले परिवारों के रूप में विभाजित हो गए, जो स्वतन्त्र आर्थिक इकाई के रूप में विकसित होने लगे। श्रम का विभाजन तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय हुआ। उत्पादन व्यक्ति की आवश्यकता से अधिक होने लगा जिससे शोषण की सम्भावना उत्पन्न हो सकी।

1. J. Stalin : Dialectical and Historical Materialism : p. 46-47.
2. Fundamentals of Marxism-Leninism : page 155.

उत्पादन-साधनों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा, जिससे श्रम आसान हो जाय। उत्पादन का संग्रह प्राकृतिक संकटों के समय जीवित बने रहने के लिऐ किया जाने लगा। उत्पादन-साधनों के इस परिवर्तन ने अज्ञात रूप से समाज-व्यवस्था को बदला। आदिम साम्यवादी व्यवस्था का स्थान दास-प्रथा ने ले लिया। समाज की विस्तृत उत्पादन-शक्तियों ने व्यक्तियों के मध्य नए उत्पादन सम्बन्ध पैदा कर दिए।

दास-व्यवस्था में केवल उत्पादन-साधनों का स्वामी ही दासपति (Slave Owner) नहीं होता वरन् उत्पादन करने वाले दासों पर उसका पूर्ण आधिपत्य रहता है। इस पद्धति में दासों को बेचने तथा मारने आदि का पूर्ण अधिकार दास-पति को रहता है। समाज का बड़ा अंश दास तथा अल्प स्वामी होता है। आदिम साम्यवादी व्यवस्था के विपरीत इसमें श्रम केवल दासों को करना होता है—न कि समाज के सभी व्यक्तियों को। दासों का शोषण दासपति करते हैं। श्रम-साधनों तथा उत्पादन पर स्वामियों का आधिपत्य रहता है। इस व्यवस्था में आर्थिक आधार के बदलते ही सारा ऊपरी ढांचा बदल जाता है। इसमें निर्धनों के साथ धनियों, शोषितों के साथ शोषकों, अधिकार-विहीनों के साथ अधिकार वालों का संघर्ष छिड़ जाता हैं।[1] इस समाज-व्यवस्था का अभिशाप दासों के पल्ले पड़ता है। आदिम साम्य-वादी व्यवस्था की तुलना में यह व्यवस्था अत्यन्त निकृष्ट साधनों का अनुसरण करती है।[2] शोषण का परिणाम दासों का विरोध बनकर आता है। इस विरोध को दबाने के लिए स्वामी शासन (सरकार) का निर्माण करते हैं जो उनके अधिकारों की रक्षा करती है। जहाँ तक व्यवस्थाओं द्वारा समाज के विकास का प्रश्न है—इस सम्बन्ध में सभी यह स्वीकार करते हैं कि आदिम साम्यवाद की तुलना में दास-प्रथा प्रगतिवादी चरण था। इसके द्वारा श्रम का विभाजन कृषि तथा नगर कलाओं का वर्गीकरण हुआ। इससे सभी क्षेत्रों में अधिक तीव्रगामी सुधार तथा विकास हो सके। व्यक्तियों के हुनर तथा औजारों के सुधार पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा। फल, साग-सब्जी आदि का उत्पादन होने लगा। पशुओं का अधिकाधिक उपयोग प्रारम्भ हो गया। सिंचाई, सड़क, जहाजरानी नहरें तथा बड़े-बड़े पिरामिडों—महलों आदि का निर्माण होने से जन जीवन में सुविधा तथा सुरक्षा का विकास हुआ। इस सबसे विज्ञान और कला के विकास का अवसर आ गया।[3] इस व्यवस्था में भी एक अवस्था ऐसी आई, जब आगे विकास होना रुक गया। दासों की अधिकता ने कृषि साधनों के विकास को ढीला कर दिया। उत्पादन से अप्रभावित रहने वाले दास धीरे-धीरे उदासीन होने लगे—उत्पादन गिरता चला गया। अन्तर्विरोधों ने प्रकट होकर समाज व्यवस्था को बदल

1. J. Stalin : Dialectical and Historical Materialism : p. 47-48.
2. K. Marx and F. Engels : Selected works Vol. II. p 255.
3. Fundamentals of Marxism-Leninism : page 158.

दिया। सामन्ती-युग में दासों को उत्पादक-साधनों (भूमि आदि) पर स्वामित्व तो न मिला, किन्तु उत्पादन का उत्तरदायित्व उन्ही पर ठहराया गया। दास-स्वामी भू-स्वामियों के रूप में परिवर्तित हो गए। कृषक भू-स्वामी की सम्पत्ति न रहा, किन्तु भू-स्वामी के लिए खेत में काम न करने का अधिकार उसे नहीं था। कृषकों को खेत अलग-अलग दे दिए गए, जिनमें वे खेती कर सकते थे। उत्पादन में से भू-स्वामी का अश देकर शेष को कृषक अपने लिए ले सकता था। उस व्यवस्था में कृषक ने कृषि-यंत्रों में सुधार किया तथा कृषि-उत्पादन बढ़ाने के लिए खादों का प्रयोग किया जाने लगा। कस्बों की सख्या बढ़ने लगी। व्यापार अधिकाधिक विकसित होने के कारण युद्ध में कुशलता प्राप्त की गई। अस्त्र-शस्त्रों में विकास हुआ। सामन्तों के यहाँ बर्तनों, वस्त्रों, सजावट एवं प्रदर्शन के साधनों में बहुत वृद्धि हो गई। इससे सामन्तों के आस-पास लोहे, सोने तथा वस्त्रों के अच्छे-अच्छे कारीगर एकत्रित होने लगे। साहित्य, सङ्गीत, चित्रकला आदि के लिए पर्याप्त अवसर होने के कारण उनका विकास भी होने लगा। इस व्यवस्था में कृषक और भू-स्वामी एक दूसरे से टकराने लगे—उनके स्वार्थों में संघर्ष होने लगा। इस समाज-व्यवस्था में कहीं-कहीं किसानों और जमींदारों में खुलकर संघर्ष हुए।[1] इस काल में व्यक्तिगत सम्पत्ति अधिक विकसित हुई। इस युग का ऐंगिल्स ने विवेचन करते हुए लिखा है—

मध्य युग में, सब जगह छोटे पैमाने पर उद्योग की व्यवस्था प्रचलित थी। गाँव में छोटे-छोटे किसान खेती करते थे तथा शहरों में शिल्पी संघ बनाकर अपनी संगठित दस्तकारी करते थे। इन उत्पादन-साधनों पर श्रमिकों का निजी अधिकार रहता था। भूमि, घरेलू कारखाने, खेती तथा कारीगरी के यंत्र श्रम-साधन थे। इन साधनों का उपयोग व्यक्तिगत स्तर पर अलग-अलग ही हो सकता था। चूँकि इन यंत्रों का निर्माण एक व्यक्ति के उद्योग को दृष्टि में रख कर किया गया था। अतः इन पर उत्पादकों का अधिकार रहना स्वाभाविक था—और हुआ भी ऐसा ही।[2]

आगे चलकर जब उत्पादन-यत्रों में परिवर्तन हुआ तो जो उत्पादन-साधन बिखरे हुए तथा अविकसित थे उन्हें एकत्रित करके अधिक विकसित किया गया। धीरे-धीरे ये छोटे-छोटे यंत्र भारी मशीनों में परिवर्तित हो गए, जिनसे उत्पादन अनेक गुना बढ़ गया।[3] इन यत्रों को चलाने के लिए अनेक—सैंकड़ों—व्यक्तियों की आवश्यकता हुई। विशेष रूप से प्रशिक्षित व्यक्ति ही इन्हें चला पाते थे किन्तु इतने विशाल क्षेत्रों होने पर ये केवल व्यक्तिगत सीमाओं में घिर कर नहीं रह सकते थे—इन्हें सामाजिक क्षेत्र की अपेक्षा हुई। उत्पादन भी व्यक्तिगत न रहकर सामाजिक हो

1. भारतवर्ष में सिक्ख आन्दोलन इसका प्रमाण कहा गया है।
2. F. Engels : Selected works Vol. II. page 126.
3. *Ibid* : page 126.

गया। हजारों व्यक्तियों के सम्मिलित प्रयत्नों तथा यंत्रों की सहायता से बने माल को कौन अपना बता सकता था।

इस पूँजीवादी व्यवस्था-युग में आकर ऐसी पद्धति चली जिसमें प्रतियोगिता का क्षेत्र खुल गया। भाप के यंत्रों ने इस क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति कर दी। उत्पादन अत्यधिक तेज़ी के साथ होने लगा।[1] प्राचीन व्यक्तिगत उद्योग-धंधे इन सामूहिक उद्योग केन्द्रों में परिवर्तित होकर अपनी कब्र स्वयं खोद बैठे। इस व्यवस्था का अन्तर्विरोध भी इसी में निहित है। इस व्यवस्था को चलाने वाले श्रमिक एकत्रित हो जाते हैं। वे अपने संगठन बना लेते हैं। पूँजीपतियों की समर्थक सरकार शोषण में सहायक तो होती है किन्तु शोषण के पंजे को कसने की अपेक्षा ढीला कराती है। श्रमिकों में धीरे-धीरे असन्तोष बढ़ता है और वे संगठित होकर पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं।[2]

Partial recognition of the Social character of the productive forces forced upon the capitalists themselves.....The beourgeoisie demonstrated to be a superfluous class.

इस व्यवस्था में उत्पादन में श्रमिक का प्रत्यक्ष भाग नहीं रहता, उसे वेतन मिलता है।[2*] उत्पादन-साधन पूँजीपति द्वारा जुटाए जाते हैं और उन पर उसी का एकाधिपत्य रहता है। पूँजीपति अधिक से अधिक काम बराबर तथा उत्पादक को अधिक से अधिक मुनाफ़े पर बाजार में बेचकर श्रमिक को कम से कम देना चाहता है।[3]

It establ shes an accumulation of misery, corresponding with accumulation of capital. Accumulation of wealth at one pole is therefore at the same time accumulation of misery, agony of toil, slavery, ignorance, brutality, mental degradation, at the opposite pole.

किसानों के छोटे-छोटे खेत टूटकर बड़े-बड़े यांत्रिक कृषि-फार्म बन जाते हैं, जिनसे अधिक उत्पादन होता है। श्रमिकों में अधिकाधिक प्रतिद्वन्द्विता की भावना जाग्रत होती है, वे प्रशिक्षित होते जाते हैं और इस प्रशिक्षण में पूँजीपति इसलिए सहायता देता है कि उसको भारी मशीनों को चलाने वाले हुनरमन्द श्रमिकों की आवश्यकता रहती है। जब तक पूँजीवाद प्रगतिशील रहता है—विकास होता रहता है, जब उसके अंतर्विरोध चरम सीमा पर पहुँचते हैं तो इस व्यवस्था में उनका निराकरण करने की क्षमता नहीं रह जाती है। उत्पादन बढ़ता जाता है, प्रतिद्वन्द्विता

1. F. Engels : Selected works Vol. II. page 126.
2. *Ibid* : page 142.
2. K. Marx and F. Engels : Selected works Vol. I. p. 36.
3. K. Marx : Capital, Sonrenschein & Co. page 661.

के कारण भाव गिरते जाते हैं, परिणाम यह होता है कि निम्न और मध्यवर्गीय व्यापारी तथा उत्पादक समाप्त हो जाते हैं। समाज का वह वर्ग जो अब तक मुख्य भोक्ता था, धीरे-धीरे सर्वहारा बनता चला जाता है, उसकी क्रय-शक्ति घट जाती है। दशा यहाँ तक आ पहुँचती है कि उत्पादन गोदामों में भरने लगता है, उसको खरीदने वाले नहीं मिलते।[1] इन पूँजीपतियों को शासन पर अपना प्रभाव रखना पड़ता है, जिससे ऐसे कानून बनवाये जा सकें जो उनके वर्गगत स्वार्थों की रक्षा कर सकें। बाजार खोजे जाते हैं और पूँजीवाद-साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद आदि के विकल्पों द्वारा कुछ समय के लिए और ठहर जाता है। जिस समाज में इस प्रकार की परिस्थितियाँ नहीं रहतीं, वहाँ अन्तर्विरोध शीघ्र प्रकट हो जाते हैं। सर्वहारा तथा श्रमिक जैसी परिस्थिति होती है उस के अनुसार क्रान्ति कर देते हैं। सत्ता पूँजीवादियों या उनके समर्थकों के हाथ से निकल कर सर्वहारा के प्रतिनिधियों के हाथ में आ जाती है।[2] उत्पादन साधन व्यक्तिगत क्षेत्र से छिनकर राज्जीय साधनों के अन्तर्गत आ जाते हैं।

समाजवाद-युग में उत्पादन-साधनों पर समाज का अधिकार हो जाने से उत्पादन पर मालकियत ही समाप्त नहीं होती, शोषण आदि के लिए भी कोई स्थान नहीं रहता। व्यक्तिगत जीवन का संघर्ष समाप्त हो जाने से सामाजिकता का महत्व बढ़ जाता है।[2*]

With the seizing of the means of production by society, production of commodites is done away with, and, simulteneously, the mastery of the product over the producer.....strugg'e for individual existence disappears.

उत्पादन योजनाबद्ध रीति से आवश्यकतानुसार किया जाता है। समाज में वर्ग नहीं टिक पाते। राज्य उत्पादन की अराजकता को समाप्त करते-करते अपने को भी समाप्ति की ओर अग्रसर करता है। व्यक्ति को अपने सामाजिक संगठन के स्वामी होने का अवसर मिल जाता है। उसके वश में प्रकृति की शक्तियाँ होती हैं। उसे सच्ची स्वतन्त्रता मिल जाती है।[3] अन्तर्विरोध, संघर्ष, वर्गवाद के समाप्त होने पर व्यक्ति इतना उठता जाता है कि धीरे-धीरे शासन-व्यवस्था भी समाप्त प्रायः हो जाती है।[4]

---

1. F. Engels : Selected works Vol. II page 133.
2. F. Engels : Selected works Vol. II page 137-38.
2. *Ibid* : page 140.
3 F. Engels : Selected works Vol. II page 142.
4. V.I. Lenin : Marx-Engels-Marxism : page 404.

We don't know how quickly and in what succession, but we know that they (the causes of exploitation) will wither away. With their withering away the state will also wither away.

यह व्यक्ति और समाज की चरम विकसित अवस्था होगी ।

## वर्ग-संघर्ष

इतिहास का विकास आर्थिक सम्बन्धों के परिवर्तन का परिणाम है । इन आर्थिक परिवर्तनों के मूल आधार वर्ग हैं । एक वर्ग में वे सभी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह आ जाते हैं जिनके आर्थिक सम्बन्ध एक धरातल पर होते हैं ।[1]

Classes are large groups of people which differ from each other by the place they occupy in a historycally determined system of social poruction, by their relation to the means of production, by their role in the social organisation of labour, and consequently, by the dimensions and mode of acquiring the share of social wealth of which they dispose. Classes are groups of people one of which can appropriate the labour of another owing to the different places they occupy in a definite system of social economy.

इस वर्ग का सामाजिक उत्पादन की पद्धति में एक निश्चित स्थान होता है । इनका आपस में तथा उत्पादन के साथ सम्बन्ध एक निर्धारित प्रक्रियानुसार चलता है । एक वर्ग दूसरे से स्वार्थवश टकराता है ।[2]

In any given society the strivings of some of its members conflict with the strivings of others.

वर्गों में संघर्ष छिड़ना स्वाभाविक तथा अनिवार्य है । वर्ग जहाँ होंगे वहाँ शोषण होगा, क्योंकि वर्गों का निर्माण ही शोषण के लिए होता है ।[3] यह शोषण आर्थिक आधारों पर खड़ा होने के कारण भौतिक है ।[4]

The entire class creates and forms them out of its material foundations and out of the corresponding social relations.

उत्पादन साधनों पर जिस वर्ग का अधिकार होता है शासन-सत्ता पर भी उसका प्रभाव रहता है । इतना ही नहीं उस युग की विचारधारा भी उसका समर्थन करती है । कला तथा संस्कृति आदि पर उसका अंकुश अपने आप हो जाता है ।[5]

The class which has the means of material production at its disposal has control at the same time over the means of mental production.

---

1. V.I. Lenin : Selected works, Vol. II. Pt. 2 page 224.
2. V.I Lenin : Marx-Engels-Marxism page 29.
3. F. Engels : Selected works Vol. II page 139.
4. K. Marx : The 18th Burmaire of Louis Bonaparte Ch. 3.
5. K. Marx and F. Engels : German Ideology pt. II.

प्रत्येक युग में जिस वर्ग के हाथ में उत्पादन-साधन होते हैं—जो शासक होता है, उसी की विचारधारा चलती है[1], दूसरी विचारधारा जो शोषितों का प्रतिनिधित्व करती है, इसके विरोध में आ खड़ी होती है। उत्पादन तथा वैचारिक दोनों क्षेत्रों में वर्गवाद आमने-सामने खड़ा होकर संघर्ष करता है।[2]

Oppressor and oppressed, stood in constant opposition to one another, carried on an uninterrupted...fight, a fight that each time ended...in a revolutionary reconstruction of society.

इसे वर्ग-संघर्ष कहा गया है। इस वर्ग-संघर्ष के मूल में अन्तर्विरोध रहता है। ह्रासशील तत्व मिट जाते हैं और उनका स्थान नवीन तत्व ग्रहण कर लेते हैं। समाज इसी आधार पर विकसित होता चला जाता है। समाज के विकास का इतिहास इसी वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।

## मार्क्सवाद और साहित्य

मार्क्सवाद एक जीवन-दृष्टि है, न कि कोई सीधा सादा मार्ग, जिस पर आँखें मूँद कर चला जा सकना सम्भव हो। आँखें खोलकर, आगे-पीछे देखकर, परिस्थितियों का विचार करके, अनुभव के आधार पर कुछ आर्थिक तथा सामाजिक नियमों को ध्यान में रखकर—समाज के शोषण को मिटाने तथा समाज का सर्वांगीण विकास प्रस्तुत करने की प्रविधि खोजना—मार्क्सवादी पद्धति की दिशा है। मार्क्सवादी साहित्य और कला को इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जहाँ एक ओर अस्त्र मानते हैं[3], वहाँ दूसरी ओर यह स्पष्ट करने से भी नहीं चूकते कि इसकी शक्ति तभी पूर्ण रूप से प्रकट हो सकती है, जबकि उद्देश्य की अधिकाधिक गुह्यता के साथ अनुस्यूत कर दिया जाय।[4] मार्क्सवादी मान्यताओं के सम्बन्ध में आज अनेक प्रकार के मतभेद चल रहे हैं। इसका कारण यह है कि अधिकांशतः इन सिद्धान्तों को आंशिक स्वीकृति प्रदान की जाती है, उन्हें समग्रता में नहीं देखा जाता। परिणाम यह होता है कि वे उचित स्थान पर नहीं पहुँच पाते हैं।

मार्क्सवादी विचारधारा साहित्य के सम्बन्ध में सबसे पहले यह स्वीकार करती है कि इसका उत्पादन और विनिमय आर्थिक सम्बन्धों का परिणाम है।[5] किन्तु अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा इसमें आर्थिक प्रतिफलन की स्पष्टता इतनी नहीं हो सकती कि एक छोटा सा काल लेकर भी उसे समझा सके। इसके लिए जितना बड़ा काल लिया जायगा, उतनी ही आसानी और स्पष्टता के साथ इसे समझा जा सकेगा।[6] साहित्यकार

---

1. *Ibid* : Manifesto of Communist Party Ch 2.
2. V.I Lenin : Marx-Engels-Marxism—page 29.
3. Art is the weapon of the masses : Lenin.
4. K. Marx and F. Engels : Literature and Art, page 37.
5. *Ibid* : page 1.
6. F. Engels : Selected works Vol. II. page 459.

की चेतना समाज सापेक्ष होती है।[1] उस पर अपने चारों ओर के जगत् का प्रभाव पड़ता है। कोई साहित्यकार कितना ही बचने का प्रयत्न करे किन्तु इस प्रभाव से मुक्त रहना उसके लिए असंभव है। यहाँ तक कि उसकी कल्पनाएँ भी इससे नियन्त्रित होती हैं। समाज के यथार्थ को साहित्य द्वारा प्रकट करने का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व साहित्यकार पर आता है। यथार्थवादी दृष्टिकोण को छोड़ कर चलने वाला साहित्य कभी प्रगतिशील नहीं माना जा सकता। यथार्थवाद के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं—आगे चलकर इनमें और भी भेद हो सकता है किन्तु यह सभी मानते हैं कि साहित्य समाज से कट कर नहीं चल सकता। मार्क्सवादी यथार्थवादी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह न केवल वर्तमान को ही देखता है, वरन् भविष्य पर भी अपनी दृष्टि रखता है[2]—'गोर्की ने भी इस भविष्य को देख सकने की क्षमता को समाजवादी यथार्थवाद की विशेषता कहा है। उनके मतानुसार भविष्य का दिशा-निर्देशन ही बालजक और १९ वीं शताब्दी के क्लासीकल यथार्थवाद से समाजवादी यथार्थवाद को विशिष्टता प्रदान करता है।" समाज को एक निरन्तर विकासशील संस्था के रूप में देखने वाली द्वन्द्व प्रधान मार्क्सवादी दृष्टि अन्य यथार्थवादी मान्यताओं से इसीलिए भिन्न है। मार्क्सवादी यथार्थवाद की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने वस्तुवादी यथार्थ चित्रण के अतिरिक्त टाइप पात्रों को उनकी अनिवार्य विशेषता माना है।[3]

Realism, to my mind, implies, besides truth of detail, the truthful reproduction of typical charecter under typical circumstances.

इसमें परिस्थितियाँ भी इसी दृष्टिकोण से चित्रित की जानी चाहिएँ। मार्क्स यथार्थवाद को विचारों से अधिक महत्त्व देते हैं। इसीलिये उन्होंने शिलर की अपेक्षा शेक्सपियर को न भूल जाने की जोरदार हिमायत की है[4]—

According to my views on the drama, the realistic should not be over-looked because of the intellectual elements, Shakespeare should not be forgotten for Schiller.

जब मार्क्स समाजवादी यथार्थवाद पर जोर देते हैं तो उनका उद्देश्य यही है कि समाज में आज दो वर्ग हैं। एक शोषक, दूसरा शोषित। साहित्य सोद्देश्य होना चाहिए। उसे शोषित का पक्ष लेकर चलना चाहिए। यह पक्षधर साहित्य शोषण को मिटाने के लिए जन-मानस तैयार करेगा। इसके लिए उसे दोनों वर्गों के बीच चलने वाले संघर्ष का नियन्त्रण करना चाहिए। जो साहित्य वर्ग-संघर्ष का चित्रण

1. K. Marx : Literature and Art, page 2.
2. समालोचक : फरवरी 1959 : पृ० ७३।
3. K Marx and F. Engels : Literature and Art, page 36.
4. *Ibid* : page 47.

नहीं करता - वर्ग संघर्ष से बच निकलने का प्रयत्न करता है, वह भविष्य के लिए अपना स्पष्ट दृष्टिकोण नहीं रखता, सर्वहारा के संघर्ष का सहायक सिद्ध नहीं होता, वह समाजवादी यथार्थवाद नहीं कहा जा सकता। जैसा कि इतिहास के सम्बन्ध में ऐंगिल्स ने लिखा है कि इतिहास का अध्ययन वर्ग-संघर्ष का इतिहास है – वैसे ही यह कहा जा सकता है कि साहित्य का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। अब तक साहित्य में वर्ग-संघर्ष स्वाभाविक रूप से अपने आप चित्रित होता रहा है, किन्तु आज हम इस सत्य को जान गए हैं तो हमें जानबूझकर उस प्रकार का साहित्य निर्मित करना चाहिए जो वर्ग-संघर्ष को तीव्र करे तथा समाज को ठीक उस दिशा में ले जाय, जहाँ से समाजवादी और आगे वर्गहीन समाज-व्यवस्था का पथ प्रशस्त हो सके[1]—

Our art and literature are first of all for the workers, the class which leads the revolution. Secondly, they are for the peasants, the most numerous and steadfast allies in the revolution. Thirdly, they are for the armed workers .....Fourthly, they are for the working people.....

मार्क्सवादी दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में इतने से ही संतुष्ट हो जाता है कि यदि साहित्यकार भविष्य को सुन्दर बनाने वाले हल न भी दे तो भी कोई बात नहीं है, किन्तु उसे जागरूक रहकर पारस्परिक सम्बन्धों को यथार्थ रूप में चित्रित करना चाहिए। यदि आज का साहित्यकार बुर्जुआ समाज की आशाओं को ध्वस्त करके वर्तमान समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न कर सके तथा यह दिखा सके कि यह व्यवस्था सदैव चलने वाली नहीं है, तब भी वह अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है, चाहे स्पष्ट रूप से वह इंगित न कर सके कि आगामी व्यवस्था (आज की समस्याओं के हल के रूप में) क्या होगी ? इस सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है[2] –

A socialist biased novel fully achieves its purpose, in my view, if by consciously describing the real mutual relations, breaking down conventional relations about them, it shatters the optimism of the bourgeois world, instils doubts as to the eternal character of the existing order, although the author does not offer any definite solution or does not even line up openly on any particular side.

माओत्सेतुङ्ग तथा चाउ यांग आदि चीनी सौंदर्यशास्त्री समाजवादी यथार्थवाद को क्रान्तिकारी यथार्थवाद तथा क्रांतिकारी रोमांटीसिज्म का समन्वय स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यही पद्धति आज के युग को प्रभावशाली ढंग से प्रदर्शित करने तथा श्रमिक जनता की सेवा के साथ समाजवादी –और आगे कम्यूनिस्ट व्यवस्था को

1. Mao-Tse-Tung : On Art and Literature : page 88.
2. K. Marx and F. Engels—Literature and Art, page 39-40.

लाने में सहायक हो सकती है[1]—

In order that literature and art may better reflect our age and more effectively serve the broad masses of labouring people and the great cause of socialism and communism. We advocate the artistic method of integrating revolutionary realism and revolutionary romanticism.

वस्तुगत यथार्थ के सम्बन्ध में दृष्टिकोण की स्पष्टता का परिणाम यह होता है कि मार्क्सवादी साहित्यकार व्यक्तिगत प्रक्रिया पर पूरा ध्यान जमा सकता है, उसे प्रगतिवादी विचारधारा, वैज्ञानिक भविष्य-दृष्टि तथा क्रान्ति की दिशा को निर्देशित करने के लिए उसी पद्धति को अपनाना चाहिए। मार्क्सवाद में आज का आदर्श कल का यथार्थ बनता है। कल फिर नए आदर्शों का निर्माण हमें आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। हमारा संघर्ष और श्रम आदर्शों को यथार्थ रूप देने के लिए होता है।[2] यह समाजवादी यथार्थवाद बहुत कुछ प्रेमचन्द जी के आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद से मिलता-जुलता है। प्रेमचन्द जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है।

'यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अंधकार की ओर ही केन्द्रित कर दें.....हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है।"[3]

जैसा कि अब तक देखा जा चुका है इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सामाजिक यथार्थ केवल विषय-वस्तु में ही निहित होता है। इसके समझने तथा समझाने के लिए शैली महत्वपूर्ण अंग है। मार्क्स ने शैली को अपनी निधि तथा भावात्मक व्यक्तित्व कहा है।[4]

My property is form, it is my spiritual individuality. The style is the man.

मार्क्स के लिए शैली ही व्यक्तित्व है। यथार्थवादी शैली व्यंग्य को स्वीकार करके चलती है। जो कुछ अशुभ अमंगलकारी तथा असुन्दर है उस पर जब तक व्यंग्य नहीं किया जायगा तब तक उसके असौन्दर्य तक लोगों का ध्यान नहीं पहुँच पायेगा। मार्क्स ने निश्चित शैली तथा सौम्य पद्धति में लिखने की खिल्ली उड़ाते हुए कहा है कि यदि मैं हंसोड़ हूँ तो मेरे लिए गंभीर शैली में लिखना कैसे सम्भव हो सकता है ?[5]

---

1. Chou Yand : The Path of Socialist Literature and Art in China, page 35.
2. *Ibid* : page 37.
3. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० ९८-९९।
4. K. Marx : Literature and Art, page 52.
5. *Ibid* : page 52.

व्यंग्य के अतिरिक्त मार्क्सवादी साहित्य में छन्द, अलंकार, भाषा तथा शैली जन-सामान्य के मध्य से ग्रहण की जाती है। जो भाषा—शैली, अलंकार (सादृश्यमूलक तथा वैषम्यमूलक दोनों) लोक गीतों की धुनें साहित्य में जो नवीनता, वैविध्य तथा प्रभावोत्पादक शक्ति लाने में समर्थ हैं, उन्हें प्रगतिशील साहित्यकार की कला का अविभाज्य अंग कहा गया है। चूंकि जनता इन तत्वों से प्रभावित होती है, अतः इन तत्वों को स्वीकार करने वाला साहित्य किसी युग विशेष की कृति न रह कर युग-युग की कृति सिद्ध होता है। प्रगतिवादी साहित्य की शैली सुस्पष्ट, सामान्य, वैविध्यपूर्ण लोक-जीवन की भाँति बहुमुखी होती है। इसी कारण वह सामाजिक यथार्थ को उसके अधिकतम अंश में अभिव्यक्त कर पाती है।

प्रगतिवाद में साहित्य और उपयोग एक होकर चलते हैं। साहित्य सोद्देश्य होता है, किन्तु उसके उद्देश्य की मुखरता अघोषित रहती है, क्योंकि घोषित हो जाने पर उसका प्रभाव उसी अनुपात से कम हो जाता है। सभी साहित्य प्रचार है—इसका अभिधेयार्थ ग्राह्य नहीं है। इस सम्बन्ध में चौहान का मत है—

'सारे साहित्य को प्रोपेगेण्डा या सामाजिक प्रभाव का अस्त्र कहकर आज के समाज में उसके एक महत्वपूर्ण संविधायक पहलू का ही निर्देश किया जाता है और केवल इस दृष्टि से खरी उतरने वाली कोई रचना अपने में श्रेष्ठ रचना नहीं हो जाती। उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करते समय उसकी सौन्दर्यानुभूति, उसकी रूप योजना, शैली और प्रौढ़ता, वाक्य-रचना, शब्द-प्रयोग आदि अनेक दूसरी कसौटियों पर भी कसना आवश्यक समझते हैं और प्रगतिवादी इन सब कसौटियों पर किसी भी काव्य या साहित्य-कृति का कसना आवश्यक समझते हैं। वे उनके महत्व को जानते हैं, यद्यपि आज के संक्रमण काल में वे साहित्य के संविधायक पहलू को दृष्टि में रखकर उसका सामाजिक दृष्टिकोण से विवेचन करना अधिक आवश्यक समझते हैं।[1]

इसका यह अर्थ लिया जाता है कि साहित्य में युग-सत्य प्रकट होता है, जो हमें बार-बार टोकता चलता है तथा दूसरी ओर प्रोत्साहित करता चलता है। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द जैसे श्रेष्ठ उपन्यासकार भी संतुलित दृष्टिकोण अपनाना उचित समझते हैं तथा उनको भी आज की परिस्थितियों में प्रचार से बचना अनुचित तथा कठिन प्रतीत होता है।

'आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् भी अपनी रचना द्वारा किसी वाद का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं, अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाये उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास

1. शिवदानसिंह चौहान : प्रगतिवाद पृ० २१।

किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्व क्षणिक होता है ? विक्टर ह्यूगो का ला मिज़रेबिल, टाल्सटाय के अनेक ग्रंथ, डिकिन्स की कितनी ही रचनाएँ विचारप्रधान होते हुए भी उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाएँ हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शा, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रंथ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं।'

इस प्रकार उपयोगिता और उद्देश्य को स्वीकार कर लेने पर प्रचार को स्वीकृति मिल ही जाती है।

सौन्दर्य और साहित्य का सम्बन्ध मार्क्सवाद में भी स्वीकृत है। सौंदर्य को जीवन में देखा गया है। जीवन से युक्त वस्तु ही सुन्दर मानी गई है, जीवन को अभिव्यक्त करने वाली वस्तु सुन्दर है, ऐसा कहा गया है।[1] इस वस्तु को देखकर हमें जीवन का स्मरण हो आता है। समाज वर्ग-विभक्त होने के कारण जीवन के रूपों को भी विभिन्नत्व में देखता है, फलस्वरूप उनकी सौंदर्य-धारणा भी भिन्न-भिन्न बन जाती है। मार्क्सवादी सौंदर्य को विषय तथा विषयी (दोनों) गत मानते हैं। प्रकृति में दृष्टिगोचर होने वाला सौंदर्य इसलिए प्रभावित करता है, क्योंकि उसके रूपों में भी जीवन की नवीनता रहती है। मार्क्सवादी समाज में शोषित का पक्ष लेकर चलता है, अतः जीवन और साहित्य में जो कुछ उसकी मान्यता के अनुरूप है—वही सुन्दर प्रतीत होता है, वही मंगलकारी है। लोक-मंगल पर मार्क्सवादी साहित्यिक मान्यताओं में विशेष ज़ोर दिया जाता है। मार्क्सवाद मानवतावाद पर आधारित है। मानवता के सही रूप में विकसित होने के लिए यह माना जाता है कि जब तक निजी सम्पत्ति है तब तक हम सच्चे मानवतावादी नहीं बन सकते[2]—

The abolition of private property means therefore the complete emancipation of all human senses and aptitutes : but it means that emancipation for the very reason that these sences and aptitudes have become human, both subjectively and objectively.. ...This is the process of development of practical humanism.....by first removing this intercading element which, however, is a necessary prerequisite.....does positive self created humanism come into being.

अतः मानवतावादी दृष्टिकोण सबसे पहले हमें इन सीमाओं से मुक्त कराने की प्रेरणा देता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावनाओं तथा बन्धनों से छूट जाने पर ही सच्ची तथा क्रियात्मक मानवता का जन्म होता है, जिसके लिए मार्क्सवादी संघर्षरत रहता है।

---

1. N. G. Chirnyshevsky : Selected Philosophical Essays, p. 287.
2. K. Marx : Literature and Art, page 54.

# अध्याय 2

## रूस में क्रान्ति से पूर्व आलोचना का रूप

रूसी आलोचना पर मार्क्स का प्रभाव बेलिंस्की के युग से पड़ना प्रारम्भ हुआ है। मार्क्स ने उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में अपनी स्थापनाएँ प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया था। १८४७ के पश्चात् इन स्थापनाओं की ओर विचारकों का ध्यान गया। मार्क्स और ऐंगिल्स ने पाँचवें दशक के मध्य बिन्दु तक पहुँचते-पहुँचते कम्यूनिज्म का विधिवत् प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था। १८४० में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय का आयोजन किया गया तथा वह अन्तर्राष्ट्रीय १९४८ में हुई। उसी काल में मार्क्स और ऐंगिल्स का कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ था। बेलिंस्की जो १९४८ में स्वर्गवासी हुए, जीवन के अन्तिम दिनों में बीमार हो कर फ्रांस और जर्मनी में अपना इलाज कराने आये थे। उन्होंने साल्जबुन्न से गोगोल के नाम अपना प्रसिद्ध पत्र लिखा था। इस सबसे सिद्ध है कि उन पर मार्क्सवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा था। इस प्रकार हम रूसी आलोचना को दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं—

१. क्रान्तिपूर्व रूसी आलोचना सन् १८४० से १९१७ तक।

२. क्रान्ति पश्चात् रूसी आलोचना सन् १९१७ के पश्चात्।

क्रान्तिपूर्व रूसी आलोचकों में बेलिंस्की, दोब्रोल्युबोव, हर्जन, चर्नशेविस्की तथा प्लेखानव आदि आते हैं। इनकी आलोचनाओं द्वारा ही न केवल रूसी आलोचना का वरन् समस्त विश्व की प्रगतिवादी आलोचना का स्वरूप निर्धारण हुआ है। इन आलोचकों के आलोचना-सिद्धान्तों का संक्षेप में परिचय देना सम्भव है।

### बेलिंस्की

एस० एम० किरोव ने १९११ में बेलिंस्की की जन्मशताब्दी के अवसर पर निम्न पंक्तियाँ कही थीं।

"वह अपने चारों ओर की घृणास्पद वास्तविकता के प्रति विद्रोह के मूर्त रूप थे..... ।"[1]

इस कथन का आधार है बेलिंस्की की क्रान्ति में आस्था, सामाजिक परिप्रेक्ष्य

---

1. बेलिंस्की-दर्शन, साहित्य और आलोचना : जीवन-वृत्त।

की अनिवार्य स्वीकृति[1] तथा ईश्वरवाद का विरोध ।

"युग की आत्मा से विच्छिन्न मानवीय इच्छा पेड़ से टूटे पत्ते की भाँति धूल में आ गिरती है चाहे उसके पीछे नीयत अच्छी रही हो या बुरी ।"[2]

"न कुछ में से कुछ की रचना करना खुदा के घर की बात है·····मरणासन्न आदमी को जिन्दा किया जा सकता है; लेकिन उसे नहीं जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं है ।"

मानवतावादी होने के कारण वह मानव को प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ कृति मानते थे ।

"कलाकार का चिरन्तन माडल है प्रकृति और प्रकृति में सब से श्रेष्ठ और शुभ्र माडल है मानव ।"[3]

कलावादियों की मान्यताओं को अस्वीकार करके उन्होंने कला और जीवन का विच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित किया तथा यह घोषणा की कि कला निरुद्देश्य कभी भी नहीं हो सकती । उसका उद्देश्य होता है और वह उद्देश्य है समाज की उन्नति ।

"हमारे युग की कला क्या है ? न्याय की घोषणा, समाज का विश्लेषण, परिणामतः आलोचना । विचार-तत्व अब कला-तत्व में समा गया है । यदि कोई कलाकृति केवल चित्रण के लिये ही जीवन का चित्रण करती है, यदि उसमें वह आत्मगत शक्तिशाली प्रेरणा नहीं है जो युग में व्याप्त भावना से निःसृत होती है; यदि वह पीड़ित हृदय से निकली कराह या चरम उल्लसित हृदय से फूटा गीत नहीं, यदि वह कोई सवाल या किसी सवाल का जवाब नहीं, तो वह निर्जीव है ।"[4]

उनके समाज को बदलने की रीति सुधारवादी न होकर क्रान्तिवादी थी । साहित्य में वे गुणों तथा आदर्श के अंकन के साथ बुराई को दिखाना इसलिये अनिवार्य मानते थे, कि बिना बुराई को दिखाये बुराई को दूर करने का प्रयत्न नहीं होता—अतः बुराई के विरुद्ध संघर्ष छेड़ने के लिये उसका सम्यक ज्ञान आवश्यक है ।

"बदी को नजरंदाज कीजिए, आप नेकी को भी नष्ट कर देंगे । कारण यह बदी के विरुद्ध संघर्ष में ही नेकी नेकनाम होती है या नेकी बनती है ।"[5]

बेलिंस्की ने हेगेल आदि आदर्शवादी दार्शनिकों की पद्धति को समझ कर अन्त में अपनी स्वीकृति भौतिकवाद को प्रदान की थी । वे दर्शन की ओर इसलिये उन्मुक्त हुये कि काव्य और दर्शन एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते । काव्य में वे न केवल

---

1. बेलिंस्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० १ ।
2. बेलिंस्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० १ ।
3. विस्सारियन ग्रिगोरियेविच बेलिंस्की : दर्शन साहित्य और आलोचना, पृ० १ ।
4. बेलिंस्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० १ ।
5. बेलिंस्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० २ ।

जीवन का चित्रण ही अनिवार्य मानते हैं वरन् जीवन के भीतर कार्य करने वाले सिद्धान्तों को भी महत्व देते हैं और इस प्रकार उनकी आलोचना दर्शन का आधार लेकर चलती है। दार्शनिक दृष्टि से वे प्रकृति को अपूर्ण मानते हैं किन्तु उसके ऊपर किसी अन्य सत्ता को जो पूर्ण हो वे अस्वीकार करते हैं।[1]

'प्रकृति की अपूर्णता में ही उसकी पूर्णता निहित है। पूर्णता शून्य पराविद्या की इलहामी चीज है और इसलिये दुनियाँ में सर्वाधिक कुत्सित चीज है। मानव मृत्यु-लोक का जीव है, रोग और भूख का शिकार होता है, उसे अपने जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ता है। यह उसकी अपूर्णता है लेकिन यह चीज उसे महान् भी बनाती है। जीवन के प्रति प्यार और सराहना का उसमें संचार करती है। मृत्यु, रोग, दुर्घटना और शोक से उसे मुक्त कर दीजिये—और वह तुर्की पाशा बन कर रह जायेगा—आलस, ऐयाशियों और ऊब में डूबा हुआ—बल्कि इस से भी बदतर, पशु में और उस में कोई अन्तर नहीं रहेगा।"[2]

बेलिंस्की ने कठमुल्लेपन का विरोध किया और बताया कि स्वतन्त्र चिन्तन की आवश्यकता ही सच्ची आलोचना को जन्म दे सकती है। उन्होंने लिखा है:—

'सम्प्रदाय और मत से जिसने अपने को बाँध लिया है, बुद्धि उस से पनाह माँगती है। क्या यह सच नहीं है कि प्रायः सभी पागल अपनी बातचीत में अद्भुत सूझ-बूझ का परिचय देते हैं, लेकिन तभी तक जब तक कि उनकी 'धुन' उनके सिर पर फिर सवार नहीं हो जाती····।"[3]

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध मार्क्सवाद से पूर्व क्या आलोचना से प्रारम्भ से ही स्वीकार किया गया है। साहित्य में जीवन और कला में से किसे प्रमुखता मिले यह प्रश्न उन्नीसवीं शताब्दी की विचारणा का प्रश्न रहा है। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता स्पष्ट रूप से मार्क्सवादी है जहाँ वे भाव-पक्ष को कला-पक्ष से श्रेष्ठ ठहराते हैं। उनका जोर भाव पर है, कला पर नहीं, उद्देश्य भाव है कला साधन—ऐसी मान्यता लेकर ही वे चले। उन्होंने लिखा—

"**कविता में जीवन पहले है और कला बाद में**। इतिहास के सिवा जीवन भला इतनी पूर्णता इतनी गहराई और इतनी विविधता के साथ और कहाँ अपने आप को मूर्त करता है? कारथाज के खण्डहरों के बीच, उनके ऊपर खड़ा मरियस केवल इतिहास का ही जीव नहीं है। वह एक गहरा कलात्मक तथ्य भी है। नेपोलियन एक कलात्मक विभूति है—न केवल तूलोन मिस्र आस्तरलित्ज और मारेन्गो में ही, बल्कि मास्को और सल्वा द्वीप, वाटरलू और सन्त हैलेना तथा पेरिस में आहतों, अपंगुओं के

1. बेलिंस्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० ४।
2. वही, पृ० ५।
३. वही, पृ० ५।

होटल में भी····· ।' [1]

मार्क्सवादी दर्शन में इतिहास को जो मान्यता दी गई है आज की प्रगतिवादी आलोचना भी उसी पर टिक कर चलती है। बेलिंस्की इतिहास को अत्यन्त महत्व देते थे। फ्रांस के साहित्य की आलोचना करते हुये वह आवश्यक मानते थे कि साहित्य का सम्बन्ध किसी समाज विशेष से ही हो सकता है। ऐसा साहित्य एक साथ ही सारे विश्व को अपने में नहीं समेट सकता। साहित्य समाज के आन्तरिक रूप का दर्पण तो है लेकिन साहित्य की केवल इतनी ही व्याख्या नहीं है—यह तो उसका मात्र एक गुण है।

"साहित्य को अनिवार्यतः जाति के आन्तरिक जीवन का दर्पण और उसका प्रतीक होना चाहिये। किन्तु यह किसी तरह भी साहित्य की व्याख्या नहीं है, यद्यपि उसके अत्यन्त आवश्यक गुणों में से एक अवश्य है।" [2]

यह थी उनकी गहरी समझ तथा साहित्य को उसकी पूर्ण व्यापकता के साथ देखने की दृष्टि।

बेलिंस्की नाटक को रंगमंच के लिये मानते थे और रंगमंच को समाज के लिए। बिना रंगमंच वाले रूसी समाज से वह कितने व्यथित थे यह निम्न पंक्तियों से ज्ञात हो जाता है। वह यथार्थवाद के पक्के हामी थे, तभी तो नाटकों द्वारा सच्चे जीवन के चित्रों को अभिनीत होते देखना पसन्द करते थे, तभी तो उन्हें लिखना पड़ा—

"ओह, कितना अच्छा होता यदि हमारे पास एक अपना, जातीय, रूसी रंगमंच होता ?·····सचमुच समूचे रूस को रंगमंच पर देखना, उसकी तमाम भलाइयों और बुराई के, शुभ्रता और भौंड़ेपन के साथ, कल्पना की शक्ति से पुनर्जीवित उसके वीर नायकों को सुनना, उसके सशक्त जीवन की धड़कनों का अनुभव करना, ओह, नाटक घर में जाइए, वहाँ की हवा में साँस लीजिये और अगर हो सके तो—वहीं दम तोड़ दीजिये·····"। [3]

मार्क्सवाद राष्ट्रीय भावनाओं के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को भी प्रश्रय देता है। अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का विरोध करने वाली राष्ट्रीयता त्याज्य मानी गई है। बेलिंस्की ने इन दोनों को एक दूसरे से अभिन्न माना है—

"जो लेखक जितना ही अधिक प्रतिभावान होता है, उतना ही अधिक वह अपने युग की सन्तान और विश्वनागरिक होता है।" [4]

उन्होंने अपनी राष्ट्रीयता और यथार्थवाद का एकीकरण कर दिया था। उनकी

---

1. बेलिंस्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० ६।
2. वही, पृ० १४।
3. वही, पृ० २२।
4. वही, पृ० २६।

मान्यता थी कि रूसी जीवन के सच्चे चित्र खींचना ही राष्ट्रीयता है।[1]

यथार्थवाद के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट तथा व्यापक थी। सामाजिक चित्रण में वह यथार्थवादी दृष्टिकोण की प्रधानता स्वीकार करते थे। उनका यथार्थवाद फ्रांसीसियों का सा 'यथातथ्यवाद' नहीं था वरन् वह दृष्टिकोण विशेष था।

"प्रत्येक राष्ट्र की राष्ट्रीयता का महत्व उसकी पोशाक और चूल्हे चक्की में नहीं, बल्कि जैसा कहते हैं—चीजों को देखने के उसके ढंग में है। किसी भी समाज का यथार्थ चित्र अंकित करने के लिये सर्व प्रथम उसके तत्व को, उसके निजत्व को पकड़ना आवश्यक है और ऐसा करने का कोई और तरीका नहीं है—सिवा इसके कि जिन नियमों पर समाज टिका है, समग्र और सार रूप में उनकी वास्तविक जानकारी प्राप्त की जाय, उनका दार्शनिक मूल्यांकन किया जाय। हर राष्ट्र के दो दर्शन होते हैं-एक पण्डिताऊ, किताबी, गम्भीर, अवकाशी दर्शन, दूसरा काम के दिन का, घरबार का, आहार व्यवहार का दर्शन। ये दोनों दर्शन न्यूनाधिक रूप में बहुधा एक दूसरे से घनिष्ठ सम्पर्क रखते हैं। जो कोई सोसाइटी का चित्र खींचना चाहता है, उसके लिये इन दोनों से परिचित होना आवश्यक है—बाद वाले कामकाजी दर्शन से तो और भी अच्छी तरह से। इस प्रकार जो राष्ट्र को जानना चाहता है उसके लिये यह जरूरी है कि वह उसका अध्ययन करे—सर्वप्रथय उसके पारिवारिक तथा घरेलू जीवन का।[2]

बेलिंस्की बुर्जुआ के विरोधी सर्वहारा के समर्थक तथा क्रान्ति के आवाहक थे। उन्होंने कला और विज्ञान के समन्वय की हिमायत की थी। आर्थिक सम्बन्धों को समझ कर शोषण की पद्धतियों का डट कर विरोध करना बेलिंस्की की मार्क्सवादी मान्यताओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति थी। गोगोल को लिखे गये सुप्रसिद्ध पत्र में उन्होने शोषण के सहायक गोगोल को आड़े हाथों लिया।

"रूस का एक महान् लेखक, जिसकी सुन्दर कलात्मक, तथा गहरी सचाई से परिपूर्ण कृतियों ने अपनी स्थिति के बारे में रूस की चेतना को जगाने में शक्तिशाली योग दिया, उसकी आँखों के सामने एक ऐसा आईना रखा जिसमें उसने अपनी यथार्थ छवि को देखा—वही लेखक एक पुस्तक लेकर प्रस्तुत होता है जो ईसा और गिरजे के नाम पर किसानों का और भी अधिक दोहन करने, उनके साथ और भी बुरी तरह पेश आने की सीख बर्बर भू-स्वामियों को देता है।"[3]

समाज में जो दो वर्ग शोषक और शोषित के हैं और जिन शोषितों का समर्थन मार्क्स ने किया था उन्हीं का समर्थन बेलिंस्की करते थे, वे साहित्यकार को यह बताते हैं कि किसान को यथार्थवादी दशा का चित्रण करके साहित्यकार को उसके लिए अपनी सहानु-

1. बेलिंस्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० २६।
2. वही, पृ० ५१।
3. वही, पृ० ७५।

भूति सुरक्षित रखनी चाहिये[1], शोषण की पद्धति को खोलकर सामने लाना चाहिये। इस शोषण का साधन चर्च और धर्म को ठहराते हुये उन्होंने इन दोनों का खंडन तथा विरोध किया था।[2] धार्मिकता से प्रभावित हो कर हृदय परिवर्तन दिखाना उन्हें बेहद नापसन्द था।[3] इससे क्रान्ति की भावनायें क्षीण होने का भय था।

बेलिंस्की ने कला-पक्ष पर भी अपने विचार प्रकट किये। वह भाषा को शब्दाडम्बर से बचाने की सीख देते थे। भाव-पक्ष को अभिव्यक्त करने का साधन भाषा को मानते थे। जिन कवियों या लेखकों ने शब्दों को सजाने की चेष्टा की, उनकी तीखी आलोचना की गई।

"वह वाक्याडम्बर का, शब्दों के पीछे लपकने का युग था। विचारों की चिन्ता की जाती थी उन्हें लच्छेदार शैली में ढालने के लिये, केवल अर्थ का भ्रम पैदा करने के लिये..... । हम शब्दों को चुनते हैं विचारों और भावों को व्यक्त करने के लिये। वे विचारों और भावों की खोज करते थे शब्दों की छटा दिखाने के लिये।"[4]

बेलिंस्की शैली में व्यंग्य को भारी महत्व देते थे। उनकी मान्यता थी कि बुराई पर जब तक चोट नहीं की जायगी वह दूर नहीं होगी। उन्होंने स्वयं भी बुराइयों पर भारी व्यंग्य किये।

"रूसी ईश्वर का नाम लेते समय, अपने एक हाथ से कहीं खुजाया करता है। देवता की प्रतिमा के बारे में वह कहता है : प्रार्थना के काम की न हुई तो बर्तन भाँडे ढकने के काम तो आ ही जायेगी।"[5]

## दोब्रोल्युबोव

दोब्रोल्युबोव मार्क्सवादी तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दार्शनिक थे। उनकी स्थिर आस्था मार्क्सवाद में होने के कारण ही वह सर्वत्र द्वन्द्व का दर्शन करते थे। उन्होंने लिखा था कि मानव-शरीर तथा सभी पदार्थों के भीतर हमें द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त कार्य करता दिखाई देता है। इस द्वन्द्व का आधार विरोधी तत्व हैं।

"यदि मानव का अंगच्छेद करके देखा जाय तो वह हमें कभी न मिला सकने वाले विरोधी तत्वों का पुंज दिखाई देगा। मानव ही क्यों, यदि अन्य चीजों को भी इसी तरह खण्ड खण्ड करके देखा जाय तो उनका भी यही हाल होगा"[6]

वे आत्मा की स्थिति शरीर से अलग तथा स्वतन्त्र रूप में कभी भी स्वीकार

---

1. बेलिंस्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० ७६।
2. वही, पृ० ७७।
3. वही, पृ० ८१।
4. वही, पृ० २।
5. वही, पृ० ७७।
6. दोब्रोल्युबोव : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० २२६।

न कर सके। आत्मा को चेतना मान कर और चेतना को शरीर की सजीवता का चिह्न मान कर ही चले।

"आत्मा किन्ही वाह्य सूत्रों के द्वारा देह से संयुक्त नहीं होती, देह में उसका समावेश कोई सांयोगिक या आकस्मिक घटना नहीं है, वह देह के किसी एक कोने में निवास नहीं करती, वरन् अनिवार्यतः दृढ़ और अटूट रूप में,उसके साथ लय होती है, उसमें व्याप्त होती है, उसके बिना (प्रेरणादायिनी इस शक्ति के बिना) सजीव मानव देह की या मानव के बिना उस की, कल्पना तक करना असम्भव है।"[1]

प्रकृति में द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त द्वारा विकास होता है। डार्विन ने जिस विकासवाद के सिद्धान्त को मान्यता दी, उसे अपने सिद्धान्त की स्थापना का सहायक मानकर मार्क्स और ऐंगिल्स ने भी स्वीकार किया। परीक्षा रूप से इस सिद्धान्त की स्वीकृति दोब्रोल्युबोव ने अपनी साहित्यक मान्यताओं में भी स्वीकृत की।

"मानव, चाहे वह कितनी ही सूझ-बूझ या प्रतिभा का धनी क्यों न हो, केवल प्रस्तुत तथ्यों की नींव पर ही अपनी इमारत खड़ी करता है। सभी महान् योजनाएँ, ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श और मन्सूबे, सामान्यतः किसी तात्कालिक लक्ष्य की उपलब्धि से सम्बन्ध रखते हैं। केवल उस लक्ष्य की पूर्ति के बाद ही विचार आगे विकसित होता है। योजनाएँ विस्तार प्राप्त करती हैं और पहले वाला लक्ष्य अब एक सीढ़ी तथा आधार का रूप धारण कर लेता है। उसे प्राप्त कर हम एक नये लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं।"[2]

"भौतिक और आत्मिक तत्वों के रूप में दुनिया को नहीं देखा जा सकता; दुनिया इन दो तत्वों का योग मात्र नहीं है। हर चीज, जिसका दुनिया में अस्तित्व है, गति और विकासमान पदार्थ की अवस्था का परिचय देती है।"[3]

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण निर्मित कर के इतिहास को श्रम (अर्थ तथा उत्पादन साधन) पर आधारित मानना इनकी श्रेष्ठता थी। श्रम को उस समय तक जो महत्त्वहीनता मिली तथा समाज में जिस श्रमविहीन दर्जे का बोलबाला रहा, उसका खण्डन करते हुए दोब्रोल्युबोव ने इतिहास के आधार पर श्रम का महत्त्व प्रतिपादित किया और इसी को शोषण का कारण ठहराया।

"परोपजीवियों को नष्ट करना और श्रम को ऊँचे स्तर पर उठाना, इतिहास की यही निरन्तर धारा है।"[4]

"प्राचीन संसार में श्रम को कभी सम्यक मान नहीं मिला। केवल कुछ ही कामों को समाज के ऊँचे वर्गों के लिये उपयुक्त समझा जाता था। बाकी सब काम

---

1. दोब्रोल्युबोव : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० २२६।
2. वही, पृ० २१०।
3. वही, पृ० २०७।
4. वही, पृ० २११।

दासों के लिए छोड़ दिए गए थे। प्राचीन संसार इस अवस्था से आगे नहीं बढ़ सका। स्वयं प्लेटो ने भी, अपने गणतन्त्र में, दासों के एक वर्ग की रचना आवश्यक समझी ताकि ऊँचे वर्गों की सरकारी तथा सैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वे शारीरिक श्रम कर सकें।"[1]

गति और विकास पदार्थ का गुण है—स्वभाव है, गति पदार्थ से अभिन्न है। इस मार्क्सवादी मान्यता को उसके प्रारम्भिक युग में आलोचक दोब्रोल्युबोव की स्वीकृति प्राप्त हो गई थी।

"भौतिक जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो निरा जड़ हो, जिसमें उसकी अपनी शक्ति न कसमसा रही हो। इसी प्रकार ऐसी कोई शक्ति नहीं जो अपना अलग पदार्थ से स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हो।"[2]

कला और साहित्य का उद्देश्य जनता को शिक्षित करना मानने वाले दोब्रोल्युबोव उसे स्टालिन के अनुसार सर्वहारा का अस्त्र मानते थे। कला को जीवन की पाठ्य-पुस्तक तथा समाज की आँख, कान बताने से यही अभिप्राय था।

"कला का उद्देश्य जनता को शिक्षित करना है, उसके लिए जीवन की पाठ्य-पुस्तक बनाना है, समग्र समाज के लिये आँख, कान बनाना है।"[3]

वह रहस्यवाद के विरोधी तथा साहित्य को धर्म से जोड़ कर चलने वाले नहीं थे। धर्म के विकास और साहित्य के साथ उसके पुरातन सम्बन्धों का कारण वह मानव-जाति का अज्ञान तथा अपनी शक्ति से परिचय स्वीकार करते थे।[4] अन्य प्रगतिवादी आलोचकों तथा मार्क्सवादी दार्शनिकों के समान उन्होंने भी साहित्य को जीवन का अनुगामी माना तथा सिद्ध किया कि जीवन से कट कर न साहित्य ही रह सकता है और न उसका कोई उपयोग ही होगा।

"जीवन साहित्य के मानों का अनुसरण नहीं करता, साहित्य के मान जीवन की धाराओं का अनुसरण करते हैं।"[5]

वे आलोचना का उद्देश्य साहित्यिक कृति के लिए सहायक के रूप में स्वीकार करते थे। सामान्य जनता जो लेखक को आसानी से नहीं समझ पाती है, आलोचना के सहारे उसको समझ लेती है तथा अपनी राय स्थिर करने में उसे सहूलियत हो जाती है। इसी लिए वह आलोचना की सर्वोत्तम पद्धति उसे मानते थे जो पाठकों को स्वयं निष्कर्ष निकालने में सहायता कर सके।

"आलोचना अदालत में मुकुदमे पेशी वाली आलोचना नहीं, वरन् सहज

---

1. दोब्रोल्युबोव : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० २११।
2. वही, पृ० २०७।
3. वही, पृ० २०७।
4. वही, पृ० २०७।
5. वही, पृ० २०८।

साधारण आलोचना केवल एक इसी कारण से लाभप्रद है कि वह उन लोगों को, जो साहित्य पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करते, लेखक के कृतित्व का सार तत्व प्रदान करती है और ऐसा करके उन्हें इस योग्य बनाती है कि वे लेखक की कृतियों के चरित्र तथा महत्त्व को समझने में समर्थ हो सकें। एक बार लेखक को समझ लेने पर उसके बारे में एक राय बनते देर नहीं लगती और लेखक, साहित्यिक विधि-विधान का निर्माण करने वाले स्वनामधन्य आचरण की स्वीकृति के बिना ही अपना पावना प्राप्त कर लेता है।"[1]

पाठकों पर निर्णय थोपने वाली आलोचना वह स्वीकार करते थे। आलोचक के लिए पाठकों को पथ-भ्रष्ट करना उनकी दृष्टि में महान् अपराध था।

"आलोचना का सबसे अच्छा तरीका हमारी समझ में, वह है जो स्थिति को इस ढंग में खोल कर रखे कि प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर पाठक अपने आप निष्कर्ष निकालने में समर्थ हो सके। हम तथ्यों को संचित करते हैं, आलोच्य कृति में निहित उनके सामान्य अर्थ का विवेचन करते हैं, अपने जीवन की वास्तविकता से उनके सम्बन्ध की ओर संकेत करते हैं, अपने निष्कर्षों पर पहुँचते हैं और अपनी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार उन्हें सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। किन्तु यह सब हम इस ढंग से करते हैं कि पाठक धोखे में न पड़ें, वह हमारे और लेखक के बीच निर्णय करने में पूर्णतया समर्थ हो सकें।"[2]

उनकी सौन्दर्य-दृष्टि शुद्ध मार्क्सवादी तथा बुर्जुआ-मनोवृत्ति के ठीक विपरीत थी। आगे चल कर जिन सौन्दर्य-सिद्धान्तों का सृजन हुआ है, उन्हें मूल रूप में हम इनकी रचनाओं में पाते हैं। सौन्दर्य के सम्बन्ध में कोमलता तथा सुकुमारिता का जो स्थान है उसका विरोध करते हुए उन्होंने पुष्ट मांसपेशियों तथा श्रमनिष्ठ मानवों के अंगों में अधिक सौन्दर्य की कल्पना प्रस्तुत की। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह बताया कि हम अपने जीवन में श्रम से बच कर रहना चाहते हैं, इसलिए श्रमवर्ज्य सौन्दर्य हमें आकृष्ट करता है। यह बुर्जुआ मनोवृत्ति है।[3]

मार्क्सवादियों ने यथार्थवाद से रहित कला और साहित्य को महत्वहीन माना है। आलोच्य विद्वान् का मत भी यही था। वह वास्तविकता को साहित्य की शक्ति मानते थे, जिसके निकल जाने पर साहित्य निर्जीव हो जाता है।

"वास्तविकता, जिससे कवि अपनी सामग्री और प्रेरणा लेता है, अपना एक प्रकृत अर्थ रखती है। उस अर्थ के विकृत हो जाने पर पदार्थ का जीवन ही नष्ट हो जाता है, केवल उसका निर्जीव कंकाल मात्र बच रहता है। इस निर्जीव कंकाल के सिवा उस लेखक के हाथ और कुछ नहीं लग सका जो जीवन की परिणतियों को

1. दोब्रोल्युबोव : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० २०८।
2. वही. पृ० २०८।
3. वही, पृ० २२८।

उनके प्रकृत अर्थों से सम्बद्ध नहीं करता, वरन् एक ऐसा अर्थ उन पर आरोपित करता है जो उनके तत्व के विरुद्ध होता है।"[1]

उनका यथार्थ 'प्राकृतवाद' नहीं था जिसमें यथातथ्य चित्रण किया जाता है। उन्हें यथार्थ में समाज की भावी व्यवस्था की स्पष्ट रूपरेखा स्वीकार्य थी। ऐसा आदर्श जो यथार्थ पर आधारित हो, तथा जिसकी उपलब्धि सम्भव हो—उनके यथार्थ की सीमा-रेखा में आ जाता था।

"समाज की भावी व्यवस्था के बारे में लेखक की चेतना सुस्पष्ट और सजीव हो, सरल तथा संगत आदर्शों का वह हामी हो, झूठ की चाकरी के पास न फटके (इस लिए नहीं कि उसका मन नहीं मानता, बल्कि इस लिए कि वह ऐसा कर नहीं सकता) अपनी प्रतिभा का उल्लंघन करने का फ़ितूर उसके दिमाग पर सवार न हो। वह इसमें सफल भी नहीं हो सकता।"[2]

जब हम यथार्थ जीवन का चित्रण करेंगे तो उस में जीवन के सभी रूप चित्रित होंगे—स्वस्थ और अस्वस्थ, प्रगतिशील तथा ह्रासशील। जीवन में व्याप्त सिद्धान्त भी उसमें चित्रित होने से नहीं बच सकेंगे। अतः साहित्य को जीवन के पीछे कार्य करने वाले सिद्धान्तों से रहित नहीं दिखाया जा सकता।

"यदि कोई कलाकृति किसी विचार या मत विशेष को व्यक्त करती है तो इस लिए नहीं कि उसका रचयिता उस मत विशेष को अपनी कृति में प्रतिपादित करने का बीड़ा उठाता है; वरन् इस लिए कि वास्तविक जीवन के जिन तथ्यों की ओर उसका ध्यान गया, उन तथ्यों से अनिवार्यतः वह मत प्रकट होता है।"[3]

वह व्यक्तियों को यथार्थ से कट कर ऊपर उठ जाने वाले आदर्शों के हामी साहित्य की ओर उन्मुख न होने की प्रेरणा देते थे। वह तो यही चाहते थे कि आदर्श ऐसा व्यापक हो जो व्यक्ति विशेष को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण यथार्थ को ही ऊपर उठाये। जब तक आदर्श यथार्थ की सीमाओं में आने योग्य नहीं होगा तब तक वह उन्हें ग्राह्य नहीं।

"अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए, कि हमें ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं जो हमें चारों ओर की वास्तविकता से ऊँचा उठाने वाले हों। हमें ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो हमें वास्तविकता को ऊँचा उठाना सिखाएँ, ताकि हम उसे उन संगत मानों के स्तर पर ला सकें जिन्हें सब मानते और स्वीकार करते हैं।"[4]

यथार्थ को वह कला का प्राण और यहाँ तक कि कला का उद्देश्य मानते थे।

"कलाकार किस समय अपने सोचे हुए लक्ष्य को सबसे अधिक पूरा करता है?

---

1. दोब्रोल्युबोव : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० २१३।
2. वही, पृ० २१३।
3. वही, पृ० २१२।
4. वही, पृ० २१७।

उस समय जब कि वह अपनी कृतियों में, बिना किसी चीज को छुपाये अथवा रंगे-चुने, अपने चारों ओर के जीवन का सच्चा तत्व प्रकट करता है, या उस समय जब वह जानबूझ कर, अपनी सौन्दर्यशास्त्रीय नकचढ़ी अन्तःवृत्तियों के अनुसार, केवल दिव्य और आदर्श को चुनता है।"[1]

यथार्थवादी चित्रण में वे 'टाइप' को मूल्यवान ठहराते थे। प्रगतिवादी आलोचकों को उनकी दिशा बताते हुए उन्होंने 'टाइप' के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए तथा आलोचक किस प्रकार 'टाइप' के पीछे-पीछे रहस्य का उद्‌घाटन करे उसके सम्बन्ध में विस्तार से पथ-प्रदर्शन किया।

"यथार्थवादी आलोचक ऐसा नहीं करता। सर्व प्रथम वह इस तथ्य को पकड़ता है कि लेखक ने एक सदाशयपूर्ण व्यक्ति का चित्रण किया है, जिसे मूर्ख किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता; किन्तु जो सनातनी पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं है। इसके बाद आलोचक इस बात की जाँच करता है कि इस तरह के व्यक्ति का होना सम्भव है या नहीं, वह अस्तित्व रख सकता है या नहीं। यह मालूम कर चुकने के बाद कि ऐसा व्यक्ति वास्तविकता के प्रतिकूल नहीं है, आलोचक उन कारणों के बारे में अपना मत प्रकट करता है जिनसे इस तरह के टाइप का उदय हुआ। आलोच्य कृति के रचयिता ने भी यदि इन कारणों को उभार कर रखा है तो आलोचक उनसे काम लेता है और लेखक के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। किन्तु यदि लेखक ने इन कारणों को प्रकट नहीं किया तो आलोचक हाथ में खंग लेकर उसकी गरदन पर सवार नहीं हो जाता, उससे जवाब तलब नहीं करता कि उसके अस्तित्व के कारणों को बताये बिना तुमने इस तरह के टाइप का चित्रण क्यों किया?"[2]

साहित्यिक कृति की परीक्षा करते समय आलोचकों को यह देखना चाहिए कि उस कृति में समाज की प्रकृत आकांक्षाएँ किस सीमा तक अभिव्यक्त हो सकी हैं? यह सीमा ही उसके साहित्य की कसौटी मानी जानी चाहिए।

"किसी लेख या साहित्यिक कृति को जाँचने की हमारी कसौटी यह है कि वह लेखक या साहित्यिक कृति युग और जाति विशेष की प्रकृत आकांक्षाओं को किस हद तक व्यक्त करने में सहायक होती है।"[3]

आलोचना सिद्धान्तों में वह परम्परावाद के विरोधी थे।

"इन धुरन्धरों ने आलोचना की भूमि को इतना तुच्छ और हेय बना दिया है कि देख कर आश्चर्य होता है। कला के चिरन्तन और शाश्वत नियमों की लाठी से वे अचिरन्तन और अशाश्वत को नापने हैं। आलोचना को इस हद तक सीमित करके वे कला को जड़ता के गले से बाँधते हैं और आलोचना को विशुद्ध अफसरियत या

1. दोब्रोल्युबोव : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० २१९।
2 वही, पृ० २३०।
3. वही, पृ० २३४।

पुलिसमैनी की भूमिका अदा करने के लिए बाध्य करते हैं।"[1]

प्राचीन आचार्यत्व की लाठी लेकर नवीन कृतियों का मूल्याकन उनकी दृष्टि से अनुचित था। नए साहित्य की नई कसौटी हो, क्यों कि साहित्यिक कृतियाँ ही कसौटी का आधार होती हैं; किन्तु परम्परावादी आलोचक प्राचीन कसौटियों से ही चिपके रह कर नए आन्दोलन को रोकते हैं—प्रगति उन्हें पछाड़ देती है वे पिछड़ जाते हैं और साहित्य तथा साहित्यिक मानदण्ड आगे बढ़ जाते हैं। इस जड़तावाद का खुलकर विरोध उन्होंने किया तथा नवीनता को मान्यता दी।

"आलोचक जब सिद्धान्त शिरोमणियों का दत्तक बन जाता है और पाठ्य-पुस्तकों पैराग्राफ़ों के अनुसार साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करता है तो वह बहुधा अपने को हास्यसपद स्थिति में पाता है। पुराने सिद्धान्तों का दास तो वह बन ही जाता है, साथ ही साहित्य के क्षेत्र में हर नई और मौलिक चीज का, हर प्रगति का, निष्फल विरोध करने पर बाध्य होता है। साहित्य के क्षेत्र में नया आन्दोलन जितना ही जोर पकड़ता है, उतनी ही कटुता से यह आलोचक उसका विरोध करता है और उतनी ही स्पष्टता के साथ अपनी नपुंसकता प्रकट करता है।"[2]

पात्रों तथा चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में वह आन्तरिक गहराई को पात्रों की अमरता का कारण मानते थे। जब तक पात्रों की हृदयस्थ भावनाओं का सघर्ष नहीं दिखाया जाय तब तक कला उच्च नहीं बन सकती। उस समय के समाज की कृत्रिमता से जूझने वाले पात्र ही उन्हें उचित प्रतीत होते थे।

"हमें उस मनुष्य के आत्मिक संघर्ष का चित्रण देखने को नहीं मिलता जो वर्तमान अवस्था की कृत्रिमता को समझता है और गहरी लगन तथा अविचलता के लिए प्रयत्नशील रहता है। नए फास्ट की रचना करने के बाद किसी को नहीं सूझी।"[3]

वह यह भी मानते थे कि नायक सामाजिक जीव होता है, उसे समाज मे दिखाया जाना चाहिये न कि समाज से काटकर।

"नायक एक सामाजिक जीव है, कटा हुआ और विच्छिन्न जीव नहीं"[4]

भाषा तथा शैली को वह कम महत्व नहीं देते थे। शब्द कलाकार के अस्त्र हैं। शब्दों के द्वारा ही वह दूसरों को प्रभावित करके अपनी क्रोड़ मे लेता है उसकी दिशा हृदय-परिवर्तन की है, भौतिक बल के प्रदर्शन की नहीं।

"अच्छा हो कि लेखक की इस भूमिका को, उसके ध्येय को हम समझ लें और अपने मन में यह बैठा लें कि शब्द उसके अस्त्र हैं, वह समझाने-बुझाने से

---

1. दोब्रोल्युबोव ; दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० २४१।
2. वही, पृ० २४१।
3. वही, पृ० २५६।
4. वही, पृ० २५३।

काम लेता है, भौतिक बल से नहीं।"[1]

वह इस प्रकार के साहित्य को जनता के लिए मानते थे। उनके लिए साहित्य की कसौटी जनता, साहित्य का विषय जनता एवं साहित्य का उद्देश्य जनता थी।

## हर्जन

मार्क्सवादी हर्जन, जीवन, इतिहास, विकास तथा पद्धतियों में द्वन्द्ववाद को सर्वोपरि तथा अध्ययन की पद्धति स्वीकार करते थे।

"द्वन्द्वात्मकता मानव-जाति के सजीव इतिहास की एक विशिष्टता है, मानव की नब्ज की धड़कन की भाँति—केवल इस अन्तर के साथ कि इसकी प्रत्येक धड़कन मानव-जाति के लिए आगे बढ़ा हुआ कदम होती है।"[2]

मार्क्स की ऐतिहासिक दृष्टि को हर्जन ने स्वीकार करके विकास की धारा का नियमन तथा निश्चय इतिहास के द्वारा ही माना है। इतिहास की वही मान्यता हर्जन को स्वीकार थी जो द्वन्द्ववादी विकास में हो सकती थी। इसके अनुसार इतिहास केवल विकास को समझने का प्रयास है—इसे पुनरावृत्ति नहीं कहा जा सकता।

"इतिहास विकास करता है, किन्तु अपने को दोहराता कभी नहीं।"[3]

इतिहास में भी विरोधी तत्त्वों की स्थापना हर्जन ने की तथा उसका विश्लेषण करके द्वन्द्ववाद के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा। ऐतिहासिक-विकास किस प्रकार होता है इस सम्बन्ध में वह बताते हैं कि इतिहास, रूढ़ि तथा विकास दो विरोधी तत्वों के संघर्षों की देन है।

"ऐतिहासिक जगत में रूढ़िवाद जीवन का उतना ही सच्चा तत्व है जितना कि निरन्तर गतिशीलता और परिवर्तन। वह अस्तित्वपूर्ण प्रत्येक वस्तु का, उसके अधिकारों की मान्यता का, पूरे जोरों से समर्थन करता है। इसके प्रतिकूल प्रगति की भावना जो वर्तमान है उसके प्रति असन्तोष फैलती है; बुद्धि के विकास की नई अवस्था के अनुसार वह नये स्वरूप की खोजबीन करती है।"[4]

ऐतिहासिक विकास को उन्होंने स्मृति और आशा तथा यथास्थिति और विकास के युग्मों के रूप में दिखाया है।

"ऐतिहासिक विकास इन दोनों शक्तियों के प्रवाह तथा अनुशासन में चलता है; उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध काँटे पर रखता है। इस प्रकार अपने आपको यह एकांगी होने से बचाता है। स्मृति और आशा यथास्थिति और प्रगति ये इतिहास के दो विरोधी तत्व हैं, उसके दो कूल हैं।"[5]

---

1. दोब्रोल्युबोव : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० २२१।
2. हर्जन : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० ८६।
3. वही, पृ० ६०।
4. वही, पृ० ११०।
5. वही, पृ० ११०।

भौतिकवादी मान्यताओं को स्वीकार करते हुए हर्जन ने भूत को अनन्त माना हैं तथा बताया कि मृत्यु विनाश नहीं है, वह तो परिवर्तन है। मृत्यु से रूप बदल जाता है, तत्त्व नष्ट नहीं होता है।

"बहुत से लोग ऐसे हैं जो केवल इस लिए सामने आने पर भी मृत्यु को नहीं पहचान पाये कि वे मृत्यु को विनाश से सम्बद्ध करते हैं। किन्तु मृत्यु तो तत्वों का विनाश नहीं करती। वह केवल उनका रूप परिवर्तन करती है।"[1]

उन्होने अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'क्लासिसिज़्म और रोमान्टिसिज़्म' में कुछ मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं :

1. प्रगतिशील दृष्टिकोण स्वीकार होना चाहिए।
2. प्रगतिवादी साहित्य सृजन के लिए भाषा तथा भाव प्रकाशन-क्षमता भी उसी के अनुकूल हो।
3. व्यंग्यपूर्ण शैली तथा व्यंग्यकारों को मान्यता मिले।
4. पलायनवाद और निराशा का विरोध हो एवं उसका स्थान आशावाद को मिलना चाहिए। इसी आधार पर उन्होंने रोमांटिसिज़्म का विरोध किया कि वह सदा 'उसपार' की वस्तु के लिए ललकता है; 'उसपार' की वस्तु कभी मिलती नहीं है, अतः 'निराशावाद' उत्पन्न हो जाता है। शेक्सपियर की आलोचना करते हुए उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया।

विचार-क्षेत्र में तथा जीवन में संघर्ष को स्वीकार करते हुए हर्जन ने स्पष्ट किया कि नवीन के सृजन तथा प्राचीन के स्थान पर उसकी स्थापना में अत्यधिक जागरूक रहने तथा निरन्तर विकास की दशा को समझने की आवश्यकता है। इसे न समझने के कारण ही परम्परा को चिरन्तन मान लिया जाता है, इसके लिये साहित्यकारों को भी कष्ट सहन तथा आत्मत्याग की आवश्यकता होती है।

"पुराना नियम, जिसे दिया जाता है, पूर्णतया विकसित, अमल में लाया हुआ और लोगों के हृदयों में गहरी जड़ें जमाए होता है। इसके प्रतिकूल नया अभी तक अव्यक्त और शून्य है। उसके पास न रंग-रूप है और न परिधान, जबकि पुराना समृद्ध और शक्तिशाली होता है। फिर नए की रचना करने के लिए अभी माथे पर पसीना बहाने की जरूरत होती है, जबकि पुराना पहले से मौजूद होता है, आदत की टक लिए दृढ़ता से स्थित होता है। नए का अभी अनुसंधान करना होता है; उसके लिए अपने को साधने की आवश्यकता होती है, वह आत्मत्याग की माँग करता है। इसके प्रतिकूल पुराने को बिना किसी खोजबीन के स्वीकार किया जा सकता है, क्यों कि वह सामने मौजूद है, वह ऐसा तथ्य होता है जिसकी प्रत्यक्ष सत्ता को लोग मानते हैं। नए को लोग सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, उसका रंग-रूप अभी लड़कपन में डूबा होता

---

1. हर्जन : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० ९१।
2. वही, पृ० १०४-१०५।

है, जबकि पुराने के नाक, नक्श और झुर्रियों से वे इतने परिचित होते हैं कि वह उन्हें चिरन्तन मालूम होता है।"[1]

सौन्दर्य को नित्य मानने वाले आदर्शवादी सौन्दर्यशास्त्रियों की मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए हर्जन ने सौंदर्य को अनत्यि माना है और नित्यता की भावना का रहस्योद्घाटन करते हुए बताया कि उसके मूल में हमारी सुन्दर वस्तुओं को स्थायी बनाने वाली भावना ही कार्यशील है।

"गेटे का कहना था कि सौंदर्य अनित्य है, क्योंकि केवल वही सुन्दर लगता है जो अनित्य और कालातीत है। किन्तु लोगों को यह ठीक नहीं लगता। मानव का यह स्वभाव है कि वह उस सबको, जो उसे सुखकर, सुहावना मालूम होता है सुरक्षित रखना चाहता है।"

मार्क्सवादी यथार्थवाद को लेकर चलता है। हर्जन गेटे की प्रशंसा इसलिए कर सके कि वह अपने चारों ओर की दुनियाँ से सम्बन्ध जोड़कर चला था।

"वह पहला आदमी था जिसने मानव का अपने चारों ओर की दुनियाँ से पुनः सम्बन्ध जोड़ा।"[2]

अतः साहित्य तब तक अपने स्थान को पाने का अधिकारी नहीं हो सकता जब तक कि परिप्रेक्ष्य के साथ प्रस्तुत न किया जाय। इस संदर्भ में यह लिखना भी अनुपयुक्त नहीं है कि वह घृणा को साहित्य द्वारा प्रयोग की वस्तु मानते थे। सत्ताधारियों के प्रति घृणा प्रकट करने वाले बेलिंस्की की विशेष रूप से प्रशंसा करते हुए उनके विचार इस मान्यता को प्रकट करते हैं। आज का युग हर्जन से प्रेरित हो सकता है। आज जिस अनास्थावाद तथा संशयवाद की धूमधाम में नवीन प्रयोग तथा प्रयोगवादी काव्य विकसित हो रहा है उसका प्रारम्भ में ही खण्डन कर दिया था।[3] इस प्रकार हर्जन की काव्य सम्बन्धी मान्यताएँ हमें आज भी प्रेरित करती हैं।

### प्लेखानव

इतिहासकार **प्लेखानव** ने कला के सम्बन्ध में अपनी मान्यता प्रस्तुत करते हुए बताया है कि इसमें न केवल भावों का वर्णन होता है वरन् भाव और विचार दोनों रहते हैं, हाँ दोनों जीवित मानस-चित्रों (Images) द्वारा व्यक्त होते हैं। कलाकार अपने चारों ओर के वातावरण में जिस अनुभव को कर चुका है उसी परिवेशजन्य यथार्थ को मानस-चित्रों के द्वारा व्यक्त करता है। तब कला का जन्म होता है। यह अभिव्यक्ति अधिकांशतः दूसरों के लिए होती है। इस प्रकार उन्होंने सिद्ध

1. हर्जन : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० १११।
2. वही, पृ० १४०।
3. वही, पृ० १४०।

किया है कि कला सामाजिक तत्व है।[1]

इतिहास की व्याख्या करते हुए उन्होंने दो प्रकार के ऐतिहासिक दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है :

1. भाववादी (Idealist.) दृष्टिकोण।
2. भूतवादी (Materialist) दृष्टिकोण।

भाववादी दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है :

अपने शुद्ध रूप में इतिहास की भाववादी दृष्टि के अन्तर्गत यह माना जाता है कि विचारों का विकास तथा ज्ञान ही मानव-इतिहास का अन्तिम तथा एकमात्र कारण है, जिसके कारण ऐतिहासिक परिवर्तन होता है।[2]

इसके विपरीत इतिहास की भूतवादी व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि इतिहास सामाजिक पद्धति का प्रतिबिम्ब होता है। समाज की उत्पादन शक्तियों का विकास इतिहास बनता है।[3]

यह इतिहास की मान्यता (भूतवादी) मार्क्सवाद के अनुकूल पड़ती है। मार्क्सवाद के अनुकूल पड़ने वाले सिद्धान्तों को प्लेखानव ने स्वीकार किया। डार्विन का विकासवाद मार्क्स की विकास-मान्यता के अनुरूप था अतः प्लेखानव ने उसे स्वीकृति प्रदान की।[4]

सामाजिकता को प्रमुखता देने वाले प्लेखानव ने यह स्पष्ट रूप से माना है कि युग की विचारधारा पर समाज का प्रभाव पड़ता है। समाज में परिवर्तन जैसे-जैसे होते जाते हैं वैसे ही वैसे विचारधारा में भी विकास होता चलता है।[5]

सामाजिकता का यही नियम कला पर भी लागू होता है। देश की कला का इतिहास समझने के लिए वहाँ के निवासियों की स्थिति का परिवर्तन देखना अनिवार्य होता है। अर्थात् कला में भी सामाजिकता प्रधान तत्व हैं। कला को वह समाज की आर्थिक दशा से जोड़ते हुए कहते हैं :

"The art of any people is determined by its mentality; its mentality is a product of its situation, and its situation is determined in the final analysis by the state of its productive forces and its relations of production. ?"[6]

सामाजिकता के सामने व्यक्तिवाद को मान्यता न देने वाले प्लेखानव ने उन

---

1. G. Plekhanov : Unaddressed letters—Art and Social Life : page 8-9.
2. *Ibid*, page 9.
3. *Ibid*, page 11.
4. *Ibid*, page 12.
5. *Ibid*, page 33.
6. *Ibid*, page 51.

सभी दर्शनों, मान्यताओं तथा जीवन-पद्धतियों को अस्वीकार किया जो व्यक्तिवाद को लेकर चलती थीं। साहित्य के क्षेत्र में भी उनकी यह मान्यता अपरिवर्तित रूप से दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने व्यक्तिवाद को आधार मानकर चलने वाली रहस्यात्मक भावना को बुद्धि से रहित, मिथ्या भावना पर आधारित, अन्तर्विरोधों से युक्त तथा सौन्दर्य की दृष्टि से हेय माना है :

"Mysticism is implacably hostile to reason. But it is not only he who succumbs to mysticism that is at enmity with reason; so is he who, from one cause or another and in one way or another, defends a false idea. And when a false idea is made the basis of an artistic work, it imparts to it inherent contradictions that inevitably detract from its esthetic merit."[1]

इसी प्रकार आपने 'कला, कला के लिए' का खण्डन करके 'कला जीवन के लिए' का समर्थन किया है। वह कला का उद्देश्य व्यक्ति-चेतना का विकास तथा समाजपद्धति में सुधार स्वीकार करते हैं :—

"The function of art is to assist the development of man's conciousness, to improve the social system."[2]

उन्होंने व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है। वह जहाँ व्यक्तिवादी नहीं हैं वहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से समाज के लिए समर्पित कर देने को भी स्वीकार नहीं करते हैं। यह ठीक है कि उन्हें व्यक्ति स्वातन्त्र्य एक सीमा तक ही मान्य है, उससे आगे नहीं। समाज में शक्ति के प्रतीक जो व्यक्ति आगे आते हैं उनमें वह स्वतन्त्रता एवं जागरूकता की अपेक्षा करते हैं। इन गुणों को स्वीकार करके चलने वाले व्यक्तियों की क्रियाएँ सामाजिक क्रान्ति का रूप धारण करती हैं।[3]

कला से मिलने वाले आनन्द आदि के काव्यशास्त्रीय प्रश्नों पर भी प्लेखानव ने अपने विचार प्रकट किए हैं। प्राचीन कला के सम्बन्ध में अपने विचार विस्तार से व्यक्त करते हुए उन्होंने कलात्मक उपलब्धियों के आनन्द को उस जाति के लिए लाभ-दायक बताया है—यह दूसरी बात है कि उस जाति का ध्यान उन लाभों पर जागरूक होकर न पड़ा हो।[4] प्राचीन कला तथा जीवन का सम्बन्ध स्थापित करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि **कला का सम्बन्ध श्रम के साथ रहा है। श्रम को आसान करने के लिए ही कला का जन्म हुआ था।** समाज में श्रम प्रथम तथा कला द्वितीय स्थान पर है। श्रम कला से अधिक पुराना है।[5] कला श्रम के लिए है, श्रम कला के

1. G. Plekhanov : Unaddressed letters—Art and Social Life : page 188.
2. *Ibid* : page 149.
3. G. Plekhanov : The role of the individual in History : p. 18 19.
4. *Ibid*, Unaddressed letters—Art & Social Life : p. 111.
5. *Ibid*, page 84.

लिए नहीं।

सारांश यह है कि प्लेखानव ने मार्क्स के सिद्धान्तों को मौलिक सूझ-बूझ के साथ इतिहास, कला, काव्यशास्त्र तथा साहित्यालोचना में स्थान दिया। कला को जीवन का अनुगामी तथा जीवन को सुन्दर बनानेवाला माना।

## रूस की क्रांति के पश्चात् आलोचना का स्वरूप

### व्ला० इ० लेनिन

लेनिन ने न केवल राजनैतिक क्षेत्र में वरन् साहित्यिक क्षेत्र में भी ऐसे भ्रमों का निराकरण किया है जो मार्क्सवाद को ठीक तरह न समझ पाने वाले रूढ़िवादियों ने स्थापित कर दिये थे। लेनिन एक सीमा तक साहित्य की मौलिक स्थिति को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि विचार वैसे तो अर्थाधारित नहीं हैं किन्तु जब एक बार उनका जन्म हो जाता है तो फिर वे अपने निजी मार्ग पर स्वच्छन्दता के साथ विकसित होते चले जाते हैं। साहित्य को जो लोग सीधे-सीदे अर्थ-सम्बन्धों से जोड़ते हैं, लेनिन उसे स्वीकार नहीं करते।[1] उन्हें यह स्वीकार्य नहीं है कि साहित्यकार स्वतन्त्रता की दृष्टि से निरपेक्ष है।[2]

कम्यूनिस्ट पार्टी और साहित्य का सम्बन्ध स्थापित करते हुए लेनिन ने स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि साहित्य पार्टी के सिद्धान्तों का प्रचार-माध्यम है। साहित्य सर्वहारा का अस्त्र है। उसे पार्टी का अनुगामी होना चाहिए तथा सर्वहारा के हितों की देख-भाल और रक्षा का बीड़ा उठा लेना चाहिए। साहित्य को पार्टी के सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रम का सुनियोजित अविभाज्य अंग होना चाहिए।[3] लेनिन ने इन आकांक्षाओं की पूर्ति न करने वाले साहित्य को वैयक्तिक माना है तथा उसका खण्डन किया है। उसमें स्वतन्त्रता नहीं है। वास्तविक रूप से स्वतन्त्र वही साहित्य होगा जो लाखों मजदूरों की सेवा करेगा।[4]

सर्वहारा संस्कृति की रचना के लिए लेनिन मानव-जाति के विकास-क्रम को पूर्ण रूप से समझने की आवश्यकता मानते हैं। प्राचीन को नवीन ढाँचे में ढाल कर ही उपयोगी बनाया जा सकता है।[5] वह ज्ञान के उस अक्षय भण्डार को फेंक नहीं देना चाहते जिसे मानव-समाज ने सामन्तवाद, पूँजीवाद तथा नौकरशाही के नीचे रहकर प्राप्त किया है।[6] वह पुस्तकीय ज्ञानमात्र को अनुपयुक्त तथा एकांगी मानते हैं, उसके

1. V.I. Lenin : Lenin on Art and Literature : page 127.
2. *Ibid*, p. 47.
3. *Ibid*, p. 45.
4. *Ibid*, p. 45.
5. *Ibid*, युवक संघों के काम : पृष्ठ संख्या ६
6. *Ibid*, p. 9.

स्थान पर कर्म और विचार दोनों को स्वीकार करना ही उन्हें समीचीन प्रतीत होता है। वह विचार और श्रम दोनों का समन्वय करने वाली संस्कृति और उसे मुखरित करने वाला साहित्य चाहते हैं।[1]

अपने तोल्स्तोय सम्बन्धी लेखों में उन्होंने कला और साहित्य के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण बातें कहीं हैं, जिनसे उनके दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ता है, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

मार्क्सवादी साहित्य का मूल आधार यथार्थवाद है। यथार्थवाद वह पद्धति है जो साहित्य को शक्तिशाली बनाती है। समाज की यथार्थ दशा से परिचित होकर हम यह समझने में समर्थ हो जाते हैं कि कौन-कौन से तत्व हमारे समाज को विकासशील बना रहे हैं, जिन्हें और प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है और कौन उसे ह्रासशील बना रहे हैं, जिनका संगठित रूप से निराकरण होना चाहिए। यह साहित्य की उपयोगितावादी दृष्टि लेनिन में सर्वत्र दिखाई देती है।[2]

मार्क्स के समान लेनिन धर्म को अत्यन्त घृणित एवं प्रतिक्रियावादी तत्वों में सर्वोपरि मानता है। उसने धर्म का प्रचार करने वाले तोल्सतोय को भी खूब आड़े हाथों लिया है।[3] साहित्यकार की सफलता लेनिन की दृष्टि में तभी है जब कि वह मजदूर-आन्दोलन एवं समाजवादी संघर्ष के सिद्धान्तों को हृदयंगम करके उसके क्रान्तिवादी रूप का सम्यक उद्घाटन कर सके।[4]

प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न भी लेनिन ने उठाया है और इस सम्बन्ध में उसकी धारणा है कि आज की स्थिति तथा मजदूर-आन्दोलन की दृष्टि से हम पुरातन का मूल्यांकन न करें, यह आवश्यक है। उसका मूल्यांकन उस समाज दशा की परिप्रेक्ष्यता में होना चाहिए जिसने उसे जन्म दिया है।[5] हिन्दी में भक्ति-साहित्य के मध्ययुगीन कवियों की स्थिति का इस सिद्धान्त से विवेचित होनी चाहिए।

साहित्य की शक्ति को स्वीकार करते हुए उसे राजनीतिक प्रचार से कई गुना अधिक शक्तिशाली माना गया है। इस सम्बन्ध में तोल्सतोय का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ लेनिन ने स्वीकार किया है कि यदि तोल्स्तोय ने अपने उपन्यासों में किसानों को क्रान्ति में भाग लेता हुआ दिखाया होता तो निस्सन्देह देश की सर्वहारा क्रान्ति में किसानों ने खुल कर भाग लिया होता। लेनिन के शब्द हैं :

राजनीति से अलग-थलग रहने की तोल्स्तोय की नीति का, राजनीति से किनारा खींचने की तोल्स्तोय की नीति का, राजनीति में दिलचस्पी न होने अथवा

---

1. व्ला० इ० लेनिन : युवक संघों के काम : पृ० २६-२७।
2. व्ला० इ० लेनिन : तोल्स्तोय सम्बन्धी लेख : पृ० ६।
3. वही, पृ० ८।
4. वही, पृ० ८।
5. वही, पृ० ८।

उसे समझने की कोशिश न करने का नतीजा यह हुआ कि बहुत ही अल्प संख्या में किसानों ने वर्गचेतन क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग का साथ दिया।" [1]

लेनिन जहाँ साहित्य की सामयिक शक्ति और उपयोगिता में विश्वास करते हैं वहीं साहित्य के शाश्वत तत्वों को भी स्वीकार करते हैं। इस लिए वह मानते हैं कि तोल्स्तोय के साहित्य की कद्र उस समय ही ठीक प्रकार से हो सकेगी जब जनता जमींदारों और पूँजीपतियों के शोषण को समाप्त करके मनुष्योचित सामाजिक महत्व प्राप्त कर लेगी।[2]

लेनिन ने साहित्यकार एवं साहित्य-समीक्षक के अपने दृष्टिकोण को ऐतिहासिक बनाये रखने की मान्यता स्वीकार की है। जो साहित्यकार और समीक्षक अपने इस उत्तरदायित्व को नहीं निभाते वे साहित्य के महान् उद्देश्य को पूरा नहीं करते और इस प्रकार साहित्य को महान् उद्देश्य से नीचे गिरा लेते हैं। तोल्स्तोय ने अपनी कृतियों में समूची पूरी रूसी क्रान्ति की ऐतिहासिक विशिष्टताओं को उसकी क्षमताओं और त्रुटियों के साथ उभारा है अतः वह उसकी प्रशंसा करते हैं। [3]

सामान्य जनवादी सर्वहारा के दृष्टिकोण का ही मान साहित्यिक दृष्टि होनी चाहिए। साहित्यकार में अनुभूति की तीव्रता, जोश, निष्ठा, ताजगी, सचाई, बात की तह तक पहुँचने की क्षमता, जनदुर्दशा के वास्तविक कारणों को खोजने की प्रवृत्ति तथा निर्भीकता आदि गुण होने चाहिएँ। उसमें भोलापन, राजनीति से अलगाव, रहस्यवाद, पलायनवाद, बुराई का प्रतिरोध न करने की मनोवृत्ति नहीं होनी चाहिए।[4]

मार्क्स ऐंगिल्स की तरह लेनिन भी यथार्थवाद को दो प्रकार का मानते हैं :

(१) आलोचनात्मक।

(२) सामाजिक यथार्थवाद।

आलोचनात्मक यथार्थवाद इस लिए स्पृहणीय माना गया है कि उसमें निहित समाज की आलोचना का रूप प्रगतिशील वर्गों को जानकारी के लिए अमूल्य सामग्री देता है।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि लेनिन ने मार्क्सवादी साहित्यिक मान्ताओं में से उन पर जोर दिया है जिनके उपयोग की आवश्यकता उसके युग में आ गई थी।

### गोर्की

गोर्की के काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों में सर्वप्रथम उनकी यथार्थवादी मान्यताओं को स्वीकार किया गया है। गोर्की ने यथार्थवाद की परिभाषा करते हुए लिखा है :

---

1. व्ला० इ० लेनिन : तोल्स्तोय सम्बन्धी लेख : पृ० १०।
2. वही, पृ० १४।
3. वही, पृ० १४।
4. वही, पृ० २२-२३।

"सच्चा, कोरा (बिना रंग किए) व्यक्तियों एवं सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण यथार्थ है।"[1]

गोर्की प्राकृतवाद के विरोधी थे। उन्होंने प्राकृतवाद को 'तथ्यों का साहित्य' (Literature of facts) कहा है। इससे साम्राज्यवादी मनोवृत्ति विकसित होती है। इसमें टाइप (वर्गगत) चरित्रों का अंकन सम्भव नहीं हो पाता है। प्राकृतवादी गोर्की के अनुसार केवल दिखाई देने वाली स्थितियों का सूक्ष्म विश्लेषण भर करके सन्तुष्ट हो जाते हैं, उनकी दृष्टि में सामान्य महत्त्व की स्थितियों का कोई मूल्य नहीं होता और न वे विस्तृत समाजीकरण मे ही विश्वास करते हैं। प्राकृतवाद के दार्शनिक एवं नैतिक सिद्धान्तों को गोर्की ने सदैव अस्वीकार किया; उन्हें व्यक्ति को घुरीहीनता, शरीर-विज्ञान एवं रोग निदान सम्बन्धी मान्यताएँ जो प्राकृतवाद के आवश्यक तत्त्व हैं, व्यर्थ प्रतीत होते थे। वह व्यक्ति को परिस्थितियों का निष्क्रिय प्रतिफलन मात्र होने का श्रेय कभी न दे पाए। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व तथा शक्तिशाली इच्छाशक्ति, जिन्हें प्राकृतवादी कभी स्वीकृति न दे पाये, गोर्की की आस्था के केन्द्र हैं। यथार्थवाद के नाम पर चलने वाले प्राकृतवाद से उन्हें वही तक सहानुभूति थी जहाँ तक कि उसमें समाज की यथार्थ अवस्था का अंकन होता था। वह उन्नीसवीं शताब्दी के प्राकृतवादियों को 'आलोचनात्मक यथार्थवादी' मानते थे। इनमें से बालजक, स्टैण्डल, फ्लावर्ट डिकिन्स आदि का उन पर प्रभाव भी माना जाता है।

प्राकृतवादियों का विरोध करते हुए रूसी लेखकों को उनके चंगुल से बचने की चेतावनी देते हुए वह प्राकृतवाद को निम्न दृष्टि से देखते थे :

"An art in which there is little beauty or inspiration and a great deal of pretentions coarseness mesquerading under the old nob and courageous quise of realism."[2]

गोर्की का सामाजिक यथार्थवाद प्राकृतवाद से भिन्न है। प्राकृतवादी सामाजिक विकृतियों का कारण नहीं खोजते और न उनके दूर करने की समाज-शास्त्रीय दृष्टि ही उनके पास है। गोर्की आर्थिक सम्बन्धों को वर्ग-संघर्ष का कारण मानकर ऐसे समाजवादी यथार्थ में विश्वास करते हैं जो वर्तमान का मूल्यांकन करके समाजवादी भविष्य के उच्च आदर्शों पर भी प्रकाश फेंक सके। यह आदर्श चूँकि ऐतिहासिक विकास पर आधारित है, अतः यह भी यथार्थ के अन्तर्गत आता है।

यथार्थवादी साहित्य के लिए गोर्की टाइप (वर्गगत पात्र) की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। 'टाइप' के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को पर्याप्त स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है :

---

1. M. Gorkey : On Literature : page 32.
2. M. Gorkey : Introduction to 'Literature and Life'.

'साहित्यिक कृतियों में जब हम 'टाइप' पात्रों का सृजन करते हैं तो वे निरे फोटोग्राफ नहीं होते हैं, जिनमें उनका यथातथ्य चित्रण मात्र रहे, वरन् वे साहित्यकार की कल्पना एवं सृजनात्मक प्रतिभा के आधारानकूल होते हैं। 'टाइप' में साहित्यकार उस पात्र की वर्गगत विशेषताएँ, प्रवृत्तियाँ, रुचियाँ, स्वभावगत विशिष्टताएँ, विश्वास, मान्यताएँ तथा सैंकड़ों के बोलने की पद्धति विशेष को पुंजीभूत कर देता है। उसमें व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ-साथ वे वर्गगत विशेषताएँ आकर ही उसे कलात्मक कृति बनाती हैं।[1] सृजनात्मक काव्यशास्त्री होने के कारण गोर्की ने अपने उपन्यासों में ऐसे 'टाइप' सृजित भी किये हैं। 'टाइप' हमें बालजक आदि प्राकृतवादी साहित्यकारों में भी मिलते हैं। गोर्की के 'टाइप' चरित्रों की प्रशंसा बालजक ने भी की है, यद्यपि वह बुर्जुआ लेखक माना गया है। उन्हें वह अपने वर्ग तथा समय का वस्तुगत इतिहासकार मानते हैं।

गोर्की ने काव्यशास्त्र के परम्परागत प्रश्नों पर भी विचार किया, किन्तु उनका दृष्टिकोण सदैव मार्क्सवादी रहा। कल्पना और ज्ञान को उत्पत्ति वह व्यक्ति की आत्मरक्षा-भावना की फलश्रुति के रूप में मानते हैं। ज्ञान का स्वरूप निर्धारण करते हुए उसे वह 'सोचने की शक्ति' कहते हैं। तथा कल्पना यही कार्य छवि-चित्रों के माध्यम से करती है। उनके ये सूत्रात्मक कथन अपने पीछे गम्भीर चिन्तन छिपाये हैं।

आदर्शवादी सौन्दर्यशास्त्रियों के समान वह आइडिया (Idea) को निरपेक्ष एवं मानव मस्तिष्क से परे की वस्तु नहीं मानते। वह मानव को सर्वोपरि ठहरा कर उसे ही सम्पूर्ण विचारों (Ideas) तथा वस्तुओं का निर्माता ठहराते हैं। सौन्दर्य, संस्कृति तथा सभ्यता के उपकरण मानव-श्रम के परिणाम हैं। कला के इतिहास की व्याख्या केवल इतनी है कि आदमी के श्रम से—श्रमिक के कुशल हाथों द्वारा जब सौन्दर्य का सृजन होता है तो सौन्दर्य के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली विचारधारा श्रम-प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम है। विचार क्रिया के अनुगामी हैं।[2]

मानवतावादी दृष्टिकोण होने के कारण वह मानव को सर्वोत्कृष्ट ठहराते हैं, उसके श्रम की प्रशंसा करते हैं। ईश्वर को वह मनुष्य के मस्तिष्क का आविष्कार मानते हैं। व्यक्ति जो कुछ है तथा जो कुछ भविष्य में बनना चाहता है, ईश्वर उसी का प्रतिरूप है।[3] गोर्की मानव-वृत्तियों के सामाजिक कल्याण का पक्षपात करते हैं। उसी आधार पर वह घृणा की महानता प्रतिपादित कर सके हैं। प्रगति

---

1. M. Gorkey : On Literature : page 30.
2. *Ibid*, pages 30 and 235.
3. *Ibid*, page 31.

का कारण होने के कारण असन्तोष भी उन्हें मान्य है।[1] प्रगतिशील वह केवल उसी को नहीं मानते जो कम्यूनिस्ट पार्टी का मेम्बर बन जाता है वरन् सामाजवादी व्यवस्था के हित में कार्य करने वाले सभी प्रगतिशील हैं—ऐसा उनकी दृढ़ आस्था है।[2]

धार्मिक विचारधारा प्राकृतिक तत्त्वों का चिन्तन-परिणाम न होकर सामाजिक संघर्ष की उत्पत्ति है। यूरोपीय साहित्य की प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए गोर्की ने कुछ ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डाला है, जिन पर उस दृष्टिकोण से पहले नहीं सोचा गया था। वह लोक-साहित्य में वर्णित निराशावाद का कारण खोजते हुए बताते हैं —

लोक-साहित्य का निराशावाद से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध इसलिए है कि इस साहित्य के निर्माताओं का निजी जीवन शोषण तथा निराशा से भरा था। दास जब अपने जीवन को व्यर्थ, असुरक्षित तथा कष्टपूर्ण समझता था तो उसमें भय और निराशा के भावों की स्थायी स्वीकृति हो जाना स्वाभाविक था।[3] उनकी दृष्टि में शोषण सारी सामाजिक कुरीतियों का कारण है।

उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय साहित्य का रूसी साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए वह यह प्रतिपादित करते हैं कि यूरोपीय देशों के साहित्य में हमें 'थोथे-पात्र' मिलते हैं जबकि रूसी साहित्य के नायक श्रमिक वर्ग के आशा भरे सामान्य व्यक्ति हैं।[4]

भाषा के सम्बन्ध में गोर्की का मत स्वस्थ दृष्टिकोण तथा मार्क्सवादी मान्यताओं पर आधारित है। वह रूसी-साहित्य, केवल रूसी भाषा के साहित्य मात्र को नहीं मानते वरन् रूस जैसे विशाल देश में सृजित सम्पूर्ण साहित्य को, चाहे वह किसी भी भाषा में रचा गया हो, रूसी साहित्य की सीमा में रखते हैं। देश के अन्दर रचे गये साहित्य की श्रेष्ठता वह उसके परिमाण द्वारा न आँका जाना स्वीकार कर गुणों को श्रेष्ठ ठहराते हैं।[5]

गोर्की ने आलोचना तथा स्वालोचना (Self-criticism) का महत्त्व स्वीकार किया है। आलोचना के गुणों में वह प्रभाव, लोच, लेखकों का पथ-प्रदर्शन आदि को प्रमुख मानते हैं।

'साहित्य और जीवन' की भूमिका में वी० वी० मिखायलोवस्की ने गोर्की को सामाजिक, यथार्थवादी, स्वतन्त्रताप्रिय, स्वच्छन्दतावादी तथा मानव को सर्वोपरि

1. *Ioid*, page 31.
2. *Ibid*, page 169.
3. M. Gorkey : On Literature, page 236.
4. *Ibid*, p. 240 and 241.
5. *Ibid*, p. 258.

महत्त्व देने वाला कहा है। गोर्की के आलोचना सिद्धान्तों में हमें प्रगतिवादी आलोचना के सिद्धान्त अपने मूलरूप में मिल जाते हैं, इसीलिए उन्हें मार्क्सवादी आलोचना-शास्त्र का आधार-स्तम्भ कहा गया है।

### चर्नीशेव्स्की

रूसी काव्यशास्त्र में चर्नीशेव्स्की प्रकाश-स्तम्भ माने जाते हैं। उन्होंने सौन्दर्य पर विस्तार से विचार किया है तथा यथार्थवाद के सम्बन्ध में अनेक मौलिक विचार दिये हैं। सौंदर्य और कला से संबंधित अनेक प्रश्नों के साथ साहित्य संबंधी अनेक प्रश्नों पर भी विचार किया है, जिनमें 'टाइप' का प्रश्न, साहित्य और जीवन का संबंध आदि प्रमुख रूप से आते हैं।

अतींद्रिय तथा यथार्थ जगत से उच्च वह किसी सत्य को स्वीकृति प्रदान न करके उसे यथार्थ से संबंधित मानते हैं।[1] जहाँ सत्य यथार्थ से संबंधित है वहाँ कला भी यथार्थ के बिना नहीं टिक सकती है। यथार्थ जगत में वह्य और आंतरिक दोनों रूप आते हैं।

"वास्तविक जीवन से हमारा तात्पर्य केवल वाह्य जगत के तत्वों और जीवों से ही मानव का संबंध नहीं, वरन् उसके आंतरिक जीवन से संबंध भी है। कभी-कभी मानव स्वप्न में भी विचरता है और तब उसके लिए स्वप्न का महत्त्व (किसी हद तक और किसी समय तक) वाह्य वस्तु जैसा ही हो जाता है। इससे भी अधिक मानव बहुधा अनुभूति जगत् में विचरता है; इन अवस्थाओं को भी, यदि वे रोचक हैं, कला चित्रित करती है।"[2]

यथार्थ और आदर्श का संबंध उनकी दृष्टि में अपरिहार्य है। आदर्श जब तक यथार्थ पर आधारित रहता है तभी तक ग्राह्य है, अन्यथा उसका कोई उपयोग नहीं है।[3] कल्पना को यथार्थ की प्रतिमूर्ति मानते हुए उन्होंने लिखा है—

"कल्पनाप्रसूत रचनाएँ वास्तविक जगत् द्वारा प्रस्तुत घटना-क्रम की अनुकृति-मात्र होती हैं।"[4]

कला में जीवन की व्याख्या की गई है और माना गया है कि कला जीवन का पुनः अंकन है। इसमें घटना-प्रवाह पर अपना अभिमत भी प्रकट किया जाता है।[5] यह सब न केवल जीवनमय होता है वरन् यथार्थ से भी उसी प्रकार संबंधित होता है जिस प्रकार फोटो व्यक्तित्व या दृश्य से। यथार्थ का संबंध होने पर कला अधिक पूर्ण बन जाती है।

---

1. चर्नीशेव्स्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० १५५-५६।
2. वही, पृ० १८४।
3. वही, पृ० १५५।
4. वही, पृ० २६२।
5. वही, पृ० १७२।

चर्नीशेव्स्की कला को मनोरंजन की वस्तु नहीं मानते वरन् मानव-जीवन के गम्भीर उद्देश्यों की पूर्ति करने वाला ठहराते हैं।[1] प्लेटो की मान्यताओं पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने मनबहलाव करने वाली कला को हेय तथा बेकार कहा है।

कला एवं आनन्द का संबंध निर्धारित करते हुए उन्होंने बताया है कि इस आनन्द के द्वारा आशा और आह्लाद का संचार होने लगता है, जिससे सहृदयता और नेकी व्यक्तियों में अधिकाधिक मात्रा में विकसित हो जाती है।

'कलाकृतियों से प्राप्त होने वाला आनन्द, निःसन्देह अन्य सभी (मुजारिमाना आनन्द को छोड़कर) आनन्दों की भाँति मानव की मनःस्थिति में आशा और आह्लाद का संचार करता है और प्रसन्न तथा सन्तुष्ट व्यक्ति निश्चय ही असन्तुष्ट तथा उदास जीव से अधिक सहृदय तथा नेक होता है।"[2]

उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ही वह इस सौंदर्य से प्राप्त होने वाले आनन्द को देखते हैं और इसे उपयोगी पाकर ही इसे ग्राह्य मानते हैं।

"सौंदर्यानुभूति का आनन्द भी अपने आप में भारी उपयोग की चीज है। वह मानव के हृदय में कोमलता का संचार करती है, उसकी आत्मा को ऊँचा उठाती है।"[3]

इतिहास, जीवन और कला को भी वह परस्पर संबंधित मानते हैं। कला और इतिहास के संबंध को बताते हुए उनका अन्तर भी स्पष्ट किया है। उन्होंने माना है कि जहाँ इतिहास सामाजिक जीवन को अपनाकर चलता है वहाँ कला व्यक्तिगत का चित्रण करती है।[4]

चरित्रों में व्यक्तिगत तथा सामान्य दोनों प्रकार की विशेषताएँ होती हैं तभी वे स्वाभाविक, सजीव तथा 'टाइप' बन पाते हैं।

"व्यक्तिगत अथवा विशिष्ट लक्षण पदार्थ के सामान्य महत्त्व को तनिक भी व्याघात नहीं पहुँचाते; उलटे वे उसे पुष्ट और सप्राण बनाते हैं। इतना ही नहीं, स्वयं काव्य भी अपनी छवियों को सजीव व्यक्तित्व प्रदान करने के प्रयासों द्वारा व्यक्ति की उच्चतम श्रेष्ठता को स्वीकार करता है।"[5]

'टाइप' की परम्परागत धारणा का खण्डन करते हुए चर्नीशेव्स्की ने बताया

---

1. चर्नीशेव्स्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० १८१।
2. वही, पृ० १८४।
3. वही, पृ० १६७।
4. "कला का जीवन के साथ सम्बन्ध वैसा ही होता है जैसा कि इतिहास का उसकी विषयवस्तु से। केवल इतना ही अन्तर होता है कि इतिहास जहाँ सामाजिक जीवन का वर्णन करता है, वहाँ कला व्यक्तिगत जीवन का चित्रण करती है। इतिहास जहाँ मानव जाति से सम्बन्धित है, वहाँ कला किसी एक मानव के जीवन को अपनाकर चलती है।" चर्नीशेव्स्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० १६७।
5. चर्नीशेव्स्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० १६४।

है कि सभी व्यक्तियों में से सामान्य और टिपीकल विशेषताओं का संग्रह मात्र 'टाइप' नहीं है। यह 'चरित्रों का निचोड़', चरित्र नहीं हो सकता। इसे वास्तविक नहीं कहा जा सकता। उन्होंने टाइप को यथार्थ के साथ जोड़कर रखा तथा चरित्र-चित्रण की विशेषताओं को स्पष्ट करके समझाया। वह मानते हैं कि पात्र को हृदयंगम करके चेतना द्वारा अपने अनुभव में उतार लेना चाहिए। फिर कवि या लेखक उस अनुभूति को समर्थ अभिव्यक्ति द्वारा प्रकट करें तभी उसके पात्र सशक्त, स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सकते हैं।"

"काव्य का चरित्र भले ही किसी वास्तविक व्यक्ति का प्रतिरूप हो, कवि उसे 'सामान्य वाले महत्त्व के स्तर पर उठा देता है।' किन्तु सच पूछिए तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं। कारण यह है कि मूल व्यक्ति होने पर भी वह सामान्य महत्त्व रखता है। उसके व्यक्तित्व में ही सामान्य का निवास होता है। कवि के लिए केवल यह आवश्यक है कि वह वास्तविक व्यक्ति के चरित्र के तत्व को पकड़ने में समर्थ हो, पैनी दृष्टि से वह उसके अन्तर को देख सके। इसी में कवि की प्रतिभा निहित है। इसके अलावा कवि की प्रतिभा इस बात में है कि वह समझे और अपनी सहज चेतना से अनुभव करे कि अमुक पात्र अमुक परिस्थितियों में किस प्रकार आचरण करेगा, अथवा किस प्रकार बोलेगा। तीसरे पात्रविशेष को चित्रित करने की (उसी रूप में उसे अंकित करने की जिसमें कि उसे देखा या जाना है) क्षमता का होना भी आवश्यक है। कवि की प्रतिभा का सम्भवतः यह सबसे विशिष्ट और प्रमुख गुण है। पात्र को समझना उसे हृदयंगम करना या सहज चेतना द्वारा अपने अनुभव में उतारना, और जो कुछ उसने समझा या अनुभव किया है उसे व्यक्त करने में समर्थ होना, इसी में कवि का कृतित्व निहित है।"[1]

सौंदर्य के संबंध में उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है तथा अपनी कुछ मौलिक उद्भावनाएँ प्रस्तुत की है। सौंदर्य के संबंध में यह धारणा बद्ध-मूल रूप से चली आ रही थी कि यथार्थ सौंदर्य की अपेक्षा कलात्मक सौंदर्य अधिक सुन्दर होता है। इसके खण्डन के लिए वह यह कहते हैं कि सौंदर्य का दर्शन केवल नेत्रों की क्रिया न होकर नेत्र और मस्तिष्क की क्रिया है।

"देखना एकमात्र आँखों का ही गुण नहीं है; उत्सुक और पैना मस्तिष्क भी इसमें सदा योग देता है। कल्पना भी पीछे नहीं रहती। आँखों के सामने प्रस्तुत आकार के रिक्त भाव को वह अपने रंगों से भर लेती है।"[2]

सौंदर्य के संबंध में एक नवीन मान्यता उन्होंने यह प्रस्तुत की कि सौंदर्य नि.स्वार्थ भी होता है :

"वास्तविक पदार्थ, भौतिक हितों की भावना को जगाये बिना भी, सुन्दर

---

1. चर्नीशेव्स्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० १६६।
2. वही, पृ० १५८।

लगते हैं।.....तारे, समुद्र, बन, पत्तों की सरसराहट, या बुलबुल का गीत..... भला इनके साथ हमारा क्या भौतिक हित सम्बद्ध हो सकता है ? फिर हम बहुधा बिना किसी स्वार्थ के दूसरों को प्यार करते हैं। ऐसा करते समय हम अपने को एकदम भूल जाते हैं, हमें अपने मैं का नाममात्र भी ध्यान नहीं रहता....."[1]

सौंदर्य को निःस्वार्थ मानने के पीछे यह रहस्य निहित है कि शोषण करने वाला वर्ग सौंदर्य का उपयोग शोषण के लिए करता था। इस शोषण का विरोध करने के लिए ही उन्होंने सौंदर्य को निःस्वार्थ सिद्ध किया है।

चर्नीशेव्स्की ने सौंदर्य को द्वन्द्व का परिणाम कहा है और द्वन्द्व का परिणाम कलात्मक सौंदर्य में दृष्टिगोचर होता है। प्राकृतिक सौंदर्य के पीछे भी वह द्वन्द्व को स्वीकार करते हैं :—

"कलाकार यदि वह वास्तव में कलाकार है तो अपनी कृतियों के द्वारा आमतौर पर अपने विचारों, मतों और भावनाओं को हम तक पहुँचाना चाहता है। केवल सुन्दर की अपनी भावना को व्यक्त करने तक ही वह अपने को सीमित नहीं रखता। संक्षेप में यह कि जिस प्रकार वास्तविक जीवन के क्षेत्र में सुन्दर प्रकृति के अन्य तत्वों के साथ द्वन्द्व विकसित होता है, उसी प्रकार कला के क्षेत्र में भी सुन्दर का विकास कलाकार के कतिपय संघर्षों और तकाजों के साथ द्वन्द्व में होता है।"[2]

"सौंदर्य की अभिजात्य-भावनाओं को अस्वीकार करके उन्होंने उसका संबंध स्वास्थ्य तथा श्रम के साथ जोड़ा। वह स्वस्थ और श्रमयुक्त जीवन में ही सौंदर्य देख पाते हैं।

"सौंदर्य की सच्ची परिभाषा है : "सौंदर्य ही जीवन है। मानव के लिये सुन्दर वही वस्तु है जिसमें वह जीवन को, जिस रूप में कि वह उसे समझता है, देखता है। सुन्दर वह वस्तु होती है जो उसे जीवन की याद दिलाती है।"[3]

(वह स्वस्थ और श्रमयुक्त जीवन में ही सौंदर्य देख पाते हैं) अतः उन्होंने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया है—

"कड़े किन्तु निःसत्व न कर देने वाले श्रम के फलस्वरूप अपने आप में भरा पूरा जीवन किसान बाला के रंग में एक ताज़गी ला देता है; उसके गाल गुलाब की भाँति लाल हो जाते हैं। आप लोगों की मान्यता के अनुसार सुन्दर का यह पहला गुण है : कड़ी मेहनत —मजबूत काठी।"[4]

सौंदर्य की परिभाषा करके उन्होंने उसकी तुलना दिव्य (Sublime) से की

---

1. चर्नीशेव्स्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० १५८।
2. वही, पृ० १६८-१६९।
3. वही, पृ० १५८-१५९, १६९।
4. वही, पृ० १७७।

है। दिव्य की विशेषता बताते हुए उसे वस्तुगत पदार्थों से अधिक बड़ा प्रतीत होने वाला कहा है। दिव्य की तुलना उसके परिवेश से होती है और दिव्य परिवेश से अधिक शक्तिसम्पन्न सिद्ध होता है।

"दिव्य वह नहीं है जो मानव के हृदय को परम तत्व के प्रति जागृत करके प्रभावित करता है, उसे विरले ही जागृत करते हैं। मानव के लिए दिव्य वह है जो उसे वस्तुगत पदार्थों से कहीं अधिक बड़ा प्रतीत हो, या उस परिवेश से जिससे कि वह उसकी तुलना करता है, कहीं अधिक शक्तिसम्पन्न प्रतीत हो।"[1]

दिव्य का एक तत्व वह दुखांत मानकर उसकी तुलना सुन्दर से करते हुए कहते हैं कि सुन्दर और दिव्य एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं। उनमें पूर्वगत भिन्नता या संबंध नहीं है।[2]

"दिव्य सुन्दर की एक किस्म या प्रकार नहीं है। दिव्य की भावना और सुन्दर की भावना सर्वथा भिन्न है, उनके बीच न तो कोई पूर्वगत संबंध है, न ही पूर्वगत भिन्नता।"[3]

आगे उन्होंने दोनों का अन्तर भी स्पष्ट किया है :—

"सुन्दर वह है जिसमें हम उस जीवन की झलक देखते हैं जो जीवन की हमारी कल्पना या मान्यताओं के अनुकूल होता है और दिव्य वह है जो उन पदार्थों से बड़ा होता है जिनसे कि हम उनकी तुलना करते हैं। इस प्रकार वास्तविकता में सुन्दर और दिव्य के अस्तित्व के साथ मानव के व्यक्तिगत विचारों का अन्तर्विरोध भी यहाँ खत्म हो जाता है।"[4]

सौंदर्य और सत्य का संबंध स्थापित करते हुए उन्होंने यह माना है कि जब तक सत्य एकताबद्ध और संगतिपूर्ण ढाँचे में नहीं ढलते तब तक उनका प्रभाव नहीं पड़ता।

"सत्य तभी अधिक ग्राह्य होते हैं जबकि वे एकताबद्ध, संगतिपूर्ण ढाँचे में ढले होते हैं·····जिसने कोई रूप या आकार-प्रकार प्राप्त नहीं किया है, वह कोई प्रभाव डालने में सफल नहीं हो सकता।"[5]

इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सौंदर्य शास्त्रीय क्षेत्र में सबसे प्रथम मार्क्सीय मान्यताओं की स्थापना करने का श्रेय चर्नीशेव्स्की को है।

---

1. चर्नीशेव्स्की : दर्शन साहित्य और आलोचना : पृ० १७७।
2. वही, पृ० १७७।
3. वही, पृ० १७७।
4. वही, पृ० १७७।
5. वही, पृ० १७६।

# वर्तमान रूसी आलोचना

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र साहित्य और पार्टी को अविभाज्य मानकर आलोचना को पार्टी-नीति के अनुसार बदलता गया है। आलोचना में पार्टी-नीति तथा दृष्टिकोण का परिवर्तन प्रत्यक्षत: देखा जा सकता है। आज भी समीक्षा-शास्त्र का मुख्य विषय सौंदर्य शास्त्रीय विवेचन (जैसे सामयिक और शाश्वत मूल्यों का प्रश्न आदि) न होकर राजनीति में उनके यहाँ चलने वाला व्यक्तिवाद पर्सनैलिटी कल्ट) ही प्रमुख है। कॉमरेड ख्रुश्चेव से लेकर सामान्य समीक्षक तक इसी से उलझे हुए हैं। इस व्यक्तिवाद-विरोधी दृष्टिकोण के अनेक पहलू हैं जिनपर आजकल विचार किया गया है, तथा किया जा रहा है। अभी पिछले दिनों रूस में स्टालिनवादी तत्वों का बहिष्कार हुआ है। उसका प्रभाव साहित्य और समीक्षा पर भी पड़ा है। लेखकों ने स्टालिन के व्यक्तिवाद का विरोध करते हुए कहा है :—

"आज हमें कम्यूनिस्ट पार्टी की घोषित नीति के समर्थन में स्टालिन की व्यक्तिवादी मान्यताओं को समाप्त करना है। इन मान्यताओं ने हमारे जीवन के सभी पहलुओं पर अपना व्यापक प्रभाव छोड़ा है। इससे साहित्य और कला का विकास रुका है।"[1]

स्टालिनवाद का विरोध करते हुए अनातोली निकुलकोव (Anatoli Nikulkov) ने अत्याचारों का पर्दाफाश किया है तथा बताया है कि आज साहित्यकारों को उन सारी बुराइयों की विवेचना करनी है जिससे भविष्य में ये बुराइयाँ फिर न पनप सकें—इसके उपाय खोजने हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में लिखा है :—

"Many innocent peoples suffered in those years. The party has publicly stated that. And no great credit is due to those who post factum, so to say, illustrate now this statement. The writer's task to more complicated ; we have to analyse how all that happened and what has to be done to prevent it from ever happening again. Our task is more difficult because the essence of the personality cult lay not only in the repressions. It has left a more extensive heritage the manifestations of bureaucracy and servility, of eye wash and the putting up of false fronts, of over-zealous administration and inattractiveness to the needs of man. And if literature is to be of real assistance to the Party it must help to extirpate all that."[2]

आज की रूसी समस्या में एक नवीन तत्व उसका सौंदर्य शास्त्रीय दृष्टिकोण है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सौंदर्यशास्त्र के प्रश्नों पर बहुत कम विचार किया गया

1. Soviet Literature : Vol. IV of 1962 : page 137.
2. Soviet Literature : Vol. IV of 1962 : page 137.

है। पूर्वकाल स्थापना-युग था अतः उसमें इस ओर दृष्टि न जाना स्वाभाविक है। आज का सौंदर्यशास्त्री न केवल सौंदर्य-नियमों के अनुसार सृजन करना चाहता है वरन् अपनी और समाज की जीवन-पद्धति भी उसी के अनुरूप डालने को कटिबद्ध है। सौंदर्य को कला के अतिरिक्त विज्ञान तक जोड़ते हुए जेलिंस्की (Ze.inski) ने कहा है :—

"It is not accident that in the press, in the schools, in science, in public life, everywhere, the question of beauty is being brought up in our land .. .... We want to build life according to the laws of beauty....."[1]

आज की रूसी समीक्षा साहित्य का उद्देश्य उस जनता की महान् उपलब्धियों का चित्रण स्वीकार करती है, जो कम्यूनिस्ट समाज-व्यवस्था को लाने के लिए संघर्षरत है। आज के साहित्य को उन नर-नारियों का चित्रण करना चाहिए जिनके परिवर्तित रूप भावी समाज की रचना का आदर्श प्रस्तुत करेंगे। भविष्य के मनुष्य की आत्मा के शिल्पी होने के कारण आज के साहित्यकार पर भारी उत्तरदायित्व है। एक ओर उसे बुर्जुआ विचार और नीति के प्रति असहयतापूर्ण दृष्टिकोण उत्पन्न करना है और दूसरी ओर भावी समाज के उस मौलिक रूप को साकार करना है जो कल का यथार्थ है।[2]

आज जो रूसी श्रमिक उच्च आदर्श से प्रेरित होकर उत्पादन कर रहे हैं उनके सच्चे एवं गहन सौंदर्य का अंकन साहित्यकार का प्रमुख उद्देश्य है। कम्यूनिज़्म के लिए जो जद्दोजहद हो रही है उसके उदात्त और महान् रूपों का चित्रित करना, सप्तवर्षीय योजनाओं की पूर्ति के लिए सोवियत लोगों की लगन तथा जागरूकता, हमारी आज की प्रगति-विरोधी तत्वों की करारी पराजय आदि तत्व जिस साहित्य में दिखाए जायेंगे वही महान् विचारों, गहन अनुभूतियों, उदात्त भावों तथा सफल अभिव्यक्ति का साहित्य माना जाना चाहिये।[3]

लेनिन के समय में साहित्य को अस्त्र के रूप में स्वीकार किया गया था। वह समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का युग था। आज स्थिति बदली है, अब प्रमुख प्रश्न सृजन, महान् उत्पादन, स्थायी शांति, सहअस्तित्व, युद्ध-विरोधी आदि का है; फलस्वरूप साहित्यकार और समीक्षक का दृष्टिकोण भी उसी के अनुसार बदला है। आज साहित्य का उपयोग नई पीढ़ियों को सुशिक्षित करने के लिए किया जा रहा है। आज साहित्यकारों से अपेक्षा की जा रही है कि वे साहित्य द्वारा कम्यूनिस्ट आदर्श को चित्रित करें। ऐसे लोगों का चित्र प्रस्तुत करें जो इस आदर्श की ओर बढ़ने में अपने

1. Soviet Literature : अंक १२ सन् १९६१ ई० : पृ० १२५।
2. वही, अंक ८ सन् १९६१ ई० : पृ० ८५।
3. *Ibid*, Vol. IV of 1962 : page 86.

स्वार्थों को छोड़ कर तपस्वी का सा जीवन व्यतीत करते हैं। फैक्टरी श्रमिकों के मन में श्रम के लिये जो निष्ठा और प्रेम रहता है और जो उनकी क्रिया द्वारा प्रकट होता है, उसे दिखाना आज की महत्वपूर्ण समस्या है। आज युवकों को ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो उनका सच्चा पथ-प्रदर्शन एवं शिक्षण कर सकें।[1]

कोई भी साहित्य केवल महान् आदर्शों के कारण ही महत्त्वपूर्ण नहीं बन जाता, आज का रूसी समीक्षक इस इस बात को समझ गया है। वह कम्यूनिस्ट आदर्श पर जोर देने के साथ ही साथ उस आदर्श की अभिव्यक्ति पर भी ध्यान देने लगा है। वे महान् विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उत्कृष्ट कोटि की कलात्मक क्षमता की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। महान् चरित्रों की विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए उच्च कोटि की अभिव्यंजना शक्ति की माँग होने लगी है। साहित्य आज केवल शिक्षण को ही उद्देश्य मान कर नहीं चल सकता। यह शिक्षण सुन्दरतम माध्यम से होना चाहिए। इसके लिए सच्ची और सुन्दर कलात्मक इमेजरी प्रस्तुत की जाय, जिससे उसका मानसिक स्वास्थ्य बढ़े, उसकी अनुभूतियों और संवेदन-सीमाओं का विस्तार हो तथा कम्यूनिस्ट समाज के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सके—तभी आज उसे स्वीकृति मिल सकती है।[2] वे आज के यथार्थ का चित्रण कलात्मक पद्धति से चाहते हैं जिससे आगे आने वाले कल का यथार्थ और अधिक सुखद, स्पष्ट तथा महान् आकांक्षाओं की पूर्ति कराने वाला बन सके।

अन्तर्राष्ट्रीयतावादी रचनाएँ जिनमें श्रमिकों का भ्रातृत्व एवं स्थायी विश्व-शान्ति के कार्यक्रम को प्रोत्साहन मिले, सोवियत साहित्य के आदर्श हैं। जो साहित्य विश्वयुद्ध की सम्भावनाएँ कम करे तथा सामान्य जनता के जीवन-स्तर को उच्चतम स्थिति में ले जाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो उसी को स्वीकार किया जा सकता है। रूसी लेखकों तथा विश्व के अन्य प्रगतिशील लेखकों से वे अपेक्षा करते हैं कि वे साम्राजवादी तत्वों को बढ़ाने वाली अर्थनीति, राजनीति, दर्शन आदि का मूलोच्छेदन करें जिससे विकसित होता हुआ समाजवाद सारे विश्व में फैल सके। इनका अन्तर्राष्ट्रीयत वाद देश प्रेम का विरोधी नहीं है बल्कि देश प्रेम विकसित होकर सारे विश्व का प्रेम बनता है—ऐसी धारणा है—इसे अन्य राष्ट्रवादी सीमाओं तक वह नहीं उभारना चाहते। और आज के साहित्य में वह इन सब तत्वों का पूर्ण समावेश चाहते हैं।

आज विश्व के सभी प्रमुख देशों में किसी-न-किसी रूप में कलावादी दृष्टिकोण पनपा है। आज का प्रगतिशील समीक्षक इस व्यक्तिवाद के विरोध में उठ खड़ा हुआ है। सोवियत लेखकों को इस जीवन-दर्शन को चुनौती देने के लिए दुहरे कार्यक्रम स्वीकार करने को कहा गया है। एक ओर जहाँ वे इस दृष्टिकोण का विरोध करें

1. Soviet Literature : Vol. IV of 1962 : page 86.
2. *Ibid*, page 86.

वहाँ दूसरी ओर यथार्थवादी साहित्य का सृजन भी करें।[1]

साहित्य और समाज का सम्बन्ध प्रत्येक युग के साहित्यकारों और समीक्षकों के चिंतन का विषय रहा है। कामरेड ख्रुश्चेव साहित्य को जनता का सेवक मानकर उसका उपयोगितावादी मूल्य स्वीकार करते हैं।[2] आलोचना के सम्बन्ध में भी उनकी यही दृष्टि है। निम्न पंक्तियों में उनकी मान्यता पूर्ण स्पष्ट है :—

"What is literary criticism? It is a way of sharpening the writers' weapons, a deep analysis of a literary creation, a perfection of the writers' profession of skill.[3]"

साहित्यकार जीवन से निजी सम्बन्ध रखकर लिखे, वह जीवन के जिस अंग पर लिखना चाहता हो, समाज के जिस अंग से अपने पात्र लेना चाहता हो, उसे उसी क्षेत्र में तथा उन्हीं लोगों के बीच जाकर रहना तथा उस प्रकार के काम और काम करते समय की मनोवृत्ति का निजी अनुभव प्राप्त करना चाहिए, तभी वह जीवन का सही रूप दे सकेगा और उसके साहित्य में अभिव्यंजित अनुभूतियाँ सत्य बन पावेंगी। परिवेश का महत्त्व साहित्य सृजन में अत्यन्त प्रभावात्मक माना गया है। जिस परिवेश में साहित्य जीकर अभिवृद्धि पाता है, वह उसका अंग होने के कारण न केवल उसका उपयोग साहित्य की पृष्ठभूमि के लिए करता है वरन् साहित्यकार का व्यक्तित्व एवं उसकी कृति की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ भी उसी पर आधारित होती हैं।[4] साहित्यकार जीवन की व्याख्यामात्र नहीं करता, वह तटस्थ होकर जीवन का अध्येतामात्र नहीं बना रह सकता, वरन् उसे जीवन को उसकी सभी अभिव्यक्तियों एवं गत्यात्मक स्थितियों में देखना होता है। सामाजिक जीवन का सही चित्र तो समाजशास्त्र का विषय है, साहित्यकार को तो उसे रागात्मक बनाकर प्रस्तुत करना होता है। जीवन की सही जानकारी के लिए मिखायल शोलोखोव की निम्न टिप्पणी ध्यान देने योग्य है :—

"An author writing about collective or State farm workers should in my opinion, possess agricultural knowledge that is at least the equal of that of the local agronomist. Anyone who writes about steel works, or about factory workers, engineers and technicians, must know the field at least as well as a highly skilled worker."[5]

---

1. Soviet Literature : Vol. IV of 1962 : page 87.
2. "The loftiest mission of the writers is to serve the people. There is no greater happiness for man than to live in a collective, to work in a collective and realize that he works for the good of his society, for the good of the people". (*Ibid* : page 89.)
3. *Ibid*, page 100.
4. वही, अंक ४ सन् १९६२ ई० : पृ० १३२।
5. वही, अंक २ सन् १९६२ ई० : पृ० १०३।

यथार्थवाद के सम्बन्ध में यद्धपि प्राचीन रूसी आलोचना में भी यथेष्ट विचार किया गया था, किन्तु वह आज भी प्रमुख रूप से विचार का विषय बना हुआ है। रूस में कुछ साहित्यकारों ने वर्तमान समाज-व्यवस्था की बुराइयों का दर्शन कराया और अच्छाइयों को छोड़ दिया। उस दृष्टिकोण[1] को वहाँ के समीक्षा क्षेत्रों में अत्यन्त अनुचित माना गया है। दुदिन्तसेव (Dudintsev) जैसे लेखकों की रचनाओं की आलोचना कामरेड ख्रुश्चेव तक को करनी पड़ी है :—

"We are against those who seek out in life only negative facts and gloat over this ; who try to defame, smear our Soviet way of life. We are likewise against those who create sacchrine, sugary pictures which are offensive to the feelings of our people, who will not have and will not tolerate any falsehood. The Soviet people reject also such, in effect, slanderous, writings as Dudintsev's 'Not by Bread Alone'[2]

रूसी समीक्षक मिखायल कुज्नेत्सोव (Mikhail Kuzanetsov) ने आधुनिक उपन्यास के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है[3] कि आज का युग यथार्थ को महत्व देता है और यथार्थ को उसकी अधिकतम सीमाओं में उपन्यास ही स्वीकार करता है, अत उपन्यास आज के युग की पूर्ण अभिव्यक्ति का माध्यम है। यथार्थवादी उपन्यासों में जीवन का सर्वांगीण चित्र होता है, जो उसे अन्य विधाओं की अपेक्षा श्रेष्ठ बना देता है।

अलैक्जैण्डर कारागानोव (Alexander Karaganov) ने सामाजिक यथार्थवाद का उद्देश्य बताते हुए लिखा है कि :—

"The object of socialist realism is to depict in artistic form the development of the new society and the forces determining that development of the 'new stage in social progress'. The revolutionary development of real life is to it not only that thing to be depicted but also the practical object of creative effort it affirms and portrays life as the process of creating a new world and a new man."[4]

वहाँ कुछ लोगों की धारणा है कि समाज का या व्यक्तियों का आत्मनिरपेक्ष चित्रण ही यथार्थवाद में आता है, लेखक का व्यक्तित्व तथा दृष्टिकोण उसमें नहीं आता; किन्तु, यह मान्यता अनुचित है। इस सम्बन्ध में वहाँ के विचारकों ने गहराई

---

1. Not by bread alone : Dudintsev.
2. N. S. Khruschov : Closer Alliance of Literature and art with the life of the people : page 26—27.
3. Soviet Literature : Vol. V of 1961 : page 128. P. G.
4. Soviet Literature : Vol. VI of 1959 : page 96.

से विचार करके माना है कि केवल गीतिकाव्य में ही नहीं वरन् सभी विद्याओं में साहित्यकार का व्यक्तित्व उसकी मान्यताएँ, दृष्टिकोण यहाँ तक कि उसके हृदय और मस्तिष्क का प्रत्येक अणु किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्ति पा जाता है। साहित्यकार के चित्रण का विषय और क्षेत्र चाहे जो कुछ हो किन्तु वह उसके द्वारा अपने जीवन की कहानी ही कहता है।[1] यथार्थ साहित्य में तथ्यों का यान्त्रिक प्रस्तुतीकरण, अव्यक्तिवादी विवेचन का कोई स्थान नहीं मानते। ग्लैडकोव (Gladkov) ने यथार्थवादी कला का विवेचन करते हुए लिखा है :—

"Art is born of spiritual torment of men's need to communicate of an irresistible desire to pour out our heart that, under the impression of the images you create, others may share your feelings and come closer to each other, become nobler and more humane."[2]

इस यथार्थवाद का आधार मानवतावाद है और यह भारतीय रस प्रक्रिया के अधिक पास आता प्रतीत होता है, हाँ अनुभूति की दृष्टि से सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं।[3]

रूसी समीक्षकों में उच्च स्थान पाने वाले श्री फीडिन महोदय ने यथार्थवाद में रोमांस की स्थिति को स्वीकार किया है। वह मानते हैं कि आज की यथार्थ स्थिति के दिग्दर्शन के साथ ही कल के सम्भाव्य रूप का चित्रण भी होना चाहिए। वह उस रोमांटिक दृष्टिकोण का विरोध करते हैं जिसमें भविष्य का चित्रण आज की यथार्थ दशा के विकास के रूप में न दिखाया जाकर उदात्त रूप में दिखाया जाता है। इसे फीडिन आत्मवादी (Subjactivism) दृष्टिकोण कहते, हैं जिसमें जीवन गुलाबी रंगों से रंगा हुआ दिखाया जाता है। फेदेव (Fadeyev) रोमांटिक दृष्टिकोण को यथार्थ स्वीकार करते हुए कहते हैं :—

"The writers who master the new method, he (Fadeyev) said, will be able to depict life and man in their complexity, in the process of change and development, in self propulsion in the light of the real and broad historical perspective, which means, as well in the light of what should be. In this sense the proletarian writer will be not only the soberest realist but also the biggest dreamer : dreaming is by no means the privilege of romanticists alone."[4]

यथार्थवाद की कसौटी 'टाइप' चरित्रों को माना गया है। 'टाइप' चरित्र के प्रश्न को लेकर कान्स्टेन्टिन फीडिन ने लिखा है :—

---

1. Soviet Literature : Vol, VI of 1959, page : 96
2. वही, पृ० ९७।
3. B. Iogansov : Notes of an artist (Soviet Art of 16th Nov, 1945)
4. वही, पृ० ९५।

"My constant aim is to create characters endowed with the typical traits of our times."[1]

आज के साहित्य की यथार्थवादी धारा वर्गगत चरित्र-चित्रण को आधार मानती है क्योंकि इन पात्रों के द्वारा लाखों व्यक्तियों का आदर्श, उनका साहस, संघर्षरत उत्साह, देशप्रेम, भयहीन आशावाद और वे सभी चरित्रगत विशेषताएं जो व्यक्ति को शक्तिशाली और विकासशील बनाती हैं साकार रूप धारण करती हैं। इन विशेषताओं के चित्रण में 'टाइप' पात्रों को केवल वर्गगत अयथार्थवादी वृत्तियों का समूह बना दिया जाय तो उसे यथार्थवादी अस्वीकर करेंगे। ऐंगिल्स ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है :—

"Each person is a type, but at the same time a quite definite personality." इसके अनुसार टाइप में वर्गगत विशेषताओं के साथ ही साथ वे सब व्यक्तिगत विशेषताएँ होना भी अनिवार्य हैं जो उसे विश्वसनीय, सक्रिय एवं हमारे जैसा जीता जागता व्यक्ति बना सकें। इसमें सामान्य को व्यक्तिगत के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है। 'टाइप' एक ऐसी स्थिति है जिस पर सामान्य और विशिष्ट दोनों का समन्वय होता है। इस चित्रण में पात्रों को विभिन्न वर्गों, विचार-धाराओं और समूहों के प्रतिनिधि रूप में स्वीकार किया जाता है, जो परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए आगे बढ़ते दिखाये जाते हैं।[2] यूपिट्स (Upits.) जैसे उपन्यासकार समीक्षक ने टाइप को जनता का सही चित्र मानते हुए लिखा है कि आज के साहित्य का यह अनिवार्य अंग है।[3]

रूसी समीक्षा की मुख्य दृष्टि टाइप पात्रों को कम्यूनिस्ट पार्टी से सम्बन्धित देखना उचित समझती है। उनकी धारणा है कि इन पत्रों का दृष्टिकोण निम्न प्रकार का होना चाहिये :—

"Typical is the means of conveying partisanship (attachment to the party). .....partisanship presupposes a clearcut, conscious, definite class outlook.....'[4]

टाइप के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन अनिवार्य माना गया है। टाइप में गुण या क्रिया का विस्तृतीकरण होता है और यह बिना अतिशयोक्ति (Exaggeration) के नहीं हो सकता कठिनाई से उपलब्ध और विशिष्ट भी टाइप बनाये जा सकते हैं किन्तु इस कोटि के पात्रों का जीवन की अनिवार्य स्थिति से सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक होता है।

---

1. B. Iogansov : Notes of an artist, Soviet Art Vol. IV 1962, page : 145.
2. Editorial of Kommunist No. 18. of 1955, Published from Moscow.
3. Editorial of Kommunist No. 18 of 1955, Published from Moscow.
4. Andrefs Upits : Thoughts and Memories.

आज की रूसी समीक्षा में कुछ अन्य प्रश्न उठे हैं जिनकी संक्षिप्त सूचना ही यहाँ दी जा सकती है, उनमें प्रमुख हैं—समीक्षा क्या है ? समीक्षक कौन है ? निर्णय क्या है ? साहित्य की दिशा क्या है ? क्या मतभेद होना आवश्यक है ? क्या साहित्य के ध्वंसात्मक स्वरूप को लेकर चला जा सकता है ? व्यंग्य का क्या महत्त्व है ? क्या साहित्यकार वार्निशमात्र करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ सकता है ? साहित्य की महानता की कसौटी क्या है ? आदि आदि ।

समीक्षा का उद्देश्य जनता को साहित्यिक कृतियों के रसास्वादन एवं प्रेरणा ग्रहण करने की पात्रता प्रदान करना है । कामरेड ख्रुश्चेव सबसे बड़ा और श्रेष्ठ समीक्षक जनता को मानते हैं । जनता का अधिकांश भाग जिस प्रकार के अभिमत को व्यक्त करता है वही निर्णय बन जाता है । वह आज के साहित्य की दिशा, जनता का हित तथा विकास पथ की ओर उसे उन्मुख करना मानते हैं । चूँकि सभी लोग एकसा नहीं लिखते और न सभी पाठकों की रुचियाँ एकसी होती हैं, इसलिये मत-वैभिन्न होना स्वाभाविक है ।

साहित्य केवल ध्वंसात्मक उद्देश्य लेकर नहीं चलना चाहिये, उसका विधायक उद्देश्य जब तक नहीं होगा तब तक वह समाज को उचित मार्गदर्शन नहीं दे सकेगा । समीक्षा के द्वारा महान् से महान् साहित्यकार को भी लाभ होता है, अतः उसका विधायक रूप ही अधिक महत्त्वपूर्ण एवं स्वागत योग्य है । आदर्श का औचित्य निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है :

"It is necessary to educate the people by good examples, to bleze trails into the future by showing the positive phenomena in life."[1]

व्यंग्य यथार्थवादी साहित्य का शक्तिशाली अस्त्र है । व्यंग्य के द्वारा बुराइयों का खोखलापन उभार कर सामने लाया जाता है । ख्रुश्चेव इस सम्बन्ध में अपना मत देते हुए लिखते हैं : –

"It is one of the keenest weapons. By ridiculing defects, harmful survivals and shortcomings, satire wards of off ailments and helps people to overcome shortcomings.

साहित्य की महानता का निर्णय लेखक के दृष्टिकोण पर निर्भर है । वही पात्र, वही घटना एक दृष्टि से देखने पर सामान्य दिखाई देगी और दृष्टिकोण बदल लेने पर महान् दिखाई देने लगेगी । आज की रूसी समीक्षा का प्रतिनिधि दृष्टिकोण निम्न शब्दों में स्पष्ट हुआ है :—

".....with the writers and the trends that take positive phenomena as a basis and with the help of these positive phenomena

1. N. S. Khrushchov : Soviet Literature, Vol. VIII of 1959 : p. 92.

bring out the enthusiasm of labour, fire the hearts of people, urge them to advance, indicate to them the way into the new world. They, as it were, generalize in the images of the positive characters the finest traits and qualities of people, counterpose negative characters to them, show the struggle of new against the old and the inevitable victory of the new. By demonstrating the positive elements, they at the same time condemn elements that must be discarded."[1]

रूढ़िवाद का विरोध,[2] भाषा-शैली का सामान्य स्तर एवं दृष्टिकोण के अनुकूल होना,[3] जनभावों की अभिव्यक्ति तथा सर्वहारा का पक्ष-समर्थन आज समीक्षा-शास्त्र के महत्त्वपूर्ण तत्व हैं। प्रगतिशील समीक्षक इन तत्त्वों को आधार मानकर चल रहे हैं। रूसी समीक्षक रूस के बाहर (जहाँ पूँजीवाद अभी प्रगति-पथ पर है) के साहित्य के लिए भी कसौटी दे रहे हैं। लुकाच ने जिन विशेषताओं के लिए आलोचनात्मक यथार्थवाद की प्रशंसा की है, रूसी समीक्षा उनकी पुनर्व्याख्या करती है और उनकी दृष्टि में इस कोटि का साहित्य अपनी निम्न विशेषताओं के कारण महत्त्वपूर्ण है :—

१—यह बुर्जुआ समाज की सचाई प्रकट करता है।[4]

२—युद्ध की विभीषिका, स्थायी शान्ति का महत्त्व तथा युद्ध से लाभ उठाने वालों के षड्यन्त्रों का भंडाफोड़ करके नवीन दृष्टिकोण अपनाने की दिशा देता है।[5]

३—नायकों में प्रेम और मैत्री के भाव दर्शाता है और इनका जीवन में महत्त्व स्पष्ट करता है।

४—इस पद्धति के साहित्य के चरित्रों में जो निराशावाद है उसका कारण उनका व्यक्तिवाद सिद्ध हो जाता है जो पूँजीवादी व्यवस्था का मुख्य वैषम्य है। आज के पूँजीवादी साहित्य की यह अनिवार्य विशेषता हमारे दृष्टिकोण को समाजोन्मुख करने की प्रेरणा देती है।[6]

५—उन तत्त्वों को अप्रत्याशित रूप से उभार देता है जो भावी समाज रचना के आधार हैं।[7]

६—मुक्ति-आन्दोलन के प्रति इनका सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण प्रगतिशील

---

1. N.S. Khrushchov : Soviet Literature, Vol. VIII of 1959 : p. 94.
2. Soviet Literature : Vol. IX of 1959 : p. 98.
3. *Ibid* : p. 94.
4. *Ibid* : Vol. VII of 1959 : p. 127.
5. *Ibid* : p. 128.
6. वही, पृ० १३२।
7. वही, पृ० १२८।

सिद्ध होता है ।[1]

७—इस साहित्य में श्रमिक की महत्त्वपूर्ण भूमिका तथा नायकों का जनता के प्रतीक-रूप में चित्रण प्रगतिवादियों की आशा के स्तम्भ हैं ।[2]

इनकी समीक्षा राजनीति की अनुगामी होने के कारण जैसे-जैसे राजनीति में परिवर्तन आते हैं उसी के अनुरूप नए-नए प्रश्नों से जूझती चलती है । आज वह व्यक्तिवादी धारा (personality-cult) के दोषों से अपने को मुक्त करने में व्यस्त है ।

## वर्तमान चीनी आलोचना

चीन की मार्क्सवादी आलोचना का विकास वहाँ की कम्यूनिस्ट पार्टी के इतिहास का अंग रहा है । चीन में वैसे तो १९२७ से ही मार्क्सवादी दृष्टिकोण पनपने लगा था किन्तु कला और साहित्य में उसका सीधा प्रभाव माओत्सेतुंग के मई २, १९४२ के भाषण के पश्चात् ही दृष्टिगोचर होता है । सन् १९४९ से यह धारा विस्तृत नदी का रूप धारण कर गई है, किन्तु कला और साहित्य से सम्बन्धित उन प्रश्नों पर गहन विवेचन अभी तक नहीं प्रारम्भ हो सका है जिसमें उसके अस्तित्त्व, रक्षा एवं स्वतन्त्र क्षेत्र के प्रश्न उठते हैं ।

चीनी आलोचना का आधार और पैटर्न तो रूसी समीक्षा ही है किन्तु चीनी आलोचना में जितना रूढ़िवाद, पूर्वाग्रह तथा राजनीति की अनुगामिता है, उतना रूसी समीक्षा में अब नहीं रहा है । आशा है कि समय के साथ आवश्यक परिवर्तन होंगे । चीनी समीक्षक साहित्य को राजनीति का अनुगामी मानकर अग्रसर हो रहे हैं । अनेक पुराने समीक्षकों के हृदय और दृष्टिकोण बदल रहे हैं । पेकिंग यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर चूक्वांग चीइन (Chukuang Chien) ने स्वीकार किया है[3] कि 'स्वतन्त्रता के पश्चात् जब मैंने पहली बार माओ की येनान टाक्स पढ़ीं तो मेरा दृष्टिकोण बदल गया । इससे पूर्व मैं साहित्य को राजनीति से ऊँचा समझता था । साहित्य के माध्यम से प्रचार करना साहित्य का मूलोच्छेद करना प्रतीत होता था । साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन का आधार कलात्मक ही उचित लगता था; लेकिन अब मुझे ज्ञात हुआ है कि माओ के इस कथन में तथ्य है कि साहित्य को राजनीति का सेवक होना चाहिये । वर्गगत समाज में राजनीति प्रथम और कला दूसरी कसौटी होती है । मैं पहले उच्च वर्ग के लिए लिखता था किन्तु माओ ने मेरा पथ-प्रदर्शन किया और बताया कि श्रमिकों, किसानों, सिपाहियों तथा देहाती पैटी बुर्जुआ के लिए लिखना चाहिए । आज इसी मार्ग पर चलकर हम अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं ।

---

1. Soviet Literature : Vol. VIII of 1959 : p. 134.
2. वही, पृ० १३८ ।
3. Chienese Literature : Volume IV of 1957 : page 171.

राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध चीनी समीक्षा का महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है। 'आज साहित्य में राजनीति और कलात्मक सौंदर्य की विरोधी धाराओं का द्वन्द्व है, दूसरी ओर यह द्वन्द्व कथ्य और शिल्प का है। आज उसमें एक ओर क्रांतिकारी राजनैतिक विचारधारा है तथा दूसरी ओर सर्वोच्च कलात्मक शिल्प है। साहित्य की कसौटी निर्धारित करते समय इस द्वन्द्व को दृष्टि में रखना चाहिए। किसी भी कलाकृति को संयुक्त राजनैतिक तथा कलात्मक दृष्टि से देखना ही उपयुक्त है किन्तु राजनैतिक कसौटी को ही प्रथम स्थान मिलना चाहिये।'[1] इस प्रकार की मान्यताएँ माओत्सेतुंग से प्रारम्भ हुई हैं[2] और आज साहित्य और कला के क्षेत्र में चल रही हैं।

येनान टाक्स में माओत्सेतुंग ने जिन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अपना अभिमत व्यक्त किया था उनमें से कुछ चीनी समीक्षा से सीधे सम्बन्धित हैं, अतः उनका विवेचन अनुपयुक्त न होगा। पथ-प्रदर्शन की दृष्टि से माओ ने साहित्यकार की दृष्टि को एक निश्चित दिशा देते हुए उसे तीन विभिन्न स्वरूप स्वीकार करने को कहा है।[3]

साहित्यकार अपने शत्रुओं के प्रति यथार्थ दृष्टि स्वीकार करे। उसे शत्रुओं की नृशंसता और धोखा देने की प्रवृत्ति आदि का भण्डाफोड़ करना चाहिये। उनकी अनिवार्य पराजय दिखानी चाहिये तथा उनके विरोध में लड़ने वाले प्रगतिशील दृष्टि-कोण वालों को प्रोत्साहित करना चाहिये।

हमारे संयुक्त मोर्चे में जो लोग सम्मिलित हैं उनमें एकता सुदृढ़ हो इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये और साथ ही आलोचना भी हो जिससे हमारे दोष दूर हो सकें। यदि हमारे संयुक्त मोर्चे का कोई अंग प्रतिक्रियावाद की ओर अग्रसर हो तो उसे हमें रोकना चाहिए और उसके विरुद्ध समझौताविहीन संघर्ष चलना चाहिए।

जनता को हमें (साहित्यकारों को) प्रोत्साहित करना चाहिये। उनके प्रयत्नों, संघर्षों, सेवाओं और पार्टी को समर्थन देकर आगे बढ़ाना चाहिये।

साहित्य किसके लिए? इसके सम्बन्ध में माओ का मत लेनिन के अनुरूप है; वह साहित्य को जनता के हित में प्रयुक्त करने के पक्षपाती हैं, साहित्य करोड़-करोड़ जनता के लिए है जिसमें सर्वप्रथम वे आते हैं जो हमारे आन्दोलन को अग्र-सारित कर रहे हैं, द्वितीय किसान हैं, तृतीय सशस्त्र सिपाही और चतुर्थ स्थान उस

1. The great debate on the literary front : page 49.
2. Chairman Mao repeatedly emphasizes 'Literature should serve politics', "Politics are class politics, to serve politics means to serve a class," "Any class in any class society always considers politics as the first criterion and art as the second criterion. (*Ibid*, Vol IV of 1957 : page 171)
3. Mao-tse-Tung : On Art and Literature : page 77 to 91.

बुद्धिजीवी एवं श्रमिक का है जो पैतीबुर्जुआ वर्ग के तो हैं किन्तु हमारे साथ संघर्ष में रहे हैं तथा जिनका सहयोग हम लेते रह सकते हैं। साहित्यकार को साहित्य रचना के समय तथा समीक्षक को समीक्षा-काल में इस दृष्टिकोण को प्राथमिकता देनी चाहिए।

जो साहित्य अब तक उच्च वर्ग के उद्देश्यों की पूर्ति करता है उसे अब सर्वहारा के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल लेना चाहिए। दृष्टिकोण बदलने के लिए तथा यथार्थ को उसके सच्चे रूप में देखने के लिए साहित्यकार को चाहिए कि वह श्रमिकों, सिपाहियों एवं किसानों के बीच जाय, उनके संघर्ष में सक्रिय भाग ले और वहाँ ठहर कर मार्क्सवाद और समाज का व्यावहारिक अध्ययन करे। इस प्रकार जिस साहित्य का सृजन होगा वह निश्चित रूप से श्रमिकों, सिपाहियों और किसानों का होगा और उसे सर्वहारा-साहित्य माना जाएगा।

साहित्य में हमें उदात्तीकरण अथवा विस्तृतीकरण[1] की प्रवृत्तियों को स्वीकार करना चाहिए। इस कथन के पीछे माओ का उद्देश्य है कि जिस प्रकार हम बाल्टी भरकर पानी ऊपर उठाते हैं तो वह अपने स्तर से ऊँचा हो जाता है, यह कहना कि वह हवा में टँग जाता है अनुचित है, उसी प्रकार साहित्य को भी हमें सामन्ती, बुर्जुआ तथा पैतीबुर्जुआ स्तर से उठाकर सर्वहारा स्तर पर ले जाना चाहिए। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामन्ती और बुर्जुआ साहित्य में जो कुछ हमारी दृष्टि से उपादेय और ग्रहणीय है, हम उसे भी अस्वीकार करते चले जायें, हाँ इस स्वीकृति में हमें निरन्तर जागरूक रहकर आलोचनात्मक दृष्टि अपनानी पड़ेगी। हमें अपने पूर्वजों और विदेशियों की आलोचनात्मक दृष्टिकोणविहीन भद्दी नकल नहीं करनी चाहिये।

साहित्य में प्रदर्शित जीवन के सम्बन्ध में माओ की मान्यता है कि वह जीवन उच्च स्तरीय तथा सामान्य जीवन से और अधिक गहरा होना चाहिये, जिससे वह आदर्श के अधिक निकट पहुँचे तथा अधिकतम सार्वभौमिक विशेषताओं से युक्त हो सके। क्रांतिकारी कला और साहित्य को सभी प्रकार के चरित्रों को यथार्थ जीवन से ग्रहण करना चाहिये जिससे जनता आगे का इतिहास बनाने में उसकी वांछित सहायता ले सके।[2]

रूसी समीक्षा पद्धति ही चीनी समीक्षा का आधार और आदर्श रही है[3] अतः रूसी समीक्षा में जो स्थिति उसके प्रारम्भिक विकास की थी, चीनी समीक्षा अभी उसी स्तर से निकल रही है। रूसी समीक्षा के समान चीनी समीक्षा उपयोगितावादी दृष्टि-

1. 'Should we devote ourselves to elevation and popularisation' (Mao-tse-Tung ; On Art and Literature : page 93).
2. *Ibid* : page 97.
3. *Ibid* : page 99.

कोण स्वीकार करती है। साहित्य सर्वहारा के लिए उपयोगी रहे—यह दृष्टि होनी चाहिए। उदात्त और सामान्य के समन्वय का उनका उद्देश्य है—जनता के सामान्य स्तर को उठाना जिससे वह साहित्य के उदात्त रूप का आनन्द ले सके और लाभान्वित हो सके।[1]

राजनीति और साहित्य के सम्बन्ध में उनका मत है कि राजनीति का अर्थ वर्ग-राजनीति होता है। यह जन-राजनीति भी हो सकती है। इससे एक वर्ग के उद्देश्यों की पूर्ति होती है। साहित्य उसी के अन्तर्गत कार्य करता है। साहित्य का मूल्यांकन करने वाली समीक्षा के मानदण्डों को उन्होंने दो प्रकार का माना है[2]—राजनैतिक और कलात्मक राजनैतिक मानदण्ड की व्याख्या में बताया गया है कि इसमें हमें संगठित करके शत्रु से विजयी बनाने वाले तत्व मिलते हैं। आदर्शवादी तथा यान्त्रिक भौतिकवाद को अलग करने के लिए हमें उसे पहचानना चाहिए। आदर्शवादी भावना पर जोर देता है और उससे पड़ने वाले प्रभाव को महत्त्वहीन ठहराता है। दूसरी ओर यान्त्रिक भौतिकवादी प्रभाव पर जोर देता है और भावना को महत्त्वहीन ठहराता है। हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी भावना और प्रभाव दोनों के समन्वय में विश्वास करते हैं। जनता की सेवा करने का हमारा उद्देश्य (भावना) ऐसे फल से अलग नहीं है जो उनकी स्वीकृति अर्जित कर सके। अतः हम दोनों को साथ लेकर चलते हैं। कलाकार के उद्देश्य और भावना को जाँचने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि उसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है या पड़ सकता है।

समीक्षकों का दृष्टिकोण राष्ट्रीय, वैज्ञानिक, सार्वजनिक तथा समाजवादी होना चाहिए। जहाँ तक कलात्मक मानदण्ड का प्रश्न है वह भी समाज पर पड़ने वाले प्रभाव पर ही आधारित माना जायगा। हम उसी कलाकृति को कलात्मक दृष्टि से सुन्दर एवं तुलनात्मक दृष्टि से अधिक सुन्दर मानेंगे जो अन्य की अपेक्षा अधिक गहरा सामाजिक प्रभाव उत्पन्न कर सके। आज प्रश्न यह है कि इन दोनों मानदण्डों का समन्वय कैसे किया जाय? कोई भी निरपेक्ष और अपरिवर्तनशील मानदण्ड न राजनैतिक हो सकता है और न कलात्मक। वर्गीकृत समाज का प्रत्येक वर्ग अपना-अपना मानदण्ड रखता है किन्तु कलात्मक राजनैतिक मानदण्ड का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए वे प्राथमिकता राजनैतिक को देते हैं।

समीक्षक प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते समय उन तत्त्वों की प्रशंसा करे

1. Mao-Tse-Tung : On Art and Literature : page 102 and 103.
2. *Ibid* : page 107 and 108.

जो इतिहास-क्रम में तब विकासशील थे।[1] इस सन्दर्भ में यह कहना असंगत नहीं है कि चीनी समीक्षक इस सन्दर्भ में यह दिखाना भी अनिवार्य मानते हैं कि उन तत्त्वों की समीक्षा आज के समाज-विकास की दृष्टि से भी होनी चाहिए और उनमें जो कुछ आज प्रगतिशील है उसी को हम ग्रहण करें और शेष को त्यागें और उसके त्याग की प्रेरणा जनता को दें। चाऊ-एन-लाई ने स्पष्ट शब्दों में इस विषय पर लिखा है :—

'The bad element of old literature and art, the part which is against the interest of the people and which does not meet the requirement of the people will certainly, and necessarily, disappear the part, for instance, that propagates feudal and other anti-revolutionary ideas. But those elements, which are rational and capable of healthy development, will undoubtedly attain to a higher level and become progressive, thereby incorporating themselves as a constituent part into the new literature and art.'[2]

माओत्सेतुंग ने आज के साहित्य और समीक्षा का उद्देश्य 'क्रान्तिकारी राजनैतिक विचारधारा की श्रेष्ठतम कला द्वारा अभिव्यक्ति' माना है। वह साहित्य का केवल राजनैतिक दृष्टि से ही श्रेष्ठ रूप में होना पर्याप्त नहीं मानते, वरन् उसकी कलात्मक श्रेष्ठता भी अनिवार्य ठहराते हैं। जहाँ उन्हें राजनैतिक दृष्टि से उचित मान्यता वाला साहित्य अपेक्षित है, वहाँ वे केवल प्रचारात्मक नारेबाज़ी का विरोध करके उसकी कलात्मक श्रेष्ठता की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।[3] साहित्य में उन्हें राजनैति और कला—विचार और श्रेष्ठ अभिव्यक्ति का समन्वय इष्ट है।

सच्चा मानव-प्रेम तब तक विकसित नहीं हो सकता जब तक कि वर्गविहीन समाज-व्यवस्था स्थापित नहीं हो जाती और तभी सच्चा साहित्य सृजित हो सकेगा। उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए आज साहित्यकार को चाहिए कि सच्चे क्रान्तिकारी के समान वह समाज और व्यक्ति की बुराइयों को इसलिए उभारें कि उनसे शिक्षा लेकर हम नवीन समाज के निर्माण में जागरूक रह सकें, जिससे वे बुराइयाँ भावी समाज-व्यवस्था में न आने पायें वरन् इसके विपरीत अच्छाइयों का आधकाधिक विकास किया जा सके।[4] बुराइयाँ दूर करने का अचूक उपाय व्यंग्य का प्रयोग है। यह व्यंग्य हमारे दृष्टिकोण के साथ-ही-साथ अपना रूप बदलता चलेगा। वे अनुपयुक्त शैली,

1. The proletariat too must treat the art and literature of the past according to their attitude to people and whether they are progressive in the light of history. (*Ibid* : page 109 - 110)
2. Chou-En-Lai : The people's Literation War and Problems of Literature and Art : page 33—34.
3. Mao-tse-Tung : On Art and Literature : page 110.
4. *Ibid* : page 112-113.

कोरे आशावाद, सिद्धान्तवाद, कल्पनावाद (Utopianism), ख्याली पुलाव, अव्यवहारवाद तथा जननिरपेक्षवाद का विरोध करते हैं।[1] वे राष्ट्रीयता को प्रगतिशील दृष्टिकोण का विरोधी नहीं मानते। जो साहित्य जितना ही अधिक क्रान्तिकारी होगा वह उतना ही अधिक राष्ट्रीय सिद्ध होगा। नये कवियों को पुराने काव्यरूपों तथा शैली-शिल्प से रोकते हुए[2] वे इसका कारण बताते हैं कि उनके द्वारा नई भावनाएँ तथा नए युग का यथार्थ पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं हो सकेगा, अतः वे अभिव्यक्ति-पक्ष में नवीन प्रयोगों के समर्थक हैं।

चीनी समीक्षा-क्षेत्र में अन्य अनेक प्रश्नों पर भी विचार हुआ है, जिनमें यथार्थवाद, सौंदर्यशास्त्र, भाषा-शैली, राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध आदि प्रमुख हैं। सूक्ष्म रूप से इन पर यहाँ विचार करना अनुपयुक्त न होगा।

चीनी समीक्षा-क्षेत्र में यथार्थवाद का दृष्टिकोण लगभग वही है जो अन्य मार्क्सवादी देशों के साहित्यकारों का है। वे यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा क्रान्तिकारी भावना की स्थिति न केवल सृजनात्मक साहित्य के लिए अनिवार्य मानते हैं वरन् समीक्षा के क्षेत्र में भी इन्हें अपरिहार्य ठहराते हैं।[3] वर्गविभाजित समाज में लेखक और कलाकार यथार्थ का दर्शन और चित्रण एक निश्चित वर्ग-भावना से युक्त होकर ही कर पाते हैं।[4] इस सम्बन्ध में युगसत्य का गंभीरतम चित्रण जनता के दृष्टिकोण से ही हो सकता है। यदि जन-साहित्यकार किसी विषय पर लिखे तो उसे सर्वप्रथम यह देखना देखना कि क्या यह जनता के लिए हितकारी होगा? इस प्रकार यथार्थवाद और क्रान्तिकारी भावना का समन्वय सिद्ध है। यथार्थवाद की ऐंगिल्स की परिभाषा की व्याख्या करते हुए यांग ने मुख्य रूप में निम्न तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है[5] :—

(१) यथार्थ केवल वर्णन की सत्यता पर आधारित नहीं रखा जा सकता, वर्णन की सत्यता वर्गवादी सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए।

(२) यथार्थवादी को नए चरित्र और नवीन विचार इस प्रकार चित्रित करने चाहिएँ जिससे युग की विकासशील शक्तियाँ उभर सकें एवं सर्वहारा का वीरतापूर्ण संघर्ष साकार हो जाय।

(३) यथार्थवाद में कम्यूनिस्ट जीवन-दृष्टि तथा सर्वहारा के स्वार्थों की पूर्ति को मान्य किया गया है।

---

1. Mao-Tse-Tung : On Art and Literature : page 118.
2. *Ibid* : page 136.
3. The Path of Socialist Literature and Art in China : page 36. (Chou Yang).
4. *Ibid* : Page 42.
5. *Ibid* : p. 42—45.

(४) यथार्थवाद लेखकों को आज की स्थिति से आगे देखने को प्रेरित करता है, जिससे वे युग के प्रगतिशील पात्रों के छवि-चित्र अंकित कर सकें।

(५) यथार्थवाद में युगसत्य का उसके क्रान्तिकारी विकास में चित्रण होना चाहिए, जिसमें कला के भविष्य की आकृति उभर सके।

(६) आज की क्रान्तिकारी सृजन-भावनाएँ, वीरता, आशावाद तथा देशभक्ति के अनुरूप ही उसका वर्णन वीरतापूर्ण, भाषा-शैली, शक्तिशाली लय तथा गहरे रंगों में होना चाहिए, तभी युग-यथार्थ प्रत्यक्ष होगा।

(७) आज हमारे समाज में जो अन्तर्विरोध हैं उन्हें भी यथार्थवादी को दिखाना चाहिए, जिससे हम उन्हें अपने बीच से हटा सकें और आरम्भ से ही अन्तर्विरोध-विहीन पद्धति का अनुगमन कर सकें।

चीनी समीक्षकों में एक अन्य वर्ग है जो इन मान्यताओं से असहमत है, वह भी अपने को मार्क्सवादी तथा प्रगतिशील मानता है, किन्तु दूसरा वर्ग (जिसे पार्टी की मान्यता मिली हुई है) इन्हें व्यक्तिवादी तथा पार्टी के प्रति गैर-वफादार कहता है। इस वर्ग में फेंग (Feng) तथा टिंग लिंग (Ting Ling) के नाम प्रमुख हैं। चिन चाओ यांग (Chin Chao Yang) ने निबन्ध यथार्थवाद एक विस्तृत मार्ग (Realism—a wide path) में साहित्य को राजनीति का पिछलग्गू बनाने का विरोध करते हुए लिखा है कि यथार्थवाद में कोरी वस्तुवादी दृष्टि नहीं होनी चाहिए।

It means that objective reality does not deserve absolute attention and that what is more important is a certain fixed, abstract 'socialist spirit' and the aspirations in the writer's head. When necessary we must subordinate the actual objective reality to this abstract, fixed subjective thing. The result will probably be a departure in literature from objective reality, or literature may become merely the mouthpiece of certain political concepts.[1]

यथार्थवाद पर विचार करते हुए 'चीनी साहित्य' (Chinese literature) के सम्पादक माओ टुन (Mao Tun) ने कुछ संभावनाएँ प्रस्तुत की हैं।[2] उसके अनुसार वर्ग विभाजित समाज में शोषकों द्वारा निर्मित साहित्य वर्ग-संघर्ष को साकार करता था। उसका कथ्य सत्याधारित तथा शिल्प जनता में प्रसिद्ध था। अतः उसके यथार्थवाद का विकास हो गया। पहले के इस शोषकों द्वारा लिखे गये यथार्थवादी साहित्य का मुख्य उद्देश्य, शोषितों द्वारा लिखे गये यथार्थवादी साहित्य का विरोध करना था, जिससे समाज में उनकी स्थिति सुदृढ़ हो सके।

वर्गवादी समाज में यथार्थवाद तथा यथार्थविरोधी प्रवृत्ति का संघर्ष चलता है। साहित्य के इतिहास में हमें ऐसी अनेकों रचनाओं के दर्शन होते हैं जो न यथार्थवादी हैं

1. Chinese Literature : Vol. II, 1959, Editorial.
2. Chinese Literature : Vol. X of 1961 : page 92 to 96.

और न अयथार्थवादी। इनमें अनेक प्रगतिशील तत्त्व थे, जिनका उस समय अधिक महत्त्व था, जो धीरे-धीरे या तो नष्ट हो गया या कम हो गया है, क्योंकि समाज की परिस्थितियाँ बदल गई हैं जैसे स्वच्छन्दतावादियों की रचनाएँ।

अयथार्थवादी रचनाओं में अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। इन सब में एक गुण समान रूप से सर्वत्र है और वह है यथार्थ से अलगाव या पलायन, राजनैतिक दृष्टि से इस कोटि का साहित्य सर्वहारा के हितों की रक्षा न करके शोषकों के हितों को साधने वाला है। रोमांसवाद भी दो प्रकार है—(१) सहकारात्मक रोमांसवाद तथा असहकारात्मक रोमांसवाद। असहकारात्मक रोमांस के अन्तर्गत आने वाली साहित्यिक कृतियों में यद्यपि यथार्थ का ही वर्णन होता है फिर भी वे अयथार्थवादी या पलायनवादी मानी जाती हैं. क्योंकि वहाँ उस यथार्थ को चित्रित करने वाले साहित्यकार की दृष्टि स्वस्थ नहीं होती।

यथार्थवाद में जहाँ एक ओर रूढ़िवाद का विरोध करना होता है वहाँ यह भी देखना होता है कि रूढ़िवाद के विरोध का लेबिल लगाकर आने वाले सुधारवाद (Revisionism) का समर्थन न हो जाय। कुछ लोग यथार्थवाद का तो समर्थन करते हैं किन्तु सामाजिक यथार्थवाद को अस्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि यदि यथार्थवाद में समाजवादी मान्यता आयेंगी तो वह साहित्य की दृष्टि से अनुपयुक्त हो जायगा; माओ टुन ने इन मान्यताओं वाले साहित्यकारों के भय का विश्लेषण करते हुए बताया है कि ये साहित्य को सर्वहारा के हितों के साथ नहीं जोड़ना चाहते, इसलिए उन्हें अपने स्वातंत्र्य में बाधा दिखाई देती है। हम इन्हें अतियथार्थवादी कह सकते हैं और आज जितना हम कलावाद का विरोध करते हैं उतना ही अतियथार्थवाद का भी।

उनके अनुसार यथार्थवाद का जन्म पूँजीवाद के साथ हुआ है, न कि वह बहुत पुराना है। यथार्थवाद में महान् आशावाद तथा त्रिजीविषा होती है। चीनी यथार्थवाद इस सिद्धान्त को ले कर चलता है कि अच्छाई का फल अच्छा और बुराई का फल बुरा होता है।

चीनी समीक्षा में सौंदर्यशास्त्रीय मान्यताओं पर भी विचार हुआ है। इस सम्बन्ध में अनेक विचारगोष्ठियों आदि में विवाद हुए हैं। इस सन्दर्भ कुछ में प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं[1] :—

सौंदर्यशास्त्र का मूलभूत उद्देश्य सौंदर्य का वस्तुगत यथार्थ में अध्ययन करना है। सौंदर्यशास्त्रीय सुन्दर वस्तुओं के सौंदर्य की प्रशंसा करने के लिए सौंदर्य के नियम खोजता तथा कलात्मक कृतियों की कसौटी तैयार करता है। यह सौंदर्य वस्तुगत यथार्थ में होता है।[2] त्सायी यी (Tsai Yi) के इस अभिमत को अस्वीकृत करते हुए

1. Chinese Literature : Volume 10 of 1961 : pages 92 to 96.
2. *Ibid* : page 92.

चू-क्वांग चीइन (Chu-K uang-Chien) कहते हैं कि यद्यपि आदमी का सामाजिक जीवन ही उसकी कला का एकमात्र प्रेरणास्रोत है; फिर भी कला द्वारा अभिव्यक्त जीवन-यथार्थ अधिक उच्च शक्तिशाली, अधिक एकाग्र, अधिक विशिष्ट (typical), अधिक आदर्शवादी तथा वास्तविक जीवन की अपेक्षा अधिक सार्वभौमिक सिद्ध होता है। वह सौंदर्यशास्त्र को वस्तुगत यथार्थ से अलग तो नहीं मानते किन्तु इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य कलात्मक सौंदर्य ठहराते हैं। प्रो० चू (Chu)[1] की मान्यतानुसार सौंदर्य-शास्त्र यद्यपि विज्ञान है फिर भी उसे कला का ही अध्ययन करना चाहिए। वे प्रगतिवादी दृष्टिकोण से सौंदर्यशास्त्र का यह कर्तव्य मानते हैं कि वह कला और साहित्य के साथ गहराई से सम्बन्धित किया जाय। व्यक्ति को यथार्थवादी कलात्मक छविचित्रों द्वारा समझने का सर्वोत्कृष्ट साधन कला और साहित्य हैं। अतः जनता पर सबसे गहरा प्रभाव उसी का पड़ता है। उन्हें कलात्मक सौंदर्य सबसे उत्कृष्ट कोटि का सौंदर्य प्रतीत होता है, फलस्वरूप सौंदर्यशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र उसी को मानते हैं। इस मान्यता द्वारा यह प्रतीत होता है कि सौंदर्य कलाकार के मस्तिष्क से उत्पन्न होता है, क्योंकि वह केवल कला का ही अध्ययन करता है। यह मत वस्तुगत सौंदर्य की मान्यता के विपरीत सिद्ध होता है।

याओ-वेन-युआन (Yao-Wen-Yuan) ने सौंदर्यशास्त्र की क्षेत्रीय सीमाएँ स्पष्ट की हैं[2] तथा बताया है कि सौंदर्यशास्त्र को तीन बातें बतानी चाहिएँ :—

(१) व्यक्तियों के जीवन में सुन्दर और असुन्दर क्या है ?

(२) यथार्थ का चित्रण जिस स्तर पर होता है यथार्थ के नियमों का विश्लेषण उससे भी अधिक उच्च स्तर पर होना चाहिए और यह भी दिखाना होगा कि कला-कृतियों का व्यक्तियों पर क्या प्रभाव है ?

(३) सौंदर्य की दृष्टि से कृति के कथ्य और अभिव्यक्ति पक्षों के संबंध का अध्ययन भी होना चाहिए।

(४) सौंदर्यशास्त्र केवल कला और साहित्य तक सीमित नहीं रहना चाहिए बरन् उसे प्रकृति, समाज और मानव-जीवन तक विस्तृत होना है।

(५) आज जबकि कला और साहित्य राजनीति की सेवा करते हैं तो सौंदर्यशास्त्र को (जो कला और साहित्य के सौंदर्य का विश्लेषण करता है) साहित्य और कला की परीक्षा इस दृष्टि से भी करनी चाहिए कि वे राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति कहाँ तक करते हैं।

इन मान्यताओं से यह सिद्ध है कि सौंदर्यशास्त्र को चीनी समीक्षक कला और जीवन का सम्बन्ध मानते हैं, जिनकी सीमा में न केवल कला और साहित्य आते हैं वरन् समग्र जीवन, प्रकृति और पदार्थ-जगत् आता है। सौंदर्यशास्त्र को वर्तमान

1. चीनी साहित्य : अंक १०, वर्ष १९३१ : पृ० ९४।
2. वही, पृ० ९४।

सम्बन्धों का अध्ययन करके भावी सम्बन्धों में सौंदर्य की श्रेष्ठतम संभावनाएँ भी प्रकट करनी चाहिएँ, यह वह स्वीकार करते हैं।

मानवतावाद के सम्बन्ध में विचार करते हुए चीनी समीक्षक यांग (Yang) ने इसे दो रूपों में विभाजित किया है[1]—बुर्जुआ मानवतावाद तथा सर्वहारा मानवतावाद। बुर्जुआ मानवतावाद के शोषण को वह किसी भी प्रकार बनाए रखने की युक्ति मानते हैं जबकि सर्वहारा मानवतावाद इसके विपरीत मानव-समाज को सभी प्रकार के शोषणों से मुक्त करना चाहता है। हमें पूर्वकालिक बुर्जुआ मानवतावाद के उन तत्त्वों की प्रशंसा करनी चाहिए जो ऐतिहासिक क्रम में प्रगतिशील थे। मानवतावाद, समाजशास्त्र की एक ऐसी पद्धति है जिसका विकास पुनरुत्थान-युग में यूरोप में हुआ था। यह पद्धति 'ईश्वरीय शक्ति' तथा 'राजा के अधिकारों' के विपरीत खड़ी होकर मानव के अधिकारों के लिए उद्घोषित हुई थी। इस मानवतावाद ने धार्मिक शोषण के स्थान पर व्यक्ति के गौरव की स्थापना की थी। आगे चल कर इन मानवीय मान्यताओं के द्वारा बुर्जुआ वर्ग ने शोषण किया और इनका प्रगतिशील रूप प्रतिक्रियावादी बन गया। यूगोस्लाविया के लेखकों का मानवतावाद बुर्जुआ व्यक्तिवाद है,[2] क्योंकि वे समाजवाद का उद्देश्य व्यक्तियों का निजी आनन्द मानते हैं। इसी प्रकार इंग्लैण्ड के मानवतावादियों का भी विरोध किया गया है और उन्हें पूर्व और पश्चिम की दोनों दुनियाओं को मिलाने की हिमायत करने का कारण तथा मार्क्सवादी और साम्राज्यवादी कैम्पों के अन्तर्विरोध को अस्वीकार करने के कारण क्रान्तिविरोधी माना गया है।[3]

सुधारवादी तथा बुर्जुआ विचारक मानवतावाद का आधार 'प्रेम' ठहराते हैं। उनकी दृष्टि में 'प्रेम' सामान्य मानव-प्रकृति है, जिसे कला और साहित्य का शाश्वत विषय माना जा सकता है। इस दृष्टिकोण को यांग प्रतिक्रियावादी मानते हैं, जिसके द्वारा बुर्जुआ समाज जनता को मूर्ख बना रहा है।[4] सर्वहारा मानवतावाद सबको प्रेम नहीं कर सकता, वह जनता को प्रेम करता है, श्रमिकों, किसानों, सिपाहियों तथा क्रांतिकारियों को भ्रातृवत् प्रेम करता है, किन्तु जो शोषक हैं, उन्हें वह घृणा करेगा। वह शोषितों को संगठित करके शोषण के प्रति घृणा जगाकर क्रान्तिकारी बनाएगा, जिससे वे शोषणविहीन वर्गमुक्त समाज की रचना कर सकें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चीनी समीक्षा यद्यपि कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से

---

1. Chou Yang ; The Path of Socialist Literature and Art in China : page 61.
2. 'What they mean by humanism is infact bourgeois individualism' page 53.
3. *Ibid* : page 53.
4. *Ibid* : page 55.

सम्बन्धित हुई है किन्तु अभी उसने साहित्य के मूल्यांकन सम्बन्धी उन प्रश्नों को नहीं उठाया है जो वर्गविहीन समाज-व्यवस्था की दिशा का निर्देशित कर सके। उसे अभी साहित्य के शाश्वत मानदण्डों की दिशा खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। आशा है निकट भविष्य में उसे भी रूसी समीक्षा के समान रूढ़िवाद के शिकंजे से मुक्ति मिल सकेगी।

## अन्य देशों में मार्क्सवादी आलोचना की पूर्वावस्था

### कॉडवेल

अंग्रेज समीक्षकों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को लेकर क्रिस्टोफर कॉडवेल ने सर्वप्रथम उच्चकोटि की सैद्धान्तिक समीक्षा प्रस्तुत की। कॉडवेल को न केवल कविता की व्याख्या करनी थी वरन् उसे सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से मूलभूत प्रश्नों का उत्तर भी देना था। कॉडवेल के कार्य की कठिनता तथा मौलिकता का सहज ज्ञान इस बात से हो जाता है कि उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भ्रम तथा यथार्थ' (Illusion and Reality) को लिखने का उद्देश्य केवल कविता सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देना न मानकर कविता के साधनों तथा उद्गम के कारणों की खोज करना घोषित किया।[1]

कविता के प्रारम्भिक युग की दशा का विश्लेषण करते हुए कॉडवेल ने बताया है कि आदिम कविता तत्कालीन साधारण भाषा का ही एक उच्चतर रूप थी जिसने छन्द, लय, अनुप्रास, एक ही लम्बाई की पंक्तियों और स्वराघात को अपनाकर अपने को अधिक स्थायित्व दे दिया। सभी युगों के सभी मानव-समूहों में यह एक सामान्य प्रवृत्ति रही है कि वे अपनी महत्त्वपूर्ण बातों को, चाहे वे किसी कृषक के यथार्थ अनुभव हों या जादुई शक्ति के मूलमन्त्र, एक उच्चतर, अधिक स्मरणीय भाषा में सुरक्षित रखने की कोशिश करते रहे।[2]

कविता के प्रारम्भिक युग में उसकी दशा अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अधिक संवेगात्मक तथा अधिक मूल प्रावृत्तिक थी। कथा-साहित्य व्यक्ति के सामाजिक चरित्र को, उसके समाज के साथ सम्पर्क में आने वाले रूप को अपना वर्ण्य विषय बनाता है। इसका परिणाम यह होता है कि कथा-साहित्य तभी विकसित हो पाता है जब कि श्रम का विभाजन तथा आर्थिक वैषम्य अधिक स्पष्ट हो उठता है और उसके फलस्वरूप वैयक्तिक विभिन्नताएँ स्पष्ट रूप से सामने आ जाती हैं। आदिम युग में ये विभिन्नताएँ अस्पष्ट थीं, अतः उस समय कविता का युग था। कविता के उस युग में अन्य कलाएँ, जैसे नृत्य एवं संगीत आदि, भी उसके साथ जुड़ी हुई थीं।

आदिम युग में कविता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपनी मान्यता स्पष्ट करते

---

1. C. Caudwell : Illusion and Reality : Introduction : page 5.
2. *Ibid*, pages 11 and 12.

हुए कॉडवेल ने बताया है कि फल एकत्र करने वाले या शिकारी मानवों का आदिम समाज सामान्य भावनाओं एवं विचारों से युक्त था। उस समूह के संवेग लययुक्त भाषा में अपनी अभिव्यक्ति करते थे। यह कविता का प्रारूप उस समूह का आर्थिक-अ-मूल-प्राकृतिक (non-instinctive) प्रयोजन था।[1]

आर्थिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए मनुष्यों को अ-मूल-प्रावृत्तिक (non-instinctive) प्रयासों की अपेक्षा होती है। फसल काटने, बीज बोने, धान रोपने आदि के अवसर पर सामाजिक कौशल को इन कार्यों में लगाना होता है; इन्हें सामूहिक उत्सव कहा जा सकता है। इस अवसर पर वास्तविक फसल का स्थान फसल या यथार्थ का काल्पनिक चित्र ग्रहण कर लेता है। थोड़े समय के लिए हम कल्पना को यथार्थ से भी अधिक सजीव मान लेते हैं। इस सामूहिक उत्सव की प्रेरणा व्यक्तियों को तब भी प्रेरित करती रहती है, जबकि उत्सव समाप्त हो जाता है। इस प्रकार कॉडवेल महोदय कविता तथा अन्य कलाओं को श्रम का प्रेरक मानते हैं तथा कहते हैं कि इससे सामूहिक उत्पादन अभिवृद्धि पाता है।[2]

मानवेतर प्राणी जिन कार्यों को मूल प्रावृत्तिक रूप में करते हैं, जैसे चीटियाँ भोजन इकट्ठा करती हैं—गौरैया घोंसला बनाती हैं, वैसे मनुष्य नहीं करता। उपयोगी कामों की ओर उसकी मूल प्रावृत्तिक शक्ति को मोड़ना पड़ता है। इस महान् कार्य को कविता करती है। कविता में मंगलकारी भविष्य की कल्पना निहित रहती है। कविता का उद्देश्य इसी को माना गया है तथा कहा गया है कि यही उसकी अर्थनीतिक उत्पत्ति है।[3]

वे मनोभाव जो सभी प्राचीन लोगों में थे, वे समाज के विकास के साथ बदलते चले गये। प्राचीन फल एकत्र करने वाली तथा शिकारी जातियाँ प्रकृति में अपनी मान्यताओं का विस्तार पाती थीं। प्रकृति के अनुरूप बनने के लिए उनमें सामाजिक परिवर्तन भी होता रहता था। इसी कारण उनकी कला प्रकृतिमय तथा अनुभूतिपूर्ण है।[4] आदिम जाति में प्रकृति के समावेश का परिणाम श्रम-विभाजन हुआ, जिससे राज्याधिकारियों, पादरियों एवं शासकों की उत्पत्ति हुई।[5] मानव-समाज अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए जो आर्थिक संघर्ष कर रहा है (जो अजीवशास्त्रीय है) कविता उसी की देन है। कविता मानव-समाज को उस ओर अग्रसर करती है। समाज को कविता उस दिशा में प्रेरित करती है जो अभी अनुपलब्ध है किन्तु वर्तमान की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है। कविता के सत्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि

1. C. Caudwell : Illusion and Reality, Introduction: page 15.
2. *Ibid*, page 25.
3. *Ibid*, pages 25 and 26.
4. *Ibid*, page 27.
5. *Ibid*, page 28.

कविता का सत्य उसमें वर्णित तथ्यों का संकलन नहीं हुआ करता वरन् उसकी समाज में गत्यात्मक भूमिका एवं सामाजिक भावनाओं को जगाने की शक्ति है ।[1]

कविता की प्रकृतिगत विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए कॉडवेल ने एक अध्याय लिखा है, जिसमें निम्न तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है[2]—

(१) कविता लयात्मक होती है ।

(२) कविता का अनुवाद कठिन है ।

(३) कविता अबौद्धिक, किन्तु, भावात्मक प्रयत्न है ।

(४) कविता असांकेतिक होती है ।

(५) कविता मूर्त्त होती है ।

(६) कविता की प्रकृति संघात्मक प्रभाव की होती है ।

कविता की विशेषताएँ भाषा, समाज, व्यक्ति एवं यथार्थ से ग्रहण की जाती हैं । इस सन्दर्भ में व्यक्ति से तात्पर्य मूल प्रवृत्तियों से युक्त व्यक्ति (genotype) से है तथा सत्य व्यक्ति का प्रकृति के विरुद्ध जो संघर्ष चलता है उससे उपलब्ध योजना-बद्ध उत्पादन है, सत्य के सम्बन्ध में कोई नवीन मान्यता उन्होंने नहीं दी है । मार्क्स तथा ऐंगिल्स आदि की मान्यताओं को ही अपनी भाषा में प्रस्तुत किया है । वह निरपेक्ष सत्य को नहीं मानते । सत्य को वह विश्व का अंग स्वीकार करते हैं । भाषा को वह एक लचीला साधन मानते हैं । उनकी धारणा है कि भाषा व्यक्ति का अनिवार्य अस्त्र है—यही कारण है कि हम सत्य की भाषा से अलग हो कर कथन के रूप में सोच भी नहीं सकते—इससे सत्य का साहचर्य-जन्य उत्पादन सिद्ध हो जाता है ।[4]

कविता और स्वप्न में साहचर्य मानते हुए बताया गया है कि अबौद्धिकता दोनों में होती है किन्तु स्वप्न जहाँ मुक्त साहचर्य (Free Association) से युक्त होता है, कविता ऐसी नहीं होती । कविता में सामाजिक अनुभूतियाँ होती हैं । जब हम स्वप्न देखते हैं तो कुछ समय के लिए हमारा सम्बन्ध शेष जगत् से नहीं रहता इसी प्रकार कवि तथा कविता पढ़ने वाले का सम्बन्ध भी शेष सृष्टि से कट जाता, है—कुछ समय के लिए कविता में अभिव्यक्त जगत् ही उसकी अनुभूति का आधार होता है । कविता की लय कुछ ऐसा शरीर शास्त्रीय प्रभाव उत्पन्न करती है कि हमारा शरीर उद्दीप्त हो उठता है । उस स्थिति में हम अन्तर्मुख हो जाते हैं । हमारे चारों ओर के वातावरण से आने वाली ध्वनियाँ हमारे लिए कोई अस्तित्व नहीं रखतीं—हम उनसे बेखबर हो जाते हैं । इस अन्तर्मुखता को हम लय, तुक, छन्द आदि से प्राप्त करते हैं । कविता का अनुवाद इसलिए नहीं किया जा सकता कि उसमें

1. C. Caudwell : Illusion and Reality page 29.
2. *Ibid*, Chapter VII : pages 124 to 136.
3. *Ibid*, pages 137 and 138.
4. *Ibid* : page 140.

रागात्मक सन्दर्भ उत्पन्न करने वाले तत्त्वों का निर्वाह अनुवाद में नहीं हो पाता है। कथा-साहित्य में ये रागात्मक संदर्भ यथार्थ से सम्बन्धित रहते हैं, अतः उनका अनुवाद किया जा सकता है। वहाँ लय, तुक, छन्द आदि की आवश्यकता इसी लिए स्वीकार नहीं की गई है।[1]

कॉडवेल ने कला का आधार आन्तरिक द्वन्द्व माना है। यह द्वन्द्व मूल प्रवृत्तियों एवं परिवेश में चलता है। कला में जो आत्माभिव्यक्ति कहलाती है, वह वास्तव में एक ऐसी स्थिति में जिसमें कलाकार अपनी अनुभूतियों को ऐसा रूप देता है जिसमें वे कला के सामाजिक जगत् से मुक्त होकर कलाकृति का रूप धारण कर लेती हैं। इसमें व्यक्तिगत का सामाजीकरण हो जाता है। इस प्रकार कला-जगत् व्यक्तिगत प्रयत्नों से परिवर्तित होता चलता है। कलाकार की कला का यह क्रांतिकारी पहलू है। इस प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक पद्धति से विवेचित करते हुए कॉडवेल ने निषेधात्मक निषेष कहा है। इसमें कला के वर्तमान जगत (वर्तमान चेतना या सिद्धान्त-परम्परा) तथा कलाकार के निजी अनुभव (जीवन या व्यावहारिक प्रयोग) के संघर्ष का परिणाम (समन्वय—Synthesis) कला को माना है।[2]

मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति के विकास से पूर्व दो प्रकार की आलोचना पद्धतियाँ मानी गई हैं :

१—आदर्शवादी या भाववादी तथा २—यान्त्रिक भौतिकवादी।

भाववादी आलोचना में कला को आत्मतिष्ठ माना गया है। वह कलाकार के मानस की अनुभूति के रूप में स्वीकार की गई है, जबकि यान्त्रिक भौतिकवादी समीक्षा का आधार तत्सम्बन्धी दार्शनिक पद्धति है। यान्त्रिक भौतिकवाद में साहित्य को समाज से स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है—उसे निरपेक्ष माना गया है। साहित्य की आलोचना साहित्य की शब्दावली में ही होनी चाहिये—ऐसा उनका आग्रह रहता है। इसके पालन का परिणाम यह होता है कि कला एवं साहित्य में सर्वत्र रूपवादी मान्यताएँ स्वीकृत हो जाती हैं। कॉडवेल इस सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि आलोचना कला के क्षेत्र को ही स्वीकार करके नहीं चल सकती—उसे अपने सिद्धांत कला के क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों से भी स्वीकार करने होंगे। कला की भाँति समीक्षा केवल आनन्द के लिए या सृजन के लिए नहीं लिखी जाती, वरन् उसका उद्देश्य कला द्वारा समाज-कल्याण की भावना से अनुप्रेरित रहता है। कला की समीक्षा उसका आस्वादन मात्र नहीं है। यदि हम कला को उसकी समग्रता में देखना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि उसे उसके परिवेश में देखा जाय। अतः कॉडवेल के अनुसार मार्क्सवादी

1. C. Caudwell : Illusion and Reality : pages 200 and 201.
2. वही, पृ० २०२-२०३।

समीक्षा का मुख्य आधार उसकी पृष्ठभूमि, समसामयिकता तथा परिवेश हैं।[1]

साहित्य में सामयिक और शाश्वत तत्त्वों का समन्वित रूप उन्हें इसलिए स्वीकृत है कि साहित्य में एक ओर गहरी भावात्मक अन्विति होती है जो उसे सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक बनाती है—उसके प्रभाव को युग-युग तक अक्षुण्ण रखती है और दूसरी ओर उसमें सामयिक तत्त्व होते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध तात्कालिक परिस्थिति तथा समान दशा से जुड़ा होता है, जो उस साहित्य को शक्ति प्रदान करते हैं। इसी आधार पर उन्होंने सिद्ध किया है कि कला जब भी वर्ग-विभाजित समाज में उत्पन्न होगी, वर्गवादी मान्यता से रहित नहीं हो सकती।[2] इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की समीक्षा विस्तार से प्रस्तुत की है।

कि० कॉडवेल की मार्क्सवादी मान्यताओं के संदर्भ में उनके औचित्य का परीक्षण असंगत न होगा क्योंकि हिन्दी-समीक्षा में प्रगतिवादी मान्यताओं पर उसका व्यापक प्रभाव स्पष्ट स्वीकृत है। इस सम्बन्ध में निम्न तथ्य विचारणीय हैं—

(१) उसकी शैली तथा भाषा यथार्थवादी न होकर कल्पनाशील, बड़े-बड़े शब्दों से युक्त है, इसी कारण उनकी मान्यताओं में निहित अन्तर्विरोधों को आसानी से पकड़ा जाना सम्भव नहीं है। लेनिन, गोर्की तथा प्लेखानव की सी सीधी भाषा में स्पष्ट मान्यताएँ वे प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। जिन मान्यताओं को उन्होंने बुर्जुआ कह कर विरोध किया है, आगे चलकर वे उन्हीं का समर्थन करते हैं। उदाहरण के लिए वह फ्रायड को प्रतिक्रियावादी मानते हैं, किन्तु प्रकारान्तर से उन्होंने फ्रायड की मूल प्रावृत्तिक व्यक्ति (genotype) की मान्यता को स्वीकार किया है तथा उसको आधार मानकर मार्क्सवाद की व्याख्या की है।[3] मूल वृत्तियों को शाश्वत मानना फ्रायड की मार्क्सवादी आलोचना पर विजय स्वीकार करना है।

(२) कॉडवेल ने माना है कि उत्पादन में बँटवारा है। यह बँटवारा उन दो वर्गों में है जिनमें एक उत्पादन की दिशा निश्चित करता है तथा दूसरा उसे उत्पादित करता है। एक शोषक है दूसरा शोषित। शोषित कार्य करते हैं किन्तु अजागृत, (unconscious) रहते हैं, अतः जब उत्पादन-सिद्धान्त तथा उत्पादन में गड़बड़ी (discrepency) होती है तब उसे आसानी से सम्हाला नहीं जा सकता है और उससे क्रांतिकारी विस्फोट हो जाता है।[4] मार्क्सवादी विचारधारा के वर्तमान समीक्षक मारिस कॉर्नफोर्थ इसे अस्वीकार करते हुए अमार्क्सवादी दृष्टिकोण की देन बताते

1. समालोचक : फरवरी १९५९ : पृ० ९९।
2. C. Caudwell : Illusion and Reality : pages 204 and 205.
3. *Ibid* : page 207.
4. C Caudwell : Further studies in dying culture : pages 150-151.

हैं।[1] इस तीव्र आलोचना का आधार यह है कि मार्क्स के सिद्धान्तानुसार इतिहास का विकास इस प्रकार नहीं होता कि विचार (Theory) और क्रिया (practice) में गड़बड़ी होने पर तनाव (tension) से इतिहास आगे बढ़ता हो। मार्क्स ने यह भी नहीं कहा है कि गड़बड़ी (discrepency) होने पर तनाव (tension) से इतिहास आगे बढ़ता है। मार्क्स ने यह भी नहीं कहा है कि शोषक वर्ग सदैव जाग्रत रहता है और शोषित वर्ग सदैव अजाग्रत (unconscious.) बना रहता है।

(३) कॉडवेल ने जिस प्रकार कविता का विश्लेषण तथा स्वरूप-चित्रण किया है उससे पता चलता है कि वह कविता के द्वारा पहले व्यक्ति की वृत्तियों को बदलने पर जोर देता है और इसके परिणामस्वरूप बाहरी स्थिति भी बदल जाती है।[2] यह मान्यता मार्क्सवाद के अनुकूल नहीं है, क्योंकि 'बाह्य भौतिक जगत् की शक्ति का स्रोत भीतर है, ऐसा मार्क्स ने स्वीकार नहीं किया है। मार्क्स के अनुसार हम प्रयत्नपूर्वक बाह्य जगत् को परिवर्तित करके अपनी शक्तियों को विकसित करते और इस प्रकार अपने को बदल लेते हैं।

(४) कॉडवेल ने कलाओं तथा साहित्य के सम्बन्ध में नियम बनाते समय आर्थिक सम्बन्धों को उनसे उतनी सीधी रीति से सम्बद्ध कर दिया है कि यान्त्रिक भौतिकवादी दृष्टिकोण के समान यान्त्रिक-सा प्रतीत होता है।

इन सीमाओं के होते हुए भी कॉडवेल के महत्त्व को स्वीकार किया गया है और उसे जार्ज थॉमसन (George Thomson) जैसे मार्क्सवादी समीक्षक 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का प्रणेता' मानते हैं।[3]

## लुकाच

हंगेरियन मार्क्सीय सौंदर्यशास्त्री जार्ज लुकाच (George Lukacs) की काव्यशास्त्रीय मान्यताएँ मार्क्सवादी आलोचना-क्षेत्र में विवाद का विषय रही हैं। लुकाच ने यथार्थवाद को साहित्य की कसौटी बताया है। यथार्थवाद मार्क्सवादी मान्यताओं में सर्वप्रथम स्थान का अधिकारी घोषित हुआ है। लुकाच ने यथार्थवाद के सम्बन्ध में फैले हुए भ्रमों का निराकरण किया है। ये मिथ्या वस्तुवादियों तथा मिथ्या व्यक्तिवादियों के चंगुल से यथार्थवाद को मुक्त कराते हुए उसे सर्वथा नवीन, मौलिक तथा भिन्न मार्ग मानते हैं। यथार्थवाद विकास के नियमों पर आधारित है अतः उसे

---

1. 'Whatever all this may be, it is not certainly Marxism'. M. Cornforth : The Modern Quarterly, Vol. VI No. I Winter 1950-51 page 20.
2. C. Caudwell : Illusion and Reality : page 127, 152, 199, 208, 225 229, 244, 246.
3. G. Thomson : Introduction of Illusion and Reality.

वैज्ञानिक माना गया है। रहस्यवादी विकास के नियम को न मानकर पारलौकिक सत्ता में विश्वास कराता है—इसी कारण यथार्थवादी उसका विरोधी है। यथार्थ न जीवनहीन 'औसत' है (यह मान्यता प्राकृतवादियों की है) और न शून्यता की ओर ले जाने वाला व्यक्तिवाद। यथार्थ की कसौटी 'टाइप' चरित्र हैं—यह टाइप 'औसत' का पर्यायवाची न होकर 'विशेष' और सामान्य का समन्वय 'चरित्र' और 'घटना' दोनों में करता है।

'टाइप' के सम्बन्ध में लुकाच की मान्यता है कि उसमें सभी मानवोचित एवं सम्बन्धित सामाजिक तत्त्व अपनी चरमतम सीमा तक विकसित होने चाहिएँ। इन मानवीय और सामाजिक तत्त्वों में परोक्ष रूप से सभी सम्भावनाएँ प्रकट होनी चाहिएँ—उनकी अतिवादी सीमाएँ स्पष्ट रूप से उद्घाटित हो जायें, यह भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त वे इस बात को भी आवश्यक समझते हैं कि 'टाइप' द्वारा मनुष्य और युग की विकास-उच्चताएँ स्पष्ट हो जाएँ।

मनुष्य और समाज का दिग्दर्शन मात्र यथार्थवाद नहीं है। लुकाच मनुष्य और समाज के सभी रूपों का दिग्दर्शन वास्तविक यथार्थवाद के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं, उन्हें परस्पर सम्बन्धित ठहराते हैं। इस कसौटी पर व्यक्तिवादी तथा प्राकृतवादी दृष्टिकोण एकांगी सिद्ध हो जाते हैं। यथार्थवाद एकांगी को अस्वीकार करके समग्रता का पक्षपाती है। जहाँ पात्र जीवन तथा मानवीय सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं—वहीं वे यथार्थवादी सीमाओं में आते हैं।[1] पूर्ण मानवीय व्यक्तित्त्व को औचित्यपूर्ण पद्धति से प्रस्तुत करना ही यथार्थवाद कहा जाता है—मानव व्यक्तित्व को समग्रता 'टाइप' द्वारा ही सिद्ध हो सकती है। इसमें मनुष्य-समाज का एक अंग बन जाता है—न कि व्यक्तिवादी दर्शनों की भाँति उसे समाज से अलग करके देखा जाता हो।[2]

'टाइप' चरित्रों की व्यक्तिगत एवं सामाजिक विशेषताएँ ऊपर से देखने पर एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न दिखाई देती हैं, किन्तु उनका यह विरोध कृत्रिम है। हाँ कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि व्यक्ति की निजी धारणा और सामाजिक दशा में विरोध हो, जैसे आदर्शवादी सामाजिक दशा का यथार्थ चित्रण करे तो उसे यथार्थवादी कहा जायगा या नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लुकाच ने बताया है कि हमें सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि लेखक की घृणा और सहानुभूति समाज के किस वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों को मिली है? जब लेखक की सहानुभूति समाज शोषित वर्ग के साथ हो तो लेखक को यथार्थवादी कलाकार मानना होगा। इसी कसौटी पर कसकर आलोच्य काव्यशास्त्री ने बालजक और टाल्स्टाय को यथार्थवादी माना है।[3]

---

1. G. Lukacs : Studies in European Realism : page 6.
2. *Ibid*, page 6.
3. *Ibid*, pages 6 to 8.

मार्क्सवाद को लुकाच ने सौंदर्यशास्त्र के परिवेश में प्रस्तुत किया है। पास्कल ने लुकाच की देन को स्वीकार करते हुए बताया है कि उन्होंने मार्क्सीय सौंदर्यशास्त्र पर लगाए गए कतिपय आरोपों का उत्तर दिया है। वह मानते हैं कि मार्क्सवाद सौंदर्यशास्त्र को समाजशास्त्र के रूप में परिवर्तित नहीं करना चाहता वरन् आजतक सारे आदर्शवादी (भाववादी) जिन प्रश्नों को सुलझाने में असमर्थ रहे हैं मार्क्सवाद ने उनका वैज्ञानिक निराकरण प्रस्तुत किया है।[1]

लुकाच का दृष्टिकोण ऐतिहासिक भौतिकवादी है। वह प्रत्येक महान् ऐतिहासिक-काल को परिवर्तन-काल मानते हैं, जिसमें विरोधों की अन्विति प्राचीन के ध्वंस तथा नवीन के प्रादुर्भाव के रूप में प्रस्तुत रहती है। एक नई समाज-व्यवस्था तथा व्यक्तियों का एक नया 'टाइप' सदैव जन्म लेता रहता है। इन परिवर्तन-कालों में साहित्य और साहित्यकार दोनों को एक विशेष उत्तरदायित्व वहन करना पड़ता है। इन उत्तरदायित्वों का सफलतापूर्वक पालन केवल यथार्थवाद की सामर्थ्य के अन्तर्गत है। वह व्यक्तिवादी मनोविज्ञानाधारित साहित्यिक प्रवृत्तियों को इसके लिए नितान्त अनुपयुक्त मानते हैं तथा इसी कारण इन प्रवृत्तियों का वह डट कर विरोध करते हैं।[2]

वह प्रचलित मानवतावाद तथा यथार्थवाद को सम्बद्ध मानते हैं। यथार्थवादी साहित्यकारों के दृष्टिकोण के अन्तर का औचित्य स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा है कि प्रत्येक यथार्थवादी मूलभूत समस्या के निराकरण में अपना अलग मत रखता है, जो उसके काल तथा कलात्मक व्यक्तित्व के अनुरूप होता है। इस विभिन्नता के होते हुए भी उनमें यह समानता मिलती है कि वह अपने काल की सार्वभौमिक समस्याओं के भीतर बैठते हैं, तथा यथार्थ को वह जिस रूप में देख पाते हैं उसी रूप में (बिना परिवर्तन किए) चित्रित कर देते हैं।[3]

साहित्य के उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हुए वह कहते हैं कि हमारे जीवन में जो नित्य नये उत्तरदायित्व आ रहे हैं, हमारे साहित्य में उन्हें स्वीकार करके नये प्रश्नों का निराकरण प्रस्तुत करने की क्षमता होनी चाहिए। जिस साहित्य में इस उद्देश्य को पूरा करने की क्षमता आ जायेगी, वह निस्सन्देह अपरिमित दार्शनिक और राजनैतिक शक्ति से समन्वित होगा। इस कसौटी पर खरे उतरने वाले इसी यथार्थ साहित्य की वह प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उसके द्वारा जनता का शिक्षण हुआ है तथा उसने जनमत परिवर्तित कर दिया है।[4]

---

1. Roy Pascal : Foreword of Studies in European Realism : page 7.
2. G. Lukacs : Studies in European Realism : page 11.
3. *Ibid*, page 13.
4. *Ibid*, pages 17-18.

अन्य मार्क्सवादियों के समान वह साहित्य और कला को उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखते हैं। उसे प्रचार का माध्यम स्वीकार करते हैं तथा एक प्रकार से राजनीति का अनुगामी ठहरा देते हैं। टाल्स्टाय और गोर्की की प्रशंसा वह इसलिए करते हैं कि उन्होने रूसी किसान, मजदूर तथा कृषि-विहीन खेतिहर श्रमिक के संघर्ष और मुक्ति-आन्दोलन से अपने को बाँध लिया था।[1]

साहित्यकार को चाहिए कि वह जनता से प्रेम करे तथा उसके शत्रुओं को घृणा करे। सत्य और सामाजिक न्याय को अपरिवर्तित रूप में चित्रित करे और साथ ही यह विश्वास रखे कि जनता निरन्तर प्रगति करती हुई अपने स्वर्णिम भविष्य की ओर अग्रसर होती रहेगी।[2]

लुकाच ने साहित्य से सम्बन्धित अन्य प्रश्नों पर भी विचार किया है। वह उपन्यास में रोचकता को महत्त्व देते हैं, क्योंकि जनता साहित्यिक कृतियों से इसकी आशा करती है।[3] समाज में जो कुछ अशिव है उसके विनाश तथा मंगल की स्थापना के लिए साहित्य को प्रयत्नशील होना चाहिए। इसके लिए वह व्यंग को आवश्यक बताते हैं।[4] उनके लिए अन्य मार्क्सवादियों के समान, काव्य का सत्य, उसमें चित्रित समाज-सत्य है।[5]

लुकाच की मान्यताओं के सम्बन्ध में यूरोपीय काव्यशास्त्र-क्षेत्र में अनेक संदेह प्रकट किए गए हैं। आरनाल्ड कैटिल (Arnold Kettle) ने लुकाच की गोर्को सम्बन्धी आलोचना पर आपत्ति प्रकट की है. कि उन्होंने गोर्की को टाल्स्टाय से हेय दिखाया है। उन्होंने (लुकाच ने) गोर्की की प्रशंसा जिन आधारों पर की है वह अस्वाभाविक है। इसका कारण देते हुए कैटिल ने लुकाच की मान्यताओं को जीवन से परे चला गया बताया है।[6]

जोसेफ रिवाई (Josseph Revoi) ने जहाँ लुकाच के साहित्यिक विश्लेषण को सही एवं गहन माना है वहाँ उसे सोवियत साहित्य की आलोचना में क्लासीकल—बुर्जुआ—यथार्थवादी दृष्टिकोण समन्वित कहा है। वह उसमें मार्क्सवादी संघर्षपूर्ण प्रवृत्ति का अभाव अनुभव करते हैं।[7]

लुकाच की यथार्थवाद एवं 'टाइप' की मान्यताओं के सम्बन्ध में कैटिल ने

---

1. G. Lukacs : Studies in Europeen Realism ; page 18.
2. *Ibid*, page 19.
3. Communist Review : Don Quixote : (G. Lukacs) : p. 265.
4. *Ibid*, page 266.
5. *Ibid*, page 268.
6. Arnold Kettle : Review of Studies in European Realism by G. Lukacs : The Modern Quarterly Vol. VI. No. I. Winter 50-51, page 81.
7. *Ibid*, page 81.

अपना अभिमत देते हुए लिखा है कि उनके अनुसार तो सार्च आदि के द्वारा चित्रित पात्र भी 'टाइप' बन जायेंगे। सार्च और हेमिंग्वे के उपन्यासों से चित्रित यथार्थ सामाजिक यथार्थ की कसौटी पर खरा नहीं उतरता क्योंकि उनमें जो कुछ चित्रित किया गया है वह महत्त्वपूर्ण नहीं है, वरन् जो कुछ छोड़ दिया गया है वही महत्त्वपूर्ण है। मार्क्सवादी आलोचक को उसी पर ध्यान देना चाहिए। कैटिल के अनुसार लुकाच ऐसा नहीं कर पाये हैं।[1]

## अन्य देशों में मार्क्सवादी आलोचना की उत्तरावस्था

आज मार्क्सवादी समीक्षा यूरोप के अधिकांश देशों में किसी-न-किसी रूप में पनप रही है। इनमें समाजवादी देशों के अतिरिक्त अंग्रेजी का स्वर प्रमुख है। अंग्रेजी में कार्नफोर्थ, हावर्डफास्ट, बर्न्स, कैटिल तथा थामसन आदि के नाम प्रमुख हैं। आज मार्क्सवादी समीक्षा नये परिवेश में सौंदर्यशास्त्र के प्रश्नों पर विचार करने को अग्रसर हो रही है। इसके लिए उसने प्राचीन की परिमार्जना तथा नवीन के लिए मार्ग की शोध की है।

विचारधारा के समान ही साहित्य की उत्पत्ति समाज के भौतिक जीवन की परिस्थितियों से होती है। किन्तु साहित्य जब एक बार उत्पन्न हो जाता है तो फिर वह भौतिक जीवन के विकास में सहयोग देने लग जाता है। यह सहयोग बढ़ाने वाला तथा रोकने वाला दोनों प्रकार का हो सकता है।[2] साहित्य का मूल्यांकन इस कसौटी को सामने रखकर किया गया है और इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य-शास्त्र के नियम बनाये गये हैं।

यथार्थवाद के सम्बन्ध में इधर काफी विवाद उठा है। इंग्लैण्ड के प्रगतिवादी समीक्षकों ने इसमें खूब भाग लिया है। ऐरिक हार्टले (Eric Hartley) ने यथार्थवादी दृष्टिकोण को व्यक्तिवादी सीमाओं से उठाकर ऐसे नायकों के हवाले करने की संस्तुति की है जो सारे समाज का सुन्दर चित्र देने के सुन्दर माध्यम हो सकें। कुछ ऐसे पात्रों का चित्रण यथार्थवाद के नाम पर करना अपर्याप्त होगा जो विभिन्न चित्र देकर चुप हो जाते हैं। विकासशील नायक के सम्बन्ध में आज की धारणा है :—

"The new hero must be shown as an integral part of the society in its revolutionary development, both influenced by it, and in turn influencing it. In fact the new method was to depict the hero through a whole gamut of developing relationship."[3]

सामाजिक यथार्थ में वह वर्तमान अतिरिक्त भविष्य की सम्भावनाओं को अंकित करना भी आवश्यक ठहराते हैं। वह इसे यूटोपियन बनाने के पक्षपाती नहीं हैं। आज

1. Arnold Kettle : Review of Studies in European Realism by G. Lukacs : the Modern Quarterly Vol. VI. No. I. Winter 50-51, page 80.
2. M. Cornforth : Diatectial Materialism : Vol. II : page 36.
3. Eric Hartley : Modern Quarterly, Vol. VI, 1951, No. I : p 247.

के चित्रण में वह सब दिखाना उचित नहीं मानते जो कुछ कि आज उपलब्ध नहीं हैं, हाँ उसे वह आज के गर्भ और कल के यथार्थ रूप में ही चित्रित करने की स्वीकृति देते हैं। वह यथार्थवाद के तीन भाग करते हैं :

(१) भूत, (२) वर्तमान, तथा (३) भविष्य। ये तीनों काल अविभाज्य रूप से एक-दूसरे से जुड़े रखते हैं क्योंकि विकास को उसके क्रान्तिकारी रूप में चित्रित करने के लिए तीनों कालों की अनिवार्य सहायता लेनी पड़ती है। वर्तमान, भूत का प्रतिफलन है, अतः वर्तमान काल के चित्रण में उसे नहीं छोड़ा जा सकता। भूतकाल के चित्रण में उन विशेषताओं को दिखाया जाना चाहिए जिनका आगे चलकर विकास आज के वर्तमान में हुआ है या आज का यथार्थ जिन भूतकालीन तत्त्वों से जुटकर विकसित हुआ हैं।[1]

आर्नाल्ड कैटिल जीवन और साहित्य को एक दूसरे से जुड़ा हुआ देखना चाहते हैं। उन्होंने सौंदर्यशास्त्री लुकाच की इस लिए भर्त्सना की है कि वह उन्हें अपनी सौंदर्यशास्त्र मान्यताओं में जीवन से हटे हुए प्रतीत हुए हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है :—

"I think that Lukacs for all his theoritical awareness of the danger of divorcing aesthetics from life, does in practice tend to make such a separation."[2]

आज प्रगतिवादी समीक्षकों का आदर्श सारे यूरोप में रूसी साहित्य तथा समीक्षा-शास्त्र है। आज वे उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चल रहे हैं और यदि कोई समीक्षक उस परम्परा के इधर-उधर डगमगाता है तो वह उसे साधते हैं और न मानने पर उसकी तीव्र आलोचना करते हैं। जोसेफ रिवाई की निम्न उक्ति से यह मान्यता स्पष्ट हो जाती है। लुकाच के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :—

"Essentially Lukacs criticised bourgois decadence and Soviet literature from the angle of classic bourgois realism. Even where his literary analysis is correct and deep.....the lack of the fighting spirit of Marxism-Leninism can somehow be felt."[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समीक्षा-सिद्धान्तों का निर्माण तथा चिन्तन, परीक्षण आदि हो रहा है। मानवतावादी दृष्टिकोण के विकास से इन मान्यताओं को प्रमुखता मिली है।

---

1. Eric Hartley : Modern Quarterly, Vol. VI, 1951, page : 251 to 253.
2. A. Kettle : The Modern Quarterly Vol. VI No. I Winter 50-51 : page 81.
3. Josseph Revoi : Lukacs and Social Realism.

अध्याय 3

# सामान्य परिस्थितियाँ

१८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य आन्दोलन के परिणामस्वरूप देश में जब महारानी विक्टोरिया की घोषणा हुई तो भारतीय जनता जैसे एक नवीन युग में प्रवेश कर गई। परम्परागत जीवन-पद्धति, धर्म और शास्त्र की पुरातन धारणा तथा कूप-मण्डूक-वृत्ति आदि की रक्षा होना कठिन हो गया। अंग्रेजी साम्राज्यवाद का एक अंग होने के कारण यूरोप की हवा यहाँ भी बहने लगी। राजा राममोहन राय जैसे व्यक्तियों ने पाश्चात्य विचारधारा का स्वागत किया और देश में नवीन बौद्धिक जागृति के लिए आन्दोलन करने लगे। शिक्षा के विकास एवं प्रसार से भारतीयों में समानता, स्वातन्त्र्य तथा एकता की भावनाएँ पनपने लगीं। अंग्रेजी विद्यालय जिस मानसिक दासता का उद्देश्य सामने रखकर खोले गये थे उसकी पूर्ति के साथ उन्होंने जहाँ भारतीयों को राजभक्त बनाया वहाँ पाश्चात्य साहित्य, कला, दर्शन, संस्कृति, विज्ञान, इतिहास आदि की पर्याप्त जानकारी दी। साहित्य और कला के नवीन मानदण्ड उसे प्राप्त हुए, जिन्हें वह भारतीय साहित्य तथा कलात्मक उपलब्धियों के मूल्यांकन में प्रयोग करने लगा। आर्य समाज और ईसाई मिशनरियों ने हिन्दी गद्य का विकास किया। रेल, तार, डाक, अस्पताल आदि ने जन-जीवन को सुविधाजनक स्थिति में ला दिया। विश्वविद्यालय खुलने लगे, जिनसे निकले हुए स्नातक नवीन भारत का सृजन करने लगे।

द्विवेदी-युग में हिन्दी विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाने लगी। साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति की ओर ध्यान गया। कांग्रेस की स्थापना तो भारतेन्दु-युग में हो गई थी, किन्तु उसका प्रसार, विकास और आन्दोलनकारी रूप द्विवेदी-युग में बना। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दी-उर्दू का विवाद हिन्दुस्तानी को सामने लाकर बढ़ने लगा। अंग्रेजी साहित्य की वैभवपूर्ण परम्परा से परिचित होकर हिन्दी समीक्षक अपने को नगण्य मानने लगा और तुलना में ठहरने के लिए संस्कृत परम्पराओं का वैभवपूर्ण इतिहास प्रस्तुत करने लगा। प्रथम महायुद्ध ने विज्ञान, भाषाशास्त्र तथा नवीन साहित्यिक विधाओं की उन्नति में सहायता दी। राष्ट्रीयता की भावना विकसितहोने लगी। बुद्धिवादी वर्ग नवीन विचारधाराओं की ओर आकृष्ट होने लगा। १९१७ की रूसी क्रान्ति की सूचना इस वर्ग को एक नए विचार की ओर खींचने लगी। असहयोग

आन्दोलन तीव्रतर होने लगा। महात्मा गाँधी के नेतृत्त्व में देश स्वदेशी वस्तु के प्रयोग की दिशा में अग्रसर होने लगा। इससे भारतीय उद्योगों को बढ़ावा मिला। फलतः उद्योग-पति-वर्ग कांग्रेस का प्रत्यक्ष रूप से सहायक बना। औद्योगिक विकास ने पूँजीवाद की नींव डाल दी।

## भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु-युग की समीक्षा और साहित्य में धर्म का अनेकों बार नाम आता है। भारतेन्दु ने धर्म का कहीं भी रूढ़िवादी मत-मतान्तर अर्थ नहीं किया है। वह तो धर्म का अर्थ 'उन्नतिशील नीति' मानते हैं, जिससे समाज की सर्वतोमुखी उन्नति हो सके। इस सम्बन्ध में उनकी निम्न पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं :—

'सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सबके पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है। देखो, अंग्रेजों की धर्मनीति और राजनीति परस्पर मिली हैं, इससे उनकी दिन-दिन कैसी उन्नति है.....यही तुम्हारा बलिया का मेला और यहाँ स्नान क्यों बनाया गया है ? जिसमें जो लोग कभी आपस में नहीं मिलते, दस-दस पाँच-पाँच कोस से वे लोग साल में एक जगह एकत्र होकर आपस में मिलें। एक-दूसरे का दुःख-सुख जानें.....ये सब तो समाज-धर्म हैं, जो देश-काल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते है।'[1]

भौतिकवाद परलोक को मिथ्या और इस लोक को सत्य मानकर चलने के आत्मवादी दर्शनों का खण्डन करता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए भट्टजी परमार्थ की अपेक्षा इस लोक को सुखमय बनाना चाहते थे :—

'संसार सुख का सार और स्वार्थ तथा परमार्थ का पवित्र मन्दिर है, पर इसे हम अपने कुलक्षणों से दुःख के प्रवाह का स्रोत यावत संताप और क्लेश का अपवित्र आलय कर रहे हैं। पौरुषेय गुणशून्य हम अपने अकर्मण्य वेदान्तियों को क्या कहें जो संसार को दुःख रूप मिथ्या और नश्वर मानते हैं ? यह प्रत्यक्ष है कि ये हमारे ही अविचार अविवेक, अशान्ति, असन्तोष, मोहान्ध-बुद्धि आदि दुर्गुणों का कारण है कि स्वर्ण-मन्दिर संसार को हम ढहाइ के उजाड़ खण्डहर कर रहे हैं। जहाँ अमृत का कुण्ड भरा है उसे हम हलाहल विष से भरे देते हैं। बड़े विद्वान् हुए यावज्जीवशास्त्र और फिलासफी को रट-रट पच मरे, जितना रट डाला उसके एक वाक्य पर भी जो विवेक और विचार को काम में लाते तो अपने अस्त-व्यस्त कामों से जो अनेक दुःख सहते हैं और अपनी समझ और काम को दोष न दे संसार को दुःख का आगार मान बैठे हैं, यह भ्रम मिट जाता। यदि विवेक और विचार को मन में जगह देते तो जो दुःखमय बोध होता है वही अनन्त सुख का हेतु होता।'[2]

सच्चे प्रगतिशील के समान भारतेन्दु ने मत-मतान्तरों के अनुयायियों को

1. भारतेन्दु ग्रन्थावली : तीसरा भाग (पृ० ६००, प्रथम संस्करण)।
2. हिन्दी प्रदीप : पृ० ४ : सितम्बर से दिसम्बर १८९५।

'मतवाला' कहा है। मन्दिर, मस्जिद और गिरजों में जो कुछ होता है उसे बनावट और मिथ्या आचार माना गया है।[1] वेदान्त पर व्यंग्य करते हुए उसे देशोद्धार का विरोधी होने के कारण त्याज्य माना है। इससे सिद्ध है कि भारतेन्दु का धर्म देशोद्धार का सहायक है और धर्म का जो रूप इसके विपरीत जाता है उसे वह कभी भी स्वीकार नहीं कर पाए हैं। वेदान्त के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :—

"वेदान्त ने बड़ा ही उपकार किया, सब हिन्दू ब्रह्म हो गये। ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए, रुक्ष हुए, अभिमानी हुए और इसी से स्नेह-शून्य हो गए। जब स्नेह ही नहीं तब देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ ? बस, जय शंकर की।"[2]

अस्पृश्यता समाज का कलंक है। भारतेन्दु ने इसका डटकर विरोध किया और कहा कि झूठा खाना तो अनुचित है किन्तु पास-पास बैठकर खाना किन्हीं भी विभिन्न धर्मों को मानने वालों का, सर्वथा समीचीन है। 'बकरी विलाप'[3] आदि रचनाओं में उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का तीव्र विरोध किया है।

समाज का हित करने वाले धर्म की प्रवृत्तियों का इस युग के सभी साहित्यकारों ने समर्थन किया है। अहिंसा, प्रेम, भक्ति, समानता, देशभक्ति आदि जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिए ही वे धर्म का समर्थन करके सारी जाति का संगठन करना चाहते थे; उन्हें यह भली प्रकार ज्ञात था कि हमारी फूट ने ही हमें गहरे गर्त्त में ला पटका है। भारतेन्दु ने जिस 'जयचन्द' का विरोध किया है, वह फूट का प्रतीक है, जिस ओर सबका ध्यान खींचा है। भट्ट जैसे धर्मपरायण की मान्यता थी :

"गाज पड़े ऐसे धर्म पर, ऐसी समझ पर ऐसे भगोड़े धर्म को हम कब लौ बाँध कर जकड़ बंद किए रहेंगे जो जरा-जरा में जी छोड़ भाग जाता है। बर्फ पी लिया धर्म गया, बाजार की मिठाई दाँत-तले दाबी धर्म धूर में मिल गया। दूसरे के लोटे में पानी पी लिया भ्रष्ट हो गये। वेश्या-संसर्ग-दूषित हो धर्म कुन्दन सा झलकता रहेगा, दासी-गमन करते रहो धर्म कभी न बिगड़ेगा।"[4]

यहाँ धर्म के नाम पर चलने वाले उन तत्त्वों का विरोध किया गया है जो समाज को विकसित होने से रोकते थे।

देश-भक्ति से साथ-ही-साथ जो राज्यभक्ति भी दिखाई देती है उसका रहस्य भी स्पष्ट है कि १८५७ की क्रान्ति के असफल हो जाने पर जन-मानस पर अंग्रेजों का सिक्का इतना दृढ़ जम गया था कि वे अपनी माँगें राजभक्ति की चाशनी में पाग कर ही पेश करते थे। टैक्स-मुक्ति का आंदोलन, जिसे सारी प्रजा का समर्थन प्राप्त था,

---

1. भारतेन्दु ग्रन्थावली : दूसरा भाग : पृ० ५७१-७२ ; दूसरा संस्करण।
2. वही, पहला भाग : पृ० ४७५ : प्रथम संस्करण।
3. वही : दूसरा भाग, पृ० ८६७ : द्वितीय संस्करण।
4. हिन्दी प्रदीप : पृ० ४ : अगस्त १८८१।

दृढ़तापूर्वक विक्टोरिया की जय बोल कर संगठित किया जा रहा था[1]—यदि ऐसा न किया जाता तो अखबार जब्त हो जाते और लोगों तक अपनी बात पहुँचाने का साधन भी छिन जाता। डा० रामबिलास शर्मा ने इस सम्बन्ध में जो अभिमत दिया है वह उपयुक्त है।

"राजभक्ति से ओतप्रोत कविताएँ उस युग में अनेक रची गई परन्तु उनमें भी राजभक्ति के साथ देश-दशा की झलक दिखाई देती है।[2]

### नारी के प्रति दृष्टिकोण

अंग्रेज नारियों के जागरूक जीवन से प्रेरणा लेकर जो शिक्षित भारतीय नारियाँ जग रही थीं उनमें से अधिकांश उनके दुर्गुण सीख रही थी। जहाँ कहीं दुर्गुण होता है वहाँ व्यंग्य के लिए गुंजायश हो जाती है अतः वे शिक्षित कही जाने वाली नारियाँ भारतीय परिस्थिति और वातावरण के अनुरूप सिद्ध न होने के कारण व्यग्य का माध्यम बनीं। अमुखरा को मुखरित करा के गुप्त जी ने उसका एक रूप सामने रखा :—

कहाँ है टेनिसघर दिखलाव ? कहाँ मछली का बना तलाव ?
बात वह आली सब सरकी, बहू मैं जब थी घूंघट की ?
मजा अब सुख का पाया है, स्वाद शिक्षा का आया है ?
खुले अब नैन नोद गई टूट, बुद्धि के पर आये हैं फूट।
घुटावें क्यों पिंजरे में दम, नहीं कुछ अन्धी चिड़िया हम।[3]

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि स्त्री-शिक्षा के प्रगतिशील रूप को वह अस्वीकार करते थे। स्वयं भारतेन्दु ने नारी-शिक्षा को युग की अनिवार्य आवश्यकता माना। वह उसे अंग्रेजी की शिक्षा दिलाने के पक्ष में थे :—

अंग्रेजी निज नारि को कोउ न सकत पढ़ाइ।
नारि पढ़े बिन एक हू काज न चलत लखाइ॥[4]

हाँ शिक्षित हो जाने के पश्चात् वह उसको उच्छृंखल अवश्य नहीं देखना चाहते थे। 'नीलदेवी' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी मान्यता प्रकट की है :

"जब मुझे अंग्रेज रमणी लोग भेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुन्तल जूट, मिथ्यारत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटि-देश कसे, निज-निज पति गण के साथ, प्रसन्नवदन इधर-से-उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती दिखाई देती हैं तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझ को स्मरण आती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि

1. भारतेन्दु ग्रन्थावली : दूसरा भाग : पृ० ८७६ : द्वितीय संस्करण।
2. भारतेन्दु युग : पृ० १३ : तृतीय संस्करण।
3. बालमुकुन्द गुप्त : गुप्त निबधवाली : प्रथम भाग (प्रथम संस्करण) पृ० ६६६।
4. भारतेन्दु : भारतेन्दु ग्रन्थावली : दूसरा भाग (दूसरा संस्करण) पृ० ७३२।

गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुल लक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलजांलि देकर अपने पति के साथ घूमें; किन्तु और बातों में जिस भाँति अंग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने सन्तानगण को शिक्षा देती हैं, अपना महत्त्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृह देवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था का उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल-परम्परा मात्र है, और कुछ नहीं।[1]"

## हिन्दू-मुस्लिम एकता

उस समय की परिस्थितियाँ ऐसी थी जिनमें हिन्दू-मुस्लिम एकता की अत्यन्त आवश्यकता थी। अंग्रेज फूट डालने के लिए मुसलमानों का पक्षपात लेकर उन्हें कुछ अधिक सुविधाएँ दे देते थे, जिससे हिन्दू अंग्रेज का विरोध करने की अपेक्षा मुसलमानों से ही लड़ने लगें। इस चाल को भारतेन्दु तथा अन्य साहित्यकारों ने समझा और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए भारी प्रयास किये। भारतेन्दु ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का सफल प्रयास करने वाले अकबर और दाराशिकोह की प्रशंसा की है।[2] उन्होंने मुसलमानों को समयानुकूल परामर्श दिया—

"मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिन्दुस्तान में बसकर वे लोग हिन्दुओं को नीचा समझना छोड़ दें। ठीक भाइयों की भाँति हिन्दुओं से बरताव करें। ऐसी बात, जो हिन्दुओं का जी दुखाने वाली हो, न करें। घर में आग लगे तो जिठानी-द्यौरानी को आपस की डाह छोड़कर एक साथ ही आग बुझानी चाहिए।"[3]

इसी तरह वह हिन्दुओं से अपील करते हैं—

"भाई हिन्दुओ! तुम भी मत-मतांतर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो वह हिन्दू। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठी, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मण, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।"[4]

इन्हीं तथ्यों के आधार पर डॉ० रामविलास शर्मा ने उन्हें हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थक माना है।[5] कहीं-कहीं उन मुसलमान शासकों की नीति का विरोध मिलता है जिन्होंने धर्म के नाम पर शोषण किया था। जनता पर अत्याचार किये

---

1. नील देवी : भूमिका भाग।
2. भारतेन्दु ग्रन्थावली : दूसरा भाग : पृ० ७२३ : दूसरा संस्करण।
3. वही, पृ० ६०१, तीसरा भाग (प्रथम संस्करण)।
4. वही, पृ० ६०२।
5. भारतेन्दु-युग : पृ० ५० (तीसरी आवृत्ति)।

थे और उसकी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को नष्ट कर दिया था।[1] किन्तु इसे उनकी संकुचित दृष्टि और साम्प्रदायिक भावना मानना अत्यन्त अनुपयुक्त है। उनके सामने जीवन-मूल्य प्रमुख थे। यह भावना नहीं कि इन जीवन मूल्यों का तिरस्कार करने वाला हिन्दू था या मुसलमान या अंग्रेज। जयचन्द का उन्होंने औरंगज़ेब से अधिक तिरस्कार किया है क्योंकि उसने उस फूट का बीज बोया था जिसका फल अंग्रेज़ी शोषण के रूप में हमें भोगना पड़ रहा था।[2] अतः ऊपर-ऊपर से दीखने वाले इस विरोध के भीतर वे तत्त्व हैं जो इन कवि-समीक्षकों मे उनकी सभी साहित्यिक विधाओं द्वारा युगानुकूल अभिव्यक्ति पा गए हैं।

## साहित्य, राजनीति और इतिहास के प्रति दृष्टिकोण

इस युग का श्रेष्ठतम साहित्य-समीक्षक साहित्य को जीवन से सम्बन्धित मानकर चलने के कारण जीवन की यथार्थ समस्याओं पर गहराई से दृष्टिपात करता है। वह मानता है कि समाज की दशा केवल ऊपरी सुधारों से नहीं सुधर सकेगी; आदिम आवश्यकता तो राजनैतिक संशोधन की है। वह साहित्य को राजनीति का अनुगामी मानकर समाज को राजनीति द्वारा संचालित घोषित करते हैं। प्रकारान्तर से हम समझ सकते हैं कि मार्क्सीय मान्यतानुसार अर्थ-सम्बन्धों के आधार पर खड़े होकर कला, साहित्य और संस्कृति का ढाँचा खड़ा करने की कला से वह इसलिए परिचित थे कि जीवन को गहराई के साथ देखते और उसे यथार्थ स्थितियों में समझने की चेष्टा करते थे। मार्क्स के सिद्धान्तों से नितान्त अपरिचित रहते हुए भी उन्होंने लिखा है—

"वे लोग भ्रम में फँसे हुए हैं जो यह सोचते हैं कि सामाजिक सुधार के द्वारा अपने आप राजनैतिक सुधार हो जायेगा। बात तो सर्वथा इसके विपरीत है। जब तक राजकाज में हमें दखल देने का भरपूर अधिकार न मिलेगा तब तक क्योंकर बिना दण्ड का भय दिखाए उन सामाजिक बुराइयों को हम अपने में से हटा सकते हैं... ...दूसरे यह कि समाज-सुधार तो राजनैतिक संशोधन की शाखा-प्रशाखा है। अगर पौलिटिकल इख्तियारात हमें मिल जायें तो समाज-सुधार की आवश्यकता ही न रहे, फिर समाज का शुद्ध करना तो हमारा घरेलू झगड़ा है, इसे हम जब जैसा चाहेंगे वैसा निपटाते रहेंगे।[3]

राजनैतिक सुधार के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट तथा इतिहास सम्मत है। वह मानते हैं कि राजनैतिक एकता वह सूत्र है जो सारे भारतवासियों को धर्म, जाति, सम्प्रदाय तथा भाषा आदि के मतभेदों से ऊपर उठाकर संगठित कर

---

1. भारतेन्दु ग्रन्थावली : पहला भाग : पृ० ७०७ (प्रथम संस्करण)।
2. वही, पृ० ५०२ : दूसरा भाग : दूसरा संस्करण।
3. बालकृष्ण भट्ट : हिन्दी प्रदीप : नवम्बर-दिसम्बर, १८९२।

सकता है। युग अपनी सीमाओं को लाँघ कर भट्टजी के शब्दों द्वारा घोषणा करता है—

"चाहे धर्म सम्बन्धी एकता से आप और तरह का लाभ मानें पर देश की उन्नति और वास्तविक भलाई करने का द्वार हम राजनैतिक एकता को ही मानेंगे। जब तक कोई जाति एक राजनैतिक समूह न होगी, जिसका एक ही राजनैतिक उद्देश्य है और जिस जाति के लोग एक ही राजनैतिक ख्याल से प्रोत्साहित नहीं हैं, तब तक आप उस जाति की सम्पत्ति और बुद्धि को बुनियाद किस चीज़ पर कायम करेंगे। हम देखते हैं कि अंग्रेजों के इतिहास में बहुत जल्द राजनैतिक एकजातित्व आ गया, जिसके कारण उनकी जाति की उन्नति चरम सीमा को पहुँचने लगी और उसी के विपरीत हम देखते हैं कि राजनीतिक बंधन न होने से बहुत जल्द हमारी जाति तीन तेरह हो गई।"[1]

मार्क्स के वर्ग-संघर्ष का आधार ऐतिहासिक भौतिकवाद है। इतिहास के महत्व की स्वीकृति भारतेन्दु युगीन समीक्षकों ने मार्क्स की मान्यताओं की जानकारी से बहुत पहले दे दी थी। वे समाज के विकास की दिशा निर्धारित करने के लिए देश के सच्चे इतिहास का महत्त्व स्वीकार करते है—

"जब से यहाँ का स्वाधीनता-सूर्य अस्त हुआ, उसके पूर्व समय का उत्तम शृंखलाबद्ध कोई इतिहास नहीं है। मुसलमान लेखकों ने जो इतिहास लिखे भी हैं उनमें आर्य-कीर्ति का लोप कर दिया है। आशा है कोई माई का लाल ऐसा भी होगा जो बहुत सा परिश्रम स्वीकार करके एक बार अपने बाप-दादों का पूरा इतिहास लिखकर उनकी कीर्ति चिरस्थायी करेगा।"[2]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु इतिहास को केवल राजाओं और बादशाहों की जीवन-गाथा मात्र नहीं समझते थे वरन् जाति के समस्त उत्थान-पतन, विकास-ह्रास आदि का ऐसा ब्यौरा मानते थे जिसमें जातिगत विशेषताएँ उभारी जा सकें। 'बादशाह-दर्पण' की इस भूमिका में वह उन प्रश्नों को उठाते हैं जो इतिहास के पन्नों में अंकित नहीं हुए, तत्कालीन जनता के मनों में दबे रह गये। वह देश के गौरवपूर्ण काल को इसलिए साकार करना चाहते थे जिससे आज हमें अपनी परम्परा स्पष्ट दीख जाए। भारतेन्दु-युग के समीक्षक ऐतिहासिक दृष्टिकोण को स्वीकार कर युग के साथ न्याय कर रहे थे। मार्क्सवादी के समान वे सब कुछ को इतिहास के आधार पर रखकर परखना चाहते थे। तभी तो भट्टजी को कहना पड़ा था—"जहाँ इतिहास हमको सहारा न देगा वहाँ निश्चय समझो

1. हिन्दी प्रदीप : पृ० ६ : जनवरी १८८७।
2. भारतेन्दु ग्रन्थावली : तीसरा भाग : पृ० ३१५ (प्रथम संस्करण)।

हमको ठहर जाना पड़ेगा।"[1]

उनका साहित्य राजनीति की सेवा के लिए था[2] और राजनीतिक दृष्टिकोण की स्पष्टता के लिये वह इतिहास का चश्मा चढ़ाना चाहते थे। साहित्य की उपयोगिता-स्वीकृति ही हमें आज माओत्सेतुंग के इस कथन में दिखाई देती है:

'Literature should serve politics.'

प्रगतिवाद वर्ग-विभाजित समाज में साहित्य को उस वर्ग का सेवक मानता है जिसकी हित-रक्षा के लिए वह लिखा जाता है। स्वभावतः वह विरोधी वर्ग के प्रतिकूल पड़ता है अतः दूसरे वर्ग द्वारा उसका उपहास होना स्वाभाविक है। उस काल में भी दो प्रकार के दृष्टिकोण थे जो 'रसिक' और 'कुटिल' के विशेषणों से बताए गए हैं।[3]

भारतेन्दु-युग कांग्रेस की स्थापना से पूर्व ही स्वतन्त्रता[4] तथा स्वदेशी[5] का समर्थन करता है और यह देखकर आश्चर्य होता है कि आज के इतिहासकार १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य आन्दोलन को सिपाही-विद्रोह मात्र कह कर आगे बढ़ जाते हैं, जबकि भारतेन्दु-युग, जिसने इस आन्दोलन का भयंकर दमन झेला था, उसकी स्तुति करता है।[6] किन्तु यह स्तुति इस प्रकार की गई है जिससे विदेशी शासक को उसमें अपनी स्तुति का भ्रम हो सके। स्वतन्त्रता के लिए वह पुनः सशस्त्र संघर्ष का आवाहन करते से लगते हैं[4] तथा टैक्स के माध्यम से उस सरकार का विरोध किया है जो शोषक समाज-व्यवस्था का आधार खड़ा कर रही थी। डा० वार्ष्णेय उनके क्रांतिकारी रूप का रहस्योद्घाटन करते हुए लिखते हैं—

"जो ऐतिहासिक क्रम समस्त पूर्वी संसार के अलसाए जीवन में स्फूर्ति पैदा कर रहा था भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसमें अपना पूर्ण योग दिया उनके सुधार ही मौन क्रांति का रूप धारण कर रहे हैं।"[8]

---

1. (क) हिन्दी प्रदीप : पृ० ३ : जनवरी १८७।
   (ख) इसी प्रकार का वर्णन प्रेमघन ने किया है—प्रेमघन सर्वस्व : प्रथम भाग : पृ० १८५ : प्रथमावृत्ति।
2. 'राजनीति समझैं सकल पावैं तत्व विचार' (भा० ग्रं० : दूसरा भाग : पृ० ७३६ : द्वि० संस्करण।
3. आनन्द कादम्बिनी : माला २ : मेघ २ : पृ० ५।
4. (क) 'अब स्वाधीनता का सूर्य हम लोगों में फिर न प्रकाश करेगा' (भा० नाटकावली)
   (ख) 'सब तजि गहौ स्वतन्त्रता नहिं चुप लातें खाव'।
   (प्रतापनारायण मिश्र : भारतेन्दु युग : पृ० १४०, तीसरी आवृत्ति से उद्धृत)।
5. स्वदेशी-प्रतिज्ञा पत्र : कविवचन सुधा, २३ मार्च १८७४ में प्रकाशित।
6. कठिन-सिपाही-द्रोह-अनल.....(वही दूसरा भाग : पृ० ८०८, द्वितीय संस्करण)।
7. उठो उठो सब कमरन बाँधो शस्त्रन सान धरो रे।
   विनय निसान बजाइ बावरे आगे पाव धरो रे। (वही, पृ० ४०६)।
8. डा० जगदीश सागरवार्ष्णेय : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : पृ० २६८ (द्वितीय संस्करण)।

# अर्थाधारित यथार्थवादी दृष्टि

भारतेन्दु तथा उनके समकालीन सभी साहित्यकार किसी-न-किसी रूप में यथार्थवाद का समर्थन करने लगे थे। कविता, निबन्ध, नाटक आदि की भाँति समीक्षा भी यथार्थवादी प्रवृत्तियों की ओर झुकने लगी थी। इस काल की साहित्य-समीक्षा गद्य और पद्य दोनों में होती थी। तत्कालीन समाज की अवस्था के अनेक यथार्थ चित्र मिलते हैं। यह यथार्थ अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है :

भारत घोर मसान है तु आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से डोलहिं कल्यानी।
हाड-मांस नर रक्त है भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ माँ पाइये चन्दन, धी, मेवा।[1]

भारतेन्दु ने अर्थाधारित समाज-यथार्थ का चित्रण अत्यन्त व्यंजक एवं यथार्थवादी शैली द्वारा प्रस्तुत किया है—

हार्‌यौ भाग अभाग जीत लखि विजय निसान ह्यो री।
तव स्वाधीन पनो धन-बुधि-बल फगुआ माँहि लयो री॥
शेष कछु रहि न गयो री॥

किन्तु यह यथार्थ हमें निराशा की ओर नहीं ले जाता, वरन् आशावादी बन कर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। देश की जर्जरित आर्थिक दशा को वह राजनीति का परिणाम मानते थे, इसीलिए अंग्रेज़ों के सामने अर्थाधारित राजनीतिक माँगें प्रस्तुत करते थे। इस सम्बन्ध में डा० वार्ष्णेय का मत है कि वे दुरवस्था का चित्र खींच राजनीतिक और शासन-सम्बन्धी अनीतियों को दूर करने की माँगें सरकार के सामने रखते थे। यह सदैव याद रखना चाहिए कि ये माँगें प्रायः आर्थिक आधार लिए हुए होती थीं।[2] तत्कालीन आर्थिक शोषण के माध्यम राजा, नवाब, रायबहादुर, खानबहादुर आदि थे जो प्रजा को चूस कर अंग्रेजबहादुर का खजाना भरते थे, अंग्रेज की खुशामद करते थे और उसके दरबार में नंगे पैर कतार बाँध कर खड़े रहत थे।[3] भारतमाता को नैराश्यपूर्ण नारी-मुद्रा में चित्रित किया और अपनी हीन स्थिति का आभास कराके विकास की जिज्ञासा उत्पन्न कराई।[4] पुत्रों को माता की लाज बचाने के लिए प्रेरित किया[5] जिससे उनकी स्वतन्त्रता की अदम्य लालसा प्रकट होती है। बालकृष्ण भट्ट ने भारतीय किसान की यथार्थ दशा

---

1. बाबू बालमुकुन्द गुप्त : आयबहु माय : पृ० ३२, ४१ (रचनाकाल १८९८)।
2. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : पृ० २२५ (द्वितीय संस्करण)।
3. भारतेन्दु ग्रंथावली : द्वितीय भाग, पृ० ७०३-७०४।
4. वही, पृ० ७०६।
5. वही, पृ० ७०८।

का चित्रण व्यंग्य-शैली में करके यह स्पष्ट दिखाय है कि जिस किसान की दशा इतनी कष्टमय और वेदनापूर्ण है उसे भी लगान में छूट नहीं मिलती, उस पर टैक्स और लगान बढ़ जाता है—प्रकृति का कोप अलग है। उनके शब्द हैं :

"दुर्भिक्ष-पीड़ित हमारे किसानों के उत्साह का अन्त और उनके सुख की सीमा इसी में है कि सरकार की बाकी न रहने पावे, पेट भर कन्दन खाने को मिलता रहे, किन्तु मेघराज ने प्रण कर रखा है कि 'हम सो न होने देंगे'। जब तुम दिन-रात दातों पीसने की मेहनत भर खेती तैयार करोगे तब हम तुम्हें गुड़ दिखाय ढेला मारेंगे और इतना पानी बरसेंगे कि शस्य ध्वंस में कनक न पड़े और एक दाना भी तुम्हारे घर में न जाने पावे, राजा की नियत और प्रजा के पुण्य का फल उजागर कर देंगे,"[1] इत्यादि।

यथार्थवादी जन-कवि 'परसन' ने 'हिन्दी प्रदीप'[2] में समय राज्य की महिमा' शीर्षक से कविता लिखी थी। उसमें भी किसानों की दशा का सच्चा चित्र दिया गया है :

रोजी भर सब कर हर लीन्हा—कछू न रहिगा बाकी रे।
बिलख बिलख सब परजा रोवे, का सब खाई माटी रे।
परजा के कुदसा यह देखत—सहृदय फाटत छाती रे।
घर रोवत परजा सोवत, खबर विलायत जाती रे।
तिसके प्रत्युतर में वहाँ से, टिकट नई बन आती रे।

टैक्स का विरोध करते हुए इस युग के सभी साहित्यकारों ने सभी साहित्यिक विधाओं में किया है। समीक्षा में भी इसकी गूँज सुनाई पड़ती है। भारतेन्दु धन के विदेश चले जाने पर बहुत जोर देते थे, क्योंकि यही हमारी आर्थिक दुरवस्था का मूल कारण था। 'भारत-दुर्दशा' के समान अन्य रचनाओं में भी उन्होंने अपनी व्यथा स्पष्ट की है। वह चाहते थे कि हम अंग्रेजों की व्यापार, उत्पादन आदि की सभी अर्थोत्पादक कलाएँ सीख लें, तभी धन की रक्षा हो सकेगी। जागरूक होने के कारण उन्हें स्पष्ट था कि विदेशी वस्तुओं से जनता को आराम और सुविधा मिलने लगी है, वह उन वस्तुओं का मोह नहीं त्याग सकेगी अतः उनका उत्पादन देश में ही हो इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उत्पादन-यन्त्र यहीं लगें। उनकी इस सम्बन्ध में खीझ-भरी व्यग्रता देखने योग्य है—

सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पसु समान सब अन्न खात पीअत गंगाजल।

---

1. (क) भट्ट निबंधावली : पहला भाग (चतुर्थ संस्करण) पृ० ७१।
   (ख) प्रेमधन ने भी ऐसा वर्णन किया है। देखिये—प्रेमधन-सर्वस्व : प्र० भा० : पृ० १०।
2. हिन्दी प्रदीप : मई-जन १८९०, जिल्द १३ सं० ९-१०।

धन विदेश चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान है रहत अकिल हत रचि न सकत कल।
जीवत विदेश की वस्तु लै ता बिनु कछु नहिं करि सकत।...[1]

वह विदेशी राज्य को नहीं चाहते। उन्हें तो अपना राज्य चाहिए। अंग्रेज को मारने के लिए वह भगवान् को पुकारते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि मूर्खता और दीनता को तुरन्त दूर करो तथा उनके स्थान पर गुण, विद्या, धन, बल, सम्मान सारी प्रजा को एक साथ प्रदान करो, जिससे सबका दुःख दूर हो।[2] आर्थिक शोषण समाप्त होकर प्रजा समृद्ध हो सके ऐसी युक्ति वह चाहते हैं।[3] धर्म में अभिव्यक्त दुःख का विवेचन करते हुए मार्क्स ने कहा है कि वह हमारे जीवन की ही व्यथा है जो परोक्ष रूप से अभिव्यक्त होती है।[4] भारतेन्दु-युग की भक्ति तथा प्रार्थनाएँ इसी दृष्टि से देखी जानी चाहिए। इस प्रार्थना में कभी वह समृद्ध भूतकाल का स्मरण करते हैं[5] और कभी स्वर्णिम भविष्य की कल्पाना से अभिभूत हो जाते हैं।[6] मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यह सामाजिक यथार्थ है।[7]

'भारत-दुर्दशा' तथा 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' में उन्होने रोग, अमर्ष, कर, मद्य, आलस्य, धनहीनता, बलहीनता, अविद्या, पारस्परिक फूट, कलह, पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुरण, धार्मिक अन्धविश्वास, छूआछूत, भूत-प्रेत एवं देवी-देवता की पूजा, दुर्भिक्ष, निज भाषा के प्रति उपेक्षा भाव, अनैक्य, असंगठन, अंध-परम्परा, पाखण्ड, दंभ, देशी राजाओं की मनोदशा आदि का व्यग्यपूर्ण वर्णन करके बार-बार ठोकर देने का प्रयत्न किया है। धर्म के अनुरूप उस रूप को अनुचित मानते हैं जो हमें रूखा, निरुत्साहित और देशोद्धार की प्रेरणा से रहित कर दे।[8] भारत को मानव के रूप में चित्रित करते हुए 'प्रेमघन' ने उसे पैरों में विवशता की मजबूत बेड़ी पहने, सिर पर दासता का भारी बोझ रखे, भ्रमित बुद्धि वाला तथा अपने महत्त्व को भूला हुआ दिखाया है। इतने पर भी उसे टैक्स रूपी साँप ने खा लिया है, उसके पास शक्ति रूपी औषधि नहीं है। तिजारत की फस्त खुली हुई है जिससे देश का धन रूपी रक्त धीरे-धीरे निचुड़ा जा रहा है। वह कानून की डोर से बँधा है,[9] इतने पर उसके जीवित रहने की क्या आशा हो सकती है?

---

1. भारतेन्दु ग्रंथावली : भाग दूसरा : पृ० ६८४ (दूसरा संस्करण)।
2. वही, पृ० ६८५।
3. वही, पृ० ६८५।
4. मार्क्स ऐण्ड ऐंगिल्स : ऑन लिटरेचर ऐण्ड आर्ट।
5. भारतेन्दु ग्रथावली : भाग दूसरा : पृ० ६८०, ६८१, ६८२ तथा ६८३ (दूसरा संस्करण)।
6. वही, पृ० ६८५।
7. स्टीफेन स्पेण्डर : डेस्ट्रक्टिव एलीमेन्ट : पृ० २३५।
8. भारतेन्दु नाटकावली : पृ० ६०५-६०६।
9. प्रेमघन-सर्वस्व : प्रथम भाग : पृ० १५९ (प्रथमावृत्ति)।

इस युग के साहित्य में कल्पना के स्थान पर ठोस वास्तविकता और वैयक्तिक भावों के स्थान पर सामाजिक भावों का आग्रह सर्वत्र दिखाई देता है। इस साहित्य में लोक-मंगल की भावना अपने पूर्ण विकसित रूप में अनुस्यूत है। यही वे मान्यताएँ हैं जिन्होंने इस युग को महान् प्रगतिशील बनाया तथा आगे के साहित्यकारों का पथ सुगम कर दिया। यदि हम सम्बन्ध-सूत्र खोजें तो हमें यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि आगे चलकर विकसित होने वाले प्रगतिशील दृष्टिकोण का इस युग से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दृष्टि से ही इस युग को समझना समीचीन है।

## समीक्षा-सिद्धान्त

भारतेन्दु-युग में साहित्य और समाज का सम्बन्ध निश्चित धरातल पाने को व्यग्र था। इतना तो स्पष्ट है कि वह साहित्य को उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ही स्वीकार करते थे। यूरोपीय साहित्य से परिचित होते हुए भी कलावाद का कोई लक्षण इस युग में देखने को नहीं मिलता। साहित्य का जन-जीवन से सम्बन्ध स्थापित करना इस युग की समीक्षा का मुख्य ध्येय प्रतीत होता है। तभी तो भारतेन्दु स्वयं आगे बढ़ कर लोक-संगीत तथा लोक काव्य को स्वीकृति देते हुए कहते हैं :

"जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना शीघ्र ग्राम-गीत फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुन कर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इसमे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है। इसी हेतु मेरी यह इच्छा है कि मैं ऐसे-ऐसे गीतों का संग्रह करूँ और उनको छोटी-छोटी पुस्तकों में मुद्रित करूँ।"[1]

इस युग में साहित्य और समीक्षा का महत्त्व प्रगट होने लगा था। उसे जन-भावों की अभिव्यक्ति समझा जाता था। समीक्षा का उद्देश्य साहित्य के माध्यम से जन-जीवन के साथ जुड़ गया था। साहित्य की समीक्षा का उद्देश्य समाज के भावों की स्पष्टता माना गया था। साहित्य को इतिहास से भी श्रेष्ठ पद देने का कारण यह था कि इतिहास वाह्य घटनाओं का चित्रण मात्र करके रह जाता है जब कि साहित्य जनता के आन्तरिक भाव-जगत् को साकार रूप में प्रस्तुत करता है। आलोचना के उस प्रारम्भिक युग में चिन्तन का इतना विकास हमें आश्चर्य में डाल देता है। भट्टजी ने स्पष्ट लिखा है :

"जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है वह सब उसके भाव उस समय की साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं..... किसी देश का इतिहास पढ़ने से हम उस देश का केवल बाहरी हाल जान सकते हैं पर

---

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विज्ञप्ति : कविवचन सुधा : मई १८७९ ई०।

साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय-समय के आभ्यंतरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।'[1]

भारतेन्दु के आवाहन पर उनके युग के सभी साहित्यकारों और समीक्षकों का दृष्टिकोण क्लासिक से हट कर लोक-साहित्य की ओर गया। प्रेमघन ने अपनी जन्म-भूमि का तथा वहाँ की अपनी निजी अनुभूतियों का यथार्थवादी वर्णन किया।[2] इस वर्णन का कथ्य सामान्य तथा शैली इतिवृत्तात्मक है एवं ग्रामीण रुचि के अनुकुल है, जिसमें जन-चेष्टाओं का जन-स्तर पर सटीक वर्णन हो सका है।[3] शैली का यथार्थवादी रूप प्रतापनारायण मिश्र एवं प्रेमघन में सर्वाधिक है।[4] इस दृष्टिकोण को भट्टजी ने भी स्वीकार किया और सैद्धान्तिक स्तर पर उसकी स्थापना की। जो तथाकथित नागरिक जन 'सांस्कृतिक अभिरुचि' के नाम पर इन तत्वों का विरोध कर रहे थे उन्हें मुँहतोड़ उत्तर दिया गया—"मल्लाहों के गीत, कहारों का कहरवा, विरहा अथवा आल्हा आदि सब महा भद्दी केवल गँवारों की रोचक कविताएँ है। उनकी प्रशंसा में हम कुछ कहें तो नागरिक जन जो भाषा की उत्तम कविता के रसपान के घमण्ड में फूले नहीं समाते, अवश्य हम पर आक्षेप करेंगे और हमें निपट गँवार समझेंगे। निस्संदेह ये ग्राभ्य कविताएँ हैं और मल्हार, ठुमरी का स्वाद लेने वालों की दृष्टि में महा भद्दी और घृणित हैं। पर इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि कविता के बाँधे कायदे पर न होने से इनमें कोई भी गुण ही नहीं और ये सर्वथा दूषित ही हैं। अब हमारे पाठक जन पूछ सकते हैं कि आपने उसमें कौन-सा गुण पाया जो उस पर इतने लट्टू हो रहे हैं। माना वे सर्वथा दूषित और कविता के गुणों से वंचित हैं पर उनमें सच्ची कविता का लसरा पाया जाता है, अर्थात् उनमें चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तस्वीर खिची हुई पाई जाती है और आपकी क्लासिक उत्तम श्रेणी की भाषा कविता का ज़हर उसमें कहीं नहीं पाया जाता जो यहाँ तक कृत्रिमतापूर्ण रहती है कि उसके जोड़ की एक निराली दुनियाँ केवल कविजी के मष्तिष्क मात्र में स्थान पाए हुए है।'[5]

इस उदाहरण से सिद्ध है कि उस काल की समीक्षा कृत्रिमता, व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद, असामाजिकता, जन-भाव का विरोध तथा मिथ्या अवास्तविक भावनाओं के साहित्य-प्रयोग को असमीचीन घोषित कर चुकी थी। उसके स्वाभाविक चरण जन-मन की सच्ची अनुभूतियों को सर्वजन सुलभ शैली में व्यक्त करने की दिशा में मुड़ गये थे।

---

1. हिन्दी प्रदीप : पृ० १५ से २० : जुलाई, १८८१।
2. प्रेमघन-सर्वस्व : प्रथम भाग : पृ० २० (प्रथमावृत्ति)।
3. वही, पृ० २७-२८।
4. वही, पृ० ३२ से ३८।
5. हिन्दी प्रदीप : पृ० १५ : अक्टूबर, १८८६।

यूरोप के वैज्ञानिक विकास की झलक भारत में दिखाई देने लगी थी। कम्पनी रेल चलाने लगी थी, नहरें निकाली जा रही थीं, मिलें खुल चुकी थीं, औद्योगिक क्रान्ति ने कवियों और समीक्षकों के सामने एक कौतूहलपूर्ण नवीन जगत् आलोकित किया था। भारतेन्दु-युग के जागरूक साहित्यिक इससे अप्रभावित कैसे रह सकते थे? उनके दृष्टिकोण में भी वैज्ञानिकता आने लगी थी। मैक्समूलर अ दि यूरोपीय विद्वान् संस्कृत की समृद्ध परम्परा का परिचय समस्त यूरोप को दे चुके थे—ऐसे समय में उन समीक्षकों ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रयोग कर के युगानुकूल साहित्य-सृजन में अपूर्व सहयोग ही नहीं दिया वरन् समीक्षा की एक ऐसी समृद्ध प्रणाली का सूत्रपात कर दिया जिसने आचार्य शुक्ल जैसे लोक-मंगलवादी समीक्षक को जन्म दिया। भट्टजी ने अपनी 'वेद' सम्बन्धी समीक्षा में लिखा :

"मनुष्य मात्र का यह सामान्य धर्म है कि जब वह किसी वस्तु को जानना चाहता है या किसी वस्तु की खोज करता है तो पहले उन्हीं वस्तुओं में उसकी खोज करता है जो सामने देख पड़ती हैं, तब दूर की चीजों में खोजता है। इसलिए लोगों ने पहले जब कोई आश्चर्य, वस्तु अर्थात् जिसका कारण वे नहीं समझ सके, देखा तो ईश्वर मान लिया। वेदों में इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि जो देवता माने गये हैं उसका यही कारण है कि वे सब मनुष्यों के प्रथम अनुमान तथा कल्पना के फल हैं। वेद में सबसे परम उपास्य देव सविता लिखे हैं, जो सूर्य का एक नाम है। इसका कारण भी यही है कि पृथ्वी पर सबसे बढ़कर आश्चर्य की वस्तु सूर्य है, जो नित्य-नित्य हमारे दृष्टि-गोचर होता है और प्रकाश में भी उसके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिए पहले सोचने वालों ने इसी को ईश्वर और जगत् का कारण मान लिया। इसी तरह जल, वायु औषधि और विद्युत् आदि को भी ईश्वर-कल्पना कर लिया, इसीलिए वेद के अनेक मार्गों में इन सबों के नाम का उल्लेख बार-बार आया है। क्रमशः ज्यों-ज्यों लोगों की बुद्धि सोचते-सोचते मँजती गई त्यों-त्यों वे सूर्य आदि को जड़ और भौतिक पदार्थ समझने लगे।'[1]

इस समीक्षा को आज भी यदि पढ़ा जाय तो इसमें प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति के ही सभी तत्त्व निहित मिलेंगे। मार्क्स ने आदर्शवाद, ब्रह्म आदि के खण्डन में जिन तर्कों का आश्रय लिया है तथा मनोविज्ञान की जो शोधें बहुत उच्च कोटि की मानी जाती हैं, उन सबका प्रयोग इस समीक्षा में हुआ देख कर किसे विश्वास हो सकेगा कि भारतेन्दु-युग के समीक्षक जीवन को गहराई तथा उसके परिप्रेक्ष्य में देखने के कारण उन परिणामों पर पहुँचे जिन पर प्रगतिवादी समीक्षक कई युगों के बाद पहुँच पाए। इससे यह मत पुष्ट होता है कि प्रगतिवादी दृष्टिकोण भारतीय परिस्थितियों तथा साहित्यिक चेतना का स्वाभाविक परिणाम है।

---

1. हिन्दी प्रदीप : पृ० १७-१८ : मार्च, १८८०।

भारतेन्दु तथा उनके मण्डल के समीक्षकों ने परम्परा से हटकर सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टिकोण की स्वीकृति अपनी समीक्षा में दी।[1] उन्होंने परम्परा की अपेक्षा युगानुभव को ही प्रमाण माना। इसमें उनकी भौतिकता का स्पष्ट दर्शन होता है। भारतेन्दु ने लिखा है :

"वाह-वाह ! रसों का मानना भी वेद के धर्म को मानना है कि जो लिखा है वही माना जाय और इसके अतिरिक्त करे सो पतित होय। यह एक ऐसी वस्तु है जो अनुभव-सिद्ध है। इसके मानने में प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं, यदि अनुभव में आवे मानिये, न आवे न मानिये।'[2] उनकी भक्ति भौतिक स्तर का भाव है जिसमें मानवतावादी दृष्टिकोण और लोक-कल्याण-भाव का ही प्राधान्य है।"[3]

'प्रेमघन' ने कवि तथा साहित्यकारों की भौतिक आवश्यकताओं को लेकर भी लिखा है।[4] इससे युग-यथार्थ का परिचय मिल जाता है। उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य मे साहित्य को देखने और परखने पर बल दिया। अपनी समीक्षा द्वारा उन्होंने सामाजिक जागरण और साहित्य को सम्पृक्त किया। युग और साहित्य का अन्योन्याश्रयित्व प्रतिपादित करते हुए उन्होंने तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में कहा :

"साहित्य का संगठन समय के अनुसार हुआ करता है। उस समय जब के बने वे ग्रन्थ हैं, इससे अधिक लोगों को आवश्यकता न थी। रुचि भी अधिकांश लोगों की ऐसी हो रही थी, विशेषतः हमारे देश के राजा बाबू और अमीरों का शृंगार ही से काम था। वही उनकी माता थी, उसी की अधिक संख्या कविता में पायी जाती है। आज समय दूसरा है, देश की दुर्दशा ने सबकी मुटाई झाड़ दी है, अक्ल ठिकाने आ गई है, अब वे बातें नहीं जचतीं, इसी से आज की आवश्यकता को आज के सुलेखकों और ग्रन्थकारों को पूरी करनी चाहिए। वे ही इसके उत्तरदाता हैं, उन्हें अब अपने साहित्य के शून्य स्थान को भरना चाहिए और लोग इसके लिए सचेष्ट भी हो रहे हैं।'

मार्क्सवादी समीक्षा में यथार्थ और रोमांस का अद्भुत सामंजस्य स्वीकृत है[5]—

---

1. 'उन्होंने काव्य-चिंतन की परम्परागत रीति (रस, अलंकार, नायिका भेद, काव्यगुण, काव्यदोष आदि का विस्तृत विवेचन) को त्यागकर अपने युग की परिवर्तित सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों के अनुकूल काव्यांगों की नवीन रूप में चर्चा की है।'
(डा० सुरेश चन्द्र गुप्त : आधुनिक कवियों के काव्य-सिद्धान्त : पृ० ३३)।
2. कविवचन सुधा : पृ० १७८-१७९ : ५ जुलाई, १८७२ ई०।
3. भारतेन्दु-ग्रन्थावली : पृ० ४१० (पहला भाग) : प्रथम संस्करण।
4. प्रेमघन-सर्वस्व : भाग २, पृ० ५२२।
5. Chou Young : The Path of Socialist Literature & Art in China : page 219.

"The most fertile ground in reality is provided for the integration of revolutionary realism and revolutionary romanticism."

इस युग के समीक्षक (रीतिकाल के विपरीत) रोमांस की ओर उन्मुख होने लगे थे, जिसका पूर्ण विकास छायावादी कवि-समीक्षकों की आलोचना में जाकर हुआ। उनका कथन अत्यन्त स्पष्ट है :

"कवियों को बहुत से नियमों में आबद्ध न करके उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार कविता करने दो, परन्तु उनकी रुचि को समयोपयोगी आवश्यकताओं की ओर झुकाकर अपने साहित्य-भण्डार को उपयोगी विषयों से भरने का उद्योग करे।"[1] भारतेन्दु ने भी इसी प्रकार के भाव प्रकट किए हैं[2]

आज मार्क्सवादी समीक्षक साहित्य किस के लिए ? प्रश्न का उत्तर देते हैं कि साहित्य सामान्य जनता के लिए है और उसमें भी श्रमिकों तथा किसानों के लिए सबसे पहले है। क्योंकि वह उसका हित-साधन करेगा अर्थात् साहित्य की उपयोगितावादी दृष्टि ही प्रमुख है।[3] भारतेन्दु-युग के समीक्षक साहित्यकारों को ऐसा साहित्य रचने की प्रेरणा देते थे जिससे जनता का विकास हो सके, उसके पुराने संस्कार छूट सकें और उनका स्थान नए संस्कार लें।

भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है..... जितना काव्य को संगीत द्वारा सुन कर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है।[4]

प्रतापनारायण मिश्र ने लाभजनक विषयों से सम्बन्धित सूचियाँ प्रस्तुत करते हुए बताया है कि व्यभिचार, स्वदेशी-निन्दा तथा खुशामद को आधार बना कर लिखे जाने वाले साहित्य का पाठकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा भक्ति, देश-प्रेम, विश्वास आदि लाभप्रद सिद्ध होते हैं। उनका उपयोगितावाद निम्न शब्दों में मुखरित हुआ है :

"लोगों का ही नहीं, आधुनिक कवियों का भी कुछ दोष है कि उन्होंने प्रेम का अर्थ व्यभिचार, मनबहलाव का अर्थ किसी विदेशी की निन्दा, झूठे चातुर्य का

---

1. नागरी प्रचारिणी पत्रिका : छठा भाग : पृ० १८० : सन् १९०२।
2. 'जिस समय में जैसे सहृदय जन्म-ग्रण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस से चलता रहे, उस समय में उसका उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति, इन दोनों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना योग्य है। (भा० ग्रन्थावली : प्रथम भाग पृ० ७२१ : प्रथम संस्करण)।
3. माओत्सेतुंग : ऑन आर्ट एण्ड लिटरेचर : पृ० ८८।
4. कवि वचन सुधा : (जातीय संगीत) : मई, १८७९।

अर्थ खुशामद समझ के ग्रन्थ रंग डाले हैं कि उन्हें पढ़ के चित्त-वृत्ति कुमार्गगामी भए बिना मानती ही नहीं। देश भर में कदाचित् ऐसे कवि दस-पन्द्रह ही निकलेंगे जिनकी लेखनी से परमेश्वर का सच्चा प्रेम, स्वधर्म पर दृढ़ विश्वास एवं स्वदेश की सच्ची भक्ति इत्यादि वास्तव में लाभजनक विषय लिखे जाते हों।"[1]

उपयोगितवादी दृष्टिकोण स्वीकार करने के कारण ही भारतेन्दु नए नाटकों में सामयिक तत्त्व को प्रमुखता देते हैं और उसके लिए नाट्य-शास्त्र के नियमों में परिवर्तन की घोषणा कर देते हैं।

"प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है।[2]

भारतेन्दु जैसे समीक्षक ने युग की प्रवृत्ति का अनुगमन करते हुए नवीन साहित्य से स्वाभाविकता की माँग की, जो उनकी स्वस्थ तथा प्रगतिशील दृष्टि की द्योतक है। इस स्वाभाविकता को अधिक प्रभावात्मक बनाने के लिए उन्होंने परिवेश अंकन को भी आवश्यक ठहराया।

"नाट्य-कला-कौशल दिखलाने के लिए देश-काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्य गण को जैसी हृदयहारिणी प्रतीत होती थी, वर्तमानकाल में नहीं होती।'[3]

स्वाभाविकता को अनिवार्य सिद्ध करने के लिए ही उन्होंने पात्रों के चित्रण में मनोविज्ञान का आधार लेना अनिवार्य ठहराया तथा पात्र के स्वभाव के अनुसार उसके संवाद हों यह भी कहा :

"ग्रन्थकर्त्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बातचीत रचना करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पण्डित का मौनीभाव बिडम्बना मात्र है। पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है।[4]

सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण में स्वाभाविकता का भारी महत्त्व है। स्वाभाविकता यथातथ्य को सामाजिक यथार्थवाद, प्राकृतवाद तथा अतियथार्थवाद सभी अपना आधार बनाकर चलते हैं, ( यह दूसरी बात है कि वे उनके अपने दृष्टिकोण की प्रधानता अतिवादी सीमा तक उठकर उन्हें 'वाद' का रूप दे देती हैं ) इस स्वाभाविकता तथा तथातथ्य को भारतेन्दु युगीन समीक्षा का आधार-तत्त्व माना जा सकता है। कृत्रिमता से स्वाभाविकता का अन्तर दिखाते हुए तथा साहित्य को अधिक

1. ब्राह्मण : जून १५, १८८४. पृ० ४।
2 भारतेन्दु-ग्रन्थावली : प्रथम भाग : पृ० ७१९ : प्रथम संस्करण।
3. वही, पृ० ७२१-७२२।
4. वही, पृ० ७३४।

प्रभावोत्पादक बनाने में उसके योगदान का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भट्टजी ने लिखा है :

"स्वाभाविक और बनावट में बड़ा अन्तर होता है। हमारे मन में जो भावना जिस समय जैसी उठी, कह डाला। यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी, सच्ची होंगी और उनका असर भी सच्चा होगा। इसके विरुद्ध जब हम किसी नियम से जकड़ दिए गए, तब उसके बाहर तो हम पैर रख ही नहीं सकते।"[1]

माथ्रेत्सेतुंग[2] ने साहित्यकारों को परामर्श देते हुए कहा है कि उन्हें जिस प्रकार के व्यक्तियों या जिस समाज के सम्बन्ध में लिखना हो उनके बीच में जाकर रहना चाहिए, उनके जीवन और व्यवहार का गहराई से अध्ययन करना चाहिए, तब जो गुण लिखा जायगा वह शक्तिशाली, यथार्थ एवं उत्कृष्ट कोटि का सिद्ध होगा।[3] भारतेन्दु ठीक इसी प्रकार की शिक्षा अपने युग के नाटककार को देते हुए कहते हैं :—

"मानव-प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना देशों में भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन बास करे, तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुने तथा नाना प्रकार के ग्रन्थ अध्ययन करे, वरंच समय में अश्व-रक्षक, गौ-रक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृति, नीच-प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करे। यह न करने से मानव-प्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्यों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है उन लोगों के हृदयस्थ भाव भी इसी रूप में अप्रत्यक्ष हैं। केवल कुछ बुद्धि-वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत् के कतिपय वाह्य कार्यों पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उनके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झक मारना है।"[4]

तत्कालीन समाज में व्यक्तियों का व्यक्तियों से व्यक्तियों का समाज से, समाज के विभिन्न वर्गों का अन्यों से क्या सम्बन्ध था तथा प्रेम, मित्रता, शोषण, सेवा, स्वार्थ-भावना आदि भाव विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों में क्या-क्या रूप धारण कर रहे थे, इसे दृष्टि में रखकर भट्टजी ने लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'रणधीर प्रेममोहिनी' की समीक्षा की। उस समीक्षा में इन तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए वह लिखते हैं :

"ट्रैजैडी किस्म का यह पहला नाटक है जो हिन्दी भाषा में रचा गया है।

---

1. हिन्दी प्रदीप : पृ० १४ : अक्टूबर, १८८६।
2. म.ओत्से तुंग : आर्ट एण्ड लिटरेचर : पृ० ६१।
3. भारतेन्दु-ग्रन्थावली : प्रथम भाग : पृ० ७३७-३८ (प्रथम संस्करण)।
4. भारतेन्दु-ग्रन्थावली : प्रथम भाग : पृ० ७३७-३८ (प्रथम संस्करण)।

इसमें शृंगार, हास्य और करुणा ये तीनों रस बहुत उत्तम रीति से निबाहे गए हैं।... रणधीर और प्रेममोहिनी का प्रेम, रिपुदमन का सच्चा मैत्रीभाव, जीवन की स्वामि-भक्ति, नाथूराम का मारवाड़ियों का सा बनियापन, सुखवासीलाल की स्वार्थपरता सब बहुत अच्छी तरह इसमें दिखाई गई हैं।"[1]

जनता के हित को सामने रख कर लिखा जाने वाला साहित्य लोक-मंगल को आधार बनाकर चलता है। भारतेन्दु-युग की समीक्षा का मुख्य स्वर लोक-मंगल ही है तभी तो भारतेन्दु पूरी शक्ति से उद्घोषणा करते हैं :

"चाहे उत्तम नायक-नायिका के चरित्र की समाप्ति सुखमय दिखाई जाय, किंवा दुश्चरित्र पात्रों के चरित्र की समाप्ति कंटकमय दिखलाई जाय, नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।[2]

लोक-मंगल में आनन्द और शिक्षण दोनों का समन्वित रूप ही इष्ट था तभी तो व्यावहारिक समीक्षा-क्षेत्र में इस सिद्धान्त को आधार मानकर भट्टजी ने नीलदेवी की आलोचना में लिखा है :

'अलबत्ता नाटक वा उपन्यास इस ढंग से लिखे जाएँ जो रसिकों के लिए भरपूर विनोद तथा हिन्दी भाषा और देश को बड़ा लाभ पहुँचा सकते हैं।"[3]

माओत्सेतुंग का अभिमत प्राचीन साहित्य, कथा तथा दृश्य आदि के सम्बन्ध में यह है, "उस सबको स्वीकार कर लो तथा उसको आज के अनुसार उपयोगी बनाकर प्रयोग करो।"[4] भारतेन्दु भी सभी प्राचीन रीतियों का परित्याग नहीं करना चाहते थे, उनमें से वे तत्त्व ग्रहण होने चाहिएँ जिनकी आज की स्थिति में उपयोगिता अशक्य है।"

"नाटकादि दृश्य का काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति की पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी।"[5]

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि विषय की दृष्टि से उपर्युक्त मत ग्राह्य है किन्तु अभिव्यक्ति-पक्ष को लेकर माओत्सेतुंग ने स्पष्ट कहा है कि नए युग की भावनाओं को प्राचीन शैली सफलतापूर्वक अभिव्यक्त न कर सकेगी।[6] भारतेन्दु ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए नाटक के सम्बन्ध में जो नियम बनाये हैं, उनमें अभिव्यक्त कौशल को युगानुरूप दृष्टि से बदल दिया है। उन्होंने लिखा है :

---

1. हिन्दी प्रदीप : पृ० १६ : मार्च, १८७८।
2. भारतेन्दु-ग्रन्थावली : प्रथम भाग : पृ० ७४०-४१ (प्रथम संस्करण)।
3. हिन्दी प्रदीप : पृ० १ से ३ : फरवरी, १८८२।
4. माओत्सेतुंग : आर्ट एण्ड लिटरेचर पृ० ९३।
5. भारतेन्दु-ग्रन्थावली : प्रथम भाग : पृ० ७२१। (प्रथम संस्करण)।
6. माओत्सेतुंग : आर्ट एण्ड लिटरेचर : पृ० १३६।

"प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा समाप्त करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।"[1]

आगे चलकर द्विवेदी-युग में जिस समीक्षा-पद्धति का विकास हुआ उसका पूर्व रूप हमें इसी युग में दिखाई पड़ जाता है। व्यावहारिक समीक्षा सैद्धान्तिक समीक्षा का आधार लेकर चलती है। प्रगतिवादी समीक्षक यह मानते हैं कि साहित्य में उपदेशात्मकता रहे तो अवश्य परन्तु कलात्मक रूप में उसे अधिक से अधिक गहरा छिपा देना चाहिए।[2] भट्टजी की समीक्षा-पद्धति इसका पूर्व रूप अपनाती प्रतीत होती है। 'परीक्षागुरु' की आलोचना में वह लिखते हैं :

"सच पूछो तो बुराइयों का परिणाम दिखाकर अपनी लेख-शक्ति के द्वारा पढ़ने वालों का जी आकर्षण करते, जैसा संस्कृत में कादम्बरी है। अन्त में एक अपूर्व उपदेश निकालना उपन्यास ही में है.....।"[3]

उन्होंने उपन्यास जैसी नवीनतम विद्या को इतनी आसानी से स्वीकृति प्रदान करके युग-प्रवृत्ति एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण का समर्थन कर दिया है। यथार्थवाद की स्थिति विशिष्ट परिवेश में स्वीकार की गई है[4] और इसके लिए उपन्यास ही सार्वजनिक उपयुक्त विधा है, अतः उपन्यास की स्वीकृति परोक्ष रूप से यथार्थवाद की स्वीकृति कही जा सकती है।

'बंग विजेता' की आलोचना करते हुए प्रेमघन जी ने उसके पात्रों को 'टाइप' रूप में स्वीकार किया है[5] और इसकी प्रशंसा की है कि वे अपने-अपने वर्गों का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं और साथ ही साथ उनमे व्यक्तिगत विशेषताएँ भी हैं, जिन से उनकी सजीवता प्रमाणित होती है।

प्रगतिवादी समीक्षा में यथार्थवाद का जो रूप आगे चलकर स्वीकृत हुआ[6], वह समय से बहुत पहले ही हिन्दी-समीक्षा को ज्ञात था। ऐतिहासिक यथार्थ की आत्मा को अभिव्यक्त करते हुए भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि समीक्षक ने कहा :

"किसी समय के लोगों की क्या दशा थी उनके आभ्यन्तरिक भाव किस पहलू पर ढुलके हुए थे, अर्थात् उस समय मात्र के भाव "स्प्रिट आफ दी टाइम्स" क्या थे ? इन सब बातों को ऐतिहासिक रीति पर पहले समझ लीजिए..... ....."[7]

---

1. भारतेन्दु-ग्रन्थावली : प्रथम भाग : पृ० ७२१।
2. मार्क्स तथा ऐंगिल्स : लिटरेचर एण्ड आर्ट : पृ० ३७।
3. हिन्दी प्रदीप : पृ० १ से ३ . फरवरी, १८८२।
4. मार्क्स तथा ऐंगिल्स : लिटरेचर एण्ड आर्ट : पृ० ३६।
5. आनन्द कादम्बिनी : सन १८८५ : माला ३।
6. 'प्रत्येक युग की प्रगतिशील भावना-कल्पनाएँ जिस विशेष वर्ग का आश्रय लेकर विकासोन्मुख हो रही हैं उस श्रेणी के जीवन को रूपायित करना ही प्रगतिशील साहित्य का कर्त्तव्य हो जाता है।' (महेन्द्रचन्द्र राय : मार्क्सवाद और साहित्य : पृ० १६)
7. भट्ट : हिन्दी प्रदीप : पृ० १७ : अप्रैल, १८८६।

इस मान्यता को मार्क्स की स्वीकृति निम्न शब्दों में प्राप्त हुई है—जहाँ वे ऐतिहासिक यथार्थ को वर्तमान के हित की दृष्टि से उपयोगी पाते हैं।[1]

इस युग की नई चेतना को रूपायित करने के लिए शृंगार और रीति की घिसी-पिटी परिपाटी से कविता को मुक्त कराना आवश्यक था अतः भारतेन्दु-युग रीतिकालीन मनोवृत्ति के विरुद्ध झंडा उठा कर चला था। रीतिकालीन कविता में जो असमाजवादी दृष्टिकोण तथा सामन्तवादी मनोवृत्तियों का अंकन हुआ है इस युग में उस परम्परावाद का विरोध करना आवश्यक था। परंपरावादी रीतिकालीन कविता, जिसका अब तक जोर था, अब आंशिक रूप से बहिष्कृत होने लगी थी। भट्टजी ने इस ओर अपना चरण बढ़ाया और बड़े साहस के साथ घोषणा की :

"नायक-नायिका का एक-एक अंग का नख-शिख वर्णन उनकी सम्पूर्ण कवित्व-शक्ति का ओर-छोर आ लगा है, बहुत बड़े ऋतु के वर्णन में जा फँसे। बहुत हुआ तो वही सहकार मधुकर कामदेव की सेना को अपने-अपने ढंग पर गा जाने के अतिरिक्त एक विषय पर और नई बात लावें कहाँ से ? पावस को कहने लगे तो मोर-दादुर की टर-टर, वियोगिनी नायिका की स्मरदशा आदि इनी-गिनी दस पाँच बातें हैं जिन पर कविता की अधिष्ठातृ देवी को सैकड़ों वर्षों से घसीट, जीर्ण कलेवर कर डाला।'[2]

भारतेन्दु-युगीन समस्याओं के प्रति कुछ प्रगतिशील समीक्षकों की धारणाएँ मार्क्सवादी मान्यताओं के विपरीत जाती दिखाई देती हैं, अतः यहाँ उन पर विचार करना भी अप्रासंगिक न होगा। इनमे से एक समस्या है कि क्या इस युग में अंग्रेजों ने समाज-चेतना और संस्कृति को विकसित करने में योग नहीं दिया ? इस सम्बन्ध में एक पक्ष[3] अपनी पूर्ण सहमति प्रकट करता है और दूसरा पक्ष प्रथम मत के विरुद्ध यह मानता है कि :

"अंग्रेजी राज्य में मुसलमानी अत्याचार और दिन-रात की कलह और अशांति से पहले-पहल रक्षा मिली, इसलिए उन्होंने मुसलमानी राज्य की अपेक्षा अंग्रेजी शासन कहीं अधिक श्रेयस्कर समझा। प्रत्यक्षतः सुख-शान्ति के साथ पाश्चात्य सभ्यता द्वारा प्रदत्त विविध वैज्ञानिक साधनों के सुखोपयोग, वैध शासन, सुन्दर न्याय-पद्धति, नव्य शिक्षा आदि के कारण उन्होंने अंग्रेजी राज्य के गुणगान किए, 'रूल ब्रिटानिया' के नारे लगाए गए।"[4]

इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि अंग्रेजों ने रेल, तार, कारखाने, कपड़े के मिल आदि की स्थापना यहाँ कर दी थी। अंग्रेजी शिक्षा और यूरोप-भ्रमण को

---

1. कार्ल मार्क्स : सलैक्टेड वर्क्स : द्वितीय भाग : पृ० ३१५।
2. हिन्दी प्रदीप : पृ० १४ : अक्टूबर १८८६।
3. ड० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु-युग : पृ० ५।
4. ड० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : भारतेन्द हरिश्चन्द्र : पृ० २१७ (द्वितीय संस्करण)

सुविधाओं के द्वारा धीरे-धीरे सामन्तवादी प्रवृत्तियाँ ह्रासशील होने लगी थीं तथा पूँजीवादी तत्व सक्रिय होने लगे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पत्रों के कुछ उदाहरण इस सम्बन्ध में देना उपयुक्त होगा :

"रुड़की शहर अंग्रेजों का बसाया हुआ है। इसमें दो तीन वस्तु देखने योग्य हैं कि एक तो (कारीगरी) शिल्प-विद्या का बड़ा कारखाना है.....बड़े-बड़े लोहे के खंभे एक क्षण में ढल जाते हैं और सैकड़ों मन आटा घड़ी भर में पिस जाता है। जो बात है आश्चर्य की है। इस कारखाने के सिवा यहाँ सबसे आश्चर्यजनक गंगाजी की नहर है, पुल के ऊपर से तो नहर बहती है और नीचे से नदी बहती है। यह एक आश्चर्य का स्थान है। इसके देखने से शिल्प-विद्या का बल और अंग्रेजों का चातुर्य और द्रव्य का व्यय प्रकट होता है।"[1] मशीनें, कारखाने, नहर तथा रेल आदि की विकसित स्थिति की सूचनाएँ नवीन अर्थ-व्यवस्था के आधार हैं। इन्हें औद्योगिक-युग की सूचना माना जा सकता है।

इस युग में स्वायत्त शासन मिल गया था। शहरों में चुंगियाँ और ज़िलों में बोर्ड बन गए थे। लोगों में शिक्षा, सफाई आदि का अनुराग पैदा हो रहा था। लखनऊ का वर्णन करते हुए भारतेन्दु ने लिखा है, "नई सड़क बहुत चौड़ी और अच्छी है..... सब इमामबाड़ों में किसी में डाकघर, कहीं अस्पताल, कहीं छापाखाना हो रहा है।"[2]

इस प्रकार जागरूक रह कर देखने वाले भारतेन्दु यदि अंग्रेजी शासन-व्यवस्था की प्रशंसा भी कर देते हैं तो यह समझना चाहिए कि वह बिना द्वन्द्ववादी सिद्धान्त से परिचित हुए और मार्क्स की ऐतिहासिक व्याख्या जाने ही यह समझ गये थे कि ये लक्षण शुभ हैं और देश का इस दिशा में अग्रसर होना भावी समृद्धि का लक्षण है, जिसका अनिवार्य फल स्वतन्त्रता होगी।

इस युग की समीक्षा के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह पश्चिम का अनुकरण है[3] और उसमें भी शैली तो पूर्णतः पाश्चात्य है।[4] यह निष्कर्ष समीचीन प्रतीत नहीं होता। भारतेन्दु ने इस युग की सर्वश्रेष्ठ समीक्षा 'नाटक' लिखी है जिसमें भारतीय शैली में शुद्ध भारतीय नाट्यशास्त्र की मान्यताओं का विवेचन है। हाँ, उन्होंने अपने युग की आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्तन अवश्य कर दिया है, किन्तु इस परिवर्तन का आधार भारतीय समाज की परिवर्तित स्थिति है न कि यूरोप का अनुकरण, जैसा कि भाषा के सम्बन्ध में दिखाया गया है। भारतेन्दु ने खड़ी बोली के सम्बन्ध में जनता की राय जानने को अपने विज्ञापन के साथ उसे प्रकाशित कराया था, इससे सिद्ध है

1. कविवचन सुधा : ३० अप्रैल, १८७१ : पृ० १०।
2. कविवचन सुधा : श्रावण कृष्णा ३०, सं० १९२८ : पृ० १७६।
3. प्रो० भगवत्स्वरूप मिश्र : हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास : पृ० २२७-२८।
4. डा० भगवत्स्वरूप मिश्र : हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास : पृ० २२७-२२८ (प्रथम संस्करण)।

कि उनके काव्य-सिद्धान्तों के परिवर्तन का आधार जनता थी, विदेशी प्रवृत्तियों का अनुकरण मात्र नहीं।

इस युग के समीक्षकों ने अपना साहित्य सामान्य जनता तक पहुँचाने के उद्देश्य से जन-भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। वह अपने को सामान्य जनता के साथ रखते थे इसलिए जन-भाषा को ही 'निज-भाषा' कहा है तथा उसे सभी प्रकार की उन्नति का मूल आधार माना है।[1] 'प्रेमघन' ने भाषा में पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का विरोध किया[2] और उसकी सहजता, स्वाभाविकता और स्वारस्य को अनिवार्य माना। उस समय सामान्य जन-शब्दावली का विरोध अंग्रेजी और फारसी के समर्थक उसे गँवार कह कर करते थे। इन समीक्षकों ने एक ओर तो उन शब्दों का प्रयोग जारी रखा और दूसरी ओर उनके तर्कों का उपयुक्त उत्तर दिया। कितना आशावादी दृष्टिकोण था उनका जन-भाषा के समृद्ध भविष्य के सम्बन्ध में? देखिए :

"ठेठ हिन्दी के शब्द हम लोगों के काम में जो लाए जाते हैं, इसके बदले कि उनसे गँवारपने की बू आवे, एक विचित्र लहलहापन और पुष्टता उनमें भरी हुई पाई जाती है और आप निश्चय जानिए बहुत जल्द ऐसे ही शब्दों की पूरी विजय होगी।"[3]

भाषा के कठिन और दुर्बोध रूप को उन लोगों ने सदैव अनुपयुक्त माना, क्योंकि वह कृत्रिमता की ओर बढ़ जाता था। उसमें स्वाभाविकता की रक्षा नहीं हो पाती थी। 'प्रेमघन' ने इस सम्बन्ध में लिखा है :

"हिन्दी के उन सुलेखकों के लेखों में, जो संस्कृत के भी पंडित हैं, अपनी सरस नागरी भाषा को विशुद्ध हिन्दी के सरल और संस्कृत के मनोहर शब्दों से सुसज्जित करने के स्थान पर उर्दू अर्थात् फारसी, अरबी के कठिन, दुर्बोध और अशुद्ध, जो प्रायः बेढंगी रीति पर आ कर न केवल उस प्रबन्ध की शोभा का ह्रास करते, वरन् उर्दू-पठित पाठकों को रचयिता के अनुचित साहस पर उपहास का अवसर देते, वे उसकी अभिज्ञता प्रमाणित कर देते है।"[4]

अलंकारों का आवश्यक प्रयोग भाषा को दुरूह तथा असामान्य बनाता है इसे ये लोग खूब समझते थे और समय-समय पर विभिन्न रूपों में इसका विरोध करते थे। संयोगिता-स्वयंवर की भाषा की आलंकारिक वृत्ति के ऊपर व्यंग्य करते हुए प्रेमघन ने लिखा :

"ग्रन्थकार अपनी कविताई अवश्य दिखाना चाहता है, चाहे उपमानोपमेय की

---

1. निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
   बिन निज भाषा-ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।
   (भारतेन्दु ग्रन्थावली : दूसरा भाग : पृ० ७३१)।
2. प्रेमघन-सर्वस्व : भाग २ : पृ० ३३८-३३९।
3. हिन्दी प्रदीप : पृ० १ से ५ : जुलाई, १८८५।
4. आनन्द कादम्बिनी : माला ६ : मेघ ११-१२ : पृ० २०९।

जान क्यों न निकल जाय, चाहे रूकालंकार कुरूक्षान्वकार ही क्यों न झलकें, पर ल्याया जाय जरूर।"[1]

"प्रेमघन' की भाषा में 'जिस्का, ल्याया, उस्ने, उस्को, किसे' आदि जो शब्द मिलते हैं उनसे स्पष्ट है कि वह भाषा को जनता के सामान्य शब्दों से ही युक्त रखना चाहते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने खड़ी बोली में कविता की यह देखने के लिए कि जनता का अभिमत इस सम्बन्ध में क्या है ? वह उत्सुक थे, इससे सिद्ध है कि वह अन्तिम कसौटी जनता को मानते थे। भाषा के सम्बन्ध में उनकी यह जनवादी प्रवृत्ति निम्न उदाहरण से स्पष्ट है :

"प्रचलित साधु-भाषा में कविता भेजी है। देखिएगा कि इसमें कसर क्या है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है, इस विषय में सर्वसाधारण की अनुमति ज्ञात होने पर आगे से वैसा परिश्रम किया जायगा।"[2]

पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा के सम्बन्ध में प्रगतिशील[3] मान्यताएँ निम्न तथ्यों से स्पष्ट हैं :

१. उन्होंने जीवन और साहित्य के समान भाषा को भी परिवर्तनशील माना।

२. उसे रूढ़ियों, व्याकरण के नियमों आदि से मुक्त रखना ही उपयुक्त समझा।

३. वह भाषा को सरल, सुबोध, स्वाभाविक एवं गहरी व्यंजना वाले जन-शब्दों से युक्त देखना चाहते थे।

हिन्दी में अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग इस युग में खुलकर किया गया।

बाहरी भाषाओं के शब्दों को अपना सा कर डालना, जिससे भाषा दिन प्रति-दिन अमीर होती जाय, यह भी एक बड़ा काम है।.....यदि हम अपनी मातृभाषा को अंग्रेजी भाषा के आभूषण से आभूषित करें तो क्या क्षति है ?"[4]

इस युग में नगे-नये विषयों पर प्रथम बार लेखनी उठाई जा रही थी। नवविकसित खड़ी बोली में सभी प्रकार के भावों को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करने की क्षमता का अभाव था। अतः यह युग की माँग थी कि हिन्दी का शब्द-भण्डार शीघ्र-से-शीघ्र सम्पन्न करने के लिए विदेशी भाषाओं—मुख्यतः अंग्रेजी से शब्द लिए जायें। इस प्रवृत्ति का समर्थन करते हुए तथा इस सम्बन्ध में भाषा के दूषित

---

1. हिन्दी प्रदीप : माला २ : मेघ-१०-११-१२ : पृ० ७६-७७।
2. भारत मित्र : १ सितम्बर, १८८१।
3. हिन्दी प्रदीप : फरवरी, जून, जुलाई, १८८५ : अक्टूबर से दिसम्बर १८८९ ; जनवरी से मार्च १८९२ ; जनवरी से अप्रैल १८९६ आदि।
4. हिन्दी प्रदीप : पृ० ७ : जन, १८८५।

हो जाने की आपत्ति का उत्तर देते हुए वह लिखते हैं :

"कवि जब अपनी भाषा में किसी शब्द का अभाव पाता है, या अन्य भाषा का शब्द उसे किसी स्थान पर विशेष उपयुक्त या अर्थप्रद लगाता है, तभी वह उसका प्रयोग करता है, और प्रयोग करके भी उसे अपना सा बना लेता है, कि जो पढ़ने और सुनने में कर्कश या अनोखा नहीं जँचता और न उससे प्रायः उसकी भाषा दूषित ही होती है।"[1]

हिन्दी और उर्दू का प्रश्न इस युग में सामने आ चुका था। शिवप्रसाद सितारे-हिन्द ने हिन्दी के अहित की पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी थी। भारतेन्दु तथा उनके मण्डल के साहित्यकारों ने उर्दू और फारसी की शब्दावली का प्रयोग किया, भारतेन्दु ने उर्दू में कविता की; इससे उनका उर्दू के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण सिद्ध होता है कि वह उसका पूर्ण विकास चाहते थे। भट्टजी हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग दो भाषायें मानते ही नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा :

"यह कौन कहता है कि उर्दू कोई दूसरी वस्तु है। सच पूछो तो उर्दू भी इसी हिन्दी का रूपान्तर है।"[2]

इस युग में उर्दू के नाम पर हिन्दी का विरोध किया जा रहा था। अतः भारतेन्दु-मण्डल को हिन्दी की रक्षा के लिए उर्दू की इस प्रवृत्ति का विरोध करना पड़ा। उसके लिए उन्होंने 'उर्दू का स्यापा'[3] तक पीटा। जन-भाषा हिन्दी की रक्षा तथा प्रसार करने के लिए उन्होंने अन्तिम काल में ब्रज भाषा को त्याग कर खड़ी बोली में रचनाएँ करना आरम्भ कर दिया था। भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् ब्रज भाषा के समर्थक यह प्रचार करने लगे थे कि भारतेन्दु ही जब खड़ी बोली की रचनाओं में असफल हो गये तो अब खड़ी बोली में कविता नहीं हो सकती—ऐसा मानना चाहिए। प्रतापनारायण मिश्र ने उन लोगों को उत्तर देते हुए लिखा था :

"क्षमा करें। हम खड़ी बोली के विरोधी होते तो हानि-पर-हानि सहकर 'ब्राह्मण' का सम्पादन क्यों करते ?"[4]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि इस युग की भाषा सम्बन्धी मान्यता प्रगतिशील परम्पराओं को स्वीकार करके विकसित हो रही थी।

## व्यंग्य-समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग

व्यंग्य सोद्देश्य होता है। वह व्यक्ति या समाज की बुराइयों को हमारे सामने इस रूप में लाता है कि हमारा ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो सके और हम

---

1. तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन : कार्य विवरण : पृ० २९ (प्रथम भाग)।
2. हिन्दी प्रदीप : पृ० ६ : फरवरी, १८८५।
3. भारतेन्दु-ग्रन्थावली : दूसरा भाग : पृ० ६७७ (दूसरा संस्करण)।
4. डा० रामविलास शर्मा ; भारतेन्दु-युग : पृ० १६०।

उन्हें दूर करने को उठ खड़े हों। इसीलिए व्यंग्य की शक्ति तथा अनिवार्यता को मार्क्स[1] तथा अन्य सभी प्रगतिवादी समीक्षकों ने[2] स्वीकार किया है। इस युग के साहित्य में व्यंग्य की भरमार है और समीक्षा का तो वह महत्त्वपूर्ण अंग है। 'संयोगिता-स्वयंवर की सच्ची समालोचना' की निम्न पंक्तियाँ तीव्र व्यंग्य की वाहक हैं :

"हाय, हाय! संयोगिता पर भरपूर शामत सवार हुई जो उसके बारे में नाटक लिखने को हौसला आपके मन में बढ़ा। छिः! ऐसा ही नाटक ऐतिहासिक कहलाने के योग्य है? लालाजी आपके नाविल "परीक्षागुरु' से तो मालूम होता है कि आपने अंग्रेजी की कई किताबों की सैर की है, तो जरा देख तो लिया होता कि ऐतिहासिक नाटकों या नाविलों का निर्वाह कैसे होना है, अथवा इस बात को बंगला या गुजराती ही में (जिसमें आपको पूर्ण पंडित होने का दावा है) देख लिया होता।"[3]

भारतेन्दु ने अपने साहित्य और समीक्षा सभी क्षेत्रों में व्यंग्य का प्रयोग किया है। उनकी समीक्षा लोक-मंगल को लेकर चलती है, अतः जहाँ भी उन्हें लोक-अमंगलकारी तत्त्व दिखाई दिये हैं उन पर कस कर प्रहार किए हैं। उनके व्यंग्य उद्देश्य-प्रेरित, देश-प्रेम तथा देश-भाषा की उन्नति से परिचालित होते हैं।[4]

अन्त में यह कह सकते हैं कि भारतेन्दु-युग की मुख्य धारा इतिहास-प्रधान वैज्ञानिक दृष्टिकोण की थी जो कि अभिव्यक्ति का साधन खड़ी बोली को अपना चुकी थी। वह समाज-सुधार, शोषण-विरोध, टैक्स-विरोध, स्वदेशी आन्दोलन आदि की उभरती हुई भावनाओं से ओत-प्रोत थी, जिसका अनिवार्य परिणाम स्वातन्त्र्य आन्दोलन के रूप में सामने आया। औद्योगिक विकास और शिक्षा समाज-चेतना के मुख्य आधार थे। समाज को संगठित करने का माध्यम साहित्य को बनाया जा चुका था और उसका उपयोग इसके लिए होने लगा था। उपयोगितावादी दृष्टिकोण के प्राधान्य से साहित्य और नव-विकसित समीक्षा प्रचारात्मक तत्त्वों से आक्रान्त थे। हिन्दी-समीक्षा के क्रमिक विकास के सूत्र द्विवेदी-युग की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत कर रहे थे।

## युग तथा समीक्षा की सामान्य विशेषताएँ

### द्विवेदी-युग

हिन्दी समीक्षा की जो धारा भारतेन्दु-युगीन गंगोत्री से निसृत हुई थी, वह

---

1. मार्क्स तथा एंगिल्स : लिटरेचर एण्ड आर्ट पृ० ५२।
2. माओत्सेतुंग : ऑन आर्ट एण्ड लिटरेचर : पृ० ११४।
3. हिन्दी प्रदीप : पृ० २१ : अप्रैल, १८८६।
4. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : पृ० २१०-११ (द्वि० सं०)।

द्विवेदी-युगीन समतल वनस्थली में आकर विस्तृत होने के लिए गहराई में उतरी। उसे संस्कृत-परम्परा की निधि को शीघ्रातिशीघ्र आत्मसात् करने की चिन्ता हुई। आचार्य द्विवेदी ने विशेष रूप से इस उत्तरदायित्व को उठाया। भारतेन्दु-युग में सृजनात्मक साहित्य के समानान्तर समीक्षा-पद्धति का विकास हुआ था, किन्तु द्विवेदी-युग में सृजनात्मक साहित्य जिस गति से अग्रसारित हुआ, वह गति समीक्षा ग्रहण न कर पाई और वह पिछड़ गई। उसे अंग्रेजी और संस्कृत की समीक्षा-पद्धतियों से अपना भण्डार भरने की चिन्ता हुई क्योंकि व्यावहारिक समीक्षा के लिए सैद्धान्तिक पक्ष के समृद्ध होने का प्रश्न उपस्थित हो गया था। द्विवेदीजी ने स्वयं संस्कृत-काव्यों की समीक्षा की तथा संस्कृत काव्यशास्त्रीय आधार को हिन्दी में प्रस्तुत किया एवं अन्य लोगों से हिन्दी में अंग्रेजी के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ अनुवादित कराए। आलोचना के महत्त्व को प्रतिपादित किया[1] किन्तु सामयिक सृजनात्मक साहित्य की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जा सका जितना कि भारतेन्दु-युग में दिया गया था, एवं उस परम्परा को अग्रसारित करने की दृष्टि से दिया जाना चाहिए था। यह दूसरी बात है कि भारतेन्दु-युगीन समीक्षा के सभी प्रगतिशील तत्त्व किसी न किसी रूप में अक्षुण्ण बने रहे। इस युग में भारतेन्दु-युग की कसौटी मान्य रही। भारतेन्दु-युग में जनता को सच्चा समीक्षक माना गया था। आचार्य द्विवेदी ने भी अच्छी कविता की कसौटी स्रोता को घोषित किया :

"अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह ही है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा। वही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है।"[2]

भारतेन्दु-युग के लेखक पहले अंग्रेज की नीति की परोक्ष आलोचना करते थे किन्तु द्विवेदी-युग में अधिक राजनीतिक चेतना आने से वे भी खुल कर अंग्रेज का विरोध करने तथा देशवासियों को संगठित होने की प्रेरणा देने लगे। भट्टजी ने स्पष्ट रूप से लिखा :

"अंग्रेजी राज्य के कड़े शासन में जब हम सब ओर से दबे हैं और चारों ओर से ऐसे कस दिए गए हैं कि हिल नहीं सकते, आमदनी का कोई द्वार खुला न रह गया.....ऐसी हालत में भी जब हम न चेतें तो फिर कब चेतेंगे ?"[3]

वह खुल कर कांग्रेस का समर्थन करने लगे और उसकी जय बोलने लगे :—

"अहा हा ! आज तक हमारे कानों और प्राणों में यही ध्वनि गूँज रही है और रह-रह के मुँह से यही निकलता है कि 'कांग्रेस की जय'। क्यों न हो, कांग्रेस

---

1. वाग्विलास : पृ० ६३।
2. संचयन : पृ० ८।
3. भट्ट-निबन्धावली : पृ० ११६।

साक्षात् दुर्गा जी का रूप है, क्योंकि यह देश-हितैषी देव-प्रकृति के लोगों की स्नेह-शक्ति से आविर्भूत हुई है।'[1]

राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए एकता, संगठन आदि का समर्थन किया गया।[2] विज्ञान के विकास और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुरूप जीवन-दृष्टि इस युग में आने लगी थी।[3] स्त्री-शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा था[4] और शिक्षा में भी क्लर्क, मुहर्रिर और स्कूल मास्टर की अपेक्षा सच्चा उत्पादक वर्ग पैदा करने वाली शिक्षा को प्रमुखता दी जाने लगी थी। अर्थकरी[5] शिक्षा पर ध्यान आकर्षित किया जा रहा था जिससे अच्छी शिक्षा का सूत्रपात हो सके। इस शिक्षा के पीछे भी आर्थिक दृष्टिकोण की प्रधानता लगी थी। ये समीक्षक शासन-निरपेक्षता द्वारा जनता को सरकार का विरोध करने की प्रेरणा देते थे।[6]

भारतेन्दु युगीन समीक्षकों में से प्रतापनारायण मिश्र ने खेती की दीन और किसान की अति दयनीय स्थिति की ओर ध्यान आकृष्ट किया[7] तथा देश में विदेशी शासन के फलस्वरूप जो कारीगरी नष्ट हो गई थी तथा देश का धन विदेशों को खिंचा जा रहा था, उसका स्मरण दिलाया[8] तो बालकृष्ण भट्ट ने 'ढोल के भीतर पोल' में अंग्रेजों की 'चिउंटिया ढोलन' को रोकने पर जोर दिया[9] और स्वयं आचार्य द्विवेदी ने भी इन विषयों पर अपनी सशक्त लेखनी उठाई। अमेरिकन और भारतीय कृषि फार्म की तुलना करते हुए कृषक दशा तथा उसके शोषक कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा :

"भारतवर्ष में कृषकों की दुरवस्था और निर्धनता के कई कारण हैं। एक तो यहाँ किसानों में शिक्षा का अभाव है। दूसरे यहाँ की गवर्नमेन्ट ने देश के कुछ अंशों को छोड़ कर अन्यत्र सभी कहीं भूमि को अपने अधिकार में कर रखा है। वही उनकी मालिक बनी बैठी है। अतएव उसने भूमि के लगान और मालगुजारी के सम्बन्ध में जो कानून बनाए हैं वे बहुत ही कड़े हैं। फिर जहाँ कहीं ताल्लुकेदारियाँ हैं वहां किसानों के सुभीते कम, ताल्लुकेदारों के सुभीते का अधिक ख्याल रखा गया है। यही सब कारण हैं जो किसानों को पनपने नहीं देते।"[10]

---

1. निबन्ध-नवनीत : पृ० ८१।
2. 'ऐक्यता' बालादीन शुक्ल ('इन्दु', किरण ७, माघ सं० १९६६ : पृ० १०८)।
3. इन्दु शर्मा (क्या हम जीवित रहेंगे) प्रभा : वैसाख शुक्ल १, सं० १९७८।
4. इन्दु : किरण ११ : सं० १९६६ : पृ० १९१।
5. लेखाञ्जलि : पृ० ११२।
6. भारत का अभ्युदय : ब्रजमोहन लाल गुप्त : मर्यादा : मार्च, १९१४ ई०।
7. निबन्ध-नवनीत : पृ० ७५।
8. वही, पृ० ७९।
9. भट्ट-निबन्धावली : पृ० ८९।
10. लेखाञ्जलि : पृ० ११६।

इसी लेख में वह भारतीय कृषक को शिक्षित होकर कृषि-विकास की ओर उन्मुख होने की शिक्षा देते है, क्योंकि वे केवल रुपये को धन न मान कर वास्तविक सम्पत्ति उत्पादन को कहते हैं।[1] इस युग ने जागरूक रहकर धर्म, मत, सम्प्रदाय, जाति-पाँति आदि विभेदमूलक अनेकता का विरोध कर आर्थिक और राजनैतिक आधारों पर संगठन का बिगुल बजाया और इसी को धर्म का स्थानापन्न बनाने पर अपनी शक्ति लगाई। युग अपनी जागृतावस्था की सूचना निम्न शब्दों में देता दिखाई देता है :

"हिन्दू भाइयों का यह समय मत-मतान्तरों में पड़ने का नहीं है और न सन्तोष का है और न वेदान्ती बन कर उदासीन होकर बैठने का है। भाइयो, ऐसे घोर काल में कुछ धार्मिक कार्य नहीं हो सकता, न वह शास्त्र विहित ही है। केवल देश बचाने के लिए जिस तरह हो सके, कटिबद्ध हो कर यत्न करो। यह समय देश विदेश की जांति-पाँति के विचार का नही है, सबका प्रायश्चित केवल मरते हुए देश-भाइयों को बचाना ही परम धर्म है। यही सबका परम कर्तव्य है। जैसे हो सके वैसे शिल्प-शिक्षा का प्रचार करो, जैसे बन पड़े वैसे कला-कौशल सीखने का यत्न करो। यही सबका उद्धार है और कुछ नहीं।"[2]

सत्यदेव परिव्राजक जैसे धार्मिक पुरुषों ने भी धर्म की अपेक्षा राजनीति को प्रमुखता दी और बताया कि जो इस लोक को नहीं सुधार पाता है वह परलोक को कभी सुधार नहीं पाएगा। अतः इहलोक - अपना वर्तमान पहले सुधारना चाहिए।[3] इस युग के मूल्य समीक्षक मिश्र-बन्धुओं ने ब्राह्मणवाद का खण्डन किया और 'द्विज' के अन्तर्गत तीन वर्णों को रखा,[4] यह प्रगतिशील दृष्टिकोण था जिसे स्वीकार करने के लिए उन्हें गोस्वामी तुलसीदास की महानता को भी चुनौती देनी पड़ी और उनके काव्य में दोष दिखाने पड़े।

आचार्य द्विवेदी की समीक्षा का प्रभाव न केवल साहित्य पर पड़ा वरन् उससे ज्ञान के प्रति स्पृहा उत्पन्न हुई और इसका सम्बन्ध, समाज देश तथा जन-जीवन की वर्तमान अवस्था से बड़ी ही घनिष्ठता के साथ जुड़ा हुआ था। साहित्य का द्वार जो अब तक 'कुछ के लिए' विशिष्ट जनों के लिए ही उन्मुक्त था, उसे सर्वसाधारण के लिए खोलने का श्रेय आचार्य द्विवेदी को है। वह साहित्य को सामान्य जनता के इतना पास ले आये कि दोनों एक-दूसरे को पहचानने लगे। नीचे की पंक्तियाँ इस पर प्रकाश डालती हैं :

---

1. निबन्धनवनीत, पृ० १२४।
2. इन्दु : कला ४ : खण्ड २ : किरण—६ : पृ० ५४०।
3. सरस्वती : मार्च, १९२३ ई० : 'धर्म और राजनीति' शीर्षक लेख
4. हिन्दी नवरत्न : पृ० १२० ( सप्तम संस्करण )।

"द्विवेदीजी की कितनी ही ऐसी रचनाएं हैं जो पाठकों में सत्साहित्य के प्रति अनुराग और ज्ञान के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए लिखी गई हैं, और कितनी ही ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध देश और समाज की वर्तमान अवस्था से है। हिन्दी भाषा-भाषियों में ज्ञान का जितना प्रचार द्विवेदीजी ने किया है, उतना अन्य किसी लेखक ने नहीं किया... .....द्विवेदीजी ने 'रजत-शृंखला' क्या तोड़ी, हिन्दी साहित्य में सर्वसाधारण के लिए ज्ञान-द्वार ही उन्मुक्त कर दिया।"[1]

द्विवेदीजी ने हिन्दी के पोषण के लिए अंग्रेजी का विरोध किया और यह देखकर आश्चर्य होता है कि द्विवेदीजी अंग्रेजी के विरोध के माध्यम से अंग्रेज-शासन व्यवस्था का विरोध कैसी कौशलपूर्ण शैली में कर रहे थे। उन्हें राजनीतिक गुलामी की अपेक्षा सांस्कृतिक गुलामी अधिक भयंकर लगी :

"हाय री अंग्रेजी ! तूने हमारे खाद्य और पेय पदार्थों में परिवर्तन कर दिया। तूने हमारे वस्त्र-परिच्छदों में अदल-बदल कर डाला; यहाँ तक कि तूने हमारी मातृभाषा को भी तिरस्कृत कर दिया !!! अभागे हिन्दुस्तान् को छोड़ कर धरती की पीठ पर एक भी ऐसा सभ्य देश नहीं, जहाँ इस तरह की अस्वाभाविक बातें होती हों।"[2]

इस युग की समीक्षा का आशीर्वाद न केवल स्वातन्त्र्य आन्दोलन को मिला था वरन् उसके नेता महात्मा गांधी को भी महर्षि कहा जाता था। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने कहा था :

"गांधीजी को आधुनिक साँचे में ढला हुआ प्राचीन महर्षि समझना चाहिए। उनके लेखों और विचारों में व्यक्त किए गए उनके विचारों से हम लोगों को यथाशक्ति लाभ उठाना चाहिए।"[3] 'पद्य-पराग' में समीक्षा का उपयोग लोक-कल्याण तथा राजनैतिक हित के लिए किया गया है। प० पद्मसिंह शर्मा ने काव्य से शिक्षा लेने की प्रेरणा देते हुए लिखा है :

"हमारे लीडर लोग भगवान् के इस आचरण से शिक्षा ग्रहण करें तो उनका और लोक का कल्याण हो।"[4]

कांग्रेस के असहयोग-आन्दोलन के समर्थक रहते हुए भी समीक्षकों ने समाज और नेता के सामने समर्पण बुद्धि से काम नहीं लिया। वे आन्दोलन के प्रगतिवादी रूप को समझते तथा उसकी यथार्थवादी समीक्षा कर जनता को सच्ची तस्वीर दिखाते रहते थे। प्रभाव उत्पन्न करने के लिए व्यंग्य का प्रयोग किया गया और फब्तियाँ कसी गईं—

---

1. द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ : पृ० ५३७।
2. सरस्वती : वर्ष १५ सं० ४ : पृ० १९९।
3. वही, सितम्बर, १९१८ : पृ० १६८।
4. पद्म-पराग : पृ० ८।

"श्रीकृष्ण ने अपने सगे सम्बन्धी, पर अन्यायी, दुर्योधन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। और एक यह आजकल के लीडर हैं जो हर कहीं से निमन्त्रण पाने के प्रयत्न में रहते हैं। आज अपमानित होकर असहयोग की घोषणा करते हैं, कल उड़ती चिड़िया के द्वारा निमन्त्रण पा कर सहयोग करने दौड़ते हैं।" इन्हें ही लक्ष्य करके कवि ने कहा है :

क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ।
रंज तो लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ।[1]

इतिवृत्तात्मक युग ने रीतिकालीन मान्यताओं की अस्वीकृति का उद्घोष किया। इस युग की समीक्षा ने रीतिकालीन साहित्य को अशिवत्व से युक्त माना और दरबारी संस्कृति का तीव्र विरोध किया। इससे काव्य सामान्य जनता के स्तर पर आया और उसमें लोकतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों का समन्वय हो सका। प० पद्मसिंह शर्मा ने अमीर खुसरो की कविता के उस अंश को हेय माना जो दरबार के दबाव का परिणाम था :

"खुसरो की कविता अत्यन्त चमत्कारपूर्ण, सरस और हृदयहारिणी है। यद्यपि उन्होंने अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ—अपने आश्रयदाता बादशाहों के कारनामे और प्रशस्तियाँ लिखी हैं, जो उन्हें दरबारदारी दबाव से लिखनी पड़ती थीं।"[2]

लोकतन्त्रीय मान्यताओं का दबाव इतना बढ़ा कि काव्य को वर्ग-विशेष के हितों के लिए प्रयोग करना भी अनुचित माना जाने लगा था। कविता की महानता स्थापित की गई और उसका दुरुपयोग करने वालों को अपराधी घोषित किया गया।[3] इस लोकप्रमुखता ने देशभक्ति के साथ अपने को जोड़ा और देश के लिए व्यक्ति के बलिदान की भावना बढ़ी। देश की प्रतिष्ठा विदेशियों के सामने न गिरे इसलिए साहित्य-समीक्षक विदेश गमन करने वालों को लिखने लगे :

"देखो, तुम विदेश में जाकर अपने को भारत का बहुत छोटा विद्यार्थी बताना और कोई ऐसा काम न करना जिससे अपने देश का ह्रास होवे। जो कुछ कहो सोच-समझ कर कहना।"[4]

जो द्विवेदी-युग की समीक्षा प्राचीन वैभवपूर्ण भूतकाल की ओर बढ़ी उसमें अन्य तत्त्व भी निहित थे, जैसे व्यापार-नीति तथा आर्थिक विकास की प्रेरणा[5] एवं वर्तमान भारतीय अवस्था के प्रति तीव्र असन्तोष व्यक्त करते हुए उसे दूर करने का

---

1. पद्म-पराग : पृ० २०१।
2. वही, पृ० २०१।
3. वही, पृ० २६६।
4. पद्मसिंह शर्मा के पत्र : पृ० १०।
5. समालोचना समुच्चय : पृ० ६७।

दिशा-निर्देशन आदि।[1] आचार्य द्विवेदी ने यद्यपि समीक्षा के उत्कृष्ट सिद्धान्त एवं उसकी समाजशास्त्रीय मान्यताएँ स्पष्ट नहीं की (उनसे इस प्रकार की माँग करना भी समय से पूर्व की बात है) किन्तु इनकी माँग अवश्य प्रस्तुत की[2] जिससे आगे चल कर इस युग का आविर्भाव हो सका जो प्रगतिशील दृष्टिकोण की दिशा निर्दिष्ट कर सका। समीक्षा का ध्येय रस, भाव अलंकार, छन्दशास्त्र और नायिका-भेद का परिज्ञान मात्र नहीं है—ऐसा स्पष्ट रूप से कहा गया और इस परम्परागत पद्धति पर चलने वाले कवियों और साहित्यकारों की तीव्र भर्त्सना की गई।[3] मिश्र-बन्धुओं के 'हिन्दी नव-रत्न' को इसी कसौटी पर कसा गया, जिससे एक ओर तो प्रत्यालेचना (आलोचना की आलोचना) का रूप विकसित हुआ और दूसरी ओर 'कलम पकड़ने का शऊर न रखने वाले अपना नया ऊँट छोड़ने से बाज़ आ गए'। चूँकि इस युग की समीक्षा साहित्य के इतर जीवन को प्रभावित करने के उद्देश्य से प्रेरित थी इसलिए जब भी अवकाश मिलता या ये समीक्षक राजनीति[4], धर्म[5], व्यवसाय[6], कृषि[7], विज्ञान[8], पुरातत्व[9], नृतत्व[10], जीव-विज्ञान[11], राष्ट्रीय आन्दोलन[12], नेताओं का स्वभाव[13], अंग्रेजी राज्य की शोषक नीति[14], जनसंख्या[15], लीग आफ नेशन्स[16], राष्ट्रीय एकता[17], हिन्दी प्रचार[18], संगठन[19], नव स्वतन्त्र देशों की गाथा[20], सच्चा प्रतिनिधित्व[21], गांधीवाद[22], जेल, न्याय और पुलिस की सख्ती[23], लोक संस्कृति का अभ्युदय[24], सामयिक समस्या[25] की प्रमुखता आदि विषयों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में स्वीकार कर लेते थे। एवं इन विषयों पर अनेक विध शैलियों में अपनी कलम चलाते थे। समीक्षकों की दृष्टि सार्वजनीन-सार्वभौमिक-सार्वकालिक साहित्य की ओर थी, किन्तु यह गुण सरल भाषा के साथ ही स्वीकृत थे, अन्यथा नहीं। आचार्य द्विवेदी ने इस विषय पर स्पष्ट रूप से लिखा है :

"एक बात का विचार रखिएगा। भाषा सरल हो। भाव सार्वजनीन और सार्वकालिक हो। सब देशों के सब मनुष्यों के मनोविकार प्रायः एकसे होते हैं। काव्य ऐसा होना चाहिए जो सबके मनोविकारों को उत्तेजित करे। देशकाल से मर्यादाबद्ध न हो। ऐसी ही कविता अमर होती है।"[26]

---

1. समालोचना समुच्चय, पृ० ७३।
2. वही, पृ० २०७।
3. वही, पृ० २११।
4. लेखांजलि : पृ० ९९—१०५। 5. वही, पृ० ७१-७२। 6. वही, पृ० १४८—९।
7. वही, पृ० ११६। 8. वही, पृ० ४७। 9. वही, पृ० ११। 10. वही, पृ० ८-९।
11. वही, पृ० १५। 12. वही, पृ० १६७। 13. वही, पृ० १७२। 14. वही, पृ० १३१।
15. वही, पृ० १०६-१०९। 16. वही, पृ० १२४। 17. वही, पृ० १६९।
18. समालोचना समुच्चय : पृ० १६०। 19. लेखांजलि : पृ० १६८—१६९।
20. वही, पृ० १६८। 21. वही, पृ० १७४। 22. वही, पृ० १८०। 23. वही, पृ० १९६।
24. द्विवेदी पत्रावली : पृ० ११५। 25. वही, पृ० १२३। 26. वही, पृ० ११४।

इस युग के प्रारम्भिक काल की समीक्षा में भारतेन्दु-युग के समान ही सामयिकता तो है किन्तु खुलकर अंग्रेज के विरोध की कमी दिखाई देती है।[1] इस वर्ग के समीक्षक सांस्कृतिक क्रान्ति के लिए प्रयत्नशील थे—जो परोक्ष रूप से भी हो सकती थी।[2] इस अन्तर्विरोध को द्विवेदीजी की निम्न पंक्तियाँ बहुत अंश तक स्पष्ट करती हैं :

"कोई बात समय और सरकार के विरुद्ध न रहे। इशारा भी न रहे। कल नया कानून बना है। कानून क्या मार्शल्ला—जंगी कानून है। फाँसी तक की सजा है।"[3]

इस युग के समीक्षक तथा साहित्यकार अंग्रेजी तथा यूरोपीय साहित्य से बुरी तरह प्रभावित थे। वे अंग्रेजी के साहित्य को पढ़कर प्रेरणा लेते थे एवं उनकी धारणा थी कि हिन्दी में जो विकास हो रहा है उसका मुख्य कारण अंग्रेजी शासन है। मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबन्धु-विनोद' में लिखा :—

"अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित होने से जहाँ देश को अन्य अनेक लाभ हुए, वहाँ साहित्य ही कैसे विमुख रह जाता.....जब हम लोगों में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने पर अन्य प्रकार के उन्नत विचार आने लगे, तभी अपनी भाषा की उपयोगी उन्नति की इच्छा भी अंकुरित हुई। बस, भाषा में परिवर्तन-काल उपस्थित हो जाने का यही एक प्रधान कारण था।"[4]

आलोच्य-युग में साहित्यालोचन को सामान्य जनता तक पहुँचाने के लिए तथा जनता की अभिरुचि जगाने के लिए सिद्धान्त की अपेक्षा साहित्य को प्रमुखता दी गई।[5] समाज के प्रथम सृजनात्मक साहित्यक को द्वितीय और समीक्षा को तृतीय स्थान दिया गया था। समीक्षा में तत्कालीन नाटकों तथा अन्य साहित्यिक विधाओं को समक्ष रखकर सिद्धान्त निर्धारण हुआ।[6] समीक्षा के जो उद्देश्य निश्चित हुए उनमें साहित्य की उन्नति, साहित्य को सामान्य जनता तक पहुँचाना, साहित्य को जनप्रिय बनाना, साहित्य की उपयोगिता स्पष्ट करना तथा साहित्य की रमणीय शिक्षाओं द्वारा जीवन को अधिक आनन्दमय बनाने की दिशा दिखाना आदि प्रमुख थे।[7] द्विवेदीजी की साहित्य-कसौटी जनमत पर आधारित होने के कारण व्यक्तिवादी समीक्षा की अपेक्षा सैद्धान्तिक समीक्षा के समाजवादी रूप को ही श्रेष्ठ मानती थी, इसीलिए उन्होंने मिश्रबन्धुओं की भाववादी समीक्षा का खण्डन किया।[8] आर्यसमाज के

---

1. द्विवेदी-पत्रावली, पृ० १३०।
2. मिश्रबन्धु-विनोद : तृतीय भाग : पृ० १०१८-१९ (तृतीय संस्करण)।
3. वही, पृ० १३०।
4. मिश्रबन्धु विनोद : तृतीय भाग : पृ० १०१८-१९ (तृतीय संस्करण)।
5. डा० उदयभानुसिंह : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : पृ० १२०।
6. वही, पृ० १२०।
7. महावीरप्रसाद द्विवेदी : कालिदास और उनकी कविता : पृ० १३।
8. समालोचना समुच्चय : पृ० २०७।

शास्त्रार्थों के समान समीक्षा-क्षेत्र में भी उपस्थापनवाद का यथेष्ट प्रचार हुआ, किन्तु उसका कारण लोकमंगल था[1], सामाजिकता की स्वीकृति का ही परिणाम यह था कि सैद्धान्तिक सामीक्षा में रस[2] को कसौटी के रूप में माना गया।

## समीक्षा में प्रगतिशीलता तथा यथार्थवादी तत्त्व

समीक्षा और युग का सम्बन्ध प्रगतिवाद का एक मान्य तत्त्व है। साहित्य को युग के साथ जोड़ कर देखने वाला समीक्षक प्रगतिशील माना जाता है। कॉडवेल नामक प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक ने काव्य का सम्बन्ध जीवन से माना है। कविता के उद्गम तथा मानव जीवन में उसके स्थान का निश्चय करते हुए उसने कहा है[3] कि प्राचीन काल में लोग सामूहिक रूप से श्रम करते समय उसके भार को कम करते हुए कुछ गाते थे, आगे चलकर यही काव्य का उद्गम सिद्ध हुआ, अन्य कलाओं के विकास में भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए आचार्य द्विवेदी दिखाई देते हैं :

"कविता से विश्रान्ति मिलती है। वह एक प्रकार का विराम-स्थान है। उससे मनोमालिन्य दूर होता है और थकावट कम हो जाती है। चक्की पीसने के समय स्त्रियाँ, काम करने के समय मजदूर आदि श्रम कम करने के लिए गीत गाते हैं। जैसे मनुष्यों के लिए गाने की जरूरत है वैसे ही देश के लिए कविता की जरूरत है।"[4]

साहित्य और उसमें भी विशेषत: उपन्यास को द्विवेदीजी समाज का प्रतिबिम्ब मानते थे—'उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए।'[5] उन्हें उपन्यास में हमारे समग्र समाज का यथार्थवादी चित्र ही इष्ट था।[6] वह उपन्यास की प्राकृतवाद की सीमाओं तक नहीं पहुँचना चाहते थे। उन्होंने घासलेटी साहित्य का तीव्र विरोध किया था और लोकमंगल का ध्यान सदैव रखा। उनकी स्पष्ट मान्यता थी :

"उसमें चोरों, डाकुओं व्यापारियों, दुराचारियों के चित्र दिखाने की क्या जरूरत ? प्रसंग आ ही जाय तो इस तरह के चित्रों की विवृति ऐसे शब्दों से करनी चाहिए जिससे उनका असर पढ़ने वालों पर बुरा न पड़े। दोष समझ कर उनकी विवृत्ति करनी चाहिए। जो उपन्यास लेखक अश्लील दृश्य दिखाकर पाठकों के पाशविक विकारों की उत्तेजना करते हैं, अथवा ऐसे चरित्रों के चित्र खींचते हैं जिनसे दुराचार की वृद्धि हो सकती है, वे समाज के शत्रु हैं।[7]

---

1. हिन्दी शिक्षावली : तृतीय भाग की समालोचना : पृ० २
2. प्राचीन पंडित और कवि : पृ० ३५।
3. इल्यूज़न एण्ड रियलिटी : पृ० १२।
4. सचयन : पृ० ६० (साहित्यकार संघ, प्रयाग)।
5. वही, पृ० १४६।
6. वही, पृ० १४६।
7. वही, पृ० १४७।

यथार्थवादी शैली का एक प्रमुख तत्त्व व्यंग्य है। व्यंग्य का प्रयोग भारतेन्दु-युग में जिस शक्तिशाली आधार और धार्मिकता के साथ हुआ उससे यह आशा बँधती है कि आगे इसका अच्छा विकास हो सकेगा, किन्तु द्विवेदी-युग की समीक्षा उन सभी तत्त्वों को आगे विकसित करने में समर्थ नहीं हुई जो भारतेन्दु-युग में अंकुरित हो चुके थे। हाँ, किसी-न-किसी अंश में उन सबकी स्थिति इस युग में अवश्य मिल जाती है। व्यंग्य का प्रयोग आचार्य द्विवेदी की समीक्षा का शक्तिशाली अस्त्र है, जिसके द्वारा वह साहित्य, संस्था एवं व्यक्ति सबकी बखिया उधेड़ते थे। व्यंग्य की मान्यता स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा—"साहित्य के आचार्यों ने व्यंग्य प्रधान पद्य को सर्वोत्तम माना है। वही नियम गद्य के लिए भी चरितार्थ हो सकता है.....जब वह हमारे लेख को व्यंग्यपूर्ण बतलाता है तब वह अवश्य व्यंग्यपूर्ण होगा। अतः वह सर्वोत्तम गद्य में गिनने लायक हुआ।"[1]

उस समय कांग्रेस आन्दोलन जोर पकड़ने लगा था। हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या उभर कर सामने आ गई थी। महात्मा गांधी हिन्दुस्तानी के समर्थक इसलिए थे कि इस आधार पर राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सकती थी। द्विवेदी-युग ने इस समस्या को उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझा और हिन्दी के विकास के साथ ही देवनागरी लिपि को हिन्दू और मुसलमान दोनों के द्वारा स्वीकार करने की अपील की, क्योंकि यही समस्या का सही समाधान एवं वैज्ञानिक निराकरण था। वैज्ञानिकता को आधार मानने वाले द्विवेदीयुगीन हिन्दी-समीक्षकों ने इस प्रश्न पर भारी जोर दिया है[2]। उर्दू को वे लिपि का भेद मिटाकर हिन्दी के साथ कर लेना चाहते है[3]। उनकी धारणा इन शब्दों से स्पष्ट है—जिसे आप उर्दू कह रहे हैं वह कोई भिन्न भाषा नहीं,[4] भाषा को वह माध्यम मात्र मानने के कारण अप्रमुखता देते थे। वह भाव-पक्ष और रस को मुख्य मानते थे। अभिव्यक्ति की गौणता द्वारा वह भाषा समन्वय एवं हिन्दी-उर्दू के विवाद को समाप्त करने के पक्ष में थे। उन्हें जनपदीय भाषाओं का प्रश्न भी इसी स्तर पर सुलझाना स्वीकार्य था। उन्होंने लिखा :

"कविता यदि सरस और भावमयी है तो उसका अवश्य आदर होगा—भाषा उसकी चाहे ब्रज हो चाहे उर्दू।"[5]

भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण का आधार यथार्थवादी पृष्ठभूमि है। साहित्य जन-भाषा का आधार पा कर ही जन-साहित्य की सीमा तक पहुँच सकता है। उनकी यथार्थवादी मान्यता भाषा और कथा दोनों को लेकर चलती है और उसे काव्य-

---

1. सचयन : पृ० ४८ (साहित्यकार संसद प्रयाग)।
2. वाग्विलास : पृ० ७०।
3. वही, पृ० १८६।
4. महावीरप्रसाद द्विवेदी : वाग्विलास : पृ० १८६।
5. सरस्वती : वर्ष १५, अंक ४ : पृ० २२८।

शास्त्रीय स्तर पर स्वीकार किया गया है। आचार्य द्विवेदी अयथार्थवादी काव्य में रस का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। द्विवेदी-युग की यह अपूर्व सैद्धान्तिक समीक्षा देन निम्न पंक्तियों में मुखर हो उठी है :

'संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसका वैसा ही वर्णन करना चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में भाव आप ही आप पैदा होते हैं। जब वह निडर होकर उन्हें अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा-पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बिना रोक-टोक प्रकट कर दे तो कविता हृदयद्रावक हुए बिना न रहे। परन्तु परतन्त्रता, पुरस्कार प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट के पैदा हो जाने से यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस अतएव प्रभावहीन हो जाती है।"[1]

भाषा में मुहावरों पर विशेष जोर दिया गया है, उन्हें भाषा का प्राण माना गया है।[2] इस दृष्टिकोण को भाषा के सम्बन्ध में प्रगतिशील माना गया। छन्द के सम्बन्ध में उसकी दृष्टि विषयानुकूलता पर टिकी थी।[3] इस प्रकार परम्परा का पालक रूप भी नवीन दृष्टिकोण से समन्वित था। उसने प्रगति की दिशा को समझ लिया था और सम्पूर्ण साहित्य को उसी ओर उन्मुख करने का उद्देश्य निश्चित किया था। समीक्षा-क्षेत्र की मुख्य शक्ति इसी ओर लगी दिखाई देती है।

कला को जीवन से अलग करके देखने वाली कलावादी दृष्टि इस युग को अस्वीकार रही है। द्विवेदी-युग उपयोगितावादी मान्यताओं को लेकर चला है। समीक्षा के क्षेत्र में यह उपयोगितावादी दृष्टि उभर कर सामने आई है। आचार्य द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में लिखा था :

"जिस काव्य से संसार का उपकार-साधन न हुआ वह उत्तम कार्य नहीं कहा जा सकता.....जिस सृष्टि में आमोद-प्रमोद के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं वह काव्य उत्कृष्ट नहीं।"[4]

लेनिन ने साहित्य और कला को सर्वहारा के हाथ का अस्त्र कहा है।[5] उसी के समान आचार्य द्विवेदी भी साहित्य की अमोघ शक्ति की घोषणा करते हुए धार्मिक रूढ़ियों, राजनैतिक दासता, शोषण आदि से मुक्ति दिलाने वाला साहित्य को मानते

---

1. द्विवेदी मीमांसा : पृ० १८६ पर आचार्य द्विवेदी के उद्धरण से उद्धृत।
2. महावीरप्रसाद द्विवेदी : रसज्ञ रंजन : पृ० १८।
3. महावीरप्रसाद द्विवेदी : सचयन : पृ० ५२।
4. महावीरप्रसाद द्विवेदी : कालिदास और उनकी कविता : पृ० ११७ (द्वि० सं०)।
5. आलोचना : अक्टूबर १९५३ : पृ० १५०-१५१ से उद्धृत।

हैं तथा स्वतन्त्रता, विकास, समृद्धि आदि का सहायक घोषित करके इतिहास की साक्षी देते हुए उन्होंने कहा था :

"आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक तथा राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ-की-कुछ कर दी है, शासन-प्रबन्ध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं। यहाँ तक कि अनुदार और धार्मिक भावों को भी उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती.....पोप की प्रभुता को किसने कम किया है ? 'फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयत किसने किया है ? पदाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है ? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने।' यहाँ द्विवेदीजी की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा स्वतन्त्रता आदि के सम्बन्ध में दृढ़ धारणाओं पर सहज ही प्रकाश पड़ जाता है। द्विवेदी-युग इतिवृत-प्रधान माना जाता है जिसमें स्थूल आदर्श की प्रधानता मिलती है। रीतिकालीन मान्यताओं और मांसल चित्रणों को इस युग के समीक्षकों ने अस्वीकार किया। द्विवेदीजी ने संस्कृत काव्य की समीक्षा करते हुए इन वर्णनों को हेय सिद्ध किया, क्योंकि इन कामुक चेष्टाओं के चित्रण से पाठकों के मन में अश्लील भाव जाग्रत होते हैं।[1] मार्क्सवादी दृष्टि से इस मान्यता को प्रगतिशील माना जाएगा।

उपयोगितावाद की कसौटी पर खरी न उतरने वाली किसी भी रचना को वह दोषपूर्ण ठहराते हैं। श्री हर्ष के नैषध-चरित्र की अत्युक्तियों की श्रेष्ठता को अनुपादेय होने के कारण ही वह हेय सिद्ध करते हैं—'श्रीहर्ष की अत्युक्तियाँ ऐसी उत्कृष्ट हैं कि उनके कारण श्रीहर्ष के काव्य को उपादेयत्व न प्राप्त होकर, हेयत्व ही प्राप्त हुआ है।"[2]

द्विवेदी-युग का उपयोगितावाद जहाँ एक ओर यथार्थवाद को गोद में लिए हुए है[3] वहाँ दूसरी ओर लोक-कल्याण भी उस पर सवारी गाँठे हुए है। इन तीनों तत्त्वों का समन्वित रूप निम्न पंक्तियों में कितना सशक्त है :

"जिनको मनुष्य स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनोमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरह है और किस प्रकार की रचना से उसे लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है वे पश्चिमी पण्डितोंके तत्त्व-निरूपण का ज्ञान प्राप्त किये बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।"[4]

---

†. महावीरप्रसाद द्विवेदी, संचयन : पृ० ५०।

1. वही, वाग्विलास : पृ० ३६।

2. वही, पृ० ३९।

3. यथार्थवादी दृष्टिकोण को सर्वश्रेष्ठ स्वीकृति : श्यामसुन्दरदास द्वारा साहित्यालोचन के उपन्यास-प्रकरण में एक तत्त्व की दृष्टि से यथार्थ का विवेचन है।

4. महावीरप्रसाद द्विवेदी : संचयन : पृ० १०।

इस युग में मनोवैज्ञानिक-यथार्थवादी मान्यताएँ समीक्षा में आ गई हैं किन्तु यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि उनका आधार फ्रायड, एडलर, और जुंग की मान्यताओं का शास्त्रीय रूप न होकर कार्य-कारण-सम्बन्ध है। जहाँ मनोविज्ञान में कार्य-कारण-सम्बन्ध स्वीकार किया गया, वहीं वह प्रगतिशील दायरे में आ जाता है।[1] इस दृष्टि से निम्न पंक्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं— उपन्यास में मनुष्यों ही के चरित्रों और मनुष्यों ही के कार्यों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उसमें स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना जरूरी है। बिना इस शास्त्र के ज्ञान के मन की गति और मन की वास्तविक स्थिति नहीं जानी जा सकती। किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा से कैसे काम होता है, अथवा कैसे कारण से कैसे कार्य की उत्पत्ति होती है, इसका यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब मन के विविध भावों और कार्य-कारण-सम्बन्ध का ज्ञान हो।"[2]

द्विवेदीजी ने ऐतिहासिक यथार्थवाद पर भी अपने विचार प्रकट किए और बताया कि यदि विवेच्य-काल की रहन-सहन, आचार-विचार, वस्त्राच्छादन, रीति-रिवाज, राजनीति आदि का चित्रण मात्र किसी कृति में हो तब भी उस कृति को श्रेष्ठ माना जायेगा और आज के मार्क्सवादी समीक्षक के समान उसका वह निज-कालीन समाज की दृष्टि से मूल्य आँकने पर बल देते है। यदि यह ऐतिहासिक यथार्थ आज की दृष्टि से उपादेय (प्रगतिवादी के लिए प्रगतिशील) हो तब तो फिर कहना ही क्या है ? उसे वह सर्वोत्तम मानेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी इस मान्यता का आधार अंग्रेजी समीक्षा है, जिसमें उस समय औपन्यासिक समीक्षा-क्षेत्र प्रगतिशील तत्त्वों से आक्रान्त था। उनके यथार्थवाद का हमें वह रूप यहाँ मिलता है जो मार्क्स और गोर्की की मान्यता का तत्कालीन प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। ( इसका तात्पर्य यह नहीं है कि द्विवेदीजी ने अपने इस निबन्ध को लिखने से पूर्व मार्क्स और गोर्की की यथार्थवादी मान्यताओं का परिचय पा लिया था ) उनके शब्द हैं[3]—"यदि इन पुस्तकों में उस जमाने की रहन-सहन, आचार-विचार, वस्त्राच्छादन, रीति-रिवाज, राजनीतिक चालों आदि ही के दृश्य हों, तो भी पुस्तक अच्छी ही कही जायेंगी।'[4] और, यदि समाज के कल्याण की दृष्टि से उनसे कुछ शिक्षा भी मिलती हो, तो फिर कहना ही क्या है ?"

यथार्थवादी शैली एवं कथ्य द्वारा समस्याओं को उनके सच्चे रूप में उभार कर सामने लाने का काम आचार्य द्विवेदीजी का था। ग्रामीण समाज की सच्ची

---

1. डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कविता : पृ० ४०२।
2. महावीरप्रसाद द्विवेदी : संचयन : पृ० १४०।
3. साहित्य संदर्भ : पृ० १६१।
4. इसे मार्क्स आलोचनात्मक यथार्थवाद कहता है।

दशा, निरक्षरता एवं अज्ञान का वर्णन निम्न पंक्तियों में कितना मार्मिक हो उठा है--"देहात में निरक्षरता का समुद्र उमड़ रहा है। कोसों मदरसों का नाम नहीं। देहातियों को यह भी नहीं मालूम कि मदरसा खोलने के लिए किसको लिखना चाहिए.....गन्दगी का यह हाल है कि कूड़े के ढेर मकानों के चबूतरे से लगे हुए हैं। यह भारत इन्हीं गन्दे गाँवों के अस्तित्व के कारण आबाद है। इन्हीं के सुधार से भारत का सुधार होगा.....याद रहे इन्हीं को सुधारने और इन्ही में शिक्षा-प्रचार करने से भारत की उन्नति होगी।"[1]

द्विवेदी-युग में समीक्षकों और इतिहासवेत्ताओं ने साहित्य का मूल्यांकन करते समय पहली बार राजनैतिक कारणों का प्रभाव स्वीकार किया। श्यामसुन्दरदास ने भारतीय पराधीनता की व्यापक पृष्ठभूमि को स्वीकार कर साहित्य पर उसके अनिवार्य प्रभाव की स्पष्ट घोषणा 'हिन्दी साहित्य' में की। उनकी निम्न पंक्तियों से इस तथ्य की पूर्ण पुष्टि हो जाती है :

"उसके उपरान्त वह युग भी आया जिसमें देश की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई और इसके अधिकांश भाग में विदेशीय तथा विजातीय शासन की प्रतिष्ठा हो गई तब से बहुत दिनों तक थोड़े-बहुत अन्तर से वैसी ही परिस्थिति बनी रही। हमारे सम्पूर्ण साहित्य में करुणा की जो एक हलकी-सी अन्तर्धारा व्याप्त मिलती है वह इसी के परिणामस्वरूप है। पुरानी हिन्दी के समस्त साहित्य में नाटकों, उपन्यासों तथा अन्य अनेक मनोरंजक साहित्यांगों का जो अभाव दिखाई देता है, वह भी बहुत कुछ इसी कारण से है। केवल कविता में ही जनता की स्थायी भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई और वही उनका इतिहास हुआ। सामाजिक मनोरंजन के एक प्रमुख साधन नाटक-रचना का विधान भी न किया जा सका। देश की परतंत्रता सर्वतोमुखी साहित्यिक उन्नति में बाधक ही सिद्ध हुई।'[2]

ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन करते समय तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति, जन-जीवन और साहित्य का अभिन्न सम्बन्ध प्रदर्शित करना श्रेयस्कर माना गया। इस आधार पर बख्शीजी ने निष्कर्ष निकालते हुए लिखा :

"भारतवर्ष में ब्राह्मणों के शासन ने सारे समाज को एक ही भाव से संगठित कर दिया था। हिन्दू नरेशों की क्षमता अप्रतिहत थी। उसका नियम कोई राष्ट्रीय विधान नहीं था। इसका फल यह हुआ कि सर्वसाधारण में राजनीतिक जीवन की स्फूर्ति नहीं हुई। इतिहास और राजनीतिक शास्त्र राजनीतिक जीवन का अनुसरण करते हैं। यही धारणा है कि भारतीय साहित्य में इनका अभाव है।"[3]

---

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी : विचार-विमर्श : पृ० ४०९।
2. श्यामसुन्दरदास : हिन्दी साहित्य : पृ० १९।
3. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : विश्व-साहित्य : पृ० २२।

इस युग में मनोवैज्ञानिक-यथार्थवादी मान्यताएँ समीक्षा में आ गई हैं किन्तु यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि उनका आधार फ्रायड, एडलर, और जुंग की मान्यताओं का शास्त्रीय रूप न होकर कार्य-कारण-सम्बन्ध है। जहाँ मनोविज्ञान में कार्य-कारण-सम्बन्ध स्वीकार किया गया, वहीं वह प्रगतिशील दायरे में आ जाता है।[1] इस दृष्टि से निम्न पंक्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं— उपन्यास में मनुष्यों ही के चरित्रों और मनुष्यों ही के कार्यों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उसमें स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना जरूरी है। बिना इस शास्त्र के ज्ञान के मन की गति और मन की वास्तविक स्थिति नहीं जानी जा सकती। किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा से कैसे काम होता है, अथवा कैसे कारण से कैसे कार्य की उत्पत्ति होती है, इसका यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब मन के विविध भावों और कार्य-कारण-सम्बन्ध का ज्ञान हो।"[2]

द्विवेदीजी ने ऐतिहासिक यथार्थवाद पर भी अपने विचार प्रकट किए और बताया कि यदि विवेच्य-काल की रहन-सहन, आचार-विचार, वस्त्राच्छादन, रीति-रिवाज, राजनीति आदि का चित्रण मात्र किसी कृति में हो तब भी उस कृति को श्रेष्ठ माना जायेगा और आज के मार्क्सवादी समीक्षक के समान उसका वह निज-कालीन समाज की दृष्टि से मूल्य आँकने पर बल देते है। यदि यह ऐतिहासिक यथार्थ आज की दृष्टि से उपादेय (प्रगतिवादी के लिए प्रगतिशील) हो तब तो फिर कहना ही क्या है ? उसे वह सर्वोत्तम मानेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी इस मान्यता का आधार अंग्रेजी समीक्षा है, जिसमें उस समय औपन्यासिक समीक्षा-क्षेत्र प्रगतिशील तत्त्वों से आक्रान्त था। उनके यथार्थवाद का हमें वह रूप यहाँ मिलता है जो मार्क्स और गोर्की की मान्यता का तत्कालीन प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। ( इसका तात्पर्य यह नही है कि द्विवेदीजी ने अपने इस निबन्ध को लिखने से पूर्व मार्क्स और गोर्की की यथार्थवादी मान्यताओं का परिचय पा लिया था ) उनके शब्द हैं[3]—"यदि इन पुस्तकों में उस जमाने की रहन-सहन, आचार-विचार, वस्त्राच्छादन, रीति-रिवाज, राजनीतिक चालों आदि ही के दृश्य हों, तो भी पुस्तक अच्छी ही कही जायेंगी।'[4] और, यदि समाज के कल्याण की दृष्टि से उनसे कुछ शिक्षा भी मिलती हो, तो फिर कहना ही क्या है ?"

यथार्थवादी शैली एवं कथ्य द्वारा समस्याओं को उनके सच्चे रूप में उभार कर सामने लाने का काम आचार्य द्विवेदीजी का था। ग्रामीण समाज की सच्ची

---

1. डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कविता : पृ० ४०२।
2. महावीरप्रसाद द्विवेदी : संचयन : पृ० १४०।
3. साहित्य संदर्भ : पृ० १६१।
4. इसे मार्क्स आलोचनात्मक यथार्थवाद कहता है।

दशा, निरक्षरता एवं अज्ञान का वर्णन निम्न पंक्तियों में कितना मार्मिक हो उठा है--"देहात में निरक्षरता का समुद्र उमड़ रहा है। कोसों मदरसों का नाम नहीं। देहातियों को यह भी नहीं मालूम कि मदरसा खोलने के लिए किसको लिखना चाहिए.....गन्दगी का यह हाल है कि कूड़े के ढेर मकानों के चबूतरे से लगे हुए हैं। यह भारत इन्हीं गन्दे गाँवों के अस्तित्व के कारण आबाद है। इन्हीं के सुधार से भारत का सुधार होगा.....याद रहे इन्हीं को सुधारने और इन्ही में शिक्षा-प्रचार करने से भारत की उन्नति होगी।"[1]

द्विवेदी-युग में समीक्षकों और इतिहासवेत्ताओं ने साहित्य का मूल्यांकन करने समय पहली बार राजनैतिक कारणों का प्रभाव स्वीकार किया। श्यामसुन्दरदास ने भारतीय पराधीनता की व्यापक पृष्ठभूमि को स्वीकार कर साहित्य पर उसके अनिवार्य प्रभाव की स्पष्ट घोषणा 'हिन्दी साहित्य' में की। उनकी निम्न पंक्तियों से इस तथ्य की पूर्ण पुष्टि हो जाती है :

"उसके उपरान्त वह युग भी आया जिसमें देश की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई और इसके अधिकांश भाग में विदेशीय तथा विजातीय शासन की प्रतिष्ठा हो गई तब से बहुत दिनों तक थोड़े-बहुत अन्तर से वैसी ही परिस्थिति बनी रही। हमारे सम्पूर्ण साहित्य में करुणा की जो एक हलकी-सी अन्तर्धारा व्याप्त मिलती है वह इसी के परिणामस्वरूप है। पुरानी हिन्दी के समस्त साहित्य में नाटकों, उपन्यासों तथा अन्य अनेक मनोरंजक साहित्यांगों का जो अभाव दिखाई देता है, वह भी बहुत कुछ इसी कारण से है। केवल कविता में ही जनता की स्थायी भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई और वही उनका इतिहास हुआ। सामाजिक मनोरंजन के एक प्रमुख साधन नाटक-रचना का विधान भी न किया जा सका। देश की परतंत्रता सर्वतोमुखी साहित्यिक उन्नति में बाधक ही सिद्ध हुई।'[2]

ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन करते समय तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति, जन-जीवन और साहित्य का अभिन्न सम्बन्ध प्रदर्शित करना श्रेयस्कर माना गया। इस आधार पर बख्शीजी ने निष्कर्ष निकालते हुए लिखा :

"भारतवर्ष में ब्राह्मणों के शासन ने सारे समाज को एक ही भाव से संगठित कर दिया था। हिन्दू नरेशों की क्षमता अप्रतिहत थी। उसका नियम कोई राष्ट्रीय विधान नहीं था। इसका फल यह हुआ कि सर्वसाधारण में राजनीतिक जीवन की स्फूर्ति नहीं हुई। इतिहास और राजनीतिक शास्त्र राजनीतिक जीवन का अनुसरण करते हैं। यही धारणा है कि भारतीय साहित्य में इनका अभाव है।'[3]

---

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी : विचार-विमर्श : पृ० ४०९।
2. श्यामसुन्दरदास : हिन्दी साहित्य : पृ० १९।
3. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : विश्व-साहित्य : पृ० २२।

लोकमंगल को स्वीकार करने वाली मार्क्सवादी दृष्टि अपना अन्तिम लक्ष्य वर्गहीन, शासन-मुक्त समाज-व्यवस्था मानती है। चूँकि यह दृष्टि भारतीय पुरातन आदेश 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के बहुत पास है। अतः द्विवेदी-युग में इसका रूप हमें आश्चर्य-चकित नहीं करता, जब हम यह घोषणा पढ़ते हैं—'अब हमें विश्व-मंगल की भावना को जगाना पड़ेगा। यही आधुनिक युग का काम है।'[1]

आचार्य द्विवेदी परम्परागत साहित्यिक मानदण्डों की स्वीकृति देने से पूर्व उन्हें तत्कालीन देशकाल और परिस्थिति की अनुकूलता की कसौटी पर कसकर देखने का परामर्श देते थे। नवीन परिवेशगत होने से यदि सिद्धान्तों को बदलना पड़े तो उसे वह अनिवार्य मानते थे। उन्होंने लिखा है—'देश, काल और अवस्था के अनुसार लिखे गये सभी नाटक, जिनसे मनोरंजन और उपदेश मिले, प्रशंसनीय हैं। वे चाहे हमारे प्राचीन आचार्यों के सारे नियमों के अनुकूल बने हों चाहे न बने हों।'[2]

उनकी मान्यता थी कि समीक्षा-सिद्धान्त युगानुरूप होते हैं, अतः आज की परिस्थिति में नए सिद्धान्तों के निर्धारण की अत्यन्त आवश्यकता है। मार्क्सवादियों के समान द्विवेदीयुगीन समीक्षक साहित्य को जातीयता का परिणाम मानता था एवं साहित्य से जाति को प्रभावित होता हुआ भी देखता था अर्थात् उसे जाति और उसका साहित्य अन्योन्याश्रित रूप में ही मान्य थे।[3]

भारतेन्दु-युग में सामाजिक परिवेश तथा आर्थिक सम्बन्धों को समीक्षा का स्पष्ट आधार नहीं बनाया गया था। द्विवेदी-युग में न केवल हिन्दी कविता की समीक्षा इस दृष्टि से की गई वरन् संस्कृत कविता तक को इसी दृष्टिकोण से जाँचा और परखा गया। कालिदास का मूल्यांकन करते हुए आचार्य द्विवेदी ने समस्त संस्कृत काव्य पर दृष्टिनिक्षेप किया है। बाल्मीकि के सम्बन्ध में उनके निर्णय इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। उन्होंने लिखा है—'काव्य की रचना और उसमें उल्लिखित कई विषयों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि बाल्मीकि की रचना के समय भी देश की राजनैतिक और सामाजिक अवस्था वैसी ही थी जैसी व्यास के समय में थी।'[4]

संस्कृत-काव्य में जहाँ-कहीं उस परिवेश का यथार्थवादी अंकन हुआ है उसकी आचार्य द्विवेदी ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। व्यासजी की प्रशंसा का रहस्य उनकी दृष्टि में यह है—'उन्होंने अपने समय की सभ्यता को हम लोगों के सामने आईने की तरह रख दिया है।'[5] इसी प्रकार कालिदास का मूल्यांकन यथार्थवाद के आधार

---

1. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : विश्व-साहित्य, पृ० ५९।
2. नाटयशास्त्र : पृ० २९।
3. श्रीधर पाठक : पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कार्यक्रम, दूसरा भाग : पृ० १७।
4. महावीरप्रसाद द्विवेदी : कालिदास और उनकी कविता ; पृ० ८५ (द्वि० सं०)।
5. वही, पृ० ८८।

पर किया है—'व्यास के कोई हजार वर्ष बाद कालिदास उत्पन्न हुए। उन्होंने भी अपने समय की सामाजिक अवस्था के बहुत ही अच्छे चित्र खींचे हैं.....कालिदास का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब देश में..... सार्वजनिक कामों में सर्वत्र शिथिलता दिखाई देती थी।.....लोगों के जीवन में विलासिता घुस गई थी। वह जीवन और सौन्दर्य ही को सब-कुछ समझने लगे थे – उनका उन्हें बड़ा अभिमान था।'[1]

समीक्षा का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए भी द्विवेदीजी ने प्रगतिशील दृष्टिकोण को स्वीकृति प्रदान की है। वह समीक्षक के कर्तव्य की स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि उसे किसी भी कृति को उसके परिवेश में रखकर मूल्यांकित करना चाहिए अन्यथा समीक्षा के उद्देश्य की पूर्ति न हो सकेगी—'किसी वस्तु या विषय के सब अंशों पर अच्छी तरह विचार करने का नाम समालोचना है। वह तब तक सम्भव नहीं जब तक कवि और समालोचक के हृदयों में कुछ देर के लिए एकता न स्थापित हो जाए। कवि की कविता किस समय की है उस समय देश की क्या दशा थी? तत्कालीन लोगों के आचार-विचार और व्यवहार कैसे थे—इन बातों को अच्छी तरह जाने बिना समालोचना करते समय समालोचित लेख के कर्त्ता पर अन्याय होने का बड़ा डर रहता है।'[2]

जहाँ कहीं अवकाश मिला है, द्विवेदीजी ने अपनी समीक्षा में तत्कालीन शासन-व्यवस्था एवं राजनैतिक स्थिति पर चुभता हुआ व्यंग्य कसके अपनी समीक्षा के परिवेश का अच्छा परिचय दिया है। कालिदास के 'कुमारसम्भव' में वर्णित शिव से भेंट करने वाले देवताओं की हेयता स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है :

"आजकल गवर्नमेंट के पोलिटिकल महकमे ने जिस तरह स्वदेशी राजाओं की इज्जत-आबरू को तोल कर सबकी सलामी और मुलाकात वगैरह के कायदे बनाये हैं, जान पड़ता है, वैसे ही कायदे कालिदास के जमाने में भी थे।'[3]

कालिदास-युगीन भारत का चित्र प्रस्तुत करते हुए आचार्य द्विवेदी इसकी तुलना आज के भारत से करने लगते हैं। उनका देश-प्रेम तथा समाज की वर्तमान दुरावस्था-मुक्ति-कामना अत्यन्त तीव्र तथा भावुकतापूर्ण है। उनकी समीक्षा ऐसे स्थानों पर व्यंग्यपूर्ण हो उठती है, देखिए—"इस दृश्य का मुकाबला वर्तमान समय के विद्यालय सम्बन्धी दृश्य से कीजिए। आकाश-पाताल का अन्तर है। है या नहीं? इसी से कहते है कि—भारत! तुम कुछ के कुछ हो गए।"[4] इन पंक्तियों में समीक्षक वर्तमान हीनता से कितना व्यथित है और उसके शब्दों में नई पीढ़ी के कवियों और

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी; कालिदास और उनकी कविता : पृ० ८८-८९।
2. वही, पृ० ११२।
3. वही, पृ० १४७।
4. वही, पृ० १६६।

कलाकारों के लिए कितनी मार्मिक चेतावनी है ? तत्कालीन शिक्षा-पद्धति पर किया गया व्यंग्य अलग ही अपनी छटा दिखा रहा है।

तत्कालीन समाज-दशा एवं परिवेश में से जो कुछ अशिव है उसे दूर करने का प्रयास व्यंग्य द्वारा किया गया। मंगलकारी तत्त्वों को ही प्रगतिशील मानकर उन्हें सामाजिक स्तर पर स्वीकृति दी गई। पश्चिम की जागृति से प्रेरित होकर भारतीय समाज को जगाने का उत्तरदायित्व इस युग की समीक्षा ने समझा। हरिप्रसाद के 'आशावाद' निबंध में हमें ये सभी तत्त्व एक स्थान पर मिल जाते हैं :

"भारतवर्ष अपने को एक बन्द पानी का तालाब बनाकर और उसमें प्राचीन समय के कीड़े-मकोड़े पैदा करके बीसवीं शताब्दी में उन्नति नहीं कर सकता। उसे समय के साथ चलना होगा। हमारी जाति में जीवन के चिह्न हैं, जिन्हें काम में लाने की आवश्यकता है और आवश्यकता है इस बात की, कि पश्चिमी सभ्यता का अनुसरण हो।"[1]

आचार्य द्विवेदी का व्यंग्य सोद्देश्य होता था और इस सोद्देश्यता को उन्होंने स्वयं भी स्वीकृति दी है।[2] उनके व्यंग्यपूर्ण आलोचनात्मक निबंधों में सरकार द्वारा प्रदत्त स्वायत शासन की नगण्यता तथा मिले हुए अधिकारों के दुरुपयोग पर छींटाकशी दर्शनीय है। वह इसका कारण स्पष्ट करते हुए निर्वाचन व्यवस्था की वास्तविकता प्रकट करते है, जिसमें केवल अयोग्य व्यक्ति ही चुनकर आगे आ जाते हैं। यदि कुछ योग्य भी आते हैं तो वे अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठ पाते। द्विवेदीजी ने अर्द्ध स्वायत शासन का विरोध इसलिए किया कि वह पूर्ण स्वशासन चाहते थे।[3]

कला और साहित्य का विकास होना तब ही माना गया जबकि स्वतंत्रता हो। अतः स्वतंत्रता की आकांक्षा राजनैतिक स्तर पर ही नहीं सांस्कृतिक स्तर पर भी स्वीकार की गई और समीक्षकों को परोक्ष रूप से यह सुझाया गया कि आज साहित्य का उद्देश्य भी भारतीय समाज को विदेशी दासता से मुक्त करना है और यह उत्तरदायित्व समीक्षा पर आ गया कि वह अनुकूल तत्त्वों को प्रोत्साहित तथा विपरीत तत्त्वों को निरुत्साहित करे। बख्शीजी ने इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त निरूपित करते हुए लिखा—"कला की उन्नति के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है। जो जाति दासत्व की शृंखला से बँधी होती है, उसकी चित्तवृत्ति का स्वातंत्र्य भी नष्ट हो जाता है। उसकी मानसिक शक्ति कुण्ठित हो जाती है। विजय की भावना से उद्दीप्त होकर मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है, तब वह प्रकृति के ऊपर भी अपना कर्तृत्व प्रकट कर देना चाहता है। तभी उसकी इच्छा होती है कि

---

1. मर्यादा : फरवरी १९१९ ई०।
2. सरस्वती : वर्ष १६, अंक १ : पृ० ६१।
3. द्विवेदी मीमांसा : पृ० १८४-१८५।

प्राकृतिक सौन्दर्य पर भाव को प्रतिष्ठित कर उसे किस प्रकार अधिक सुन्दर करें।"[1] समीक्षाओं के सामने युग-यथार्थ की ओर ध्यान आकृष्ट करने का महत् उद्देश्य था इसके लिए जहाँ वे वर्तमान से असन्तोष प्रकट करते थे, वहाँ भूतकाल के गौरव का वर्णन करना समीचीन समझते थे। मैथिलीशरण गुप्त ने इस सम्बन्ध में युग के उद्देश्य को स्पष्ट रूप से अंकित किया :

"मंगलमय भगवान् की कृपा से हम भारतवासियों में कुछ-कुछ स्वदेशानुराग की जाग्रति के चिह्न दिखाई पड़ने लगे हैं। किन्तु हमारी वर्तमान दशा ऐसी नहीं है कि उस पर विशेष अभिमान किया जा सके। ऐसी दशा में अपने अतीत के गौरव की ओर ध्यान होना आवश्यक ही है.....यदि सौभाग्य से किसी जाति का अतीत गौरव-पूर्ण हो और वह उस पर अभिमान कर सके तो उसका भविष्य भी गौरवपूर्ण हो सकता है.....पतित जातियों को, उनके उत्थान में, उनके अतीत गौरव का स्मरण बड़ा सहायक होता है। आत्मविस्मृति अवनति का मुख्य कारण है और आत्मस्मृति ही उन्नति का।"[2] इस भूतकालीन गौरव की मान्यता को स्वातन्त्र्य के साथ जोड़ने के लिए उन्होंने यह आवश्यक समझा था कि भारत को इंग्लैंड के, भारतीयों का अंग्रेज़ों के और भारतीय साहित्य की परम्परा को अंग्रेजी साहित्य के सामने रख कर तुलना की जाय, और यहाँ तक कि अंग्रेज की अपेक्षा अपने को सांस्कृतिक दृष्टि से श्रेष्ठ दिखाने के लिए वे आगे बढ़े। तुलसीदास को शेक्सपियर से श्रेष्ठ मानते हुए मिश्र-बन्धुओं ने लिखा :

"अंग्रजी कविता के चूड़ामणि महाकवि शेक्सपियर (१६३१ से १६७६) की उपमा प्रायः इनसे दी जाती है और कतिपय अंग्रेज लेखकों ने ममतावश उसे इनसे भी कुछ बड़ा माना है.....परन्तु कुल बातों पर ध्यान देने से गोस्वामीजी में उससे अधिक चमत्कार पाया जाता है।"[3]

तुलानात्मक दृष्टि से उन्होंने भारतीय समाज की पुरातन और वर्तमान स्थितियों की तुलना की और उसके द्वारा वर्तमान को अधिक रम्य, स्वतंत्र तथा स्वावलम्बी बनाने पर बल दिया। इस तुलना की तह में आर्थिक शोषण है—'जिस भारत के जहाज महासागरों को पार करके अपने वाणिज्य की वस्तुओं से दूसरे देशों को पालते थे वही भारत आज सुई और दियासलाई तक के लिए विदेशों का मुहताज हो रहा है। यह सब उसी के कृत कर्मों का परिपाक है।"[4]

नवीन समाज-व्यवस्था में जब तक श्रम-निष्ठा की स्थापना नहीं होती तब तक श्रमिकों और किसानों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। श्रम-निष्ठा के सम्बन्ध में

---

1. पदुमलाल मुन्नालाल बख्शी : विश्व-साहित्य : पृ० १०
2. सियारामशरण लिखित 'मौर्य विजय' की भूमिका से—लेखक मैथिलीशरण गुप्त।
3. मिश्रबन्धु विनोद : प्रथम भाग : पृ० ११३-११४ (तृतीय संस्करण)।
4. पुरातत्व प्रसंग : भूमिका।

इस युग की मान्यता इन शब्दों में स्पष्ट हुई—"यदि मनुष्य अपने काम से प्रेम करने लगे, जैसे मनुष्य को खेलने में आनन्द आता है, वैसे ही यदि काम करने में आनन्द आने लगे, जैसे आजकल संसार काम से दूर भागना चाहता है, वैसे वह काम से घृणा न करे, तो संसार की सारी थकावट और अशांति, जो चारों ओर फैलती जा रही है, बात-की-बात में दूर हो सकती है।"[1]

नारी उत्थान का स्वर इस युग में राजनीति के समान ही समीक्षा में भी मुखर हुआ और पुरुष की अपेक्षा अधिक गरिमा दिलाने के लिए ही उर्मिला आदि उपेक्षिताओं की ओर ध्यान आकृष्ट कराया गया। इस समीक्षा का सृजनात्मक साहित्य से गहरा सम्बन्ध सिद्ध हुआ। जिसके उदाहरण 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' आदि प्रसिद्ध महाकाव्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

समय की गति एवं विकास के सही चरणों को समझ कर युग-आचार्य द्विवेदी ने नए और पुराने सभी कवियों को परामर्श दिया था कि वे पद्य की भाषा भी गद्य के समान खड़ी बोली को अपनाएँ, क्योंकि गद्य और पद्य की भाषाएँ अलग-अलग न होकर एक हों—इसे आवश्यक ठहराया गया।[2]

द्विवेदी-युग की मानवतावादी मान्यता पर काम्टे के मानवतावाद का प्रच्छन्न प्रभाव माना जा सकता है। काम्टे की मान्यता है कि सामाजिक जीवन का विकास मानवतावादी धर्म के द्वारा ही हो सकता है।[3] इस मानवतावाद के जो लक्षण भारतेन्दु-युग में दिखाई दिए उनका विकसित रूप ही द्विवेदी-युग की देन है। आचार्य द्विवेदी मानव के विकसित रूप को ही 'नारायण' कहते थे। वाशिंगटन के लोकसेवक रूप के सम्बन्ध में वह लिखते हैं कि बुकर टी० वाशिंगटन का जीवनचरित्र पढ़कर कहना पड़ता है कि 'नर जो पै करनी करे तो नारायण हो जाय।' उनकी मानवतावादी मान्यता ही उन्हें अछूतों की शोषित दशा से क्षुब्ध बनाती थी—"यद्यपि हमारे देश में अमेरिका के समान दासत्व नहीं है, तथापि वर्तमान समय में, अस्पृश्य जाति के पाँच करोड़ से अधिक मनुष्य सामाजिक दासत्व का कठिन दुःख भोग रहे हैं।"[4]

इस युग का मानवतावाद प्रगतिशील तथा निम्न वर्ग के साथ सहानुभूति लेकर चलने वाला है जिसे मनोविज्ञान का आश्रय भी उपलब्ध है। मिश्रबन्धुओं ने शूर्पणखा के चरित्र को परम्परा से ऊँचा उठा कर मानवीय धरातल पर स्थित करने का प्रयास किया—"शूर्पणखा का चरित्र ऐसा बुरा न था, जैसा साधारण लोग समझते हैं। वह रामचन्द्र से व्यभिचार करने न गई थी, वरन् नियमपूर्वक विवाह चाहती थी। अपना विधवा होना प्रकट न करना उसका आदिम अपराध था।

---

1. विश्व साहित्य : पृ० १६२।
2. रसज्ञरंजन : पृ० ७-८।
3. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका : भाग ६ : पृ० १६४।
4. द्वि० मी० : पृ० २६६।

लक्ष्मण से भी विवाह करने पर झट से राजी हो जाना कुछ अनुचित कहा जा सकता है, किंतु वह भी एक शूर और सुपात्र थे, और जब उनके बड़े भाई ने इसका विचार मानकर इसे उनके पास भेजा, तब इसका वहाँ जाना अनुचित भी न था। इसके साथ भगवान का व्यवहार योग्य नहीं कहा जा सकता।[1]

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने न केवल मानवतावादी समीक्षा का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया वरन् मानवतावादी समीक्षा-सिद्धान्तों का भी सृजन किया। वह भगवान रामचन्द्र के चरित्र को इस लिए महान् नहीं ठहराना चाहते कि वह अवतारी हैं, वरन् इसलिए कि इनमें मनुष्योचित गुण हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी मानवतावाद है। वह इस कसौटी को स्वीकार करते हुए लिखते हैं :

'रामचन्द्र ईश्वर थे, पर आए थे वह मनुष्य के ही रूप में। उनमें मनुष्योचित्त गुण थे। वह पुत्र थे, भ्राता थे, स्वामी थे। उन्होंने मनुष्यों के सुख-दुख और आशा-निराशा का अनुभव किया था.....कौशल्या की तरह हम भी हाथ जोड़ कर कहते हैं—"भगवन ! आप अपना विश्वरूप मत दिखाइए। ईश्वर के रूप में मत आइए। हमें आप तपस्वी रूप में ही दर्शन दीजिए।"[2]

## समीक्षा में अन्तर्भूत कुछ अन्य मार्क्सवादी तत्त्व

मार्क्सवादी मान्यताओं में विकासवाद प्रमुख है। डारविन के सिद्धान्त को मार्क्स, ऐंगिल्स, लेनिन आदि ने स्वीकार किया है। द्विवेदीजी ने विकासवाद पर सीधा तो कुछ लिखा नहीं है, किन्तु 'अमीबा' पर एक लेख सरस्वती में अक्तूबर १९२३ ई० में लिखा जिसमें उन्होंने माना कि सम्भवत: जीवन इसी प्राणी से प्रारम्भ हुआ होगा। उनकी सम्भावना इन शब्दों में स्पष्ट है—"जीवन-शक्ति का जैसा विकास उस पदार्थ में देख पड़ता है वैसा अन्यत्र नहीं। जान पड़ता है, मानो जीवन का आदि लीला-क्षेत्र यही है।'[3]

विकासवादी मान्यताएँ समीक्षा में भी प्रयुक्त हुई हैं। भाषा-विकास के सिद्धान्त को इसी पर आधारित किया गया है। सांसारिक परिवर्तन को वे विकास की दिशा में समय का कदम मानने के कारण ही स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है "समय के अनुसार मनुष्य की इच्छा और अपेक्षा में भी अन्तर होता जाता है। इससे उसे सांसारिक परिवर्तन नहीं खलते।'[4] वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत ही विकासवाद और उसके आधार विकास को द्वन्द्व पर आधारित माना गया है। वह परिवर्तन को मान्यता देता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है। यह विकास प्रकृत, समाज, विचार तथा

---

1. हिन्दी नवरत्न ; पृ० ११६ (सप्तम संस्करण)।
2. प० पु० बख्शी : विश्व-साहित्य : पृ० ७३-७४।
3. महावीरप्रसाद द्विवेदी : लेखांजलि : पृ० १६ (प्रथम संस्करण)।
4. वही, वाग्विलास : पृ० ८५।

साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में होता है। इस मान्यता को साहित्य के क्षेत्र में स्वीकार करते हुए श्यामसुन्दरदासजी ने लिखा, 'समय परिवर्तनशील है और समय के साथ देश तथा जाति की स्थिति भी बदलती रहती है। जनता के इसी स्थिति-परिवर्तन के साथ उसकी चित्तवृत्तियाँ भी और की और हो जाती हैं। साथ ही साहित्य भी अपना स्वरूप बदलता चलता है।"[1]

जिस वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति का सूत्रपात पं० बालकृष्ण भट्ट की 'वेद' विषयक समीक्षाओं में हुआ था उसी का विकसित रूप द्विवेदी-युग की समीक्षाओं में भी देखने को मिल जाता है। स्वयं द्विवेदीजी ने वेद पर विस्तार से लिखा है। वेद को द्विवेद जी मानवकृत मानते हैं न कि ईश्वर कृत। इसके लिए उन्होंने तर्क-पद्धति का सहारा लिया है— 'यदि वेद ईश्वर प्रोक्त होते, तो क्या ईश्वर कभी तो यह कहता कि इन्द्र है और कभी यह कहता कि इन्द्र है ही नहीं.....इसे ध्रुव सत्य समझो कि वेद मनुष्य प्रणीत हैं।"[2]

द्विवेदीजी युगद्रष्टा साहित्य मनीषी थे। उन्होंने समझ लिया था कि जिस प्रकार की मनोवृत्ति वाले लोग कांग्रेस से आ रहे हैं और जिन निहित स्वार्थों के कारण वे विदेशी वस्त्र का बहिष्कार कर रहे हैं उसका परिणाम यह होगा कि स्वराज्य मिलने पर भी निर्धन मजदूरों और किसानों का शोषण समाप्त नहीं होगा, इसके लिए तो अभी से किसानों की दशा सुधारने का उद्देश्य भी कांग्रेस का हो—यह आवश्यक है। द्विवेदीजी ने कांग्रेस की यह दृष्टि न होने के कारण उसकी भी तीव्र आलोचना की और लिखा—"यदि देश-भक्ति का अर्थ देश में रहने वालों पर भक्ति करने से, तो देशवासियों में अधिक संख्या किसानों की है। परन्तु देश की उन्नत्ति के लिए अब तक जो प्रयत्न किया गया है और इस समय भी जो किया जा रहा है, उससे कितनों का सम्बन्ध किसानों से है? हर साल जो यह कांग्रेस होती है, उसने आज तक किसानों पर कितनी भक्ति प्रकट की है?[3]

इस युग का साहित्यिक जागरूक और आर्थिक शोषण को स्वतन्त्रता से भी प्रथम स्थान देने लगा था तभी तो हरिहरनाथ ने आर्थिक शोषण के मूल आधारों को समझकर उन पर चोट की है।[4] समीक्षक खादी का समर्थक इसलिए था कि वह हमें वस्त्र के क्षेत्र में स्वावलम्बी बनाती थी।[5] तथा उससे निर्धन और बेसहारा लोगों की जीविका का आधार बन रहा था। इसे राजनैतिक स्तर पर श्रम की स्थापना कहा जा सकता है।

---

1. श्यामसुन्दरदास; हिन्दी साहित्य : पृ० २०।
2. महावीरप्रसाद द्विवेदी : साहित्य संदर्भ : पृ० १५७।
3. वही विचार-विमर्श : पृ० ४०२।
4. 'श्री शारदा' वैसाख सं० १९८०।
5. महावीरप्रसाद द्विवेदी : विचार-विमर्श : पृ० ३४४।

मार्क्सवाद का महत्त्वपूर्ण तत्त्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। विज्ञान को भावी भारतीय समाज का आधार बनाने वाले समीक्षक प्रवर आचार्य द्विवेदी शिक्षा के क्षेत्र में विज्ञान पर सर्वाधिक जोर दे रहे थे—"हम लोगों को उदरपूर्ति के लिए पहले प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय में हमारा एकमात्र त्राता विज्ञान है। वैज्ञानिक शिक्षा को स्पेन्सर ने इसीलिए प्रधानता दी है और सब तरह की शिक्षाओं में इसी को सबसे अधिक उपयोगी बताया है। इस शिक्षा की ओर ध्यान देना प्रत्येक भारतवासी का परम कर्तव्य होना चाहिए।"[1]

मार्क्सीय काव्यशास्त्रीय मान्यताओं में यह माना गया है[2] कि यद्यपि सारा ऊपरी सांस्कृतिक ढाँचा आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित होता है, किन्तु एक बार रूप निर्माण हो जाने पर साहित्य-परम्परा अर्थशास्त्र के नियमों से नियमित न होकर अपने ही नियमों से संचालित होने लगती है। इस मान्यता का द्विवेदी-युगीन रूप कितना जागरूक एवं सौष्ठवपूर्ण हैं, यह देखते ही बनता है—"यद्यपि साहित्य का समाज की विभिन्न स्थितियों से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, परन्तु वह सम्बन्ध ऐसा यांत्रिक तथा कठोर नहीं होता कि साहित्य स्थितियों की अवहेलना न कर सके और स्वतन्त्र रीति से उसका विकास न हो सके।"[3]

मनोविज्ञान ने बौद्धिकता तथा विज्ञान-प्रधान दृष्टिकोण के प्रभाव में हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र में नवीन प्रगतिशील सिद्धान्तों की स्थापना हुई। धर्म और उपासना के तत्त्वों का वैज्ञानिक-ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन हुआ। आगे चल कर मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्री आचार्य काडवेल ने काव्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वे हमें हिन्दी समीक्षा के पूर्वरूप में दिखाई पड़ जाते हैं।[4] १९वीं शताब्दी में यूरोप जिस कलावाद से आक्रान्त था हिन्दी समीक्षक उसके विरोध की भूमिका उसका प्रभाव आने से पूर्व ही बनाने लगा था। वह साहित्य को जीवन से अधिकाधिक सम्बन्धित मानने लगा और मानव जीवन से पृथक् होने की घोषणा करने वाली कला को ही उसने महत्त्वहीन ठहरा दिया - "कला के साथ हमारे जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव-जीवन से पृथक् कर देने पर कला का महत्त्व नहीं रहता।"[5]

इतिहास के विकास का आधार बरुशीजी ने संघर्ष माना है। इस संघर्ष में वह पुनरावृत्ति की परम्परा-प्राप्त मान्यता का विरोध करते हैं और उसकी नवीन

---

1. 'शिक्षा' : भूमिका : पृ० ४-५।
2. डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कविता : पृ० ३७० ३७१।
3. श्यामसुन्दरदास : हिन्दी साहित्य : पृ० २३-२४।
4. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : विश्व साहित्य : पृ० ४।
5. वही, पृ० ८।

व्याख्या देते हैं जो ऐतिहासिक भौतिकवाद के बहुत नजदीक है—"प्रत्येक काल के भिन्न-भिन्न आदर्शों में एक प्रकार का संघर्षण होता रहता है। आदर्शों के इस पारस्परिक संघर्षण से समाज का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है।"[1] इस संघर्षण को आधार मान कर इतिहास की विवेचना की गई जिसके फलस्वरूप साहित्य की समीक्षा तथा कवियों का मूल्यांकन ऐतिहासिक दृष्टि से किया जाने लगा। इससे पूर्व मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' में भक्तिकाल और रीतिकाल के कवियों की विशेषताओं को उद्घाटित करते हुए उनकी राजनैतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि देना अनिवार्य समझा था।[2] रीतिकालीन कविता में तत्कालीन आर्य-साम्राज्य की स्थापना का दर्प स्वीकार करते हुए उन्होने लिखा था—"ऐसे दर्पपूर्ण प्रतिभाशाली सुकाल में साहित्य की विशदोन्नति परमस्वाभाविक थी और वह हुई भी। .....भूषण और देव वाले काल में उत्साह की मूर्ति खड़ी हो गई और वीर-रस ने हिन्दी साहित्य को एक बार कुछ समय के लिए समारोही करके छत्र मुकुट से सुशोभित कर दिया।'[3]

हिन्दी साहित्य के इतिहास की जो प्राचीन परम्परा एक युग को दूसरे से अलग करके देखने की थी वह बदलने लगी। साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों को स्वीकार कर लेने और विकासवाद के सिद्धान्त की परोक्ष स्वीकृति से इतिहास विकास का क्रम स्वीकार करके चलने लगा।[4] इतिहास के इस विकास को आर्थिक आधारों पर टिकाया गया, जिसकी आंशिक स्वीकृत मिल जाती है—"बंगाल की दोहरी शासन-प्रणाली (double government) के कारण जो दुर्दशा थी, वह तो थी ही, मराठों के उत्पात और अंग्रेजों की व्यापारिक नीति से उसकी और भी शोचनीय स्थिति हो गई। नए बन्दोबस्त से जमींदारों को धक्का लगा और किसानों पर कड़ाई से कर लेने की प्रथा चल निकली। इस तरह व्यापार और कृषि के चौपट हो जाने से जनता की आर्थिक दुरवस्था भीषण हो गई और बेकारी के कारण ठगी का आश्रय लिया जाने लगा।[5]

इतिहास-विवेचन तथा काव्यालोचन में निम्न तथा शोषित वर्ग के साथ संवेदना दिखाई गई है। शोषितवर्ग के पात्रों का महत्त्व तथा उनकी चरित्रगत महानताएँ दर्शाकर उन्हें मानवीय भूमिका पर स्थापित किया गया है। मिश्रबन्धुओं ने मथरा के माध्यम से— दास-दासी वर्ग को निन्दा-मुक्ति प्रदान की है—"मंथरा का शीलगुण हिन्दू-समाज ने बिना उचित कारणों के ही बुरा समझा है.....जब दशरथ कैकयी

---

1. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : विश्व साहित्य : पृ० १९।
2. मिश्रबन्धु विनोद : द्वितीय भाग : पृ० ३८१-३८२।
3. वही, पृ० ३८२।
4. श्यामसुन्दरदास : हिन्दी साहित्य : दूसरा अध्याय।
5. वही. पृ० ४५।

के प्रतिकूल हुए तभी वह उनके खिलाफ गई, पहले नहीं। फिर निष्कपट भाव से स्वामिनी का भला चाहा, अथवा अपने लिए कुछ न माँगा। उसके कठिन कोप की भी परवाह न करके उसी का हित-साधन किया। इसकी सलाह के परिणाम अवश्य बुरे हुए किन्तु इसका विचार नीचा या स्वार्थी न था। हम इसे कदापि विशेष निंद्य नहीं समझते।"[1]

वर्गाधारित समाज का साहित्य वर्गवादी होता है। वह एक साथ शोषक और शोषित दोनों वर्गों का पक्ष नहीं ले सकता, अतः मार्क्सवादी उसी साहित्य को प्रगतिशील मानते हैं जो वर्ग-संघर्ष को बढ़ाने तथा समाज को क्रान्ति की ओर अग्रसारित करे। द्विवेदी युग की समीक्षा में वर्ग-संघर्ष की परोक्ष स्वीकृति इन पंक्तियों में देखी जा सकती है —"प्राचीन युग में व्यक्ति और समाज का संघर्षण था, और वही मध्य युग में भी विद्यमान रहा। इसी प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीयता के प्रधान होने पर व्यक्ति और समाज का संघर्ष लुप्त नहीं हुआ। अब सभी देशों में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में संघर्षण हो रहा है।"[2]

साहित्य में वर्णित प्रकृति की सजीवता का विश्लेषण करते हुए उसका आधार भौतिक माना गया जो परोक्ष रूप से उत्पादन और विनिमय से नितान्त भिन्न नहीं कहा जा सकता। इसे परस्पर आदान-प्रदान का सम्बन्ध कहा गया है—"प्रकृति उन्हें छाया देती थी, फल-फूल प्रदान करती थी, कुछ समिधा भी ला देती थी। उनके दैनिक जीवन के साथ प्रकृति का आदान-प्रदान का सम्बन्ध था। फिर प्रकृति उनके लिए निर्जीव और शून्य कैसे होती ?"[3]

आज की समाज-व्यवस्था में यन्त्रविज्ञान पर आधारित पूँजीवाद शोषण कर रहा है। इसके दो पहलू हैं, एक विकास का दूसरा संघर्ष के उग्र होने पर विकास के रुक जाने से उसके प्रतिक्रियावादी रूप का। पूँजीवाद एक ओर जीवन को सुखमय बनाता है तो दूसरी ओर सर्वहारा का शोषण करता है। पूँजीपति शोषण-यन्त्र द्वारा करता है। इस युग में महात्मा गाँधी ने यन्त्र का विरोध किया था। सामान्यतः निम्न उद्धरण से लगता है जैसे गाँधीवादी दर्शन की मान्यता का खण्डन करते हुए बख्शीजी यन्त्र को दोषमुक्त सिद्ध करते हों और शोषण का आधार उत्पादन और विनिमय का असन्तुलन मानते हों। वह शिल्पवाद और मनुष्यों के पाशविक अत्याचार में कोई वास्तविक अनिवार्य सम्बन्ध नहीं मानते। उनकी धारणाएँ मार्क्सवाद के अति निकट हैं। उन्होंने लिखा है—"कल-कारखानों के आविष्कार से नाना प्रकार की शिल्पोन्नति होने के कारण आज जीवन बहुत ही सुखमय हो रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि इस

---

1. हिन्दी नवरत्न : पृ० ११९ (सप्तम संस्करण)।
2. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : विश्व-साहित्य : १९।
3. वही : पृ० २४।

फूल के काँटे के भाँति पूँजीवाद का जन्म हुआ है, जिसके कारण पूँजीपतियों ने श्रमजीवियों का खून चूसना अपना धर्म समझ रखा है। .....पूँजी-प्रधान शिल्पवाद ने इस भूतल पर प्रकाश्य एवं अप्रकाश्य रूप से अनेक युद्ध ठान दिए हैं, अनेक पिछड़े हुए देशों को दासता और अत्याचार की भयंकर बेड़ियों से जकड़ दिया है..... वैज्ञानिक 'पूँजी-प्रधान शिल्पवाद और मनुष्यों के पाशविक अत्याचार में कोई वास्तविक अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।"[1]

आचार्य द्विवेदी सन् १९२० तक आते-आते यह स्पष्ट रूप से समझने लगे थे कि आगे प्रगति का अर्थ होगा सामान्य की ओर दृष्टि। उन्होंने तत्कालीन कवियों को भविष्य का दर्शन कराते हुए बताया था कि विशिष्ट की अपेक्षा सामान्य पर ध्यान केन्द्रित करना समुचित होगा। श्रीमानों की अपेक्षा मिल से निकले हुए मैले मजदूरों को ही काव्य का नायक बनाना उन्हें श्रेयस्कर प्रतीत होता था और वह उसी में सौन्दर्य का दर्शन करने लगे थे—"अभी तक वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखाने से निकले हुए मैले मजदूरों को अपने काव्य का नायक बनाना चाहता था.....परन्तु अब वह क्षुद्रों की भी महत्ता देखेगा और तभी जगत् का रहस्य सबको विदित होगा.....जो साधारण है वही रहस्यमय है, वही अनन्त सौन्दर्य से युक्त है।"[2]

इस सारे विवेचन से हम यह समझ सकते हैं कि भारतेन्दु-युगीन प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ इस युग में आकर एक निश्चित स्वरूप ग्रहण करने लगी थीं, उनमें निखार और उभार आ रहा था। व्यक्तिवादी सीमाओं से उठकर सामाजिक मान्यताओं को स्वीकार करने की समीक्षा वृत्ति मान्यता पाने लगी थी। हिन्दी का समीक्षक अभी तक मार्क्सवादी समीक्षा से सीधा सम्पर्क नहीं जोड़ पाया था। उसके पास जो कुछ आ रहा था उसका माध्यम अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय साहित्य था, किन्तु हिन्दी समीक्षा मौलिक चेतना से ही मुख्यतः अनुप्राणित थी उसमें जिन प्रगतिशील तत्त्वों का आविर्भाव हो रहा था वे युग की माँग के फलस्वरूप पल्लवित हो रहे थे।

---

1. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : विश्व साहित्य : पृ० १२२-१२३।
2. 'हिन्दी कविता का भविष्य'—सम्पादकीय—सरस्वती : १९२०।

# अध्याय 4

## सामान्य परिस्थितियाँ तथा समीक्षा

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारतीय जीवन में जिस तीव्र चेतना का विकास महात्मा गांधी के कांग्रेस का नेतृत्व स्वीकार करने तथा असहयोग आन्दोलन के परिणामस्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह बहुत आगे तक चलता दिखाई नहीं देता। आन्दोलन के तीव्र दमन से कुछ निराशा का भाव उत्पन्न हुआ। इस युग के साहित्य और उसी के अनुरूप समीक्षा में स्वच्छन्दतावादी तत्त्वों का बोलबाला रहा। मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य जन जीवन का प्रतिफलन होता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उस काल के जन जीवन में स्वच्छन्दतावादी तत्त्व उभरे थे। स्वच्छन्दतावादी मान्यताएँ उभरते हुए पूँजीवाद एवं ह्रासशील सामन्तवाद की देन है। आर्थिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीवाद सर्वप्रथम परम्परा प्राप्त सामन्तवाद का विरोध करता है, अतः उसमें क्रान्तिकारी भावनाएँ रहती हैं। विद्रोह के ये स्वर छायावादी-युग के साहित्य में स्पष्ट सुनाई देते हैं। वे जो कुछ रूढ़, पुरातन परम्परा प्राप्त है, उस सबको बदलने के लिए कटिबद्ध दिखाई देते हैं। यह स्वाभाविक है कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति के नारे (स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व तथा समानता) उन्हें आकर्षित करते और उन नारों से प्रभावित होकर वैसी ही आर्थिक स्थितियों में उत्पन्न अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) कवियों का काव्य उनका आदर्श बनता और सारे प्रतिक्रियावादियों के तीव्र विरोध करने पर उन्हें मान्य सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए समीक्षकों का उत्तरदायित्व भी वहन करना पड़ता। यदि ये कवि-समीक्षक अंग्रेजी की स्वच्छन्दतावादी समीक्षाओं को आधार मानकर नयी समीक्षा लिखने वाले समीक्षकों को आमन्त्रित करते थे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात न थी, किन्तु इन समानताओं को पा लेने का अर्थ जो यह लगाया गया है कि छायावादी युग इंग्लैंड के स्वच्छन्दतावादी युग का अनुकरण है, वह नितान्त असमीचीन परिवेशात्मक यथार्थ को सामने न रखकर विचार करने का अनिवार्य परिणाम है।

इस युग में पूँजीवाद और औद्योगिक विकास का जो परिणय हुआ उसकी अभिव्यक्ति साहित्य में छायावाद के रूप में प्रकट हुई। मार्क्सवादी दृष्टि से औद्योगिक विकास के साथ ही साथ पूँजीवाद समाज तथा सभ्यता पल्लवित होती है। इस सभ्यता

के कुछ मान्य सिद्धान्त हैं, जिनमें व्यक्तिवाद, सामन्ती दासता और रूढ़ि का विरोध, नारी को भोग्यपदार्थ की सीमाओं से उठाकर 'सहचरी' और देवि' की सीमाओं तक पहुँचाना, धार्मिक स्थूलता का स्थान आध्यात्मिक सूक्ष्मता को देना, रहस्यवाद, प्रकृति-प्रेम, मानवतावाद, विशिष्ट के स्थान पर सामान्य पर दृष्टि केंद्रित करना एवं जीवन के सभी अंगों में वैयक्तिक स्वातन्त्र्य आदि प्रमुख हैं। औद्योगीकरण से पूर्व उद्योगों का लघुरूप (गृहउद्योग) प्रचलित था, जो, सामन्ती अर्थ-व्यवस्था के साथ तालमेल बनाए रखने में समर्थ था। औद्योगीकरण ने एक ओर गृह-उद्योगों को पदच्युत किया वहाँ दूसरी ओर केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था को जन्म दिया। हारा हुआ किसान श्रमिक बनकर उद्योग-केन्द्र के निकट एकत्रित होने लगा। सामन्तवाद में जो भाईचारा एवं वृहद् कुटुम्ब-व्यवस्था बनी हुई थी वह धीरे-धीरे टूटने लगी। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में ग्राम अपने में पूर्ण इकाई था, उसकी वह आत्मनिर्भरता धीरे-धीरे विशृंखलित होने लगी। जातियाँ, उनका पूर्व-निश्चित उत्पादक कार्य, अर्थ सम्बन्धों पर आधारित वर्णव्यवस्था और उसका धार्मिक आधार आदि सभी के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लग गया। प्राचीन के टूटने पर नवीन की शोध होने लगी। इसके लिए भारतीय संस्कृति में जो कुछ नवीन मान्यताओं के साथ सामजस्य स्थापित करने योग्य चला आ रहा था उसे उभारा गया एवं दूसरी ओर देश के बाहर भी दृष्टि दौड़ाई गई। यूरोप सभ्यता के चरम शिखर पर था इसलिए एवं राजनैतिक कारणों से भी मुख्यतः उसी ओर दृष्टि गई। जीवन के सभी क्षेत्रों में यूरोप की प्रेरणा स्वीकृत हुई। १९१७ में रूसी क्रान्ति हो चुकी थी, सारा यूरोप उसकी ओर अनेक कारणों से अभिमुख था, अतः भारतीय मध्यवर्गीय मनस्चेता का उस ओर आकर्षित होना भी स्वाभाविक था। मार्क्सवादी व्यवस्था व्यक्तिवाद के स्थान पर समाजवाद को स्वीकार करके चली थी, अतः उभरते हुए व्यक्तिवाद का विरोध भी उसके प्रारम्भ से दिखाई पड़ने लगा। ये सारी मान्यताएँ आपस में इतनी घुलमिल गईं कि उन्हें आसानी से पहचानना एवं एक-दूसरे से अलग करना अब तक निर्विवाद नहीं बन पाया है। विदेशी पूँजीवाद का विरोध भारतीय कृषक ने स्वाधीनता के लिए और भारतीय पूँजीपति ने स्वदेशी के माध्यम से देशी पूँजीवाद की एकछत्रता के लिए अनुकूल परिस्थिति की आशा से किया। समाजवादी भी इनके साथ मिलकर चला क्योंकि 'उसे दुहरी लड़ाई लड़नी है तो पहले वह बाहर वाले से लड़े और जब वह हमारा घर छोड़ दे, तब भीतर की शुद्धि भी की जा सकेगी'—की नीति ही उन परिस्थितियों में उचित थी। ये सभी तत्त्व छायावादी समीक्षा पर अपना प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव डालने में समर्थ सिद्ध हुए हैं। यही कारण है कि अंग्रेजी की स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में जिस वेदना और दुखवाद के दर्शन नहीं होते है वे हिन्दी छायावादी काव्य-चेतना का मुख्य अंग है तथा साथ ही जिस राष्ट्रीय स्वर का प्राधान्य छायावाद में है वह अंग्रेजी स्वच्छन्दतावाद में नहीं है। इससे यह समझा

जा सकता है कि छायावाद का आधार भारतीय परिवेश और वे युगीन परिस्थितियाँ ही हैं जिन्होंने उसे जन्म दिया और प्रभावित किया है न कि अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी युग का अन्धानुकरण।

पूँजीवाद की स्थापना तथा औद्योगिक विकास का अनिवार्य परिणाम पूँजीपति और सर्वहारा वर्गों का अस्तित्व है। पूँजीपति शोषक और सर्वहारा शोषित बनता है। सारा समाज इन्हीं वर्गों में बँट जाता है :

The capitalist class and the working class become the main classes of society. As before, the relations between them remain antagonistic in character, since they are based on exploitation on the opperession of the propertyless by the possessors of property. They are the realtions of an implacable class struggle. But the methods of exploitation and oppreassion have rad cally changed, the prevailing form of compulsion has become economic [1]

पूँजीवादी समाज में ऊपर से देखने में लगता है कि संघर्ष व्यक्तियों के बीच में न होकर व्यक्ति और वस्तु के बीच है। खुले बाजार के लिए सभी पैदा करते हैं तथा भोक्ता उन्हें स्वतन्त्र रूप से खरीदते हैं किन्तु वास्तविक स्वतन्त्रता शोषकों को होती है।[2] छायावादी युग में इस शोषण का रूप भी स्पष्ट हुआ है। आरम्भ में तो छायावाद क्रान्तिकारी रहा किन्तु धीरे-धीरे उसमें अन्तर्विरोध प्रकट हुए और आगे चलकर वह अपनी पूर्व मान्यताओं और आदर्शों का भी खण्डन करने लगा, जो स्वाभाविक एवं अनिवार्य था। इस सम्बन्ध में शिवदानसिंह चौहान का दृष्टिकोण अत्यन्त समीचीन है—'छायावादी कवि प्रारम्भ में एक क्रान्तिकारी के रूप में अवतरित हुआ। उसने कविता को सामन्ती बन्धनों से मुक्त कर दिया किन्तु पूँजीवादी मनोवृत्ति होने के कारण वह नवीन समाज (पूँजीवादी समाज) के सश्लिष्ट बन्धनों की कल्पना न कर पाया। उनमें स्वयं को भी जकड़ा पाकर वह समस्त बन्धनों और समाज-बन्धनों के प्रति विद्रोही बन गया। जिस अनियमित स्वतन्त्रता की उसने कल्पना की थी वह उसे प्राप्त न हो सकी। इस भ्रम का पर्दा हटते ही जीवन उसे और भी विकराल और कठोर लगा। वह इस आघात को सहन न कर पाया क्योंकि पूँजीवाद ने उसे न केवल अपनी व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही उत्तराधिकारी बनाया वरन् अपनी ही तरह सामाजिक और सामूहिक श्रम से अलग कर भाग्य की अन्य शक्तियों का दास भी बना दिया।[3]

---

1. Fundamentals of Marxism Ieninism : page 162.
2. Caudwell : Illusion and Reality : page 48.
3. प्रगतिवाद : शिवदानसिंह चौहान : पृ० ४३।

## छायावाद-युगीन आलोचना के सूत्र

छायावादी समीक्षा पर गांधीवाद के साथ-साथ मार्क्सवादी प्रभाव भी पड़ रहा था। स्वयं कांग्रेस में समाजवादी दल अलग बन गया था जो मार्क्स के सिद्धान्तों को स्वीकार करता था। कांग्रेसी करोड़ों मूल, अर्द्धनग्न और भूखे प्राणियों के प्रतिनिधि बनकर गोलमेज परिषदों में गए।[1] सन् १९३० के आस-पास मजदूरों के करीब ३० संघ कांग्रेस पार्टी से सम्बद्ध थे। कांग्रेस की नीति धीरे-धीरे परवर्तित होकर वामपक्षीय बन रही थी।[2]

छायावाद-युग की समीक्षा में ये सभी तत्त्व हमें एक-दूसरे के विरोधी बने रहते हुए भी एकत्रित दिखाई देते हैं। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है—"मध्यकालीन शृंखलाओं के टूटने से मनुष्य को जो नई स्वाधीनता मिली, उसका एक रूप व्यक्तित्व की साधना, मानव के निर्द्वन्द्व 'अहम्' की प्रतिष्ठा, उसकी निरपेक्ष स्वाधीनता की कल्पना है। यही व्यक्तित्व अहम अथवा निरपेक्ष स्वाधीनता उसके साहित्य का उद्गम है। नया कवि अपने अन्तः को अपनी काव्य-सरिता की गंगोत्री मानता है। दरबारी कवि ने 'जय साह के हुक्म से प्रेरणा पाई थी भक्त ने इष्ट के 'तरुण अरुण वारिज नयनों' से। परन्तु छायावादी युग में यह परम्परा टूट गई। कवि अब भक्त नहीं है, न वह किसी नराधीश का चाटुकार है। अपनी कविता का स्रोत वह स्वयं है अथवा किसी रहस्यमयी शक्ति की व्यंजना का माध्यम बनकर स्रोत को वह अलौकिक बना देता है।"[3]

छायावाद-आलोचना का विकास इतिवृत्तात्मक युग (द्विवेदी-युग) के माध्यम से हुआ है, जिस प्रकार एक लहर में से दूसरी लहर निकलती चलती है उसी प्रकार यहाँ भी विकास को समझा जा सकता है। द्विवेदी-युग का दृष्टिकोण सुधारवादी बना रहा था, किन्तु, इस युग में सुधारवाद के स्थान पर क्रांति का आह्वान होने लगा था। आलोच्य-युग के कवि-समीक्षकों ने परम्परा का तीव्र विरोध किया : 'भारतेन्दु-काल के कवियों ने जिन जर्जर रूढ़ि-शृंखलाओं को हिला दिया था उनको तोड़ने में द्विवेदी-काल के कवि सफल नहीं हुए क्योंकि उनके विचार अधिकतर पुराने ही थे। वे सुधारवादी विचार और व्यवहार में थोड़ा अन्तर रखते थे। छायावादी युग के कवि सुधार मात्र से सन्तुष्ट न थे, बल्कि उन रूढ़ियों को हटाकर एक नवीन संस्कृति की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। फलतः व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक

---

1. डा० पट्टाभि सीतारामय्या : कांग्रेस का इतिहास, भाग १ : पृ० १८१।
2. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव : प्रगतिशील आलोचना : पृ० १०७।
3. डा० रामविलास शर्मा : संस्कृत और साहित्य : पृ० ४१।

स्वतन्त्रता के लिए उनके हृदय में अदम्य उत्साह दिखाई देता है और वाणी में विद्रोह का स्वर सुनाई पड़ता है।"[1]

समीक्षा-क्षेत्र में जो नवीन मानदण्ड उत्पन्न हो रहे थे वे चाहे बिलकुल नवीन न रहे हों, हाँ उनका स्वर मौलिक था, उनमें व्यापकता, अनुभूति की सचाई, नया सौन्दर्य-बोध, तथा उपयोगितावाद की तुला प्रमुख तत्व थे। इस सम्बन्ध में कवि-समीक्षकों में से एक का कथन मार्मिकता के साथ इस पर विस्तार से प्रकाश डालता है—"किसी कलाकृति में मुख्यतः तीन गुणों का समावेश रहना चाहिए। (१) सौन्दर्य-बोध (२) व्यापक गम्भीर अनुभूति (३) उपयोगी सत्य। इनका रहस्य मिश्रण ही कला-वस्तु में लोकोत्तरानंददायी रस की परिपुष्टि करता है। हमें देखना चाहिए कि कलाकार के सौन्दर्य-दर्शन मे कितना मार्जन, ऊर्ध्वप्राणता तथा रहस्य संकेत है। वह किसी विशेष रुचि या अभ्यास से तो कुंठित नहीं, और यदि है तो उसका कारण बाह्य उपादानों मे है अथवा अन्तर के भाव-सत्य में। दूसरे हमें देखना चाहिए कि उसकी अनुभूति में कितन गहराई, व्यापकता तथा ऊँचाई है। उसने जीवन के साथ कितना और किस प्रकार का सामंजस्य स्थापित किया है—भीतर के जिस दर्पण में उसने मानव जीवन के सत्य को ग्रहण तथा प्रतिफलित किया है वह चेतना कितनी सूक्ष्म प्रभावग्राही तथा अतलस्पर्शी है। तीसरा हमे विचार करना चाहिए उस कृति की उपयोगिता पर—अर्थात् वह केन्द्रीय सत्य को लोक जीवन की भीतरी-बाहरी परिधियों तक प्रसारित करती है कि नहीं।"[2]

इस समीक्षा की नवीनता केवल कथ्य तक ही सीमित नहीं थी; उसने अभिव्यक्ति में कथ्य से भी अधिक मौलिक स्थापनाएँ प्रस्तुत की थीं तथा उन्हें व्यावहारिक बना दिया था। ब्रजभाषा और खडीबोली का संघर्ष समाप्त करके खडीबोली की शीर्षस्थ स्थापना इस युग की व्यावहारिक देन है, जिसकी सफलता संघर्षरत कवि-समीक्षकों ने भी स्वीकार की है—"अब ब्रजभाषा और खड़ीबोली के बीच जीवन-संग्राम का युग बीत गया, उन दिनों मैं साहित्य का ककहरा भी नहीं जानता था। उस सुकुमार-माँ के गर्भ से जो यह ओजस्विनी कन्या पैदा हुई है, आज सर्वत्र इसी की छटा है।"[3]

जिस रूढ़िग्रस्त शास्त्रीयता का आधार आचार्य द्विवेदी तथा उनके समकालीन समीक्षकों ने स्वीकार किया था, छायावादी समीक्षक यदि उसे उतार न फेंकता तो उसकी अस्तित्व-रक्षा भी संभवत. न हो पाती, अतः उसका नवीन स्वर आवश्यकता तथा नवीन बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों का सूचक है। डा० वेंकट शर्मा ने भी माना

---

1. विजयशंकर मल्ल : हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद : पृ० १९।
2. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० २०१।
3. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० १।

है—"यह तो एक स्पष्ट सत्य है कि छायावाद-युग की समालोचना अपने रचनात्मक साहित्य की भाँति रूढ़िग्रस्त शास्त्रीयता का निर्भीक मार्ग छोड़ कर चली है।"[1] इस समीक्षा के कुछ ऊपर से दिखाई देने वाले व्यक्तिवादी तत्त्वों ने अपने सामान्य विवेचक को भ्रम में डाला और वह उसको व्यक्तिवादी सीमाओं से संचरित होने वाला मानकर ही सन्तुष्ट हो गए। प्रो० क्षेम की दृष्टि उचित नहीं मानी जा सकती जबकि वह लिखते हैं—"छायावाद भी साहित्यकार का एक अन्तर्वादी दृष्टिकोण है, जहाँ वह समस्त जीवन, उसके यावत् रूप व्यापार को 'स्वानुभूतिक' अभिव्यंजना प्रदान करता है।"[2]

जिस युग का कवि-समीक्षक अपने को जाग्रत अनुभव करता है, जो मुरली (व्यक्तिवाद) का स्थान पांचजन्य (सामाजिकता) को देता है, जो जाग्रति का समर्थक और कार्य-कुशलता का हामी है, उसकी समीक्षा को व्यक्तिवादी मात्र कहना असंगत होता है और सम्भवतः इसका कारण है सारे तथ्यों को पूर्णतः सामने रखे बिना जल्दी में निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति। इस सम्बन्ध में पंतजी ने सुझाया है—"अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पांचजन्य उठा लिया, सुप्त-देश की सुप्त-वाणी जाग्रत हो उठी, खड़ीबोली उस जाग्रति की शंख-ध्वनि है। ब्रजभाषा में नींद की मिठास थी, इसमें जाग्रति का स्पन्दन, उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय-ज्योत्स्ना, इसमें दिवस का सशब्द कार्यव्यग्र प्रकाश।"[3]

छायावादी समीक्षा केवल व्याख्यात्मक स्वरूप लेकर ही नहीं अवतरित हुई थी और न अंग्रेजी स्वच्छन्दतावाद के नकली पैरों पर खड़ी थी, वरन् वह अपने परिवेश से प्रेरणा ग्रहण करके, नवीन काव्य की रचना के अनुरूप नया काव्यशास्त्र भी रूपायित कर रही थी, जिसका एक सुन्दर उदाहरण पन्तजी की चित्र-भाषा की मान्यता है—"कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर-लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े।"[4]

सन् १९२० के पश्चात् की समीक्षा काव्य-विषय की महानता का आग्रह रखने के स्थान पर सामान्यता की ओर उन्मुख हुई और परिणामस्वरूप वह निस्संकोच महाकाव्य का स्थान गीति को दे सकी। उसके लिए सौंदर्य न केवल बाहर था और न केवल भीतर। बहिरंतर का सामंजस्य ही इस युग की सौंदर्यशास्त्रीय मान्यता का आधार बना।[5] इसके परिणाम अत्यन्त दूरगामी हुए और मानवता के लिए एक नवीन आस्था, जिसमें वस्तुगत रूप-चित्रण के साथ ही साथ आन्तरिक सौंदर्य को भी महत्त्व दिया गया।

---

1. डा० वेंकट शर्मा : आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास : पृ० ३२।
2. प्रो० क्षेम : छायावाद की काव्यसाधना : पृ० १२२।
3. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० २।
4. वही : पृ० १८।
5. डा० रामदरश मिश्र : हिन्दी आलोचना का इतिहास : पृ० २०३।

इसमें चेतना और प्रकृति को समन्वित करने में या प्रकृति के भीतर भी चेतना देखने में यही सौंदर्य का अन्तरिक और वाह्य समन्वय-सिद्धान्त कार्य कर रहा है। महादेवी वर्मा की रहस्यवादी मान्यताएँ इसी आधार पर कबीर की रहस्यवादी मान्यताओं से विलग करके देखी जा सकती हैं तथा देखी जानी चाहिएँ।

## छायावादी आलोचना का मार्क्सवादी आधार

छायावादी-समीक्षा का मूल्यांकन करते हुए तथा पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ते हुए कुछ ने उसे विदेशी प्रभाव से प्रभावित माना है[1] और अधिकाश ने उसे द्विवेदी-युग से विच्छिन्न करके देखा है।[2] यह दृष्टिकोण प्रगति-विरोधी तथा अमार्क्सवादी है। जिस प्रकार भारतेन्दु-युग की समीक्षा ने विकसित होकर द्विवेदी-युग की रूप-रचना की, उसी प्रकार द्विवेदी-युगीन मान्यताएँ परिवेशात्मक आधार पर विकसित होती रहीं और उनकी अगली शृखला—छायावाद-युगीन समीक्षा है प्रत्येक युग की प्रतिरोधिनी शक्ति उसी के भीतर होती है और समन्वय का जन्म देकर नष्ट हो जाती है। अतः युगों को परम्परा से अलग करके देखने का प्रयास उचित नही कहा जा सकता है। इस मान्यता के पक्ष में तर्क देते हुए कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग की समीक्षा में रीतिकालीन आदर्शों के खुले विरोध की भावना लुप्त हो गई है। इसमें विकास का एक स्पष्ट क्रम दृष्टिगोचर होता है। जहाँ तक मार्क्सवादी मान्यताओं की स्पष्ट स्वीकृति का प्रश्न है, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस युग के मान्य कवि-समीक्षकों ने इन सिद्धान्तों को मुखरता प्रदान की है। विकासवाद का समर्थन करते हुए स्कंदगुप्त का धातुसेन जो बात कहता है उससे परिवर्तन में इस युग की आस्था प्रकट होती है।

विकास को आधार मानने वाले परिवर्तन मे विश्वास करते हैं। परिवर्तन को जीवन का लक्षण मानने वाले प्रसादजी ने लिखा है – "परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है,....." मार्क्स ने अपने द्वन्द्ववाद को विज्ञान द्वारा सिद्ध किया है और समाज-विज्ञान तथा इतिहास से उसकी प्रामाणिकता की साक्षी दिलाई है और डार्विन के जीवशास्त्रीय विकास-सिद्धान्त को स्वीकार किया है। हमें छायावादी समीक्षक पन्तजी की निम्न पंक्तियो में इसी सिद्धान्त की ध्वनि सुनाई पड़ती है जब वे लिखते हैं—'पर मनुष्य के ज्ञान का विकास पदार्थों की अज्ञात-परिधि पर निर्भर न रह कर अपने ही परिचय के अन्तरिक्ष के भीतर परिपूर्णता प्राप्त करता जाता है। जब तक वह पृथ्वी की गोलाई तक नहीं पहुँचा था, वह उसे चपटी मानकर भी चलता रहा। हम अपने प्रौढ पगों के लिए नहीं ठहरते, घुटने के बल चलने के नियमों को सीख कर ही आगे बढ़ते हैं।'[3]

---

1. डा० भगवतस्वरूप मिश्र : हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास : पृ० ४३५।
2. डा० वेंकट शर्मा : आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास : पृ० ३२३।
3. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० १।

मार्क्सवादी समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। महादेवी ने इसी को स्वीकार करके पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों का विश्लेषण किया है—"वेद-कालीन समाज के पुरुष ने नवीन देश में फैलने के लिए सन्तान की आवश्यकता के कारण और अनाचार को रोकने के लिए विवाह को बहुत महत्त्व दिया और सन्तान की जन्मदात्री होने के कारण स्त्री भी अपूर्व गरिमामयी हो उठी। उसे यज्ञ जैसे धर्म-कार्यों में पति का साथ देने के लिए सहधर्मिणीत्व और गृह की व्यवस्था के लिए गृहणीत्व का श्लाघ्य पद् भी प्राप्त हुआ, परन्तु धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से उन्नत होने पर भी आर्थिक दृष्टि से वह नितान्त परतन्त्र ही रही।"[1] नवीन वैज्ञानिक शोधों ने जो मानव-मन को बदला है तथा प्राचीन आस्थाओं तथा विश्वासों के प्रति शंका उत्पन्न की है उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और उसकी प्रतिध्वनि हम पन्तजी के निम्न शब्दों में देखते हैं—'अपने देश में जन-साधारण के मन में जीवन के प्रति जो खोखले वैराग्य की भावना घर कर गयी है उसका विरोध कर नवीन सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर नवीन मानसिक जीवन प्रतिष्ठित करने पर जोर दिया गया है। भौतिक विज्ञान के विकास के कारण भू-रचना के जिस भावात्मक दर्शन का इस युग में आविर्भाव हुआ है उसे युग दर्शन का एक मुख्य स्तम्भ माना है।'[2] वैज्ञानिक क्रान्ति का सहयोग लेकर चलने वाली समाजवादी मान्यताएँ जहाँ धर्म-विहीन, शोषणमुक्त तथा शासन रहित समाज-दशा को आदर्श मानकर उस ओर चलती है। छायावाद-युग में गाँधीवाद द्वारा भी मार्क्स के इसी आदर्श को स्वीकार किया गया। भारतीय संस्कृति का वसुधैव कुटुम्बकम्' पहले से ही एक आदर्श के रूप में ग्राह्य था किन्तु यह सब व्यक्तिगत साधना का आधार लेकर चल रहा था। छायावादी-कवि-समीक्षक ने इस एकांगिता को समझा और अपनी वैज्ञानिक मान्यताओं का आधार उसने इस उद्देश्य के लिए अपरिहार्य बताया—"वैज्ञानिक आविष्कारों से मनुष्य की देशकाल-जनित धारणाओं में प्रकारान्तर उपस्थित हो जाने के कारण एवं आवागमन की सुविधाओं से भिन्न-भिन्न देशों और जातियों के मनुष्यों में परस्पर का सम्पर्क बढ़ जाने के कारण उस युग के विचारकों का मानव जाति के आन्तरिक (सांस्कृतिक) एकीकरण करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। महात्माजी भी इसी प्रकार विकसित व्यक्तिवाद के मानों का पुनर्जागरण कर भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के बीच, संसार में, सामजस्य स्थापित करना चाहते हैं। किन्तु इस प्रकार के एकदेशीय, एकजातीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न भी, इस युग में, तभी सफल हो सकते है जब उनको परिचलित करने वाले सिद्धान्तों के मूल विकासशील ऐतिहासिक सत्य में हों।[3]

---

1. महादेवी वर्मा : श्रृंखला की कड़ियाँ : पृ० १०१।
2. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० ८२।
3. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० ५८।

मार्क्सवादी दर्शन को चाहे कुछ समीक्षकों ने स्वीकार करके अपने को उसकी सीमाओं में आबद्ध किया हो और उससे थोड़ा बहुत इधर-उधर देखने वालों को वे अमार्क्सवादी भले ही कहें किन्तु स्वीकृत मार्क्सवादियों में प्रारम्भ से ही एक वर्ग रहा है जो मार्क्सवादी सीमाओं से ऊपर उठकर सोचना और देखना चाहता रहा है। श्री शिवदानसिंह चौहान तथा डा० रांगेयराघव प्रभृत्ति विद्वान् समीक्षक इस द्वितीय वर्ग में आते हैं। डा० रांगेयराघव ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है[1]—'सच तो यह है कि दो विचारधाराएँ हैं, एक विचारधारा मार्क्सवाद को ऐसा सत्य मानती है जिसको परखने की आवश्यकता नहीं है और उसे तो शाश्वत स्वयं सिद्ध सत्य होना चाहिए जो हर चीज पर एकसी लागू होती है और होती रहेगी। ये लोग भारतीय परिस्थितियों पर बराएनाम नज़र डालते हैं और परिणामस्वरूप इनका जनता से कोई सम्पर्क नहीं है। दूसरी विचारधारा मार्क्सवाद को एक वैज्ञानिक खोज के रूप में लेती है और सत्य को सापेक्ष मानकर परख करती है और यह रूढ़ विचार नहीं मानती कि जो मार्क्स ने कहा है वह सब कोई ईश्वरीय वाक्य है और देश-काल की परिस्थितियों के भेद को देखती है और ग्रन्थों की जगह जनता के संघर्षों से अनुप्राणित होती है।' इन दोनों वर्गों में से गतिशील मार्क्सवादी पिछले वर्ग में आते हैं। छायावादी कवि-समीक्षकों में से अधिकांश इसी कोटि के प्रगतिशील समीक्षक कहे जा सकते है। पन्तजी ने 'उत्तरा' की भूमिका में अपने इस रूप को विस्तार से स्पष्ट किया है। अपने काव्य विकास के आधारों को समझाते हुए उन्होने लिखा है—'युगान्त में मेरा वह विश्वास बाहर की दिशा में सक्रिय हो गया है और विकास का भी हृदय क्रान्तिवादी भी हो गया है। युगांत की क्रान्ति की भावना में आवेश है और है एक नवीन मनुष्यत्व के प्रति संकेत। अनित्य वास्तविकता का बोध मेरे मन में पहिले परिवर्तन और फिर क्रांति का रूप धारण कर लेता है। नित्य सत्य के प्रति आकर्षण नवीन मानवता के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दों में बाहरी क्रान्ति की आवश्यकता की पूर्ति मेरा मन नवीन मनुष्यत्व की भावात्मक देन द्वारा करना चाहता है।'

'द्रुत झरो जगत् के जीर्णपत्र, हे तृस्त ध्वस्त हे शुष्क शीर्ण' द्वारा जहाँ पिछली वास्तविकता को बदलने के लिए ओजपूर्ण आह्वान है, वहाँ 'ककाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली में' पल्लव काल की स्वप्न-चेतना द्वारा उस रिक्त स्थान को भरने के लिए आग्रह भी है। 'गा कोकिल बरसा पावक कण। नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन, ध्वंश भ्रंश जग के जड़ बन्धन' के साथ ही 'हो पल्लवित नवल मानवपन, रच मानव के हित नूतन मन' भी मैंने कहा है। यह क्रान्ति की भावना जो अब साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से सिद्ध हो चुकी है, मेरी 'ताज कलरव' आदि युगांतकालीन रचनाओं में विशेषरूप से अभिव्यक्त हो सकी है और मानववाद

---

1. डा० रांगेयराघव : काव्य-कला और शास्त्र : पृ० ३६।

की भावना युगांत की मानव, मधुस्मिति आदि रचनाओं में।"[1]

अधिकांश समीक्षाओं ने प्रसादजी को आदर्शवादी साहित्यकार माना है, किन्तु प्रसादजी की मान्यताएँ किसी एक कठघरे में बन्द नहीं की जा सकतीं। वह राजनीति के पीछे चलने वाले अन्धभक्त नहीं थे। वह यथार्थवाद के पक्के समर्थक थे और अपने साहित्यिक प्रयत्नों द्वारा वह उसी उद्देश्य तक पहुँचना चाहते थे जो साम्यवाद का अन्तिम लक्ष्य है। सार्वजनिक भ्रातृभाव और साम्यवादी मान्यताओं को ही वह आगे टिकने वाली जीवन-पद्धति के अनुकूल मानते थे, इसीलिए 'कंकाल' में लिखा गया—'क्या हिन्दू होना परम सौभाग्य की बात है? जब तक उस समाज का अधिकांश भाग पद्दलित और दुर्दशाग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरा-पृष्ठ पर नही बची—उसकी संस्कृति विडम्बन, संस्था सारहीन और राष्ट्रीयता—बौद्धों के शून्य के सदृश बन गई है, जब संसार की अन्य जातियाँ सार्वजनिक भ्रातृभाव और साम्यवाद को लेकर खड़ी है, तब आपके इन खिलौनों से उसकी सन्तुष्टि होगी?'[2] मार्क्सवाद की स्वीकृति उपयोगितावाद पर आधारित होने के कारण ही हुई है। पन्तजी ने उसे एक व्यापक समतल सिद्धान्त घोषित किया—"मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ।"[3]

इन सिद्धान्तों की स्वीकृति से उसके परिणामस्वरूप व्याख्यात्मक आलोचना भी प्रभावित हुई। छायावादी-युग को व्यावहारिकता का पल्ला पकड़े रहना पड़ा एवं गद्य और पद्य की अलग-अलग भाषाएँ बनाये रखने का सिद्धान्त अस्वीकृत करना पड़ा। 'यह अत्यन्त हास्यजनक तथा लज्जास्पद हेत्वाभास है कि हम सोचें एक स्वर में, प्रकट करें उसे दूसरे में, हमारे मन की वाणी मुँह की वाणी न हो, हमारे गद्य का कोष भिन्न, पद्य का भिन्न हो?"[4]

मार्क्सवाद में राजनीति को साहित्य का पथ-प्रदर्शक माना गया है और राजनीति के ऊपरी ढाँचे का आधार आर्थिक सम्बन्ध है अतः मार्क्सवादी समीक्षा सदैव अर्थ सम्बन्धों को प्रमुख मानकर चलती है। आर्थिक अवस्था एवं राजनैतिक स्थिति के आधार पर समीक्षा करते हुए प्रसाद ने लिखा—'श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। 'प्रेमयोगिनी' हिन्दी में इस ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को मैं इसी श्रेणी की समझता हूँ——अव्यवस्था वाले युग में देव-व्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परम्परा थी उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० १२८।
2. प्रसाद : कंकाल : पृ० ९७।
3. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० ८६।
4. वही, पृ० ११।

उसकी परिस्थिति का चित्रण भी हिन्दी में उसी समय आरम्भ हुआ।'[1]

प्रगतिवादी समीक्षा ऐतिहासिकता का आधार लेकर चलती है। उनकी इतिहास के सम्बन्ध में धारणा है कि इतिहास शोषक और शोषितों के बीच होने वाले संघर्ष की कहानी है।[2] इतिहास हमारे विकास के चरणों को स्पष्ट करता है। प्रगति की दिशाओं का निर्देशन इतिहास से होता है। पन्तजी ने इतिहास की इस देन को स्वीकार किया है तथा साहित्य और समीक्षा का विकास दिखाते समय इसी ऐतिहासिक क्रम को दृष्टि में रखा है। उनका यह दृष्टिकोण नीचे के उद्धरण से पूर्ण स्पष्ट होता है :

"यन्त्र-युग के दर्शन को हम ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं जो उन्नीसवीं सदी के संकीर्ण भौतिकवाद से पृथक् है। नवीन भौतिकवाद दर्शन और विज्ञान का, मानव सभ्यता के अन्तर्वाह्य विकास का ऐतिहासिक समन्वय है।

'दर्शन युग का अन्त, अन्त विज्ञानों का संघर्षण,
अब दर्शन विज्ञान सत्य, का करता नव्य निरूपण।'

वह मनुष्य के सामाजिक जीवन विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। सामाजिक प्रगति के दर्शन के साथ ही वह उसे सामूहिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य नवीन तन्त्र (स्टेट) का भी विधायक है।

'विकसित हो बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, करगत सभ्यता समायन।
सामाजिक सम्बन्ध बने नव अर्थ-भित्ति पर नूतन,
नव विचार, नव रीति-नीति, नव नियम, भाव, नवदर्शन।'

इतिहास-विज्ञान के अनुसार जैसे-जैसे जीवनोपाय के साधन-स्वरूप हथियारों और यन्त्रों का विकास हुआ है, मनुष्य जाति के रहन-सहन और सामाजिक विधान में भी युगान्तर हुआ। नवीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर नवीन राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं, और उन्हीं के प्रतिरूप रीति-नीतियों, विचारों एवं सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है। साथ ही उत्पादन के नवीन यन्त्रों पर जिस वर्ग-विशेष का अधिकार रहा है उसके हाथ जन-साधारण के शोषण का हथियार भी लगा है, और उसी ने जन-समाज पर अपनी सुविधानुसार राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है। पूँजीवादी युग ने संसार को जो 'विविध ज्ञान-विज्ञान, कला-यन्त्रों का अद्भुत कौशल' दिया है, उसके अनुरूप सभ्यता और मानवता का प्रादुर्भाव न होने का मुख्य कारण पूँजीवादी प्रथा ही है, जिसकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नष्ट हो गई है। आज जबकि संसार में इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध हो रहा है, और जिसके बाद पूँजीवादी

1. प्रसाद : काव्य और कला : पृ० १३७।
2. मार्क्स तथा ऐंगिल्स : सलेक्टेड वर्क्स : प्रथम भाग, पृ० २४-२५।

साम्राज्यवाद का—जिसका हिंस्ररूप फ़ासिज्म है—शायद, अन्त भी हो जाये, इस प्रथा के विरोधों का विवेचन करना पिष्टपेषण के समान है। मनुष्य-स्वभाव की सीमाएँ, एक ओर वर्ग-संघर्ष एवं राजनीतिक युद्धों के रूप में, मानवजाति के रक्त का उग्र प्रयोग करवा रही है, दूसरी ओर मनुष्य को विकासप्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त साहित्य एवं विचारों का उपचार कर नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए सांस्कृतिक प्रयोग भी कर रही है।"[1]

छायावादी समीक्षकों ने जानबूझकर सामन्तवादी तत्त्वों को ह्रासशील माना तथा अपने युग का आधार यंत्र-युग का सामूहिक-विकास स्वीकार किया—'सामन्त युग की परिस्थितियों की सीमाओं के भीतर व्यक्ति का विकास जिस सापेक्षपूर्णता तक पहुँच सका, अथवा इस युग के सामूहिक विकास की पूर्णता व्यक्ति की चेतना में जिन विशिष्ट गुणों में प्रतिफलित हुई सामन्तकाल के दर्शन ने व्यक्ति के स्वरूप को उसी तरह निर्धारित किया है। यंत्र-युग की सामूहिक विकास की पूर्णता उस धारणा में मौलिक (प्रकार का) परिवर्तन उपस्थित कर सकेगी।"[2]

ऐतिहासिक भौतिकवाद में जो कुछ ह्रासशील है उसे छोड़कर और जो कुछ विकासशील है उसे स्वीकार करके आगे ले चलना होता है। इतिहास किसी की नहीं सुनता, इतिहास के क्रम को सहायता देना ही साहित्य और कला का उद्देश्य माना गया है। पन्तजी इस उद्देश्य से सहमत प्रतीत होते हैं। उन्होंने अपनी समीक्षा में इन सारे तत्त्वों को सशक्त भाषा में स्वीकृति दी है तथा लिखा है—'मनुष्य क्षुधाकाम की प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर सामाजिक संगठन की ओर, और जरा-मरण के भय से आध्यात्मिक सत्य की खोज की ओर अग्रसर हुआ है। भौतिक दर्शन का यह दावा ठीक ही जान पड़ता है कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में जिसमें कि अधिकाधिक मनुष्यों को क्षुकाकाम की परितृप्ति के लिए पर्याप्त साधन मिल सकते हैं और वे वर्तमान युग की संरक्षणहीनता से मुक्त हो सकते हैं, उन्हें अपने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए भी अधिक अवकाश और सुविधाएँ मिल सकेंगी। एक ओर समाजवादी विधान, उत्पादन-यन्त्रों की सामाजिक उपयोगिता बढ़ाकर मनुष्य को वर्तमान आर्थिक संघर्ष से मुक्त कर सकेगा, दूसरी ओर वह उसे सामन्त-वादी सांस्कृतिक मानों की संकीर्णता से मुक्ति दे सकेगा, जिनकी ऐतिहासिक उपयो-गिता अब नहीं रह गई है, और जिनकी धारणाएँ आमूल विकसित एवं परिवर्तित हो गई हैं।"[3]

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद से हिन्दी-समीक्षा का सीधा परिचय छायावाद-युग में ही हो जाता है। छायावाद-युग के प्रारम्भ में तो

---

1. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० ६१-६२।
2. वही : पृ० ६३।
3. वही, पृ० ६५।

हमें कल्पनाधिक्य की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है किन्तु धीरे-धीरे वह कल्पना यथार्थ का आधार और इतिहास की दृष्टि पाकर प्रगतिवादी पथ पर अग्रधावित होने लगती है।

## छायावादी आलोचना में वर्गसंघर्ष

प्रगतिवाद में वर्गसंघर्ष को समाज के विकास का आधार माना गया है।[1] पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में जब सर्वहारा संगठित होकर रक्त-क्रांति कर देता है तभी उसे चिरकाल से चली आती हुई दासता से मुक्ति मिलती है। इस क्रान्ति के लिए घृणा को भी पोषित किया जाता है। घृणा को मार्क्सवाद में साहित्य, कला तथा अन्य साधनों से विकसित किया जाता है। पन्तजी घृणा को भी आदर से देखते हैं तो उसका अर्थ यह आसानी से लगाया जा सकता है कि वह रक्त-क्रान्ति की पूर्व तैयारी की भूमिका में अपना योगदान कर रहे हैं। उन्होंने लिखा है—'मैं जनता के राग-द्वेष, क्रोध तथा असन्तोष को भी आदर की दृष्टि से देखता हूँ, क्योंकि उसके पीछे मनुष्य का हृदय है[2] वर्गसंघर्ष के अनेक रूप देखने में आते हैं। उनमें एक रूप पूँजीवादी-समाज-व्यवस्था में नारी का है। नारी को सामन्तवाद में भोग्य पदार्थ तथा पूँजीवाद में सम्पत्ति माना जाता है। मार्क्स के अर्थाधारित भौतिकवादी विकास के नियमों से परोक्ष रूप से प्रभावित होकर ही महादेवी वर्मा ने नारी की स्थिति का गतिशील पद्धति से विवेचन किया है। इस विवेचन का आधार वर्गसंघर्ष तथा शोषण का सिद्धान्त है, जो निम्न पंक्तियों में स्पष्ट हुआ है—'आदिम युग से सभ्यता के विकास तक स्त्री सुख के साधनों में गिनी जाती रही। इसके लिए परस्पर संघर्ष हुए, प्रतिद्वन्द्विता चली, महाभारत रचे गए और उसे चाहे इच्छा से हो चाहे अनिच्छा से उसी पुरुष का अनुगमन करना पड़ता रहा जो विजयी प्रमाणित हो सका। पुरुष ने उसके अधिकार अपने सुख की तुला पर तोले, उसकी विशेषता पर नहीं, अतः समाज की सब व्यवस्थाओं में उसके और पुरुष के अधिकारों में एक विचित्र विषमता मिलती है।'[3]

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि वर्गसंघर्ष को परोक्ष स्वीकृति प्रदान कर छायावादी कवि-समीक्षकों ने मार्क्सवादी सिद्धान्त के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है।

## छायावादी समीक्षा और द्वन्द्ववाद

द्वन्द्ववाद विकास तथा परिवर्तन का मूल सिद्धान्त है। प्रकृति, वस्तु, स्थिति, समाज, विचार आदि सभी क्षेत्रों में जो विकास हुआ है तथा हो रहा है, उसका

---

1. फंडामेन्टल आफ मार्क्सिज्म एण्ड लैनेनिज्म : पृ० १९६-९७।
2. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० ९८।
3. महादेवी वर्मा : शृंखला की कड़ियाँ : पृ० १००।

कारण द्वन्द्ववाद है। द्वन्द्व में विरोधों की अन्विति मानी गई है।[1] छायावादी समीक्षा में द्वन्द्व को परोक्ष स्वीकृति प्राप्त हुई है। प्रसादजी यह स्वीकृति करते प्रतीत होते हैं कि कविता में जो सौन्दर्य होता है उसका कारण परस्पर-विरोधी तत्त्वों का समन्वय है। सौन्दर्य-शास्त्र के इस सिद्धान्त को शुद्ध मार्क्सीय माना जाता है। प्रसादजी इसे निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं—'अन्धकार का आलोक से, असत्य का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न ?'[2] द्वन्द्व का अटल नियम पुराचीन को नष्ट करना तथा उसका स्थान नवीन को देता चलता है। पन्तजी 'परिवर्तन' कविता में इसी भाव को व्यक्त करते हैं। इस मान्यता को उन्होंने अपनी समीक्षा में भी व्यक्त किया है—'अनित्य सत्य के क्षणिक पद्-चिह्न संसार की सभ्यता से राज-पथ पर बदलते जाते, पुराने मिटते, नवीन उनके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं।[3]

छायावादी समीक्षा में परस्पर-विरोधी भाव मिलते हैं और इसी प्रकार विरोधी मान्यताएँ भी अनेक स्थलों पर देखी जाती हैं। इस विरोध का कारण डा० रामविलास शर्मा ने पूँजीवादी-युग की असंगतियों को माना है। उनके शब्द हैं—'छायावादी कविता में विद्रोह और पलायन, ओज और करुणा, संसार को चुनौती और दीनतापूर्ण आत्म-निवेदन—इन विरोधी भावों का कारण पूँजीवादी युग की असंगतियाँ हैं, जो स्वाधीनता की भावना को जगाती हैं, परन्तु उन्हें पूर्ण नहीं कर सकतीं।'[4] इससे भी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि प्रत्येक साहित्यिक प्रवृत्ति में उसके विरोधी तत्त्व रहते हैं, जो उसे बदलकर स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार नए रूप का जन्म देते हैं। यदि इस सिद्धान्त को यहाँ प्रयुक्त करें तो स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-समीक्षा का यह रूप अपने से पूर्व रूप का विकास था तथा इस विकास-क्रम को प्रतिपादित करने वाली छायावादी समीक्षा का ही अगला रूप प्रगतिवाद बना।

## छायावादी आलोचना में धर्म और राजनीति

भारत में अब तक धर्म का सम्बन्ध राजनीति से जुड़ा रहा है, अतः छायावादी समीक्षा ने भी इसे जोड़ कर देखा है। धार्मिक प्रवृत्तियों को विकासात्मक दृष्टि से आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक परिवेश के सन्दर्भ में देखकर साहित्य का मूल्यांकन-आधार इस युग में बना। प्रसादजी ने इसे वाणी देते हुए लिखा—'भारत के लिए उस समय दोनों ही वास्तविक थे—यहाँ के दरिद्र जन-साधारण और महाशक्तिशाली नरपति। किन्तु जन-साधारण और उनकी लघुता के वास्तविक

1. एम० कोर्नफोर्थ : डायलेक्टीकल मैटीरियलिज्म : प्रथम भाग : पृ० ७८।
2. जयशंकर प्रसाद : स्कंदगुप्त : पृ० २१।
3. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० १४।
4. डा० रामविलास शर्मा : संस्कृति और साहित्य : पृ० ४२।

होने का एक रहस्य है। भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलत उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेकदंभपूर्ण आडम्बरों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राजसत्ता कृत्रिम और धार्मिक महत्त्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में महान् दिखाई पड़ने लगा।'[1]

धार्मिक विचारधारा तथा राजनैतिक सिद्धान्त आदि भी कला और साहित्य के समान ऊपरी ढाँचे में आते हैं। मार्क्स के अनुसार इनका विकास आर्थिक विकास पर आधारित होता है :

Political, juridical, philosophical, religious, literary, artistic etc., development is based on economic development...[2]

इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर पन्तजी ने सामन्तवादी युग में धर्म के इस रूप की व्याख्या की तथा उसे युग-सापेक्ष कहा है। इस युग-सापेक्षता का सीधा अर्थ आर्थिक आधार है। सामन्तवाद में सत्य को जो निरपेक्ष माना गया था उसके लिए भी उन्होंने अपनी व्यवस्था दी है कि वह सापेक्ष सत्य ही था किन्तु उस युग में उसे निरपेक्ष कहकर प्रस्तुत किया गया था। उसका औचित्य स्वीकार करना भी मार्क्स की मान्यता के अनुरूप ही है। पन्तजी धर्म के नाम पर चलने वाली स्वर्ग और नरक सम्बन्धी सामन्ती मान्यता को भी उसी रूप में स्वीकार करते हैं जिस रूप में उसका विश्लेषण मार्क्सवादियों ने किया है। उनके शब्द हैं—"प्रत्येक धर्म और संस्कृति ने अपने देशकाल मे सम्बन्ध रखने वाले सापेक्ष सत्य को निरपेक्ष (सम्पूर्ण) सत्य का रूप देकर, मनुष्य के (स्वर्ग-नरक सम्बन्धी) दुःख और भय के संस्कारों से लाभ उठाकर, उसकी चेतना में धार्मिक और सामाजिक विधान स्थापित किये है, जो कि सामन्त-युग की परिस्थितियों को सामने रखते हुए, व्यावहारिक दृष्टि से उचित भी था।"[3]

धर्म के जिस रूप से समाज का पतन हुआ है उसे तथा सम्प्रदायवादी संकीर्णता को इस काल की समीक्षा ने सर्वत्र अस्वीकार किया है। धर्म और साहित्य के सम्बन्धों को समझते हुए साहित्य के यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास दिखाने का प्रयास निम्न पंक्तियों में अत्यन्त सार्थक है। प्रसादजी लिखते हैं—'जाति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरणस्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है। फलत: आरम्भिक साहसपूर्ण और विचित्रता से भरी आख्या-

1. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १३६।
2. Marx and Engels : Literature and Art : page 8.
3. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० ६५।

यिकाओं के स्थान पर—जिनकी घटनाएँ राजकुमारों से ही सम्बद्ध होती थीं—मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण आरम्भ होता है।"[1]

इससे यह प्रकट हो जाता है कि यथार्थवाद इतिहास का एक अनिवार्य क्रम है। साहित्य को राजनीति का अनुगामी मानने वाले मार्क्सवादियों ने प्रचार का साधन साहित्य को कहा है तथा सर्वहारा का अस्त्र घोषित किया है। चीन की समीक्षा में भी इसी प्रकार के अभिमत व्यक्त हुए हैं। साहित्य की कसौटी निर्धारित करते समय राजनीति को साहित्य से भी अधिक प्रमुखता देने की संस्तुति करने वाले चीनी समीक्षकों में से चाऊयांग का मत है[2] :

'The correct thing is to judge all works by unified political and artistic criteria, but with the political criterion taken first place.....'

शाओ-चुआन-लिन ने कला को साधन तथा राजनीति को उद्देश्य माना है। साधन से उद्देश्य को महान् कहकर कला को राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वीकार किया है। उनके शब्द हैं—"कला को राजनीति की सेवा करनी चाहिए।"[3] छायावादी समीक्षक इस सीमा तक बढ़कर साहित्य को राजनीति का प्रचार-यंत्र तो स्वीकार न कर सके हाँ उन्होंने साहित्य के अंगों में राजनीति को स्थान अवश्य दे दिया, जो इससे पूर्व कभी भी नहीं हुआ था। निरालाजी ने स्पष्ट लिखा—'साहित्य के व्यापक अंगों में राजनीति भी उसका एक अंग है। अतएव राजनीति की पुष्टि भी वह चाहता है।'[4]

इस प्रकार प्रकट है कि छायावादी समीक्षा में धर्म का खोखलापन तथा राजनीति का महत्त्व प्रतिपादित होने लगा था।

## छायावादी आलोचना में यथार्थवाद

यथार्थवाद के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ परस्पर-विरोधी चल रही हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक आर्नोल्ड कैटिल ने यथार्थवाद को समझाते हुए लिखा है :

The artist, who is a realist, gets hold of and transmits through his art the sense, not merely of surface characteristics of reality, but of the inner processes, the contradictions and ceaseless development of reality'[5]

---

1. प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० १३६।
2. A great debate on the literary front.
3. वही : पृ० ७०।
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : प्रबन्ध पद्म : पृ० १६०।
5. The modern quarterly : Vol. VI No. I. Winter 1950-51 : page 70.

पन्तजी ने छायावाद-युग का आधार कल्पना से हटाकर यथार्थ पर टिका दिया है। उन्होंने घोषित किया है - "इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार ग्रहण कर लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"[1]

प्रसादजी ने यथार्थवाद पर विस्तार से प्रकाश डाला है और बताया है कि आज से पूर्व के युग में महानता एवं दिव्यता पर बल दिया जाता था जब कि आज लघुता और सामान्य को प्रमुखता मिल रही है। वेदना को वह यथार्थवाद का अनिवार्य अंग मानते हैं। लघुता में महानता के दर्शन करते हुए तथा यथार्थवादी दृष्टिकोण से लघुता का विवेचन करते हुए प्रसादजी ने लिखा है—"यथार्थ की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।"[2]

इस युग की समीक्षा की भूमि यथार्थवादी है, यह दूसरी बात है कि उन्होंने आदर्शवाद को छोड़ा नहीं है और सच तो यह है कि आदर्शवाद का अभाव तो मार्क्सवादी यथार्थवाद में (जिसे सामाजिक यथार्थवाद कहा जाता है) भी नहीं है। पन्तजी ने यथार्थवादी पृष्ठभूमि से सारे साहित्यिक प्रश्नों पर दृष्टिपात करते हुए लिखा है—"आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सौन्दर्य सम्बन्धी भावनाओं से हिन्दी में छायावादी कवि भी प्रभावित हुए, किन्तु उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गई उनके युग का यथार्थ भी उसी अनुपात में बदलता गया। वह सूक्ष्म से स्थूल की ओर, आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर, रूप से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद आदि से मानवतावाद, भूवाद, जनवाद की ओर बढ़ते गये। सत्य के खोज की उड़ती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युग-परिवेश, सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक तथा सामूहिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी।"[3]

छायावाद-युग का दृष्टिकोण स्वस्थ और प्रगतिशील है क्योंकि उन्होंने प्राकृतवाद एवं अति यथार्थवाद की आलोचना की है। प्रसादजी इस सम्बन्ध में

---

1. सुमित्रानन्दन पन्त : रूपाभ : वर्ष १, संख्या १।
2. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० १३८।
3. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० १३३।

सामाजिक-यथार्थवादी के समान अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं—"कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए यही आदेश करता है। यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता। क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। किन्तु इतिहासकार न तो इतिहासकर्त्ता है और न धर्म-शास्त्र प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र है। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत् और आनन्द-पूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।"[1] प्रसादजी की यह मान्यता हमें गोर्की के सामाजिक-यथार्थवाद के निकट पहुँचाती है तथा प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवादी भी इसी कोटि का सिद्धान्त है। इस सम्बन्ध में गोर्की ने लिखा है कि यथार्थवादी लेखकों को चाहिए कि वे वर्तमान काल के पात्रों को भविष्य की दृष्टि से देखकर उनका अंकन करें। गोर्की के शब्द हैं :

'To show our people not only as they are at the present time, but to glance into their future and help throw a search-light on the way forward."[2]

इसी दृष्टिकोण के प्रकाश में हम पन्तजी के स्वर्णिम भविष्य के साहित्यादर्श को समझ सकते हैं। पन्तजी का वह भावी आध्यात्मिक-युग यथार्थाधारित तथा विज्ञानानुमोदित है जिसकी कल्पना निम्न शब्दों मे की गई है—'आने वाला युग सामन्त-युग की नैतिकता के पाश से मनुष्य को बहुत अंशों में मुक्त कर सकेगा और उसका 'पशु' (मौलिक संस्कारों सम्बन्धी सामन्तकालीन नैतिक मान) विकसित वस्तु-परिस्थितियों के फलस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन से, बहुत-कुछ अंशों में 'देव' (सांस्कृतिक मानो का प्रतीक) बन सकेगा।'[3] प्रसादजी ने जहाँ यथार्थवाद का विवेचन किया है वहाँ उन्होंने अतियथार्थवादी, प्राकृतवादी तथा समाज की यथार्थवादी आदि अनेक मान्यताओं को मिला दिया है—'व्यक्ति की दुर्बलता के कारण की खोज मे व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जा सकता है। और इस विषमता को ढूँढ़ने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता में यह संदिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का मूल्य भी जानता है और वह मूल्य है, स्त्री नारी है और पुरुष नर है, इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है।"[4]

---

1. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० १४२।
2. Modern quarterly : Vol. VI, No. 1. of 1951 : page 251.
3. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० ६४।
4. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० १४०-४१।

महादेवी वर्मा की काव्यगत मान्यताओं को व्यक्ति-केन्द्रित माना गया है; यद्यपि छायावादी काव्य एवं समीक्षा के उचित रीति से मूल्यांकित न हो पाने का ही कारण इसके पीछे है, फिर भी महादेवी वर्मा ने अपनी समीक्षाओं तथा गद्य में जिस दृष्टि-कोण का प्रतिपादन किया है उसे सभी ने समाजवादी-दृष्टिकोण का पोषक कहा है। इस सम्बन्ध में अमृतराय का मत है—'महादेवी का गद्य-साहित्य मूलतः समाज केन्द्रित है। उसने जनता के पीड़ित जीवन को स्वर दिया है। उसने समाज के दुःख, दैन्य, न्यस्त स्वार्थों और अभिशापों का प्रतिकार किया है। उसमें एक हारे हुए विद्रोही की आत्मा रुदन कर रही है। उसका मूल उत्स अपनी पीड़ा में नहीं, समाज में दिन-रात चलने वाले अन्यायों और अत्याचारों में है।"[1] उन्होंने अपने पात्रों के सम्बन्ध में स्वयं स्वीकृत किया है कि वे यथार्थ जगत् के सजीव पात्र हैं जिसके चित्रण में कल्पना का आश्रय लेने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है। यथार्थ के प्रति उनका यह आग्रह दर्शनीय है—'इन स्मृति-चित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था.....मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े चरित्र जैसा परिचय दे पाते हैं वह बाहर रूपान्तरित हो जाएगा। फिर जिस परिचय के लिए कहानीकार अपने कल्पित पात्रों को वास्तविकता से सजाकर निकट लाता है उसी परिचय के लिए मैं अपने पथ के साथियों को कल्पना का परिधान पहना कर दूरी की सृष्टि क्यों करती? परन्तु मेरी निकटता, निज आत्मविज्ञापन, उस राख से अधिक महत्त्व नहीं रखता जो आगे को बहुत समय तक रखने के लिए अंगारों को घेरे रहती है। जो इसके पार नहीं देख सकता वह इन चित्रों के हृदय तक नहीं पहुँच सकता।"[2] महादेवीजी के पात्र यथार्थ में 'टाइप' हैं। टाइप की विशेषताओं का विवेचन करते हुए हंगेरियन मार्क्सीय सौंदर्यशास्त्री लुकाच ने लिखा है :

'What makes a type a type is not it's mere individual being, however profoundly conceived ; what makes it a type is that in it all the humanly and socially essential determinates are present on their highest level of development, in the ultimate unfolding of the possibilities latent in them....."[3]

टाइप' में व्यक्तिगत तथा समाजगत् दोनों प्रकार की विशेषताएँ होती हैं जो महादेवीजी को मान्य हैं—"साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छन्द मानव-स्वभाव में, उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए, समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है।'[4] यथार्थवाद का विवेचन रोमांस का उससे सम्बन्ध दिखाए बिना

---

1. अमृ राय : नई समीक्षा : पृ० ११४।
2. महादेवी वर्मा : अतीत के चलचित्र, अपनी बात : पृ० २।
3. George Lukacs ; Studies in European Realism ; Preface.
4. महादेवी वर्मा : क्षणदा : पृ० १२२।

अधूरा रहेगा। मार्क्सवादी काव्यशास्त्र यथार्थ और रोमांस का गहरा सम्बन्ध स्वीकार करता है। प्रसिद्ध चीनी सौंदर्यशास्त्री चाऊ यांग ने माओत्सेतुङ्ग के दृष्टिकोण द्वारा पुष्ट अपना अभिमत इस सन्दर्भ में व्यक्त करते हुए लिखा है[1] :

'He (President Mao) applied to literature and art the principle of combining the revolutionary spirit with a realistic approach and dialectically unified the two artistic methods of realism and romanticism in literature and art,....."

महादेवी वर्मा ने रोमांस और यथार्थ का समन्वय स्वीकार किया है—'एक ओर हम भूल गये कि आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रुपहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं जब तक उन्हें जीवन के स्पन्दन से न भर दिया जाए और हमें यह स्मरण नहीं रहा कि यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलों का सहारा देना आवश्यक है।"[2] यथार्थवाद में भविष्य का जो काल्पनिक स्वप्न देखा जाता है वह यथार्थाधारित होने के कारण स्वीकार होता है। पन्तजी इसीलिए लिखते हैं—"स्त्री-पुरुष भौतिक विज्ञान-शक्ति से संगठित भावी लोकतन्त्र में रहने योग्य संस्कार विकसित प्राणी बन सकेंगे। तब शायद धरती की चेतना स्वर्ग के पुलिनों को छूने लगेगी।'[3] छायावाद-युग की रोमांटिक मान्यताएँ तथा व्यक्तिवाद पर आधारित सूक्ष्मता प्रतिक्रियावादी तत्त्व नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि व्यक्ति केवल भूख का पुतला न होकर अन्य मानवीय आकांक्षाओं से भी युक्त है। वह स्वच्छन्दतापूर्वक प्रेम करता है तथा दूसरे भी उसे प्रेम करें, यह चाहता है, अतः रोमांस साहित्य के आदिकाल से उसके साथ जुड़ा चला आया है और जुड़ा रहेगा। छायावादी समीक्षा में जो दुःखवाद—वेदना की विवृत्ति मिलती है उसका कारण यही है। मार्क्सवादी समीक्षा मानती है—'शोषित और संघर्षरत व्यक्ति भी मानव है, 'ऑटोमैट', नहीं जो सदा एक ही बात सोचता रहेगा। पेट की भूख के अतिरिक्त मानसिक भूख उसे भी लगती है, इसका अकाट्य प्रमाण प्रत्येक देश के लोकगीत और लोककथाएँ हैं। लोकगीत और लोककथाएँ बुर्जुआ वर्ग की रचनाए नहीं हैं। कोई नहीं कह सकता कि ये रचनाएँ यथार्थ का चित्रण नहीं हैं। इनमें हमें जन-जीवन की सच्ची झाँकी देखने को मिलती है। यह कट्टर-से-कट्टर प्रगतिवादी भी स्वीकार करेगा कि लोक-साहित्य में केवल संघर्ष और रोटी-कपड़े की ही बातें नहीं हैं। मानव-जीवन में प्रेम-तत्त्व का पाया जाना चिरन्तन सत्य है, फलस्वरूप साहित्य के अन्दर रोमांस उतना ही शाश्वत है जितना कि साहित्य में मानव।'[4]

---

1. Chau Yang : The Path of Socialist Literature and Art in China : Page 36.
2. साहित्य-सन्देश : फरवरी सन् १९४१ : पृ० २७१ : महादेवी वर्मा : चिंतन के क्षणों में।
3. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० ८४।
4. डा० त्रिभुवनसिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : पृ० १६-१७।

आलोच्ययुग यथार्थवाद के रंग में इतना गहरा रंग गया था कि निरालाजी ने इसकी परम्परा-प्राप्त पद्धति को भी यथार्थ पर आधारित होने से ही काव्य के लिए उचित माना तथा रस का यथार्थ रूप से चित्रण महाकवि की कसौटी ठहराया : 'नवरसों को समझने और उन्हें उनके यथार्थ रूप में दर्शाने की शक्ति जिसमें जितनी ज्यादा है, वह उतना ही बड़ा कवि है।'[1]

'दुःखवाद यथार्थ का अंग है, इस मान्यता को स्वीकार करते हुए प्रसादजी ने लिखा—'व्यापक दुःख सम्बलित मानवता को स्पष्ट करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।'[2] इस युग की समीक्षा में सिद्धान्त-निरूपण का आधार भी यथार्थवाद बना। पन्तजी व्यक्ति की सांस्कृतिक-चेतना को यथार्थाधारित मानते हैं—"मनुष्य की सांस्कृतिक-चेतना उसकी वस्तु परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब है। यदि हम वाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन ला सकें तो हमारी आन्तरिक धारणाएं भी उसी के अनुरूप बदल जाएँगी।'[3]

इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि छायावादी समालोचना में यथार्थवाद की व्यापक स्वीकृति हुई है। कवि-समीक्षकों ने साहित्य का मूल्यांकन करते हुए, नवीन काव्यालोचन-सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए तथा छायावादी काव्य की तात्त्विक व्याख्या करते समय यथार्थवाद को आधार माना है।

## छायावादी आलोचना का मानवतावादी दृष्टिकोण

मार्क्स के सम्पूर्ण दर्शन का उद्देश्य मानवता की रक्षा तथा सभी प्रकार के शोषणों का नाश है। निम्न शब्द इस उद्देश्य को पूर्णतः स्पष्ट करते हैं।[4]
'Marxism is.....the emancipation of mankind from all oppression and exploitation.....' ?

मानवतावाद का प्रभाव इस युग की समीक्षा पर व्यापक रूप से है। भारतेन्दु के मूल्यांकन के समय भी इसी दृष्टिकोण को सामने रखा गया है। इतिहास की क्रमिक धारा का अध्ययन विकासवादी सूत्रों, राजनीति एवं परिवेशात्मक तथ्यों के आधार पर किया गया। प्रसादजी ने स्पष्ट लिखा है—'देवी शक्ति से तथा महत्व से हटकर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता में विश्वास होना, संकीर्ण संस्कारों के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक था। इस रुचि के प्रत्यावर्तन को श्री हरिश्चन्द्र की वाणी में प्रकट होने का अवसर मिला। इसका सूत्रपात उसी दिन हुआ जब गवर्नमेंट से प्रेरित राजा

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : रविन्द्रकविता कानन : पृ० ५१।
2. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० १३६-४०।
3. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० ६३।
4. Preface to the Russian edition of selected works (Marx and Engels) Vol. I, page 13.

शिवप्रसाद ने सरकारी ढंग की भाषा का समर्थन किया और भारतेन्दुजी को उनका विरोध करना पड़ा।"[1]

मानव के कल्याण तथा सांस्कृतिक-विकास के कारण ही छायावाद समीक्षा के श्रेष्ठ स्तम्भ पन्तजी लिखते हैं—'मैं अध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शन-सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की, सामन्तकालीन परिस्थितियों के कारण जो एकान्त परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई (दृश्य जगत् एवं ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार मात्र हैं) और मार्क्स के दर्शन की पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण, जो वर्ग-युद्ध और रक्त-क्रान्ति में परिणत हुई है,—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।"[2] मानवता के सबसे त्रस्त एवं उपेक्षित किन्तु साथ ही प्रमुख अंग नारी की ओर इस युग में विशेष ध्यान दिया गया। सामन्तवादी दासता तथा उसे जो भोग की सामग्री (यौनिमात्र) माना गया था उसका खण्डन करके उसकी उच्च धरातल पर स्थापना हुई। महादेवी वर्मा ने नारी की समस्या को उठाया और उसका मार्क्सवादी हल सुझाया—'अनेक सम्बन्धों का केन्द्र होने तथा परिवार और समाज-विशेष से सम्बद्ध रखने का कारण उसे सामाजिक विकास के लिए भी विशेष अधिकार और उत्तरदायित्व प्राप्त हो जाना अनिवार्य है। अतः नागरिक को राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों क्षेत्रों में समान रूप से अपना स्थान तथा कर्तव्य जान लेना और उसमें संशोधन या परिवर्तन के लिए स्वाधीनता प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है। नागरिक होने के कारण स्त्री को भी इन दोनों ही अधिकारों की आवश्यकता सदा से रही है और रहेगी। परन्तु प्राचीनकाल से अब तक उससे अनुकूल स्वत्वों को देने तथा समयानुसार उनमें परिवर्तन की सुविधाएँ सहज करने की ओर कभी किसी का ध्यान नहीं गया।'[3]

पन्तजी ने छायावादी समीक्षा की तात्त्विक विवेचना में मानव-प्रेम, लोक-जीवन की एकता एवं निर्मित होती हुई विश्व-मानवता को सिद्धान्त के रूप में जहाँ स्वयं स्वीकार किया है वहाँ अन्य साहित्यकारों को स्वीकार करने का समीक्षकोचित परामर्श भी दिया है—'संक्षेप में मैं चाहता हूँ कि स्वाधीन भारत की कला-कृतियाँ लोकोपयोगी सांस्कृतिक तत्त्वों से ओत-प्रोत रहें और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम द्वारा समाज में नवीन मानव-चेतना के आलोक को वितरण कर एवं लोक जीवन को बाहर-भीतर से संस्कृत, सुरुचिपूर्ण तथा सम्पन्न बनाने में सहायक हों। हमारे युग के सांस्कृतिक सूत्र हैं—मानव-प्रेम, लोकजीवन की एकता, जीवन-सौन्दर्य का उपभोग तथा विश्व मानवता का निर्माण। यदि आप अपनी लेखनी और तूली

1. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबंध : पृ० १३-१३६।
2. सुमित्रानन्दन पंत : गद्यपथ : पृ० ६७-६८।
3. महादेवी वर्मा : शृंखला की कड़ियाँ : पृ० १८-१९।

द्वारा युग के इन स्वप्नों में रक्त-मांस का सौन्दर्य तथा अपनी व्यापक अनुभूति से जीवन फूँक सकें तो आप अपने तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्य को उसी तरह निबाहेंगे जिस प्रकार एक राजनीतिक क्षेत्र का नायक लोकसंघर्ष के उत्थान-पतनों का संचालन कर जीवन की परिस्थितियों को विश्व-तन्त्र का सन्तुलन प्रदान कर जन-समुदाय को नवीन मानवता की ओर अग्रसर कर रहा है।'[1] इस मानवतावादी दृष्टि ने छायावादी समीक्षा को बदले हुए सामाजिक मूल्यों के भीतर झाँकने को प्रोत्साहित किया। ब्रजभाषा के रीतिकालीन साहित्य में भी निरालाजी को शृंगार-वर्णन में स्वस्थ शृंगार भावना दिखाई दी और उन्होंने उसे इतिवृत्तात्मक-युग की सामान्य प्रवृत्ति से विच्छिन्न करके देखा—'ब्रजभाषा की कविता का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है. वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नहीं रहा, सृष्टि में शृंगार का परिपाक—नायिकाओं के इन्हीं व्यवहारों, इन्हीं आचरणों, इन्हीं नियमों के आश्रय से हो सकता है।'[2]

छायावादी समीक्षा ने उन्हीं तत्त्वों पर विशेष जोर दिया जो हमें वृहद् मानव बनाने के पथ पर ले जाने वाले थे। इन कवि-समीक्षकों ने हिन्दी के विकास और प्रसार पर इसलिए अधिक बल दिया कि उसके द्वारा वे अपना और समग्र मानव जाति का अभ्युदय-मार्ग प्रशस्त होता हुआ देखते थे। हिन्दी उनके लिए नवीन मानवता का प्रतीक बन कर उभरी और उन्होंने उसे इसी भावना से अग्रसारित किया—'हिन्दी हमारे लिए नवीन सम्भावनाओं की चेतना है, जिसे वाणी देने के लिए हमें सहस्रों स्वर, लाखों लेखनी तथा करोड़ों कंठ चाहिएँ। उसके अभ्युदय के रूप में हम अपने साथ समस्त मनुष्य-जाति का अभ्युदय पहचान सकेंगे। उसके निर्माण में संलग्न होकर हम समस्त लोक-चेतना का निर्माण कर सकेंगे। उसको संवार-शृंगार कर हम नवीन मानवता के सौन्दर्य को निखार सकेंगे। जिस विराट युग में हिन्दी की चेतना जन्म ले रही है, उसका किंचित आभास पाकर यह कहना मुझे अतिशयोक्ति नहीं लगता कि हिन्दी को सम्पूर्ण अभिव्यक्ति देना एक नवीन मनुष्यत्व को अभिव्यक्ति देना है।'[3] यह युग व्यष्टि के विकास द्वारा समष्टि तक पहुँचने में विश्वास करता था। केवल व्यष्टि या केवल समष्टि उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पाई और यही सिद्धान्त इनके मानवतावाद पर भी लागू होता है।

## छायावादी आलोचना और नारी

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में नारी को कभी वह प्रतिष्ठा और स्वातंत्र्य नहीं मिल सकता है जो मिलना चाहिए, इसलिए मार्क्स ने उसकी मुक्ति का नारा लगाया

---

1. सुमित्रानंदन पंत : गद्यपथ : पृ० २०४।
2. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला : प्रबंधपद्म : पृ १०८।
3. सुमित्रानंदन पंत : गद्यपथ : पृ० १९९।

था। मार्क्स ने पुरुष और स्त्री के विवाह का आधार प्रेम माना है न कि भोग, दहेज या अन्य कोई कारण। सामन्तवादी व्यवस्था में नारी को भोग की वस्तु तथा पूँजीवादी व्यवस्था में व्यवसाय का साधन (एक प्रकार की पूँजी) मात्र माना जाता है। समाजवादी व्यवस्था उसे आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्रता दिलाती है, तभी नारी स्वेच्छा से प्रेमाधारित विवाह कर पाती है तथा व्यभिचार का समूल नाश हो सकता है और उसे मनुष्य के समान अधिकार मिल पाते हैं। लेनिन ने नारियों की वास्तविक दशा का चित्र देकर बताया है कि जब तक वे थकानेवाले, अरुचिपूर्ण, अनुत्पादक तथा बर्बर गृहकार्यों से मुक्त नहीं होंगी तब तक उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो सकेगा।[1] नारी का पुरुष के समान बनने का अर्थ यह नहीं है कि वह पुरुष के समान भारी श्रम करेगी। इस सम्बन्ध में लेनिन की मान्यता है[2] :

'It is not a matter of equalising women in productivity of labour, amount of labour, its duration, labour conditions etc.

अपनी सभी चरित्रगत विशेषताओं के साथ नारी समानता और स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर भी नारी ही बनी रहेगी एवं उसके सभी उत्तरदायित्वों में पवित्रतम मातृत्व का सामाजिक दायित्व होगा।[3]

छायावादी कवि-समीक्षक ने नारी की समस्या को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखा और दिखाया है। पन्तजी का नारी सम्बन्धी विचार पूर्ण प्रगतिशील है—'सामन्तयुग के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदण्ड स्त्री की शरीर-यष्टि रहा है। उस सदाचार के एक अंचल छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बाल-विधवा अपनी छाती से चिपकाए हुए हैं, और दूसरे छोर को उस युग की देन वेश्या। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' के अनुसार उस युग के आर्थिक विधान में भी स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं और वह पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती रही है। स्त्री स्वातन्त्र्य सम्बन्धी हमारी भावना का विकास वर्तमान युग की आर्थिक परिस्थितियों के साथ ही हो रहा है। स्त्रियों का निर्वाचन-अधिकार सम्बन्धी आन्दोलन बुर्जुआ संस्कृति एवं पूँजीवादी युग की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। सामन्त-युग की नारी नर की छाया मात्र रही है।"[4]

छायावादी कवि-समीक्षक नारी के सम्बन्ध में युगानुकूल चिंतन करना उचित समझते थे। उनकी नारी समस्याओं के प्रति यथार्थवादी दृष्टि रही। स्त्रियों की पराधीनता तथा हेयता का कारण उन्होंने उनकी आर्थिक परवशता माना। वे 'तितली' में यह स्पष्ट घोषणा करने से न चूके कि—"स्त्रियों को उनकी आर्थिक पराधीनता के

1. V. I. Lenin : Selected works. Vol II, part 2 : page 233-234.
2. V. I. Lenin : Selected works. Vol. 30 : page 25.
3. Fundamentals of Marxism-Leninism : page 821.
4. सुमित्रानंदन पंत : गद्यपथ : पृ० ६६।

कारण जब हम स्नेह करने के लिए बाध्य करते हैं, तब उनके मन में विद्रोह की सृष्टि भी स्वाभाविक है। आज प्रत्येक कुटुम्ब उनके इस स्नेह और विद्रोह के द्वन्द्व से जर्जर है और संगठित है। हमारा सम्मिलित कुटुम्ब उनकी इस आर्थिक पराधीनता की अनिवार्य सफलता है।"[1] हिन्दी-साहित्य में वर्णित नारी के रूपों तथा पुरुष के साथ उसके सम्बन्धों का विवेचन हुआ है। महादेवी वर्मा ने इस सम्बन्ध में यथेष्ट लिखा है। वह स्वाधीनता को नारी-विकास का आधार मानती हैं 'उसे (नारी को) अपने गुरुतम उत्तरदायित्व के अनुरूप मानसिक तथा शारीरिक विकास के लिए विस्तृत स्वाधीनता चाहिए। कारण, संकीर्णता में उसके जीवन को वैसा सर्वतोन्मुखी विकास सम्भव ही नहीं जैसा किसी समाज की स्वस्थ व्यवस्था के लिए अनिवार्य है।'[2]

नारी के विविध रूपों का विश्लेषण हुआ है। विधवा की समस्या हमारे समाज में अभिशाप रूप रही है। धनिक पुरुषों की पुत्रियों को भी हिन्दुओं में कोई उत्तराधिकार न मिलने के सम्बन्ध में महादेव जी ने लिखा—'चरम दुरवस्था के सजीव निदर्शन हमारे यहाँ के सम्पन्न पुरुषों की विधवाओं और पैतृक धन के रखते हुए भी दरिद्र पुत्रियों के जीवन हैं।"[3] छायावादी साहित्य में नारी के प्रति दृष्टिकोण बदला है। सामाजिक रूढ़ियाँ टूटी हैं तथा मान्यताओं को बदलने के लिए कवि-समीक्षकों ने जनता के संस्कारों पर प्रभाव डाला है। डा० रामविलास शर्मा ने इस परिवर्तन को लक्ष्य करके लिखा है—'कवि नारी की अप्सरा-रूप में कल्पना करता है, उसकी उपासना के गीत गाता है, भाव और छन्दों के अर्घ्य चढ़ाता है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि वही विधवा और पत्थर तोड़ने वाली मजदूरिन के प्रति भी समवेदना से द्रवित हो उठता है। वह सामाजिक रूढ़ियों का प्रेमी नहीं है, उनका विरोध करता है, उनसे बचकर अपनी आशाओं की पूर्ति के लिए एक स्वर्ग भी रच लेता है।"[4]

नारी समस्या के मूल कारणों तक छायावादी युग की पहुँच हो गई थी। युग की समीक्षा जान गई थी कि जब तक नारी को पुरुषों के समान आर्थिक सुविधाएँ नहीं मिलेंगी तब तक ऊपर-ऊपर से कोई निराकरण प्रभावकारी नहीं सिद्ध हो सकेगा। इस सम्बन्ध में महादेवी वर्मा का दृष्टिकोण यथार्थाधारित है—'यदि उन्हें अर्थ सम्बन्धी वे सुविधाएँ प्राप्त हो सकें जो पुरुषों को मिलती आ रही हैं तो न उनका जीवन उनके निष्ठुर कुटुम्बियों के लिए भार बन सकेगा और न वे गलित अंग के समान समाज से निकाल कर फेंकी जा सकेंगी, प्रत्युत वे अपने शून्य क्षणों को देश के सामाजिक तथा राजनीतिक उत्कर्ष के प्रयत्नों से भरकर सुखी रह सकेंगी।"[5]

---

1. जयशंकर प्रसाद : तितली : पृ० १५७।
2. महादेवी वर्मा : शृंखला की कड़ियाँ : पृ० १६।
3. वही, पृ० १६।
4. डा० रामविलास शर्मा : संस्कृति और साहित्य : ४४।
5. महादेवी वर्मा : शृंखला की कड़ियाँ : पृ० २०।

पूँजीवाद के परिणामस्वरूप विवाह असफल सिद्ध होता है, जब तक व्यवस्था बदलती नहीं तब तक के लिए किसी सामाजिक हल की खोज सभी को रही है। विवाह को समझौता मानकर चलना ही आज के युग की परिस्थितियों से उपयुक्त हो सका है। उसके अनेक प्रयोग विभिन्न जातियों में चले हैं। वास्तविकता को सामने रखकर देखने वाले प्रसाद ने इस प्रश्न को उसकी भयंकरता में स्वीकृति दी है और उसका निराकरण 'समझौते' में माना है —'जगत् की एक जटिल समस्या है—स्त्री-पुरुष का स्निग्ध मिलन। इसके लिए समाज ने भिन्न-भिन्न समय और देशों में अनेक प्रकार की परीक्षाएँ कीं किन्तु वे सफल न हो सकीं।.....इसका उपाय एकमात्र समझौता है—यही तो विवाह है।'[1] नारी के प्रति छायावादी दृष्टिकोण प्रगतिशील है, जो द्विवेदी-युग की अपेक्षा निश्चित ही एक विकास-दिशा का सूचक है। डा० त्रिभुवनसिंह ने इस युग का सच्चा मूल्यांकन किया है—'उसने नारी को केवल शरीरी भोग अथवा कामिनी रूप में या 'द्विवेदी-युग' की भाँति विशुद्धतावादी और अतिनीतिवादी दृष्टि से नहीं देखा है। रीतिकाल की नारी चौबीस घण्टे चुम्बन-चाटन की वस्तु मात्र थी और द्विवेदी-युग की नारी सती, सीता और सावित्री की भाँति मात्र बन्दनीया। स्वच्छन्द युग ने नारी के प्रति कदाचित् अधिक व्यवहारिक दृष्टि अपनायी है। जहाँ उसने आदर्श और कल्पना की उच्च भूमि पर नारी को परम शक्ति और पूज्य माना है, वही व्यवहार की जीवन-भूमि पर उसे कर्म-प्रेरिका और दुःख-सुख की चिर संगिनी के रूप में भी अपनाया है।"[2]

नारी के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण केवल परिवेश की ही देन नहीं है वरन् भारतीय नारी और पुरुष यूरोप तथा रूस आदि मार्क्सवादी देशों में घूमकर अपने दृष्टिकोण को बदल रहे थे। भारत की तत्कालीन आन्दोलनकारी प्रवृत्तियों ने नारी के प्रति विकासशील दृष्टिकोण को अग्रसारित किया, इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

## छायावादी आलोचना और लोकजीवन

साहित्य का आधार जीवन है—यह मान्यता जितनी अरस्तू को स्वीकार्य थी उतनी ही मार्क्स को भी रही है। छायावादी समीक्षा का आधार जनजीवन रहा है। डा० रामकुमार वर्मा ने जीवन और कला में अविच्छिन्न सम्बन्ध माना है। मार्क्सवाद में साहित्य को जीवन से प्रभावित मात्र नहीं माना गया है, वरन् साहित्य भी जीवन को प्रभावित करता है —ऐसा कहा गया है। इस उभयपक्षीय प्रभाव की स्वीकृति पन्तजी ने इन शब्दों में दी है—'कवि का लेख अपने लेखक अपने युग से

---

1. जयशंकर प्रसाद : कंकाल : पृ० २५१।
2. डा० त्रिभुवनसिंह : आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा : पृ० ९९-१००।

प्रभावित होता है, साथ ही, वह अपने युग को प्रभावित भी करता है।"[1] कुछ समीक्षकों ने छायावादी काव्य को जीवन से हटा हुआ माना है। अपने प्रारम्भ में वह दूसरे लोक की बात सोचता रहा हो, किन्तु इस युग का समीक्षक पूर्ण निष्ठा से साहित्य को जीवन से संपृक्त करने का प्रयत्न करता रहा है और वह "जीवन से अलग हटी हुई कविता साहित्य की सबसे बड़ी निर्लज्जता है' की घोषणा करता रहा है।[2] छायावादी समीक्षक को कभी भी दृष्टिदोष नहीं हुआ। उसे दिशा ज्ञात था और ज्ञात रहा है और वह साहित्य को निर्देश देता हुआ चला है। इस युग की समीक्षा समाज, देश तथा परिवेश के सही चित्रण में विश्वास करती थी। समीक्षकों ने साहित्यकारों और कवियों को प्रकृति वर्णन के साथ ही साथ समाज का सच्चा रूप दिखाने की प्रेरणा भी दी। निरालाजी ने स्वयं भी सच्चे चित्र खींचे और अन्यों को अग्रप्रेरित किया—"जिस समय से देश पराधीनता के पिंजड़े में वन-विहंगम की तरह बन्द कर दिया गया है, उस समय से लेकर आज तक की उसकी अवस्था का दर्शन, उससे सहानुभूति, उसकी अवस्था का प्रकटीकरण आदि उसके सम्बन्ध के जितने काम हैं, इनकी सीमा कवि-कर्म की परिधि के भीतर ही समझी जाती है। क्योंकि प्रकृति का यथार्थ अध्ययन करने वाला कवि ही यदि देश की दशा का अध्ययन न करेगा तो फिर कौन करेगा?"[3] महादेवी वर्मा[4] ने युग प्रवृत्तियों से निरन्तर प्रेरणा लेना कवि के लिए अनिवार्य माना है—"सच्चा कलाकार लोक-हृदय को पहचाने बिना नहीं हो सकता, और जो लोक-हृदय को पहचानता है वही अमर होता है - जनता उसी को जीवित रखती है।" कवि को लोक-हृदय की सच्ची पहचान होनी चाहिए तभी वह सच्चा काव्य लिख सकेगा और इस प्रकार का काव्य ही अमर बनेगा—लोक-हृदय की यह मान्यता सच्चे अर्थ में प्रगतिशील है क्योंकि यहाँ काव्य की कसौटी शास्त्र को न मान कर लोक को माना गया है। परिवेश और लोक-जीवन को प्रमाण मानने वाले मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रभाव पन्तजी तथा अन्य छायावादी कवि-समीक्षकों पर पड़ा है तभी तो इन लोगों ने भाषा के सम्बन्ध में परम्परागत मान्यता को त्यागकर नवीन मान्यता स्वीकार की और घोषित किया कि हमें राष्ट्रभाषा की आवश्यकता की पूर्ति हेतु हिन्दी को विकसित करना चाहिए। वे राष्ट्रभाषा के लिए उसी भाषा की उपयुक्तता स्वीकार करते हैं जो मनुष्यों की जीवित एवं नित्य व्यवहार में आने वाली भाषा हो तथा जिसका विकसित रूप हमारी भावी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके।[5] इस प्रकार की मान्यता वाला दृष्टिकोण सच्चा प्रगतिशील है।

---

1. पन्त : गद्यपथ।
2. डा० रामकुमार वर्मा : आधुनिक कवि, भाग ३ : भूमिका : पृ० ३।
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : रवीन्द्र कविता कानन : पृ० ५२।
4. जैसा हमने देखा : पृ० १४० :
5. सुमित्रानन्दन पन्त, गद्यपथ : पृ० ११ :

युगीन समस्याओं तथा परिवेश की ओर व्यापक दृष्टि जाने और उनके अनुसार अपने को बदलने की मान्यता इस युग का मुख्य स्वर है, जिसके परिणाम-स्वरूप छायावादी समीक्षक अंग्रेजी रोमांटिक-समीक्षा की ओर आकृष्ट हुआ। उसने परम्परागत देव और बिहारी के विवाद से हटकर सौन्दर्यशास्त्र के नवीन आयामों की ओर दृष्टिपात करना अनिवार्य माना। व्यंग्यात्मक शैली में पन्तजी ने निर्ममता के साथ लिखा—'आशा है, विश्वविद्यालय के उत्साही हिन्दी-प्रेमी छात्र, जब तक हमारे वयोवृद्ध समालोचक, बेचारे देव और बिहारी में कौन बड़ा है, इसके निर्णय के साथ उनके भाग्यों का निबटारा करने, तथा 'सहित शब्द में व्यञ् प्रत्यय जोड़कर सत्साहित्य की सृष्टि करने में व्यस्त हैं, तब तक हिन्दी में अंग्रेजी ढंग की समालोचना का प्रचार कर उसके पथ में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।"[1]

यह युग कोरा यथार्थवादी रहा हो, जैसा उसने देखा हो केवल उसी का चित्रण करके सन्तोष कर लिया हो—ऐसा नहीं है। इन समीक्षकों के पास भविष्य की स्पष्ट दृष्टि भी थी। वे जानते थे कि हमें आज के परिवेश में से उन्हीं तत्त्वों को छाँटना और उन्हीं का वर्णन करना चाहिए जो विकासशील हैं—उन्होने इस भाव को मार्क्सवादी शब्दावली में व्यक्त न करके सामान्य भाषा का प्रयोग किया है, जिससे उसे सभी समझ सकें। उनके पास भविष्य की दृष्टि भी थी, इसीलिए तो वे लिख सके कि जो कविता इस कसौटी पर खरी उतरेगी वही महान् सिद्ध हो सकेगी।[2] इस प्रकार साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्त-निर्धारण में भी परिवेश तथा लोकजीवन का व्यापक प्रभाव स्वीकार किया गया है। परम्परागत काव्य-गुणों को एक दम अस्वीकार कर देना और नवीनता के व्यामोह में प्रयोगवादियों के समान किसी आश्चर्यजनक एवं विचित्र को स्वीकार करना इस युग का उद्देश्य नहीं था। इन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों जैसे रसात्मकता, रमणीयता, अलंकार, नवीन अभिव्यंजना-कौशल, कल्पना आदि का स्वीकृति देने के साथ ही विशेष बल युगविशेष की अंतश्चेतना के अंकन तथा जीवन संघर्ष के प्रतिबिम्ब पर दिया और बताया कि युग-जीवन के प्रवाह की दिशा ही साहित्य की सच्ची दिशा हो सकती है—'काव्यात्मकता केवल रसात्मक वाक्य तक ही सीमित नहीं है। यद्यपि रसात्मक वाक्य होना अथवा रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द होना काव्य का सहज नैसर्गिक गुण है।.....इन सबसे अधिक उपयोगी काव्य की वह अंतश्चेतना है जो युगविशेष के हृदय-मंथन तथा जीवन-संघर्ष को प्रतिबिम्बित करती हुई उस नवीन आलोक दिशा का इङ्गित देती है जिस ओर युग का जीवन प्रवाहित होता है।"[3]

साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त निर्धारण में छायावाद युग का योगदान भी

---

1. सुमित्रानन्दन पन्त, गद्यपथ : पृ० ४१।
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : माधुरी : अगस्त १९२३ : पृ० ५०।
3. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० १४७।

सदैव स्मरण किया जाएगा, क्योंकि यहाँ सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन का आधार परिवेशात्मक माना गया है। इस सम्बन्ध में प्रसादजी का स्पष्ट मत है—"यह मानते हुए कि ज्ञान और सौन्दर्य-बोध विश्वव्यापी वस्तु हैं, इनके केन्द्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं।"[1]

## छायावादी आलोचना में अन्य प्रगतिशील तत्त्व

नीतिवादी एवं मार्क्सवादी सभी कला को 'जीवन के लिए' मानते तथा 'कलावाद' का खंडन करते हैं। इस युग में उपयोगितावादी दृष्टिकोण यथेष्ट प्रबल रहा है। नवीन आदर्श और विचारों से युक्त काव्य की संगीतात्मकता एवं नव्य कलात्मकता का रहस्योद्घाटन करते हुए इस युग के समीक्षकों ने बताया कि इसका मुख्य कारण उपयोगिता है।[2] मुकटधर पांडेय ने कविता और कवियों की प्रतिभा का उपयोग जनता में वीरता, आशा, उत्साह और शक्ति के संचार के लिए स्वीकार किया है। लेनिन जिस प्रकार कला को सर्वहारा का अस्त्र मानते हैं उसी कोटि की यह घोषणा भी है, जब वे लिखते हैं—"हमारे प्रदेश में कई होनहार नवयुवक कवि हैं। उनसे हमारा कहना है कि भाई देश और जाति को जगाना तुम्हारे ही हाथ में है। उठो जनता में वीरता के भाव भर दो। आशा, उत्साह और शक्ति का संचार कर दो, उसके कानों में सजीवता, चेतनता तथा अमरता का मन्त्र फूँक कर उसे निर्भय बना दो।'[3]

रीतिकाल के समान छायावाद-युग ने कविता को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर उसकी अजेय शक्ति को पहचाना था और बताया था कि कविता युग की गति को वांछित दिशा दे सकती है तथा उनके मन को बदलने की शक्ति भी उसमें है। निरालाजी ने इस सम्बन्ध में लिखा—"कवियों के हृदय-निर्गत कविता रूपी उद्गार में इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर खींच लेता है। कवि की सुझाई बात जनता के चित्त में पैठ या बैठ जाती है, प्रतिकूल विचारों का बल घटा देती है। जनता प्रायः वही सम्मति सच मानती है जो कवि से प्राप्त होती है।"[4] काव्य का सर्वसम्मत उद्देश्य लोक कल्याण तथा जन-शिक्षण है। हाँ, इस शिक्षण की पद्धति सामान्य शिक्षण से भिन्न होती है, इस शिक्षण का आधार आनन्दप्रदायक राग तत्त्व है। बुद्धि और हृदय, विचार और भावना दोनों को साथ लेकर चलने वाला काव्य ही स्तुत्य है, जिससे जन-जीवन अधिक मंगलमय

---

1. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० ४।
2. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० ५५।
3. मुकुटधर पांडेय : सरस्वती, दिसम्बर १९२१ : पृ० ३३९।
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : माधुरी, अगस्त १९२३ : पृ० ४९।

बन सके। शिवत्व का यह रूप सुन्दर के साथ मिलकर इस समीक्षा में प्रस्तुत हुआ है—"लोक-कल्याण के लिए जीवन की बाह्य (संप्रति राजनीतिक, आर्थिक) और आभ्यंतरिक (सांस्कृतिक, आध्यात्मिक) दोनों ही गतियों का संगठन करना आवश्यक है। मात्रा और गुण दोनों में सन्तुलन होना चाहिए। जहाँ एक ओर असंख्य नंगे-भूखों का उद्धार करना जरूरी है, वहाँ पिछली संस्कृतियों के विरोधों एवं रीति-नीतियों की शृंखलाओं से मुक्त होकर मानव-चेतना को, युग-उपकरणों के अनुरूप विकसित लोक-जीवन-निर्माण करने में संलग्न होता है।"[1] इस मान्यता के विरोध में कुछ समीक्षकों ने यह प्रतिपादित किया है कि इस युग में व्यक्तिवाद, सूक्ष्मता स्थूलता के प्रति विद्रोह, रहस्यवाद आदि के कारण सामाजिकता का अभाव रहा है, वे यह देखकर प्रसन्न होंगे कि इस काल के समीक्षकों ने लोकोत्तरानन्द की अपेक्षा लोकानन्द को ही प्रमुखता प्रदान की है।[2] उनकी लोक-कल्याण भावना इतनी विकसित होने लगी थी कि वे मार्क्सवादी दर्शन के अनिवार्य तत्त्व रक्त-क्रान्ति के भयंकर दृश्यों की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे। वे इस शोध में अग्रसर हुए कि व्यक्तिगत सम्पत्ति भी मिट जाए और जनता के एक वर्ग को मृत्यु के कराल मुख में भी न झोंकना पड़े। मूलतः यह भावना भारतीय सर्वहितवाद के विपरीत पड़ती थी अतः वेदान्त की ओर इस युग का आकर्षण अनिवार्य ऐतिहासिक परिणति है।[3]

सामयिक प्रश्नों में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न भी आता है, चूँकि इस युग में यह प्रश्न अति सामान्य तथा मुख्तः राजनैतिक बन गया था अतः समीक्षा में उसको यथेष्ट स्थान नहीं मिला और दूसरा कारण था इस सम्बन्ध में मध्यवर्गीय चिंतन की एकरूपता। जब लोगों के मन में इस विषय को लेकर मतभेद नहीं था तो स्वाभाविक ही था कि इस पर विवेचन अवांछित है, फिर भी प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों में इस प्रश्न की ध्वनि हमें सुनाई देती है।[4]

कांग्रेस का स्वातन्त्र्य आन्दोलन जहाँ हमारी राजनैतिक चेतना का प्रतीक था वहाँ गांधी-दर्शन हमारी संस्कृति को नवीन आदर्श प्रदान कर रहा था। इन दोनों तथ्यों की स्वीकृति इस युग की समीक्षा में प्राप्त हो जाती है। समीक्षक बार-बार चेतावनी देता था कि देशभक्तिपूर्ण साहित्य रचा जाना चाहिए।[5] इस युग की राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधिनी न हो कर उसकी पूरक थी। उसका नारा था—"आज का साहित्य एकदेशीय अथवा एकजातीय होकर उन्नति नहीं कर सकता, उसे सार्वभौम बनना ही होगा।"[6] जो देशीय है वही अन्तर्राष्ट्रीय हो सकता

1. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० ८१।
2. मुकुटधर पांडेय : सरस्वती : दिसम्बर १९२१ : पृ० ३३९।
3. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० ६७।
4. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : प्रबंध-पद्म : पृ० १६।
5. डा० रामकुमार वर्मा : साहित्य समालोचना : पृ० ३०।
6. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० २०६।

है, यह नियम स्वीकार किया गया। धार्मिक क्षेत्र में मक्का और जरूसलम आदि की जो क्षेत्रीय या जातीय (धर्म सम्बन्धी) भावनाएँ चल रही थीं उन्हें भी सार्वभौमता की दशा दी गई है।[1] वेदान्त की भावना इस युग को उसके इस उद्देश्य तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध हुई, इससे व्यक्तियों का समष्टि-अनुभव अविभाजित होकर खण्ड-क्रिया को रोकने वाला सिद्ध हुआ जिससे साहित्य के उद्देश्य की प्राप्ति में सहजता आई।[2] समीक्षा में जिस सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् की मान्यता स्वीकृत हुई उसका आधार भी लोकहित तथा सार्वभौम तत्त्व ही माना गया —"साहित्य वह है जो सत्य है, वह है जो संसार की सबसे बड़ी चीज है। साहित्य लोक को आनन्द दे सकता है। लोकोत्तर का अर्थ है 'लोक' जो कुछ दीख पड़ता है, उससे और दूर तक पहुँचा हुआ। ऐसा साहित्य मनुष्य मात्र का साहित्य है, भावों से, केवल भाषा का एक देशागत आवरण उस पर रहता है।"[3] सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के सिद्धान्त की व्याख्या हुई तथा सिद्धान्त निर्धारण के लिए भी कुछ ढिलाई स्वीकृत हुई, जिससे समीक्षा-सिद्धान्त और नियम व्यापक और लोचदार बन सकें, जिनके आधार पर साहित्य की निरन्तर विकसित और परिवर्तित होती हुई उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन होता रहे। डा० रामकुमार वर्मा की दृष्टि कितनी व्यापक है जब वह लिखते हैं—"आवश्यकता इस बात की है कि साहित्य की समीक्षा करने के लिए जो भी नियम या सिद्धान्त बनाये जाएँ, वे इतने व्यापक और लचीले हों कि वे साहित्य की विकासोन्मुखी प्रवृत्ति के अनुरूप स्थानान्तरित होती हुई दृष्टि को अपने में सामाहित कर सकें।"[4]

छायावादी-काव्यशास्त्र का जो रूप विकसित हो रहा था उसमें समुचित योग देने वाले कवि-समीक्षकों ने अतिभावुकता, कल्पना-प्राचुर्य, पलायनवाद तथा ईश्वरीय सत्ता की महानता के समक्ष मानवीय सत्ता की नगण्यता आदि खामियों में न फँसने की बार-बार चेतावनी दी[5] और इनके विरोधी प्रगतिशील तत्त्वों को स्वीकार किया। साधारणीकरण के प्रश्न को उसकी प्रगतिशीलता के कारण स्वीकार किया गया, 'साहित्य को जनता के हृदय के स्पन्दन के साथ' जुड़ना चाहिए तभी साहित्य में वह शक्ति आ पाएगी जो दूसरों के हृदय को खींच सके। हृदयों की यह एकता साहित्य की उद्देश्य-पूर्ति का विधान रचती है। "राग का अर्थ आकर्षण है, यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिच कर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक भाव हो जाता है।"[6]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : प्रबंध-पद्म : पृ० १६१।
2. वही, पृ० १६२।
3. वही, गीतिका, भूमिका : पृ० ५।
4. डा० रामकुमार वर्मा : साहित्य-शास्त्र : दृष्टिकोण : पृ० २।
5. वही, पृ० १८ से २१ तक के आधार पर।
6. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यांश : पृ० १६।

इस युग में यह स्वीकार कर लिया गया कि संसार की प्रत्येक वस्तु काव्य का विषय बन सकती है। काव्य में यह शक्ति है कि वह नगण्य को भी अपनी विशिष्टता से रंग कर रागयुक्त बनाती तथा साधारणीकृत कर देती है।[1] इन्होंने शृंगार-प्रधान रीतिकालीन काव्य की मनोरंजनकारी कल्पना का विरोध किया—"शृंगारप्रिय कवियों के लिए शेष रह ही क्या गया ? उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रोपदी के दुकूल की तरह फैलकर 'नायिका' के अंग-प्रत्यंग से लिपट गई।"[2]

मार्क्सवादी समीक्षा में व्यंग्य की मान्यता सर्व-स्वीकृत है। छायावाद में भी इसे यथेष्ट महत्त्व दिया गया है। महादेवी वर्मा घृणित, कुत्सित तथा विकृतिपूर्ण चित्रण वाले यथार्थवाद (अतियथार्थवाद) को समाजोपयोगी न पाकर उस पर व्यंग्य करती हैं कि इस कोटि का यथार्थवाद हमें क्या दे सकता है ? इससे हमारे नैतिक पतन का नग्न रूप ही स्पष्ट होता है।[3] उनकी व्यंग्य-शक्ति अपूर्व है जिसमें वह उन द्विवेदी-युगीन समीक्षकों को भी लपेट लेती हैं जो छायावाद के प्रति किंचित मात्र भी सहानुभूति नहीं रखते थे।[4] छायावादी समीक्षक जब हिन्दी का अहित होते देखता था, तब वह अन्य साधनों के साथ-ही-साथ व्यंग्य का आश्रय भी ग्रहण करता था। इसके लिए हिन्दी सबसे पहले थी और बड़े-से-बड़ा व्यक्ति उसके पश्चात्। इसी भावना ने निराला से कहलवाया है—"ऐसी भावना से प्रेरित हो कुछ कवियों ने कलम के कुल्हाड़े से राष्ट्रभाषा की लकड़ी से काव्य के कुछ चैले चीरे भी है, जिनके मुकाबले 'शुष्कं काष्ठं-तिष्ठति अग्रे' बहुत सरस है।"[5]

भावपक्ष और कलापक्ष का समन्वय ही कला की सफलता का रहस्य माना गया है। मार्क्सवादी-समीक्षा भी इसे स्वीकार करती है कि महान् कला की टैकनीक, अभिव्यक्ति सरस, अनुभूतिपूर्ण तथा भावपक्ष की गरिमा के अनुकूल होती है।[6] यही मान्यता छायावादी समीक्षा को भी स्वीकार हुई है—"भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जहाँ भाव और भाषा में मैत्र अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के वटु-समुदाय ही, दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते, तथा साम-ध्वनि करते दिखाई देते हैं।"[7] अन्य छायावादी समीक्षक भी भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का समन्वय करना समीचीन मानते हैं। तभी प्रसादजी ने लिखा है—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : गीतिका, भूमिका : पृ० ५।
2. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० ७ :
3. महादेवी वर्मा : आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका : पृ० २१।
4. डा० वेंकट शर्मा : आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास : पृ० ३९।
5. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : प्रबंध पद्म : पृ० १०।
6. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ : पृ० २५।
7. सुमित्रानन्दन पन्त : पल्लव प्रवेश : पृ० १८।

अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है "[1]

इस युग में शैली-शिल्प में जो नवीन प्रयोग हुए थे इन कवि-समीक्षकों ने उनकी पुष्टि सैद्धान्तिक स्तर पर भी की है। मुक्तछन्द छायावाद का एक प्रगतिशील तत्त्व रहा है, जिसमें कविता को व्यावहारिक जीवन के अधिक निकट लाया गया है। रीतिकाल में कविता गाकर सुनाई जाती थी, छायावाद में उसे पढ़ा जाने लगा,[1] उसमें युगानुरूप पौरुष लाया गया है।[2] पन्तजी ने इस छन्द की मान्यता की संस्तुति करते हुए कहा कि इसमें भाव तथा भाषा का समन्वय होता है—"इस मुक्त-छन्द की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामंजस्य पूर्णरूप से निभाया जा सकता है।"[3]

छायावाद-युग के समीक्षक मार्क्सवादी विचारधारा के सीधे सम्पर्क मे आगए थे। अतः उनका मार्क्सवाद से प्रभावित होना स्वाभाविक है, किन्तु उनमें से कोई भी खुलकर अपने को न मार्क्सवादी कह सका है और न सैद्धान्तिक रूप से उन्होंने प्रगतिवाद को पूर्णरूप से अपनाया है। अतः उन पर पड़ा हुआ प्रभाव प्रच्छन्न ही है।

## निष्कर्ष

छायावाद-युग के मीमांसकों ने सामान्यतः इस युग को व्यक्तिवादी मान्यताओं से आक्रान्त कहा है और इस मान्यता का आधार इस युग के कवि-समीक्षकों की वे प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्तिवाद के आवरण में प्रकट हुई हैं। इस युग मे प्रगीतात्मकता को प्रमुखता मिली और अनिवार्य रूप से इसके लिए व्यक्तिवादी शैली अपनाना स्वाभाविक था। इस शैली के पीछे मान्यता सामाजिक व्यथा एवं अभाव की है।[4] मार्क्स ने धर्म में अभिव्यक्त दुःख को व्यक्तिगत दुःख का प्रतिफलन कहा है। उसी आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य तथा समीक्षा सिद्धान्तों का वैयक्तिक दुःखवाद, सामाजिक काव्य और अभाव की दार्शनिक प्रतिपत्ति है।

---

1. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबंध : पृ० १४ ।
2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : प्रबंध-पद्म : पृ० ६० ।
3. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० ३४ ।
4. मैंने 'मैं' शैली अपनाई ।
   देखा एक दुखी निज भाई,
   दुख की छाया पड़ी हृदय में,
   झट उमड़ वेदना आई । (निराला : अनामिका)

साहित्य और कला पर मार्क्सवादी मान्यतानुसार अर्थ सम्बन्धों का प्रभाव सीधा-सीधा नहीं पड़ता और उसकी मीमांसा कर सीधे-सीधे उत्तर नहीं खोजे जा सकते हैं। छायावादी समीक्षा की सामाजिकता का प्रश्न इस सिद्धान्त का एक सुन्दर उदाहरण है। प्रतीत यह होता है कि इस युग की समीक्षा एक ओर राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन से और दूसरी ओर विकसित होती हुई सामाजवादी आर्थिक चेतना से प्रभावित हो रही थी, किन्तु यह अपने में अपूर्ण कथन है क्योंकि इस युग की सामाजिकता के प्रेरणास्रोत कुछ अन्य भी थे जिनके सूत्र प्रत्यभिज्ञादर्शन के आनन्दवाद, गांधीवाद, विवेकानन्द के आध्यात्मिक आत्मविस्तारवाद, द्विवेदी-युग के विस्तारवाद तथा अंग्रेजी रोमांटिक समीक्षा के समानता, स्वतन्त्रता एवं बन्धुत्ववाद में बिखरे मिलते हैं। जिन प्रगतिवादी समीक्षकों ने सीधे-सीधे परिणाम निकालने के लिए अपने ढंग से इस युग का आकलन किया है, उनसे समीक्षा-क्षेत्र में भ्रान्ति ही अधिक फैली है।

छायावाद-युग की समीक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह माना जा सकता है कि उस काल में जिस आर्थिक-सामाजिक क्रान्ति, सामाजिक साम्य तथा साम्राज्यवाद का विरोध उभर कर ऊपर आया है उसे शुद्ध विदेशी प्रभाव मानना जैसा कि अधिकांश समीक्षकों ने माना है—असमीचीन है। इस सम्बन्ध में पूर्व-परम्परा, तत्कालीन परिस्थितियों तथा परिवर्तित काव्यात्मक स्थिति ने उन तत्त्वों को उभार कर सामने ला दिया, जिनका बीज बपन भारतेन्दु-युग में हुआ था तथा द्विवेदी-युग ने जिन्हें अंकुरित करके भारतीय मिट्टी-पानी से पोषित करना आरम्भ कर दिया था, इससे सिद्ध है कि प्रगतिवादी समीक्षा का आन्दोलन विदेशों से उधार लिया हुआ न होकर भारतीय साहित्य की ऐतिहासिक आवश्यकता का अनिवार्य परिणाम है।

प्रत्येक युग अपनी विशिष्ट विचारधारा, भावनास्तर तथा दृष्टिकोण लेकर आता है। उस युग का जो साहित्य इस सबको पचाकर तथा युग के प्रगति चरणों की सही दिशा के प्रकाश में अपनी कला द्वारा जन-सामान्य के लिए रागमय पथ प्रशस्त करता है, वह प्रगतिशील कहलाता है। इस कसौटी पर यदि छायावादी समीक्षा को कसा जाय तो वह खरी उतरती है। इस युग की समीक्षा प्रगतिवाद के उपयोगितावादी, जनकल्याणकारी एवं ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार करके चली है। पन्तजी ने इस सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डाला है।[1]

महादेवी वर्मा की दुःखवादी मान्यताओं को वैयक्तिक तथा असमाजवादी कहा गया है, किन्तु, इस संदर्भ में मेरा विनम्र निवेदन है कि जिस कवियित्री ने अपने गद्य-साहित्य में नारी की दासता, शोषण, आर्थिक असमानता, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद आदि का खुलकर विरोध किया है तथा मानवतावादी प्रगतिशील विचारों की स्थापना की है, वह अपने काव्य में इसके एकदम विपरीत प्रतिक्रियावादी कैसे हो सकती है?

---

1. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० ७६-७७ के आधार पर।

वस्तुस्थिति यह है कि उनका दु:खवाद युग की वेदना, निराशा तथा विषमता की अभिव्यक्ति है जो ऐतिहासिक क्रम में काव्य द्वारा वैयक्तिक स्तर पर इसी रूप में प्रकट होने को बाध्य है। सामन्ती एवं पूँजीवादी युगों के संधिस्थल पर खड़े होकर उन्होंने अपने काव्य में युगीन मनोदशा को वैयक्तिक स्तर पर मुखरता प्रदान की है।

## आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना और मार्क्सवाद

### भौतिकवादी दृष्टिकोण

हिन्दी आलोचना में इतिवृत्तात्मक युग का विकसित रूप छायावादी समीक्षा है। जब एक ओर छायावादी समीक्षा पनप रही थी तभी दूसरी ओर आचार्य शुक्ल अपने आलोचना-सिद्धान्तों से हिन्दी-जगत् को प्रकाशित कर रहे थे। यहाँ प्रगतिवादी समीक्षा तत्त्वों के क्रमिक विकास को दिखाने के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि द्विवेदी-युग के क्रम में पहले छायावाद को लिया जाय, इसी कारण आचार्य शुक्ल को छायावाद-युग के पश्चात् लिया गया है। इसका आधार काल-क्रम न होकर इतिहास-क्रम को स्पष्ट करना रहा है।

आचार्य शुक्ल का जो मूल्यांकन अब तक हुआ है उसमें परस्पर-विरोधी मतों का अतिवादी रूप ही प्रमुख स्थान लेता आया है। यह बात अब हिन्दी पाठकों के लिए अपरिचय की नहीं रही है कि आचार्य शुक्ल पर भौतिकवादी विचारधारा तथा वैज्ञानिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने 'विश्वप्रपंच',[1] शीर्षक से Riddle of the Universe[2] का अनुवाद किया। इसे अनुवाद मात्र कहना अनुपयुक्त होगा, क्योंकि इस ग्रंथ में आचार्य शुक्ल ने अपनी ओर से एक विस्तृत भूमिका लिखी है तथा पाद-टिप्पणियाँ दी हैं। इन टिप्पणियों में उनका भौतिकवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ है। इस दृष्टिकोण के व्यापक प्रभाव को हम उनकी समीक्षा के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों पहलुओं के साथ ही इतिहास तथा निबन्धों पर भी पड़ता देखते हैं।

वह मार्क्स के समान जगत् को सत्य तथा विकासशील मानते हैं,[3] अध्यात्मवादियों के समान जड़ और स्थिर नहीं। भूत या पदार्थ के सृजन, सिंचन और संहार के लिए उन्हें ब्रह्मवादियो की शरण में नहीं जाना पड़ा है। पदार्थ को वह अनादि और अनन्त मानते हैं।[4] 'विश्व में जितना द्रव्य (matter) है, उतना ही सदा से है और सदा रहेगा। उतने से न घट सकता है, न बढ़ सकता है।'

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : विश्वप्रपंच : प्रकाशन सन् १९२० (ना० प्र० सभा, काशी)।
2. जर्मन दार्शनिक 'हेकल' की लिखी हुई पुस्तक।
3. M. Cornforth : Dialectical Materialism : Vol. I, page 48.
4. विश्वप्रपंच : पृ० १२।

मार्क्सीय दर्शन में गति और पदार्थ को अविभाज्य माना गया है। गति बिना पदार्थ के उसी तरह नहीं हो सकती जिस प्रकार कि पदार्थ की स्थिति बिना गति के नहीं होती।[1] आचार्य शुक्ल इस मान्यता की स्वीकृति इन शब्दों में देते हैं[2] "द्रव्य और शक्ति (गति) का नित्य सम्बन्ध है। एक की भावना दूसरे के बिना हो ही नहीं सकती। न शक्ति के बिना द्रव्य रह सकता है और न द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति कार्य कर सकती है। अपने चारों ओर हम जो कुछ देखते हैं, वह सब द्रव्य और शक्ति का ही कार्य है।"

उन्हें द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त भी मान्य रहा है, इसीलिए उन्होने परस्पर-विरोधियों को एकत्रित देखा तथा विरोध-युग्म में अन्विति के दर्शन किए हैं[3] किन्तु यह स्वीकृति सीधे-सीधे सैद्धान्तिक स्तर पर न होकर व्यावहारिक पक्ष में हुई है।[4]

शुक्लजी का दृष्टिकोण भौतिकवादी होने के कारण उन्होंने प्रकृति में वही सत्ता मानी है जो मनुष्य में है।[5] उनकी धारणा है कि प्रकृत्ति का उद्देश्य सृष्टि का विकास है।[6] प्रकृत्ति द्वारा जगत् की रचना ठीक उस प्रकार हुई मानी गई है जिस प्रकार माता की कोख में भ्रूण का पालन एवं विकास होता है।[7] उनकी दृष्टि में परिवेशमात्र प्रकृति की देन न होकर आनुवंशिक विशेषताएँ भी प्रकृति द्वारा प्राप्त हुई हैं।

आचार्य शुक्ल ने अपनी आस्था हेकेल तथा डार्विन के विकासवाद में बहुत गहराई तक प्रकट की है। विकास का अर्थ उनकी समझ से एकरूपता से अनेकरूपता और निरन्तर प्रवाहित होने वाली गति मात्र है।[8] शुक्लजी मानते हैं कि गति के अपने नियम हैं, जगत् के सम्पूर्ण व्यापार इन्हीं नियमों से संचालित रहते हैं। जगत् का निर्माण परमाणुओं द्वारा हुआ है। परमाणुओं से अणु और अणुओं से पदार्थ निर्मित हुआ है। परमाणुओं में आकर्षण की शक्ति है। परमाणु जब अपनी प्रकृति वाले परमाणुओं से मिलते हैं तब द्रव्य की उपलब्धि होती है। एक द्रव्य से दूसरा और दूसरे से तीसरा निर्मित होकर जगत् की सृष्टि हुई है।[9]

शुक्लजी स्थिर योनि-सिद्धान्त में किंचित आस्था नहीं रखते। उन्हें मान्य है कि जीव-सृष्टि क्रमशः एक में विकसित होकर दूसरी, तीसरी—विकासवाद के अनुसार

---

1. M. Cornforth : Dialectical Materialism : Vol. I, page 55.
2. विश्वप्रपंच ; पृ० १२।
3. डा० रामविलास शर्मा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना।
4. वही, पृ० २८२, २५३ तथा २५५ के आधार पर।
5. विश्वप्रपंच ; पृ० ३३, ३६।
6. वही, पृ० २८-२६।
7. वही : पृ० २७।
8. वही, पृ० ११२।
9. वही, पृ० ६, ७, ६, १०, ११ के आधार पर।

हुई है।[1] जात्यन्तर परिणाम का सिद्धान्त उन्हें पूर्णतः मान्य है।[2] इस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि एक जाति के जीव से दूसरी जाति के जीव का विकास होता है। लाखों वर्षों में एक रूप से अनेक रूप बने हैं, एक ढाँचे के अनेक ढाँचों का क्रमशः विकास होता चला गया है।[3]

सृष्टि-विज्ञान के सम्बन्ध में वह मानते हैं कि जिस विशिष्ट प्रकार के गुण की प्रधानता वाले परमाणु मिल गए उनसे उसी गुण की प्रधानता वाला पदार्थ बन गया। पहले छोटे-छोटे और सामान्य कोटि के पदार्थ बने होंगे और कालान्तर में धीरे-धीरे उनसे क्रमिक रूप से विकसित होकर उन्होने बड़े-बड़े एवं जटिल रूप ग्रहण किए होंगे। पहले जल बना होगा और उसी से जीवन अस्तित्व में आया होगा,[4] और तभी पौधों और वृक्षों का सृजन सम्भव हो सका होगा। क्रमशः जीव उत्पन्न हुए होंगे किन्तु उनमें सर्वप्रथम जल-जीव ही अस्तित्व में आए होंगे। फिर क्रमशः जल-थल-चारी, सरीसृप, पक्षी, दुग्धपायी, जरायुज तथा वनमानुष आदि का विकास हुआ होगा। वनमानुष से मनुष्य का विकास हुआ है। इन्द्रियों का विकास भी धीरे-धीरे हुआ है।[5] शुक्लजी ने यह स्वीकार किया है कि सजीव की उत्पत्ति निर्जीव से हुई है। जीवन के लिए अन्य तत्त्वों की अपेक्षा जल-तत्त्व का अधिक एवं प्राथमिक महत्त्व है।) वह मानते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों और अन्तःकरण का निर्माण भी विभिन्न प्रकार के परमाणुओं से हुआ है।[6] हेकेल, डार्विन एवं शेफर आदि विद्वानों की मान्यताओं को आचार्य शुक्ल ने स्वीकार तो किया है किन्तु एक सीमा तक। उन्होंने स्पष्ट रूप से अपना यह मतभेद भी प्रकट कर दिया है कि हेकेल आदि के समान वह चैतन्य को द्रव्य का परिणाम मात्र नहीं मानते, वह आत्मा की स्थिति स्वीकार करते हैं। वह विकासवादी कोटि के आत्मवादी है। उन्हें आत्मा वृत्ति या द्रव्य-गुण के रूप में अमान्य है। वह उसे सत्ता मात्र मानते हैं जो भूतों से परे और स्वतन्त्र है। वह गति को नियन्त्रित नहीं करती, विधि का निर्माण करती है वह अकर्त्ता और व्यापार-हीन है।[7]

(शुक्लजी ने समाज, धर्म, संस्कृति, दर्शन, ईश्वर-भक्ति आदि पर इस ग्रंथ की भूमिका में विचार किया है और इस सम्बन्ध में भी उनके विचार ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हैं।) मार्क्स जिस प्रकार उपर्युक्त सारे तत्त्वों का विकास

---

1. विश्वप्रपंच, पृ० २५।
2. वही, पृ० २६।
3. वही, पृ० ३०।
4. वही, पृ० ९२।
5. वही, पृ० २३, २४, ५३ के आधार पर।
6. वही, पृ० ३२, ५३, ५४, ५५ के आधार पर।
7. वही, पृ० ८३, ८४ के आधार पर।

ऐतिहासिक क्रम में निरन्तर परिवर्तित होता देखता है उसी प्रकार शुक्लजी भी मानते हैं कि जैसे-जैसे समाज का रूप बदलता जाता है, वैसे ही वैसे देशकालानुसार धर्म के स्वरूप में भी विकास होता चला गया है।[1] धर्म और अधर्म की भावनाओं का आधार वह लोकरक्षा मानते हैं, न कि ईश्वर या अलौकिक शक्ति।[2] धर्म लोक की धारणा, संचालन तथा कल्याण के लिए निर्मित हुआ है। अनेक धर्मों के भिन्न-भिन्न रूपों का कारण देशकालगत अन्तर ही माना गया हैं। कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जो सृष्टि के आदिम युग से आज तक उसी रूप में चला आ रहा हो।[3] ईश्वर-भक्ति में उन्हें किसी विशिष्ट देवी-देवता का आग्रह नहीं है। इस सम्बन्ध में उन्हें गीता की यह मान्यता स्वीकार है कि जो ईश्वर के जिस रूप को भजेगा उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होगी।[4] उनकी भौतिकवादी तथा धार्मिक भावनाओं को समन्वित रूप में देखने पर हम कह सकते है कि वह आत्म और शरीर, जगत् और जीवन, बुद्धि और हृदय, व्यक्ति और समाज, कला और विज्ञान के समान विकास के पक्षपाती हैं।

मार्क्स के समान वह साहित्य और जीवन का नित्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। साहित्य को जीवन से अलग हटाने वाले दार्शनिकों तथा मान्यताओं का उन्होंने खण्डन किया है—"काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं। 'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।"[5] मार्क्स ने यथार्थवादी दृष्टिकोण को साहित्य में स्वीकार करने का परामर्श दिया था। आचार्य शुक्ल ने 'उसने कहा था' को हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी घोषित करते हुए लिखा—"इसमें पक्के यथार्थवाद के बीज, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष, अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है।"[6] और इसका कारण है, यथार्थवाद। यह ठीक है कि इस यथार्थवाद का रूप लोकमंगलकारी है और इसमें तदनुरूप आदर्श का अनिवार्य संयोजन है। जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है। गोर्की के यथार्थवाद की मान्यता इसी कोटि की है। मार्क्स सौंदर्य को गतिशील मानता है, न कि स्थिर। सत्य के समान उसकी सौंदर्य-मान्यता सापेक्षतावादी है न कि निरपेक्ष। इसे द्वन्द्वात्मक विकास की कसौटी सिद्ध करती है। आचार्य शुक्ल ने मार्क्स की इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया है वरन् सौंदर्य को मंगल के साथ जोड़ कर दिखाया है एवं गति के समान

---

1. विश्वप्रपंच, पृ० ९४।
2. वही, पृ० ९२, ९३, ९४।
3. वही, पृ० ९४।
4. वही, पृ० १५४।
5. वही, रस मीमांसा : पृ० २०१।
6. वही, हिन्दी साहित्य का इतिहास : ५५७-५५८।

उसमें नित्य परिवर्तन की स्थिति मानी है—"अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर और निर्विशेष (static and absolute) सौंदर्य का मंगल कहीं नहीं है। वह केवल किसी वाद के भीतर ही मिल सकता है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में गत्यात्मक सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है। सौंदर्य-मंगल की यह गति नित्य है। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है।"[1]

मार्क्स ऐतिहासिक आधार पर समाज एवं वर्गसंघर्ष की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इतिहास को वह समाज के बदलते हुए सम्बन्धों की कहानी कहता है। इतिहास में परिवर्तन का आधार आचार्य शुक्ल ने भी जनता की बदलती हुई मनोवृत्ति माना है—"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।"[2]

इस विवेचन के आधार पर यह कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल की मान्यताओं में इस प्रकार की आन्तरिक एकता के दर्शन होते हैं। उन्होने किसी 'वाद' में बंधना असमीचीन समझा है। सारी मान्यताओं को इन्होने बुद्धि की कसौटी पर कसा—और जो कुछ उन्हें व्यावहारिक एवं निजी अनुभव में सत्य प्रतीत हुआ उसी को निस्संकोच भाव से स्वीकार किया। उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन की सीमाओं का विवेचन करके अपने पूर्वाग्रहमुक्त रूप का स्पष्ट दिग्दर्शन करा दिया है। शुक्लजी के लिए न परलोक था और न लोक को किसी चश्मे-विशेष से देखने का आग्रह। जिस प्रकार वह कविता का 'वाद' में फंसना अनुचित समझते थे उसी तरह समालोचना को भी नित्य परिवर्तित होते हुए जीवन से जोड़कर देखना ही उन्हें इष्ट था। जीवन उनका लक्ष्य भी था और माध्यम भी।

## आचार्य शुक्ल की आलोचना में लोक-संग्रह भाव

आचार्य शुक्ल की समीक्षा का एक प्रमुख तत्त्व लोक-संग्रह का भाव है। उन्होंने कविता की परिभाषा करते हुए उसे इसी दृष्टिकोण से देखा है। काव्य तथा समीक्षा में जीवन के समान ही वे लोक-संग्रह को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। 'शील' को महत्त्व प्रदान करते हुए उन्होंने लिखा है—"जनसाधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है, क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य-मात्र की सामान्य स्थिति-रक्षा से है। इसके अभाव में समाज या उस आधार की स्थिति ही नहीं रह सकती जिसमें कलाओं की उपयोगिता या मनोहारिता का प्रसार और साधन-सम्पत्ति की

1. रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि : प्रथम भाग : पृ० ८७।
2. वही, हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल-विभाग।

प्रचुरता का वितरण और व्यवहार होता है।'[1]

शुक्लजी उसी काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं जो शील-विकास एवं हृदय-प्रसार कर सके तथा जगत् में कर्म-सौंदर्य की छटा दिखा सके।[2] काव्य तथा कथाओं से जिस प्रकार के आनन्द की प्राप्ति अभीप्सित है, वह साधारणीकरण पर निर्भर है। इस विवेचन में भी उनका लोक-संग्रही भाव निम्न पंक्तियों में स्पष्ट हुआ है—'सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो। जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। उसी लोक-हृदय में लीन होने का नाम रसदशा है।'[3]

आचार्य शुक्ल को लोकमंगल की मान्यता का जो रूप स्वीकृत है उसमें न व्यक्तित्व का लोप होता है और न अतिव्यक्तिवाद ही प्रमुख हो जाता है। वहाँ व्यक्ति और समाज एक दूसरे से युक्त होकर आते हैं।[4] उनका सिद्धान्त-निरूपण भी लोक को प्रमाण मानकर चलता है। रस की व्याख्या करते हुए अनेक विद्वानों ने आनन्द को लोकोत्तर मानकर यह तक कह दिया है कि उसका सम्बन्ध लौकिक भावों से न रहकर अलौकिक से होता है। शुक्लजी को यह मान्यता स्वीकृत नहीं है। साहित्य के भाव लौकिक होते हैं तथा लौकिक ही बने रहते हैं, एवं जिस आनन्द की अनुभूति साहित्य द्वारा होती है वह भी लौकिक ही होता है। उन्होंने, 'लोकोत्तर' और 'अनिर्वचनीय' आदि शब्दों द्वारा जत्पन्न हो जाने वाले भ्रम का भी निराकरण किया है—"मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता 'लौकोत्तर' 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके वाचकत्व परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित होता है। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि का आनन्द का रूप धारण करके ही स्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते ?'.....इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।"[5] शुक्लजी ने लोक-संग्रह को आधार मानकर ही रस की मध्यम-कोटि को मान्यता दी है। शास्त्रीय पद्धति से जो कुछ विवेचन हुआ है, व्यवहार में उससे काम न चलता देखकर उन्होने लिखा है—'कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, प्रथम भाग : पृ० २७।
2. वही, अभिभाषण : पृ० ४०।
3. वही, चिंतामणि, प्रथम भाग : पृ० २२७।
4. वही, पृ० २३८।
5. रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा : पृ० १०१।

तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पत्र के शील-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मक को हम मध्यम-कोटि की ही मानेंगे।"[1]

आध्यात्मिकता का उन्होंने डटकर विरोध किया है। जगत् को सत्य मानने वाला साहित्यकार लोक को प्रमाण मानकर चलेगा इसीलिए वह 'अध्यात्म' शब्द को कला के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं देना चाहता है।"[2] लोकमंगल को सर्वप्रथम स्थान देने के कारण ही आचार्य शुक्ल ने क्षात्रधर्म की मान्यता को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में क्षत्रिय वह है जिसके शस्त्र ग्रहण कर लेने पर जगत् में में कोई शोषित, दुःखी और तृप्त न रहे। सारे समाज और देश के सारे वर्गों को साथ लेकर चलने वाली विशिष्टता के कारण ही उन्हें क्षात्रधर्म मान्य है—"जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्रधर्म है। क्षात्रधर्म के इसी व्यक्तित्व के कारण हमारे प्रमुख अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय है।"[3]

लोक-संग्रह के लिए यह अनिवार्य है कि धर्म की जय तथा अधर्म की पराजय दिखाई जाय। भारतीय काव्य की इसी मान्यता को अपने काव्य की कसौटी बनाने वाले आचार्य शुक्ल ने पाप का फल छिपाने वाले को पाप छिपाने वाले से अधिक बड़ा अपराधी माना है। धर्म की स्थापना के लिए वह संघर्ष को अनिवार्य मानकर ही महाभारत की प्रशंसा करते हैं—'यदि अधर्म में तत्पर कौरवों का नाश न होता और पाँडव जीवन भर मारे-मारे ही फिरते तो संसार में अन्याय और अधर्म की ऐसी लीक खिंच जाती जो मिटाए न मिटती।"[4]

वर्तमान समाज के अभिशापों और दीनता के कारणों को वह खूब समझते थे और उनकी ओर इंगित करने का अवसर पाते ही वह नहीं चूकते हैं। उन्हें समाज में किसी भी मूल्य पर अभिमानालय और खुशामदखाने नहीं चाहिएँ। सामाजिक-असमानता और वर्गसंघर्ष से बच निकलने की वृत्ति उनकी नहीं है। उन्होंने देशवासियों को संगठित होकर अँग्रेजा का सामना करने के लिए ललकारा है। उनकी देशभक्ति ही विश्व-भक्ति का द्वार है। वह परस्पर-विरोधी दिखाई देने वाले धर्मों में भी एकता स्थापित करके चलते हैं।[5] उन्होंने इनके परस्पर अंगांगिभाव को स्पष्ट रूप से दिखाया है—"गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोक-धर्म से विश्वधर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण धर्म अंगी है और शेष धर्म अंग।"[6] इन धर्मों की रक्षा के लिए वे हिंसा को भी अनिवार्य

1. रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग १ : पृ० २३१।
2. वही, रस मीमांसा : पृ० ६६।
3. वही, चिंतामणि, प्रथम भाग : पृ० ४२।
4. वही, पृ० ३६-३७।
5. वही, पृ० २०८।
6. वही, पृ० २०८।

मानते हैं। उन्हें क्षमा भी माना है, किन्तु क्षमा के असफल होने पर क्रोध की आवश्यकता मान्य है। "क्षमा जहाँ से श्रीहत हो जाती है वहीं से क्रोध में सौंदर्य का आरम्भ होता है।"[1] उन्होंने लोकमंगलकारी मान्यताओं को ही समीक्षा की कसौटी माना है। उन्हें वही वियोग-वर्णन श्रेष्ठ प्रतीत हुआ है जो स्वकीया का है तथा जिससे पुनीत प्रेम का सौंदर्य प्रकट होता है, इसीलिए नागमती वियोग-वर्णन की वह प्रशंसा करते हैं।[2] जिस प्रेम के वर्णन से सम्पूर्ण जीवन-यात्रा आलोकित हो उठती हो तथा प्रिय के कल्याण के साथ ही अन्य असंख्यों का भी कल्याण होता हो, वही प्रेम-मार्ग सफल है। जीवन को एकांत की ओर ले जाने वाला प्रेम उन्हें व्यर्थ की बेगार लगती है। सीता-राम का प्रेम उनके लिए इसी कारण आदर्श है और गोपी हेय है।[3]

सौंदर्यशास्त्र का लोकमंगलकारी रूप निश्चित करते हुए उन्होंने सौंदर्य और मंगल को एक ही माना है। कला में जिसे वे सौंदर्य कहते हैं उसी को लोकधर्म में मंगल की संज्ञा देते हैं। बस लोकमंगल और सौंदर्य को उन्होंने निरंतर गतिशील कहा है।[4] वह व्यक्त सौंदर्य और मंगल को ही ग्राह्य मानते हैं, जो अव्यक्त है, अगोचर है वह आलम्बन कैसे बनेगा? उससे रसानुभूति कैसे होगी? इस प्रश्न को उन्होंने अनेक प्रकार से उठाया है तथा कविता का सम्बन्ध अव्यक्त सत्ता से विच्छिन्न कर दिया है।[5] रहस्यवादी काव्य इसी कारण उन्हें उत्तम कोटि का प्रतीत नहीं हुआ और छायावादी मूल्यांकन करते समय यह बात उनके मन में निरन्तर बनी रहती है। वह अव्यक्त और व्यक्त को सापेक्ष मानते हैं। अव्यक्त को वह जिज्ञासा मात्र का विषय स्वीकार कर सकते हैं, प्रेम का नहीं।"

धर्म का स्वरूप निर्धारण करते समय उनकी दृष्टि परलोक और अध्यात्मवाद पर नहीं है वरन् लोकमंगल पर है। उनके लिए लोकमंगल का विधान ही धर्म है 'वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, "अभ्युदय की सिद्धि होती है, धर्म है।"[6] "लोकमंगल के कारण ही उन्होंने सगुणोपासक भक्त कवियों तथा महाकाव्यों को श्रेष्ठ माना और उनकी अपेक्षा निर्गुणवादियों, रहस्यवादियों, कलावादियों, व्यक्तिवादियों, जीवन के खंडित चित्र देने वालों तथा जगत् को असत्य मानने वालों का तीव्र खंडन किया है। राम को जो आदर्श नायक माना उसका कारण उनके चरित्र में पूर्ण मानवत्व की कल्पना है—"सारा वाह्य

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग १ : पृ० १३७।
2. वही, जायसी ग्रंथावली : भूमिका : पृ० ३५।
3. वही, चिंतामणि, प्रथम भाग : पृ० ६० तथा भ्रमरगीतसार : भूमिका : पृ० ४।
4. वही, चिंतामणि, द्वितीय भाग : पृ० ५३।
5. वही, पृ० ५४।
6. वही, चिंतामणि, प्रथम भाग ; पृ० २१७।

जगत् भगवान् का व्यक्त स्वरूप है। समष्टि रूप में वह नित्य है, अतः 'सत्' है, अत्यन्त रंजनकारी है, अतः 'आनन्द' है। अतः इस 'सदानन्द' स्वरूप का वह प्रत्यक्ष अंश जो मनुष्य की रक्षा में (बना रहने देने अर्थात् सत् को चरितार्थ करने में) और रंजन में (सुख मंगल का विधान करने में) अपार शक्ति के साथ प्रवृत्त दिखाई पड़ा, वही उपासना के लिए, लिया गया। जिसमें शक्ति के साथ, शील और सौंदर्य तीनों का योग चरमावस्था में दिखाई पड़ा वही प्राचीन भारतीय भक्तिरस का अवलम्बन हुआ।"[1] उनका लोक-संग्रह जीवन को उसकी पूर्णता और वैविध्य में स्वीकार करता है। उन्हें जीवन का मधुर रूप ही ग्राह्य नहीं है; पुरुष रूप भी ग्राह्य है। तभी तो उन्होंने विरुद्धों के सामंजस्य को कर्मक्षेत्र का सौंदर्य कहा है और यही लोक-धर्म का सौंदर्य भी है।[2] समाज की सेवा करने वालों में छोटाई-बड़ाई की भावना लोकमंगल की दृष्टि से अत्यन्त हानिप्रद है, इससे समाज-व्यवस्था टूटती तथा संघशक्ति कम होती है। ऐसा समझकर ही शुक्लजी ने उसका विरोध किया है। "न्यायाधीश न्याय करता है, कारीगर ईंट जोड़ता है। समाज-कल्याण के विचार से न्यायाधीश का साधारण व्यवहार में कारीगर के प्रति यह प्रकट करना उचित नहीं कि तुम हमसे छोटे हो। जिस जाति में छोटाई-बड़ाई का अभिमान जगह-जगह जम कर दृढ़ हो जाता है उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और संघशक्ति का विकास बहुत कम अवसरों पर देखा जाता है।"[3]

शुक्लजी समाज में संकीर्णहृदयता तथा शोषण की प्रक्रिया देखते हैं। उससे क्षुब्ध होकर व्यंग्यपूर्ण शैली में लिखते हैं—'रसखान' तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल-भरे पैरों पर रीझकर, या कम-से-कम न खीजकर बिना मन मैला किये कमरे का फर्श भी मैला होने देंगे? मोटे आदमियो! तुम जरा से दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी टटरियों पर मांस चढ़ जाता।"[4] उन्होंने भावों का वर्गीकरण भी समाज का मंगल करने वाले दृष्टिकोण से ही किया है—"भावों की छानबीन करने पर मंगल का विधान करने वाले दो भाव ठहरते हैं—करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है।"[5]

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, द्वितीय भाग : पृ० १२७।
2. वही, प्रथम भाग : पृ० २१६।
3. वही, पृ० ११२।
4. वही, पृ० ७७।
5. वही, पृ० २२३।

## शुक्लजी की समालोचना और जन-जीवन

शुक्लजी ने जन-जीवन और लोक को पूर्ण मान्यता दी है क्योंकि मनुष्य के सारे ज्ञान एवं अनुभूतियों को वह लोकाधारित मानते हैं--"मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।"[1] साहित्य मानव-जीवन की अभिव्यक्ति है और जब मानव-जीवन का उद्भव एवं रक्षा का कारण समाज है तो साहित्य ही समाज से कैसे अलग रह सकता है, साहित्य का आधार कैसे बदल सकता है ? साहित्य में लोक में रहने वाले साहित्यकार की अनुभूतियों का चित्रण होता है, अतः शुक्लजी ने उसी साहित्यकार को सच्चा साहित्य कहा है जो लोक-हृदय की पहचान कर पाता है और उस पहचान को आधार बनाकर उन सामान्य विशेषताओं को साहित्य के माध्यम से उभार सके, जिससे अधिकांश का मन उसमें लीन होकर 'रस' का आस्वादन कर सके। सच्चे कवि की इस कसौटी का आधार लोक-जीवन है—"सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।"[2]

कला और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हुए शुक्लजी ने कला द्वारा जीवन का प्रभावित होना स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है, "काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर आर्थिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते है। कला ही के लिए वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए।"[3] जन-जीवन को आचार्य शुक्ल ने अपनी समीक्षा का ही नहीं समीक्षा के सिद्धान्तों तक का आधार बनाया है। वह मानते हैं कि जब तक अति-परिचय के क्षेत्र से काव्य-बिम्ब नहीं लिए जाएंगे तब तक रसानुभूति नहीं होगी क्योंकि, "जिन रूपो और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर-जीवन के आरंभ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मेल या सीधा सम्बन्ध है',[4] इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है, 'ऐसे आदिम रूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव से, भावो के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है।'[5] जन-जीवन की इस व्यापक कसौटी को स्वीकार करके

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, द्वितीय भाग : पृ० १२२।
2. वही, प्रथम भाग : पृ० २२७।
3. वही, द्वितीय भाग : पृ० २०१।
4. वही, रस-मीमांसा : काव्य : पृ० ६।
5. वही, पृ० ७।

शुक्लजी ने समीक्षा को निरन्तर विकासशील तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। जो समीक्षक यह मानते हैं कि शुक्लजी ने रस को युग के परिपार्श्व में नहीं देखा है,[1] वे उन्हें ठीक से समझ पाए हैं, इसमें सदेह है, क्योंकि शुक्लजी ने जहाँ इस गत्यात्मकता को स्वीकार करके रस को अलौकिक स्तर से उतार कर लौकिक स्तर पर स्थापित किया है, वहीं इन समीक्षक महोदयों को उसे स्वीकार करना कठिन प्रतीत हुआ है।[2] साथ ही रस की गतिशीलता भी उन्हें मान्य रही है,[3] यह विचित्र बात है। शुक्लजी ने अध्यात्मवादी मान्यताओं' को काव्य-क्षेत्र से पूर्णरूप में बहिष्कृत किया है[4] और इसका कारण है प्रगतिशील जगत् के साथ अपने को जोड़ कर चलने की प्रगतिशील मान्यता।

उनका साधारणीकरण का सिद्धान्त भी लोकानुभूति पर आधारित है। 'रस' शुक्लजी से पूर्व शास्त्रीय मान्यतानुसार अध्यात्मवाद पर आधारित था। शुक्लजी ने उसे [illegible]

है।[7] उनकी रस सम्बन्धी सामाजिकता मान्यता प्राप्त कर चुकी है। 'उन्हें रस के सामाजिक स्वरूप का ही अधिक आग्रह है। जो रस पहले शास्त्रों में सूख रहा था उसे शुक्लजी ने एक उदात्त सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित कर युग-प्रवर्त्तक का कार्य किया।[8]

---

1. डा० रामदरश मिश्र : हिन्दी आलोचना का इतिहास : पृ० ६६।
2. वही, पृ० १०६ से ११०।
3. वही, पृ० १०६।
4. आचार्य शुक्ल : रस मीमांसा : पृ० ६६।
5. वही, चिंतामणि, प्रथम भाग : पृ० २२७।
6. डा० रामाधार शर्मा : हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा : पृ० ८३।
7. रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, प्रथम भाग : पृ० २५१।
8. डा० रामाधार शर्मा : हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा : पृ० ८५।

शुक्लजी ने अपनी व्याख्यात्मक समीक्षा में उसी कवि को अधिक श्रेष्ठ माना है जो जन-जीवन को प्रधानता देकर चला है। सामाजिक एवं पारिवारिक रूपों के वैविध्यपूर्ण चित्र देने वाले तुलसी-काव्य की सूर-काव्य से तुलना करते समय उन्होंने विशिष्ट बताया है—"सूरदासजी अपने भाव में मग्न रहने वाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नहीं। संसार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया है। तुलसीदासजी लोक की गति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे। वह अपने बीच पैदा होने वाली बुराइयों को तीव्र दृष्टि से देखने वाले थे। जिस प्रकार उन्होंने अपने समय की जनता की दुःखदशा और दुर्वृत्ति तथा मर्यादा के ह्रास पर दृष्टिपात किया है, उसी प्रकार लोक-मर्यादा के ह्रास में सहायता पहुँचाने वाली प्रच्छन्न शक्तियों को भी पहचाना है।"[1] लोकपक्ष एवं जन-जीवन को जिस सीमा तक कृष्णकाव्य में स्वीकृति मिली है, वहाँ तक आचार्य शुक्ल भी उसे स्वीकार करके चले हैं। सन्त कवियों की तीव्र भर्त्सना का मुख्य कारण निर्गुणवादियों की लोकधर्म-विरोधी मान्यता ही रही है, इसीलिए शुक्लजी उसमें समाज का अकल्याण देखते हैं—"जिस समाज में ज्ञान-सम्पन्न शास्त्रज्ञ विज्ञानों का अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्तव्यों का पालन करने वाले उच्चाशय व्यक्तियों, पतिपरायण सतियों, पितृ-भक्ति के कारण अपना सुख-सर्वस्व त्यागने वाले सत्पुरुषों, स्वामी की सेवा में मर मिटने वाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले शासकों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जायगा.....।"[2]

शुक्लजी की भक्ति सम्बन्धी मान्यताएँ भी लोक-कल्याण तथा जन-जीवन के वृहद्ध स्वरूप (समष्टि) तथा सूक्ष्मरूप (व्यष्टि) दोनों में समन्वय स्थापित करती चलती हैं। उन्हें लोक को छोड़ कर चलने वाली भक्ति अस्वीकार रही है। व्यवहार क्षेत्र से परे के ईश्वर को वह भक्ति का विषय ही नहीं मानते—"जिन पूजन-वृत्तियों से लोक की रक्षा और रंजन होता है उन सबका समाहार अपनी परमावस्था को जहाँ दिखाई पड़े, वहाँ भगवान् की उतनी कला का पूर्ण प्रकाश समझ कर जितनी से मनुष्य को प्रयोजन है—अनन्त पुरुषोत्तम को उतनी मर्यादा के भीतर देखकर जितनी से लोक का परिचालन होता है—सिर झुकाना मनुष्य होने का परिचय देना है, पूरी आदमियत का दावा करना है। इस व्यवहार-क्षेत्र से परे नाम-रूप से परे जो ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व है वह प्रेम या भक्ति का विषय नहीं, वह चिंतन का विषय है। वह इस प्रकार लक्षित नहीं कि हमारे भावों का, हमारी मनोवृत्तियों का परम लक्ष्य हो सके। अतः लक्ष्य का बहाना करके जितना लक्ष्य है उसकी ओर भी ध्यान न देना धर्म से

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : भ्रमरगीतसार (भूमिका) : पृ० ४७-४८।
2. वही, हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० १३९।

भागना है।"[1] उनके सिया राम भी तुलसीदास के समान 'लोक' के ही प्रतिरूप हैं। उनके सिया राम के सामने समर्पण-बुद्धि से प्रस्तुत होकर भक्ति-प्रदर्शन जन-जीवन या लोक की भक्ति ही है। उनका अवतार शील, शक्ति और सौंदर्य का चरम विकसित रूप है, जो समाज के सृजन, रक्षण, संहार एवं रंजन को स्वीकार करके चलता है। मार्क्सवाद में भी इन सभी रूपों को भौतिक स्तर पर सर्वप्रथम मान्यता प्राप्त हुई है। अतः यह भक्ति-रूप भौतिकवादी मान्यताओं का पूरक है, विरोधी नहीं। इस भक्ति में केवल क्षमा और दया ही नहीं है वरन् दुष्टों और अत्याचारों को रोकने के लिए त्रासकारी व्यवस्था भी है—ऐसी व्यवस्था न करने वाले धर्म को वह धर्म मानने को भी तैयार नहीं हैं।[2] जन-जीवन को मान्य करने के कारण ही उन्होंने भ्रमरगीतसार की भूमिका में भाषा के चलते हुए और स्वाभाविक रूप को ही औचित्यपूर्ण माना है। उन्हें अनुप्रासमयी, संस्कृत के तत्सम् शब्दों से भरी हुई तथा आलंकारिक चमत्कारपूर्ण भाषा अनुचित प्रतीत होती रही है।[3] लोक को अमान्य करने वाली व्यक्तिवादी,[4] वैचित्र्यवादी,[5] कलावादी,[6] अभिव्यंजनावादी[7] तथा फ्रायड आदि मान्यताएँ[8] सदैव अस्वीकृत रही हैं। वादों में लिपटी हुई कविता को वह सच्ची कविता नहीं मानते—"सच्ची कविता किसी 'वाद' को लेकर नहीं चलती, जगत् की अभिव्यक्ति को लेकर चलती है।"[9] उन्होंने जन-जीवन की तत्कालीन प्रवृत्तियों को इतिहास के काल-विभाजन का मुख्य आधार बताया है।

इन सारे तथ्यों से स्पष्ट है कि शुक्लजी को जन-जीवन का साहित्यिक आधार ही समीक्षा क्षेत्र के सभी रूपों में मान्य रहा है तथा जहाँ-कहीं वह छूटता हुआ या तिरोहित होता हुआ दृष्टिगोचर हुआ है, वहाँ उन्होंने उसकी तीव्र भर्त्सना की है।

## शुक्लजी की समीक्षा में चमत्कार-विरोध

सामन्तवाद का चमत्कार से अनिवार्य सम्बन्ध होता है। सामन्त-युग में वैयक्तिक रुचि-अरुचि को आधार मानकर कवियों और साहित्यकारों से रचना करने को प्रत्यक्ष और परोक्ष आदेश दिए जाते हैं। हिन्दी-साहित्य का रीतिकाल इसका एक

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास : पृ० १०-११।
2. वही, पृ० २४-२५।
3. वही, भ्रमरगीतसार : पृ० ३५।
4. वही, चिंतामणि : प्रथम भाग : पृ० २३७।
5. वही, पृ० २३७।
6. वही, द्वितीय भाग : पृ० १६६।
7. वही, हि० सा० इ० : पृ० ५७२।
8. वही, चिंतामणि : प्रथम भाग : पृ० २६६-२६८।
9. वही, पृ० ६७।

सुन्दर उदाहरण है। रीतिकाल में चमत्कार की प्रधानता उसे काव्य के उद्देश्य से ही विमुख कर बैठी। उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य तथा दूरारूढ़ कल्पना का प्राधान्य हो गया। मार्क्सवादी समीक्षक Alexander Karaganov ने इन प्रवृत्तियों का विरोध किया है तथा माना है कि कलापक्ष की यह रूढ़ि साहित्य के उद्देश्य में बाधक है।[1] आचार्य शुक्ल ने भी रीतिकाल की इस प्रमुख वृत्ति—चमत्कारवाद का तीव्र विरोध किया है। चमत्कारवाद से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य है—"चमत्कार से हमारा अभिप्राय यहाँ प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्व वा वैलक्षण्य से नहीं जो अद्भुत-रस के आलम्बन में होता है। चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे काव्यार्थापत्ति, परिसंस्था, विरोधाभास, असगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व तथा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।"[2] आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार के चमत्कारों से युक्त आचार्य केशव की रामचन्द्रिका की भर्त्सना की है तथा केशव को हृदयहीन बताया है।[3] किन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह चमत्कार को सदैव ही अग्राह्य मानते हैं। जहाँ कहीं चमत्कार भाव का साधक या उसकी अनुभूति को तीव्र करने में सहायक है वहाँ आचार्य शुक्ल उसके पूर्ण समर्थक हैं।[4] जो चमत्कार केवल कौतूहल या मनबहलाव के लिए लाया जाता है उसमें मन को लीन करने वाली सरसता नहीं होती है।[5] आचार्य शुक्ल को साहित्य के क्षेत्र में केवल कौतूहल अमान्य है तथा उसे वह 'बालवृत्ति' मात्र कहते हैं,[6] 'उन्हें कविता का गम्भीर उद्देश्यों से संचालित होना ही मान्य है, इसीलिए वह भावयुक्त चमत्कार मात्र को स्वीकृति दे पाते हैं।' उक्ति की वहीं तक की वचनभंगी या वक्रता के सम्बन्ध में हमसे कुन्तलजी का 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' मानते बनता है, जहाँ तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नहीं।"[7] आचार्य शुक्ल को कथन की वक्रता में वक्रोक्त अलंकार अमान्य है। इस सम्बन्ध में उनकी स्पष्ट मान्यता है—'वचन की जो वक्रता भावप्रेरित होती है, वही काव्य होती है। 'वक्रोक्ति काव्य-जीवितम्' से यही वक्रता अभिप्रेत है वक्रोक्ति अलंकार नहीं। भावाद्रेक से उक्ति में एक प्रकार का बाँकापन आ जाता है। तात्पर्य कथन के सीधे मार्ग को छोड़कर वचन जो एक भिन्न प्रणाली

1. । [illegible] : नं० ६, १९५९ : पृ० ९४।
2. रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा : पृ० ३३।
3. वही, चिन्तामणि, भाग १ : पृ० २४५ तथा १७०।
4. वही, पृ० १६८-१६९ के आधार पर।
5. वही, पृ० १७१।
6. वही, भाग १ : पृ० १७१।
7. वही, पृ० १७४।

ग्रहण करते हैं, उसी की रमणीयता काव्य की रमणीयता के भीतर आ सकती है। भाव-प्रसूत वचन-रचना में ही भाव या भावना तीव्र करने की क्षमता पाई जाती है।[1]

अलंकारों को भी वह उसी सीमा तक ग्राह्य समझते हैं जहाँ तक कि वे अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं—"सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रयुक्त नहीं वह काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतारकर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं।"[2] चमत्कारवाद या उस कोटि के अलंकरण को वह सदैव हास्यास्पद मानते रहे हैं और इसका मुख्य कारण उनकी लोकसंग्रही वृत्ति तथा भावपक्ष पर बल देना रहा है। उन्होंने कला का विरोध न करके कलावाद का विरोध किया है। उन्हें काव्य का कलात्मक रूप अस्वीकृत नहीं रहा है। काव्य में वह कलात्मकता को अनिवार्य मानते हैं, उन्हें कलात्मकता की अपरिहार्य शक्ति स्वीकृत है, क्योंकि इसके अभाव में काव्य न प्रभाव उत्पन्न कर पाएगा और न उसका व्यंजित भाव ही साधारणीकृत होगा। इससे सिद्ध है कि शुक्लजी ने सच्ची कला का विरोध न करके कलावाद या चमत्कारवाद का ही विरोध किया है। कलावाद का विरोध करते हुए उन्होंने क्रोचे की अभिव्यंजनवादी मान्यताओं का विशेष रूप से खण्डन किया है क्योंकि क्रोचे अभिव्यंजना पर अधिक बल देता है तथा काव्य की गिनती कलाओं में करता है। आचार्य शुक्ल को यह सब अग्राह्य था। अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौसठ कलाओं में नहीं की गई है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियों द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्तिवाद आदि चलाए जाने पर भी इस प्रकार वितंडावाद नहीं खड़ा किया गया। इधर हमारी हिन्दी में भी कला शब्द की बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य समीक्षा-क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले, उतना ही अच्छा। इसका जड़ पकड़ना ठीक नहीं।"[3] शुक्लजी ने क्रोचे के साथ ही साथ अन्य कलावादियों ऑकर वाइल्ड तथा जे० ई० स्पिंगर्न आदि का भी तीव्र विरोध किया है। उन्हें कलावाद तथा चमत्कारवाद काव्य के विरोधी प्रतीत होते हैं।

लोकानुभूति तथा साधारणीकरण के सिद्धान्तों के अनुसार चमत्कारवाद की मान्यता युक्तियुक्त नहीं बैठती, अतः आचार्य शुक्ल लोककल्याण पर सर्वाधिक बल देने के कारण इसे मान्यता प्रदान कर सके। चमत्कारवाद जहाँ कलावाद का पर्यायवाची है वहाँ वह वादी प्रथम है अन्य कुछ तत्पश्चात्, जिसका शुक्लजी केवल अपनी समीक्षा-मान्यताओं में ही खण्डन नहीं करते रहे हैं वरन् अपने सम्पूर्ण साहित्यिक रूपों में तथा जीवन में उन्होंने उसे अमान्य ठहराया है।

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : भ्रमरगीतसार, भूमिका : पृ० ४२ ( अष्टम संस्करण )।
2. वही, चिंतामणि, प्रथम भाग : पृ० १८४।
3. वही, दूसरा भाग : पृ० १८०।

## शुक्लजी की आलोचना में गांधीवाद का विरोध

मार्क्सवाद में घृणा अत्यन्त आवश्यक भाव माना गया है। मार्क्स ने स्पष्ट लिखा है कि क्रान्ति के लिए सर्वहारा के मन में शोषकों के प्रति तीव्र घृणा जगानी चाहिए। यह घृणा ही सर्वहारा को क्रान्ति की ओर ले जाएगी। लेनिन आदि ने कला और साहित्य का उद्देश्य इस घृणा को तीव्रतर करना ठहराया है। आचार्य शुक्ल क्षात्रधर्म के पक्षपाती हैं और उन्हें टॉल्सटाय की प्रेम तथा क्षमा की मान्यताएँ अनुपयुक्त प्रतीत हुई हैं। वह केवल प्रेम और भ्रातृभाव को अव्यावहारिक मानकर उसे एकांगी कहते हैं—'कर्म-सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करके और कर्म सौन्दर्य के एक दूसरे पक्ष में ही—केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही काव्य का उत्कर्ष मानने का एक नया फैशन टॉल्सटाय के समय से चला है, वह एकदेशीय है।)दीन और असहाय जनता को निरन्तर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-सुश्रुषा करने मे ही कर्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र का एकमात्र सौन्दर्य नही कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष है वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।[1] शुक्लजी को उपर्युक्त मान्यता इसलिए अग्राह्य रही है कि इससे कलावाद को प्रश्रय मिला है, लेकिन टॉल्सटाय को कलावादी कहना उपयुक्त नहीं है और न सम्भवतः आचार्य शुक्ल ही उन्हें कलावादी मानते हैं लेकिन उन्हें यह भय सताता रहा है कि कुछ लोग समाज में ऐसे भी होते हैं जो क्षमा किये जाने पर और भी बड़े लोक-पीड़क बनेंगे अतः क्षमा और प्रेम उनके लिए नही होने चाहिए। वह मानते हैं कि व्यक्तिगत साधना के लिए यह मार्ग उपयुक्त हो सकता है किन्तु लोक-संग्रह की दृष्टि से इसे उपयुक्त नहीं माना जा सकता—"विचारने की बात है कि दूसरों की निरन्तर बढ़ती हुई पीड़ा को देख-देख अत्याचारियों की सुश्रुषा और उनके साथ प्रेम का व्यवहार करते चले जाने में अधिक सौन्दर्य का विकास है, कि करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितों और अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने तथा अपने ऊपर अत्याचार, पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में। हम तो करुणा और क्रोध के इसी समंजस्य में मनुष्य के कर्म सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं।"[2] )

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा : पृ० ६४-६५।
2. वही : चिंतामणि, दूसरा भाग : पृ० ५३।

शुक्लजी क्रान्ति-समर्थक तथा नए सृजन के लिए पुराचीन के ध्वंस के समर्थक हैं। वह ध्वंस को जीवन का नित्य नियम तो नहीं मानते, हाँ, जीवन-प्रवाह के क्षीण और अशक्त होने पर आई हुई विषमता के नाश के लिए उसकी अनिवार्य आवश्यकता अवश्य स्वीकार करते हैं।[1] वह लोककल्याण के कारण ही क्रांति युगीन ध्वंस में सौन्दर्य का दर्शन करते हुए कहते हैं—"लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक-मंगल और लोक-रंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।"[2] इसी कारण उन्होंने उन कवियों को श्रेष्ठ ठहराया है जो अपने काव्यों में इस प्रकार के भावों का अच्छा उत्कर्ष दिखा गए हैं।

केवल कोमल और मधुर को आधार मानकर चलने वाले कलाकारों तथा समीक्षकों को उन्होंने आड़े हाथों लिया है। उन्हे भारतीय परम्परा के प्रतिकूल तथा 'आध्यात्मिक' माना है।[3] वह क्राइस्ट के सिद्धान्त के समर्थक नहीं हैं। साहित्य को धार्मिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करना उन्हें अग्राह्य है। उन्होंने उसे तीन कालों में रहने वाली विश्व की भावात्मक भूमिका पर टिकाया है।[4] टॉलसटाय ने जिसे मध्यम कोटि का काव्य कहा है, इसी भेद के कारण उसे शुक्लजी ने प्रथम कोटि का स्वीकार किया है।

हिंसा पर जो उतर आया है उसके लिए ईसाइयों का 'दूसरा गाल प्रस्तुत करने वाला सिद्धान्त', जिसका समर्थन महात्मा गांधी ने भी किया है, उन्हें उचित प्रतीत नहीं होता है। उन्हें स्पष्ट घोषणा करनी पड़ी है—"यदि कहीं पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उसका आशुफल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना, लोकरक्षा का कार्य है। अपने ऊपर किये जाने वाले अत्याचार और अन्याय का फल ईश्वर के ऊपर छोड़ना, व्यक्तिगत उन्नति के लिए चाहे श्रेष्ठ हो, पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नहीं खींचता है तो लोक-संग्रह की दृष्टि से वह उसी प्रकार आलस्य या कायरपन है जिस प्रकार अपने ऊपर किये हुए उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।"[5]

शुक्लजी की गांधी-विरोधी-मान्यताओं का आधार भी समाज-कल्याण एवं लोक-मंगल ही है। उन्होंने व्यक्ति की अपेक्षा समाज को श्रेष्ठ माना है तथा कहा है कि पाप का फल छिपाने वाला पाप छिपाने वाले से अधिक अपराधी है। क्योंकि पाप के फल को छिपाकर पापी पाप करते हुए पाप के फल को न भोगने का अभिनय करता है,

---

1 रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा : पृ० १९।
2. वही, पृ० ५६।
3. वही, चिंतामणि, प्रथम भाग : पृ० २२४-२५ के आधार पर।
4. वही, इन्दौर में दिया अभिभाषण : पृ० ५०।
5. वही : चिंतामणि, प्रथम भाग : पृ० ३७।

जिससे समाज में पाप के लिए घृणा और पुण्य के प्रति राग उत्पन्न होने में कठिनाई होती है। वह धर्म की स्थापना के लिए महाभारत (संघर्ष) को अनिवार्य मानते हैं — "यदि अधर्म में तत्पर कौरवों का नाश न होता और पाण्डव जीवन भर मारे-मारे ही फिरते तो संसार में अन्याय और अधर्म की ऐसी लीक खिंच जाती जो मिटाये न मिटती।'[1]

महात्मा गांधी द्विवेदी-युग में तथा उसके पश्चात् भी न केवल भारतीय राजनैतिक जीवन में छाये रहे हैं वरन् उनका आधिपत्य जीवन के सभी क्षेत्रों के ऊपर स्वीकार किया गया है। ऐसे समय में स्वातंत्र्य आन्दोलन के आधारभूत सिद्धान्त गांधीवाद का विरोध करके संघर्षपूर्ण मान्यताएँ स्थापित करना (चाहे वे लोकधर्म से ही लीं गई हों) निस्सन्देह मौलिकतापूर्ण साहस-कार्य है, जिसका शुक्लजी में हमें चरम विकसित रूप मिलता है, जो हिन्दी समीक्षा को नई दिशा दे सका।

## शुक्ल-आलोचना में अन्य प्रगतिशील तत्त्व

आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण सामाजिक-ऐतिहासिक था। अपने इतिहास में उन्होंने प्रत्येक युग की परिस्थितियों को आधार मान कर उस काल के साहित्य तथा साहित्यकारों का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। इतिहास को उन्होंने कालों में विभाजित करते हुए भी एक अविच्छिन्न धारा के रूप में देखा है जो कालक्रमानुसार धीरे-धीरे बदलती चली जाती है। उन्होंने लिखा है—"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।"[2]

हिन्दी साहित्य के प्रथम सर्वमान्य इतिहास-लेखक से इससे अधिक अपेक्षा करना उचित नहीं माना जा सकता। जहाँ कुछ समीक्षकों ने उनकी ऐतिहासिक दृष्टि को दोषपूर्ण माना है,[3] वहाँ अन्यो ने उसके विकास के मूल रूप को हृदयंगम करके उसके सच्चे स्वरूप का उद्घाटन करने वाला कहा है।[4] विकासवादी आचार्य शुक्ल इतिहास को भी सतत विकसित होने वाली सांस्कृतिक चेतना के एक अंग के रूप में देखते हैं। उनके लिए साहित्य जीवन का अनुगामी है। अतः साहित्य का इतिहास विकासवाद के विपरीत कैसे हो सकता है ?

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, प्रथम भाग : पृ० ३६-३७।
2. वही : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० १।
3. डा० नामवरसिंह : आलोचना : अक्टूबर १९५२ ('इतिहास का नया दृष्टिकोण' शीर्षक लेख) डा० भगवतस्वरूप मिश्र : हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास : पृ० ५६७।
4. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव : प्रगतिशील आलोचना : पृ० ८१।

( शुक्लजी सामंतवाद-विरोधी दृष्टिकोण को स्वीकार करके चले हैं इसीलिए हमें उनकी समीक्षा में असहिष्णुता तथा व्यंग्य की अपूर्व शक्ति दृष्टिगोचर होती है। 'शुक्लजी का दृष्टिकोण सामंतविरोधी है, इसलिए वह अपहिष्णु है। उनकी आलोचना सामंती संस्कृतियों के प्रेमियों के लिए ललकार है। वह जनता का पक्ष लेकर एक नयी संस्कृति के लिए लड़ने वाली आलोचना है।'[1] उनकी समीक्षा में व्यंग्य की अपूर्व शक्ति दर्शनीय है। उनके व्यंग्यों के अनेक आधार हैं। विशेषत: उनकी व्यंग्य-शक्ति वहीं तीव्र बन गई है जहाँ उसे आर्थिक शोषण, असमानता, धार्मिक रूढ़, राजनैतिक दासता, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, रहस्यवाद, ऊहात्मकता, कलावाद, चमत्कारवाद, व्यक्ति-वैचित्र्य आदि के आधार प्राप्त हो गये हैं। अर्थ-वैषम्य प्रेरित व्यंग्य अन्यों की अपेक्षा अधिक तीव्र हैं।[2]

\ उनकी समीक्षा में देश-प्रेम कूट-कूट कर भरा है किन्तु वह विश्व-प्रेम का विरोधी न होकर पूरक है। राजनैतिक पराधीनता को वह आर्थिक शोषण के लिए प्रयुक्त एक युक्ति मानते हैं। उनकी मान्यता है कि व्यापारोन्माद ने ही विश्व को सुख और शान्ति से दूर ले जाकर युद्ध और संघर्षों में धकेल दिया है। इस आर्थिक शोषण के निराकरण के लिए वह क्रान्ति का आह्वान करते हैं और उनकी क्रांति सशस्त्र क्रांति है जो क्षात्र-धर्म को लेकर चली है – "जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शान्ति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्र-धर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी, चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा।'] उन्हें दो ओर के आर्थिक शोषण भयंकर प्रतीत होते है। एक ओर अंग्रेज भारत का शोषण कर रहा है और दूसरी ओर देश के भीतर रहने वाला महाजन उसे अन्दर-ही-अन्दर खोखला बना रहा है। शोषण की भीतरी प्रक्रिया उन्हें इसलिये अधिक भयंकर लगती है कि वह हमारे देशवासियों द्वारा ही की जा रही है, उसका कारण पराधीनता न होकर वर्गवाद है, उसमें हृदयहीनता है—असामाजिकता है। तभी तो वह अत्यन्त खिन्न मन से लिखते है -- जो अनाथ विधवा का सर्वस्व हरण करने के लिए कुर्कअमीन लेकर चढ़ाई करते है-- जो अभिमानी धनिको की दुतकार सुनकर त्योरी पर बल नही आने देते जो मिट्टी में रुपया गाड़कर न आप खाते हैं न दूसरे को खाने देते हैं, जो अपने परिजनों का कष्टक्रन्दन सुनकर भी रुपये गिनने में लगे रहते है वे अधमरे होकर जीते हैं। जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है।'[3] पूँजीवाद का विरोध करते हुए वे लिखते हैं—'इस व्यापार-युग में ज्ञान बिकता है, न्याय बिकता है, धर्म बिकता है—'इसलिए विदेशी पूँजीवाद ही

1. डा० राम बलास शर्मा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : पृ० १३।
2. रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, प्रथम भाग : पृ० ७३-७६-७७-८४ तथा ८५।
3. वही, पृ० ८५।

नहीं देशी पूँजीवाद भी त्याज्य है। वह समाज विधायक तत्त्वों को स्वीकार करने के लिये ही ध्वंस का समर्थन करते हैं—'यदि किसी ओर ध्वंस या नाश की ओर प्रवृत्त शक्ति को लें तो और सब ओर से वह शील-साधन और सौंदर्य-विकास करती दिखाई देगी।'[1]

भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण प्रगतिशील रहा है। वह भाषा के कृत्रिम रूप की अपेक्षा व्यावहारिक तथा निरन्तर विकसित होने वाले रूप के ही समर्थक है। वह हिन्दी के भावी रूप को भारत की अन्य भाषाओं के मेल में रखकर देखने के पक्षपाती हैं।[2] आचार्य शुक्ल की समालोचना के अनेक अंशों की स्वीकृति आगे विकसित होने वाली प्रगतिवादी समीक्षा में हुई है तथा कई मार्क्सवादी समीक्षक उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक तक मानते है। उनकी विश्व प्रपंच की भूमिका, लोकधर्म की मान्यता, आर्थिक शोषण तथा कलावाद का विरोध, भक्ति की स्थापना तथा रस को हृदयंगम कराने के लिए साधारणीकरण की नवीन व्याख्या आदि विशेषताएँ ऐसी हैं जिन्हें दृष्टि में रखते हुए कोई भी समीक्षक उन्हें प्रतिक्रियावादी नहीं कह सकता।

## प्रेमचन्द की विचारधारा

**प्रेमचन्द और मार्क्सवाद :**

प्रेमचन्द के समीक्षकों ने उन्हें वादी' सिद्ध करने का पूरा प्रयास किया है और इसके लिए गांधीवादी तथा मार्क्सवादी पक्षों से विशेष प्रयास हुए हैं, किन्तु इन सारे प्रयासों एवं मनमानी व्याख्याओं के द्वारा भी दोनों में से कोई भी वर्ग प्रेमचन्द के पूर्ण रूप को अपनी स्वीकृति नही दे पाया है। इसका कारण स्पष्ट है कि प्रेमचन्द 'वादी' न थे और कोई भी सच्चा कलाकार 'वादी' नहीं रह सकता—इस नियम के वह अपवाद नहीं हैं। उनके जीवन, विचार तथा रचना-प्रक्रिया में एक क्रमिक विकास देखा जाता है, जिसके अन्तर्गत हम उन्हें अधिकाधिक जनता एवं यथार्थ के निकट जाते देखते हैं। वह 'प्रचार' को साहित्य के क्षेत्र में स्थान देना समीचीन मानते हैं, परिस्थिति की अनिवार्यता उन्हें इसके लिए बाध्य करती है। जार्ज बर्नार्ड शॉ के समान साहित्य को प्रचारात्मक मानते हुए उन्होने लिखा है कि 'आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगेण्डा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए और इस तरह के प्रोपेगेण्डा के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा।'[3] प्रेमचन्दजी लेनिन से

1. रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, दूसरा भाग : पृ० ६५।
2. वही, पृ० २३६।
3. प्रेमचन्द : हंस, जून १९३५ : पृ० ७८।

एकमत प्रतीत होते हैं जबकि वह साहित्य को प्रचार का माध्यम स्वीकार कर लेते हैं, और निश्चिय ही उनका उद्देश्य व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के आर्थिक एवं राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति एवं रक्षा है जिसकी घोषणा समय-समय पर वह करते हैं।[1] उनके लिए यह आपतकाल था, जिसमें वह आदर्श की अपेक्षा व्यवहारिकता को ही स्वीकार करके चलना समुचित मानते हैं।[2] जब वह देखते हैं कि उनके चारों ओर भयंकर शोषण, क्रन्दन और चीत्कार हो रहा है, दुःख और दरिद्रता का नग्न नृत्य दिखाई दे रहा है तो वह पूछ उठते हैं कि आदर्श की लीक कैसे पीटी जा सकती है। इन परिस्थितियों से अप्रभावित रहकर साहित्य रचना का कर्त्तव्य कैसे पूरा हो सकता है। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रश्न उन्हें यथार्थोन्मुखी बनाते हैं, जिनके विश्लेषण में वह न पक्ष-मुक्त रह पाये हैं और न तटस्थ एवं पूर्वाग्रहमुक्त। उन्होंने अपने विचारों द्वारा भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन में सक्रिय योग देने का संकल्प लिया था।[3] ऐसी स्थिति में उनके लिए यह स्वाभाविक होना चाहिए कि वह निर्जीव, असत्य, प्राणहीन, विलासी, वैराग्य प्रदायक, निराशावादी, कायरतापूर्ण एवं पलायनवादी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विरोध करें, जैसा कि मार्क्सवादी समीक्षक एफ० डी० क्लिनजैण्डर ने किया है।[4] प्रेमचन्द ने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है। "जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्याएँ न हों, हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल जिन्सी भावों में गुदगुदी पैदा करने के लिए या भाषा-चातुरी दिखाने के लिए रचा गया हो तो वह निर्जीव साहित्य है, सत्यहीन, प्राणहीन।.....वह साहित्य जो हमें विलासिता के नशे में डुबा दे.....निर्जीव है।"[5]

प्रेमचन्द ने मार्क्स के सिद्धान्तों का अध्ययन किया था, गोर्की की रचनाएँ पढ़ी थीं और समाजवादी समाज-व्यवस्था से प्रभावित हुए थे। इतिहास के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ वही हैं जो मार्क्स की हैं। इतिहास हमें निरन्तर होने वाले विकास की जानकारी कराता है। उससे शिक्षा लेकर हम अपना मार्ग निश्चित कर सकते हैं। प्रेमचन्दजी ने इस सत्य को स्वीकार किया कि 'हमें तारीख से यह सबक न लेना चाहिए कि हम क्या थे। यह भी देखना चाहिए कि हम क्या हो सकते थे। अक्सर हमें तारीख को भूल जाना पड़ता है। भूत हमारे भविष्य का रहबर नहीं बन सकता।"[6]

---

1. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ० ६, ५८ तथा ५९।
2. वही, पृ० ५८-५९ के आधार पर।
3. शिवरानी : प्रेमचन्द घर में : पृ० ६१, ११९, १२२।
4. एफ० डी० क्लिन्जैंडर : मार्क्सिज्म एण्ड मॉडरन आर्ट : पृ० ४१।
5. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ० १९९।
6. वही, कुछ विचार : पृ० ७१।

मार्क्स ने धर्म, ईश्वर, आत्मा आदि को शोषण की प्रक्रिया के साधन माना है, तथा जगत् का आधार पदार्थ को ठहराया है।[1] प्रेमचन्द भी मार्क्स के समान अनीश्वरवादी हैं। जीवन के अंत तक उन्होंने ईश्वर की आवश्यकता स्वीकार नहीं की। ईश्वर और धर्म की मान्यताएँ उन्हें शोषको के पक्ष में जाती प्रतीत होती हैं। भगवान के विविध रूपों एवं उनके ऐतिहासिक परिवर्तन का विश्लेषण करके उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना अभिमत पूर्णरूप से स्पष्ट कर दिया है। 'जब ईश्वर और देवताओं की सृष्टि का गौरव मज़दूर सेवकों के हाथ से निकल कर धनी स्वामियों के हाथों में आ गया, तो ईश्वर और देवता भी मज़दूरों की श्रेणी से निकल कर महाजनों और राजाओं की श्रेणी में जा पहुँचे, जिनका काम अप्सराओं के साथ विहार करना, स्वर्ग के सुख लूटना, और दुखियों पर दया करना। भारत में तो मजदूर देवताओं का कहीं पता नहीं है। यहाँ के देवता शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करते हैं। कोई फरसा लिये पापियों का कत्लेआम करता फिरता है, कोई बैल पर चढ़ा भंग चढ़ाये, भभूत रमाये, ऊल-जलूल बकता नज़र आता है। जाहिर है कि ऐसे ऐश-पसन्द या सैलानी देवताओं की सृष्टि करने वाले मजदूर नहीं हो सकते। ये देवता तो उस वक्त बने हैं जब मजदूरों पर धन का प्रभुत्व हो चुका था और जमीन पर कुछ लोग अधिकार जमा कर राजा बन बैठे थे।"[2] ईश्वर की मान्यता पर उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। इस विवेचन में वह वैज्ञानिक की भाँति विश्लेषण करते हैं— "प्रकृति का कोई रहस्य उनकी छोटी सी अक्ल के सुलझाये नहीं सुलझता तो उन्हें ईश्वर की याद आती और ज्यों ही विज्ञान ने एक कदम और आगे बढ़ाया और उस रहस्य को समझा दिया तो विज्ञानों का अभिमानी मन तुरन्त ईश्वर से बगावत कर बैठता है उनकी वह पुरानी बगावत फिर ताजा हो जाती है। जब भाप और बिजली जैसी चीज आदमी ने बना डाली, तो वह यह क्यों न समझ ले कि यह छोटी सी पृथ्वी और सूर्य इतने महान् विषय नहीं हैं, जिनके लिए ईश्वर की जरूरत माननी पड़े।"[3]

प्रेमचन्द जगत् की घटनाओं से ईश्वर का कोई सम्बन्ध स्थापित करने का विरोध करते हैं।[4] हिन्दुओं ने गाय आदि के प्रश्न को लेकर जो साम्प्रदायिकता को उत्तेजना प्रदान की, उसका निराकरण करने के लिए उन्होंने इसी मान्यता को प्रस्तुत किया है। धर्म की वास्तविकता का रहस्योद्घाटन करते हुए उन्होंने उसे भोजन का पर्याय कहा है। गोदन का मातादीन सिलिया से यौन-सम्बन्ध बनाए रखते हुए भी परम पवित्र ब्राह्मण बना रहता है क्योंकि वह सिलिया का छुआ हुआ भोजन नहीं करता। प्रेमचन्द धर्म और ईश्वर का विरोध इसलिए करते हैं कि इनके द्वारा

---

1. मार्क्स एण्ड ऐंगिल्स ; लिटरेचर एण्ड आर्ट : ११।
2. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ० १३०-३१।
3. वही, पृ० ८०।
4. वही, पृ० ८३।

गरीबों का अधिक शोषण किया जा सकता है—तथा किया जा रहा है। ईश्वर और भाग्य निर्धनों को अपनी स्थिति से सन्तुष्ट बनाये रखने में यथेष्ट सहायता करते हैं। निर्धनों का पूरा परिवार श्रम करता है फिर भी पेट नहीं भरता और दूसरी ओर चन्द मिनटों में दिए हुए आदेश हजारों कमा लेते हैं।[1] वह पूर्वजन्म को गोरखधंधा तथा धोखे में डालने वाला मानते हैं। एक ईमानदार व्यक्ति की जिज्ञासा उनके इन शब्दों में कितनी ऋजुता से उभरी है? "जब तुम लोग यह कह सकते हो कि बगैर ईश्वर की इच्छा के हम पलक तक नहीं गिरा सकते, तब कैसे ईश्वर हमसे अन्याय कराता है। जो अच्छा समझे वही हमसे कराये, हम जिससे दुःखी न हो सके। कुछ नहीं, ये सब धोखे में डालने वाली भावनाएं हैं। बस अपने को धोखे में डालने के लिए यह सब प्रपंच रचे गये हैं। नहीं तो हम जब प्रत्यक्षतः कोई बुरा काम नही करते तो लोग कहते हैं अगले जन्म में कोई बुरा काम किया होगा, उसी का यह फल है। और मैं कहता हूँ यह सब गोरखधंधा है।"[2] प्रेमचन्द की ये मान्यताएँ केवल मानसिक नहीं हैं, वरन् जीवन में आई हुई तथा अभ्यास-साध्य हैं।[3] विकासवाद के 'योग्यतमावशेष' के सिद्धान्त को अपनी मान्यताओं में स्थान देते हुए प्रेमचन्द ने दुर्बल की पराजय (नाश) स्वीकार की है। "जो पुरुषार्थी और कर्मण्य है उनकी विजय है और जो दुर्बल हैं उनकी हार है।"[4] उन्होने कला को विकासवाद के साथ जोड़ा है[5] तथा समाज के विकास का साधन मानकर उपयोगितावादी दृष्टिकोण का समर्थन किया है।

प्रेमचन्द वर्गसंघर्ष की महत्ता एवं कारणों को स्वीकार करने वाले हैं। वह मानते हैं कि वर्ग-संघर्ष को उत्तेजित करके हमारा समाज जब क्रान्ति करने में सिद्ध होगा तभी शोषण की प्रक्रिया का नाश हो सकेगा, किन्तु, प्रेमचन्द की यह मान्यता प्रारंभ की नहीं है। मंगलसूत्र-युग तक आते-आते जीवन से जूझते हुए वह इस मान्यता तक पहुँच पाए हैं। वह स्वीकार करते हैं कि शोषित केवल शोषकों के हितों को पूरा करने के लिए जीवित रहते हैं। शोषक और शोषितों के स्वार्थाधारित सम्बन्धों का रहस्य उन्हें ज्ञात है। उन्हें मालूम है कि शोषकों के मन में शोषितों के लिए तनिक भी सहानुभूति नहीं है। वह बड़ी संख्या वाले शोषितों के साथ हैं, अल्पसंख्यक शोषकों के साथ नहीं। "बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किये हुए हैं। उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, जरा भी रिआयत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना

1. प्रेमचन्द : कर्मभूमि : पृ० १९७।
2. शिवरानी देवी : प्रेमचन्द—घर में : ३१०।
3. हंस : प्रेमचन्द—अंक : पृ० ७६९-७०।
4. प्रेमचन्द साहित्य का उद्देश्य : पृ० ८२।
5. वही, पृ० १९।

बहाएँ, खून गिराएँ और एक दिन चुपचाप दुनिया से विदा हो जाएँ।"[1] प्रेमचन्द केवल प्रेम और भ्रातृत्व को आधार मानने वाली अहिंसक मान्यताओं को ही स्वीकार करते रहे हों—ऐसा कहना अनुचित होगा। उन्होंने 'जीवन में घृणा का स्थान' शीर्षक लेख दिसम्बर १९३० के हंस में लिखा है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि वह वर्गसंघर्ष के मूल आधार घृणा को स्वीकार करके उसी पर आधारित क्रान्ति की प्रक्रिया को स्वीकार करने में संकोच अनुभव नहीं करते हैं। संसार को आज की अपेक्षा अधिक सुन्दर तथा योग्य बनाने के लिए वह घृणा, निन्दा और क्रोध का भारी महत्त्व स्वीकार करते हैं। उन्हें अन्याय को देखकर क्रोध आता है और जिसे अन्याय को देखकर क्रोध न आता हो उसे वह कलाकार की श्रेणी से गिरा हुआ ही नहीं, मानव तक स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। "जिसे अन्याय को देखकर क्रोध नहीं आता, वह यही नहीं कि कलाकार नहीं है बल्कि वह मनुष्य भी नहीं है।"[2] वर्गसंघर्ष के अनेक पहलू हैं, उनमें से कुछ पहलुओं पर प्रेमचन्द ने प्रकाश डाला है। प्रेमचन्द की दृष्टि में अछूत-समस्या वर्गसंघर्ष का एक पहलू है। 'वाह रे ईश्वरभक्तो! वाह क्या कहना है तुम्हारी भक्ति का। जो जितने जूते मारेगा, भगवान उस पर उतने ही प्रसन्न होंगे—और जूतों से क्या होता है? बन्दूकें मंगाइए और विद्रोहियों का अन्त कर डालिए। सरकार इस प्रकार के व्यवहार को परोक्ष रूप से प्रोत्साहन देती है—और तुम धर्मद्रोहियों! तुम सबके सब बैठ जाओ और जितने जूते खा सको, खा लो। तुम्हें इतनी खबर नहीं कि यहाँ सेठ-महाजनों के भगवान रहते हैं, तुम्हारे भगवान कहीं किसी झोंपड़े में या पेड़-तले में होंगे।"[3]

रक्त-क्रान्ति तथा युद्ध से प्रेमचन्द दूर नहीं हटते, वरन् वह समाज-कल्याण के लिए इनको एकान्त आवश्यकता की घोषणा करते हैं। उन्हें ज्ञात है कि रक्त-क्रान्ति और युद्धों से ही न केवल मानवता की रक्षा होती है वरन् कला, संस्कृति एवं साहित्य की महान् उपलब्धियों का भी वही कार्य है। "आत्म-त्याग और बलिदान के, धैर्य और साहस के, उदारता और विशालता के जौहर उसी वक्त खुलते हैं, जब हम बाधाओं से घिर जाते हैं। जब देश में कोई विप्लव या संग्राम होता है, तो जहाँ वह चारों तरफ हाहाकार मचा देता है वहाँ हममें देव-दुर्लभ गुणों का संस्कार भी कर देता है और साहित्य क्या है? हमारी अन्तर्तम मनोवृत्तियों का इतिहास। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं है कि साहित्य का विकास संग्राम ही में होता है। संसार साहित्य के उज्ज्वल से उज्ज्वल रत्नों को ले लो, उनकी सृष्टि या तो किसी संग्राम-काल में हुई है या किसी संग्राम से सम्बन्ध रखती है।"[4] क्रान्ति के सम्बन्ध में मार्क्स

1. प्रेमचन्द : महाजनी सभ्यता : हंस, सितम्बर १९३६।
2. वही : साहित्य का उद्देश्य : पृ० १४२।
3. वही, कर्मभूमि : पृ० २०३।
4. वही, साहित्य का उद्देश्य : पृ० ८५।

ने लिखा है कि सर्वहारा ही उसका वाहक बन सकता है, क्योंकि क्रान्ति होने पर वह कुछ भी नहीं खोएगा, जबकि अन्यों को जो कुछ इनके पास है, उसके न रहने का भय रहेगा। क्रान्ति के सम्बन्ध में यह मान्यता प्रेमचन्द को पूर्णरूप से मान्य है।[1] इसके लिए संगठन की आवश्यकता का अनुभव उन्हें गोदान-युग में हो गया है। गोबर भले आदमियों के साथ रहकर राजनीति समझने लगता है। सभाओं में जाकर भाषण सुनता और समझता है कि अपना भाग्य स्वयं बनाना होगा। दुख ने सारे मजदूरों को एक सूत्र में बाँध दिया है। इस बन्धन को उन्हें संगठन का आधार बनाना होगा, तभी क्रान्ति हो सकेगी।[2] सशस्त्र संघर्ष द्वारा समाज-व्यवस्था को बदलने की बात को 'मंगलसूत्र' में स्वीकृति प्रदान करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है—"देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति को मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। ईश्वर ने अब तक इसका अन्त कर दिया होता या समाज का ही अन्त कर दिया होता तो इस दशा में रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जड़ता है।"[3]

वर्गसंघर्ष का आधार शोषण है। भारतीय किसान के भयंकर शोषण के यथार्थवादी चित्रों में एक इस प्रकार है—"वीरपाल सिंह मैं ही हूँ राज्य नौकरों को नेस्तनाबूद करने का प्रण कर लिया है—ये लोग प्रजा को दोनों हाथों से लूट रहे है। इनमें न दया है न धर्म---जिसे घूस न दीजिये, वही अपना दुश्मन है। चोरी कीजिये, डाके डालिये, घरों में आग लगाइये, कोइ आपसे न बोलेगा। बस, कर्मचारियों की मुट्ठी गर्म करते रहिये। दिन-दहाड़े खूब खून कीजिये, पर पुलिस का पूरा कर दीजिये, आप बेदाग छूट जायेंगे, आपके बदले कोई बेकसूर फाँसी पर लटका दिया जायगा—यह समझ लीजिये कि हिंसक जंतुओं का एक गोल है। सबके सब मिलकर शिकार करते है और मिल-जुलकर खाते हैं। राजा है, वह काठ का उल्लू—या विलायत की सैर करेगा या यहाँ अंग्रेजों के साथ शिकार खेलेगा, सारे दिन उन्हीं की जूतियाँ सीधी करेगा इसके सिवा इसे कोई काम नहीं। प्रजा जिये या मरे, उसकी बला से। ...राजा में यदि विवेक होता, तो राज्य की यह दशा क्यों होती।"[4] देश में जिस औद्योगीकरण का विकास दिखाई दे रहा था प्रेमचन्द उससे सन्तुष्ट नहीं हो सके क्योंकि इसका लाभ पूँजीपति को मिलने वाला था, मजदूर को नहीं। उन्हें औद्योगीकरण से पूर्व वह व्यवस्था इष्ट है जो विषमता को मिटा सके।[5] नहीं तो धनिक अधिक धनाढ्य और श्रमिक अधिक निर्धन होता

1. त्रिलोकीनारायण दीक्षित : प्रेमचन्द : पृ० २४।
2. प्रेमचन्द : गोदान : पृ० ४७७।
3. वही, मंगलसूत्र : पृ० ६०।
4. वही, रंगभूमि : पृ० १९९-२००।
5. वही : कथन : पृ० १०६-७।

चला जायगा।[1] विदेशी शासन-व्यवस्था और राजकर्मचारी इस शोषण को और भी तीव्र करते हैं,[2] जिससे किसान भूमिविहीन होकर मजूर बन रहा है और गाँवों को छोड़ कर शहर के गंदे मुहल्लों को आबाद कर रहा है। शोषण को दूर करने के जो उपाय हो सकते है उनमें मार्क्स ने सर्वहारा के संगठन और मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी द्वारा उनके पथ-प्रदर्शन की बात स्वीकार की है। प्रेमचन्दजी---बुद्धिजीवी कमजोरी को पहचान कर लिखते हैं-- इन्टेलिजेन्सिया में जो कुछ शक्ति और प्रभाव है वह जनता ही से आता है। उससे अलग वे हाकिम की सूरत में रह सकते हैं खादिम की सूरत में जनता के होकर नहीं रह सकते। उनके अरमान और मनसूबे उनके हैं जनता के नहीं। उनकी आवाज उनकी है उसमें जनसमूह की आवाज की गहराई, गरिमा और गम्भीरता नहीं है। वे (स्वयं) अपने प्रतिनिधि है—जनता के प्रतिनिधि नहीं।"[3] उनकी अडिग आस्था साधारण जनता में है। वह मानते हैं कि यदि हम उसकी दशा में वास्तविक सुधार करना चाहते हैं तो हमें उनके बीच रहना चाहिए। वे केवल भाषण देने के पक्के विरोधी हैं।[4] प्रेमचन्दजी का समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण सुधारवादी से धीरे-धीरे क्रान्तिकारी होता चला गया है। अपने 'महाजनी-सभ्यता' लेख में वह आर्थिक सम्बन्धों की गहराई में पहुँचे हैं तथा मार्क्स की अर्थ सम्बन्धी मान्यताओं से पूर्णरूपेण प्रभावित हैं।

## आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद

प्रेमचन्द के समीक्षकों में से कुछ ने उन्हें यथार्थवादी तथा कुछेक ने आदर्शवादी घोषित किया है। प्रेमचन्द ने यथार्थवाद का खण्डन किया है और कोरे आदर्श को भी वह स्वीकार नहीं कर पाते हैं। उन्होंने यथार्थवाद का अर्थ उस प्रकार के दृष्टि-कोण से लिया है जिसमें लेखक की दृष्टि मुख्यतः व्यक्तियों और समाज की बुराइयों पर रहती है। जिसमें दुर्बलताओं, विषमताओं तथा क्रूरताओं का चित्रण होता है। इस प्रकार के यथार्दवाद को प्रेमचन्दजी ने इसलिए अस्वीकार किया है क्योंकि उससे व्यक्तियों और समाज का कोई हित होने वाला नहीं होता है। इससे हम और हमारा समाज निराशावादी बनते हैं। हमें भ्रम हो जाता है कि हम चारों ओर से बुराइयों से घिरे हैं और वे बुराइयाँ इतनी व्यापक हैं कि उनसे मुक्ति असम्भव है। अच्छाई और मानव-चरित्र भर से हम अपनी आस्था सदैव को खो बैठते हैं।[5] जब प्रेमचन्द इस प्रकार के साहित्य को 'यथार्थवादी' मानकर उसका विरोध करते हैं तो हमें इससे

---

1. प्रेमचन्द : गोदान : पृ० १२५।
2. वही, प्रेमाश्रम : पृ० ७०।
3. वही, कुछ विचार : पृ० ६८-६९।
4. शिवरानी देवी : प्रेमचन्द—घर में : पृ० २३२।
5. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० ७४।

प्रसन्न होना चाहिए, क्योंकि किसी भी प्रगतिगामी ने इसे आज तक स्वीकार नहीं किया है। इस प्रकार की मान्यताओं वाले साहित्य का खण्डन करते हुए मैक्सिम गोर्की ने उसे 'प्राकृतवादी' कहा है, न कि यथार्थवादी।[1] गोर्की से पूर्व का यथार्थवाद इसी कोटि का था इसलिए गोर्की ने उसका खण्डन किया है और जिस यथार्थवाद का समर्थन किया है वह खण्डन करने के साथ ही कुछ नया उत्पन्न करने वाला तथा कुछ की रक्षा करने वाला है। गोर्की उसी की रक्षा करना चाहते हैं जो कुछ कि आज के लिए तथा भविष्य के लिए मंगलकारी है—इसी को प्रेमचन्द ने आदर्श कहा है। गोर्की मार्क्सवादी समाज-व्यवस्था के समर्थक थे अतः उनके यथार्थवाद में जो कुछ मार्क्सवादी समाज-व्यवस्था का विरोधी है, कुत्सित होने के कारण मिटने वाला है और जो कुछ उसके अनुकूल है उसकी स्थापना होती है—अतः इस समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण-विशेष से यथार्थवाद को स्वीकार करने पर उनकी मान्यता 'समाजवादी-यथार्थवाद' कहलाती है। हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद भी मूलतः इसी मान्यता को स्वीकार करके चलता है। उनकी मान्यता निम्न शब्दों में कितनी स्पष्ट है—'यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नजर नहीं आता बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फायदा ही क्या, वह तो हम अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिए नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण-मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े।'[2] प्रेमचन्द को कोरे आदर्शवाद की सीमाएं ज्ञात हैं और उन्हें भय है कि यथार्थविहीन आदर्श ऐसे पात्रों का सृजन करेगा जो सिद्धान्तों की प्रतिमूर्ति मात्र होंगे जिनमें जीवन न होगा और ऐसा होने का अर्थ है अस्वाभाविकता। इसी अस्वाभाविकता से साहित्य को बचाने के लिए वह आदर्श में यथार्थ की प्रतिष्ठा कराते हैं—'आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मन रम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्तिमात्र हों - जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।'[3] साहित्य को वह उपयोगितावाद की तुला पर तोलते हैं, उसका उद्देश्य सुरुचि का जगाना, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति दिलाना,

---

1. गोर्की : भूमिका—लिटरेचर एण्ड लाइफ के आधार पर।
2. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० ४१-४२।
3. वही : पृ० ७६।

शक्ति और गति उत्पन्न करना सौंदर्य-प्रेम उत्पन्न करना तथा सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता लाना मानते हैं,[1] और इस सबकी पूर्ति तभी हो सकती है जबकि यथार्थ और आदर्श का समन्वय किया जाय।

यथार्थवादी साहित्य की विशेषताएँ बताते हुए ऐंगिल्स ने आदर्श की ऐसी स्पष्ट और सतही स्थापना का विरोध किया है जो साहित्य को नीतिशास्त्र बनादे। इसका वह प्रभाव नहीं होगा जो साहित्य का उद्देश्य है। जीवन के आदर्श या उद्देश्य को लेखक जितना ही अधिक गुप्त रखकर लिखेगा, कलाकृति उतनी ही अधिक सशक्त बनेगी।[2] ऐंगिल्स की यह मान्यता प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद को समाजवादी यथार्थवाद तक पहुँचा हुआ सिद्ध कर देती है। प्रेमचन्द को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद जिस प्रकार वर्तमान समाज की बुराइयों को दूर करके कल के स्वर्णिम भविष्य की मूर्ति गढ़ता है, उसी प्रकार 'गोर्की' ने समाजवादी यथार्थवादी कला के दो मुख्य काम बतलाए हैं। पहला मनुष्य की प्रगति में बाधा डालने वाली सभी ताकतों को बेपर्दा करना और दूसरा नए यथार्थ, अर्थात् अक्तूबर-क्रान्ति की सफलताओं को कलात्मक रूप देकर समेटना—सँजोना—निर्धारित भविष्य की ओर अथक, अविराम गति से आगे बढ़ते नए नायक को आदर्श पुरुष के रूप में ऊँचा उठाना। समाजवादी-यथार्थवाद का काम वर्तमान भूतकाल की आलोचनात्मक छवि आँकना ही नहीं है वरन् सबसे पहले वर्तमान की क्रान्तिकारी सफलताओं को समेटने में सहायता करना और भविष्य के महान् समाजवादी उद्देश्य पर प्रकाश डालना है।[3] प्रेमचन्द ने सच्चे साहित्यकार और उसके साहित्य की वही कसौटी मानी है जो समाजवादी-यथार्थवाद की है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि "वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, उसमें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम-से-कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र 'पोजिटिव' हों जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसें, बल्कि, उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।"[4] यहाँ पर प्रेमचन्द ने जिस प्रकार के पात्रों को मान्यता दी है उन्हें ही मार्क्सवादी समीक्षा में 'टाइप' कहा गया है। मार्क्स और ऐंगिल्स ऐसे ही पात्रों को साहित्य में सर्वश्रेष्ठ स्थान देना चाहते थे, जो कठिनाइयों से जूझते हुए अपने उद्देश्य में संलग्न हैं।[5] प्रेमचन्द की इन मान्यताओं ने परम्परागत

---

1 प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० ९-१०।
2 मार्क्स एण्ड ऐंगिल्स : लिटरेचर एण्ड आर्ट : पृ० ३५।
3. समालोचक : वर्ष २, अंक १ : पृ० ७३।
4. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० ७७।
5. मार्क्स एण्ड ऐंगिल्स : लिटरेचर एण्ड आर्ट : पृ० ३५।

सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि को भी बदलने का प्रयास किया है। वह अभिजात्य सौंदर्य की अपेक्षा श्रमिक-और शोषित जीवन में अधिक व्यापक सौंदर्य देख पाते हैं। अपने युग के साहित्यकार को सम्बोन्धित करके एक युग-दृष्टा समोक्षक के रूप में वह बताते हैं कि अगर उसकी "सौंदर्य देखने वाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रंगे होठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाए हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नकासत नहीं दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।"[1] यथार्थवाद रोमांस को लेकर चलता है। प्रेमचन्द के यथार्थवाद में भी रोमांस को स्वीकृति प्राप्त हुई है। 'मैं मानता हूँ कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रेमचन्द पहले प्रणेता है जो यत्नपूर्वक यथार्थवाद के दबाव से बचने के लिए रोमांस की गली में भूल कर मौज करने नहीं गए। रोमांस को उन्होंने छोड़ ही दिया, सो बात नही। उस अर्थ में कभी रोमांस छूटता है। कोई लेखक कल्पना को कैसे छोड़ सकता है। कल्पना बिना लेखक क्या? लेकिन अपने हृदयगत रोमांस को उन्होंने व्यवहार पर, वास्तव पर घटाकर देखा और दिखाया। इनके साहित्य की खूबी यह नहीं है कि उनका आदर्श अन्तिम है। अथवा सर्वथा स्वर्गीय है। उसकी विशेषता तो यह है कि उस आदर्श के साथ व्यवहार का असामंजस्य नही है। वह आदर्श स्वयं में कम ऊँचा है कि वह नीचे वालों को ऊपर उठाकर उनके साथ-साथ रहना चाहता है। इस समन्वय की पुष्टता के कारण वह पुष्ट है।"[2] प्रेमचन्द को जो विद्वान् यथार्थवादी नहीं मानते, यथार्थवाद के सम्बन्ध मे उनकी धारणा भी प्रेमचन्द की यथार्थवादी मान्यता के समान है और चूँकि प्रेमचन्द उस यथार्थवाद तक अपने को सीमित न रखकर आदर्श तक पहुँचना समीचीन मानते है अतः इन समीक्षकों ने प्रेमचन्द को आदर्शवादी माना है। इस वर्ग के प्रतिनिधि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदर्श और यथार्थ को मिलाने वाले किसी तीसरे 'वाद' की मान्यता को अस्वीकार करते हैं—'कोई कलाकार या तो यथार्थवादी हो सकता है या आदर्शवादी ही। ये दोनों परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ और कला शैलियाँ है। इनका मिश्रण किसी एक रचना में सम्भव नहीं। साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की कोई वस्तु नही हो सकता।.....आदर्श और यथार्थ को मिलाने वाला कोई पृथक वाद नहीं है। यह तर्कसंगत प्रतीत नही होता क्योंकि दो परस्पर-विरोधी जीवन-दर्शनों और कला परिपाटियों में एकत्व की कल्पना हो कैसे की जा सकती है।"[3] आदर्शवाद की परिभाषा करते हुए आचार्य वाजपेयी ने बताया है कि जहाँ मानव की सदवृत्तियों पर विश्वास रखकर साहित्य निर्माण किया जाता है, वहाँ आदर्शवाद होता है और प्रेमचन्द की समस्त कृतियाँ आदर्शवाद है।" वास्तव में

---

1. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० २२
2. हँस : प्रेमचन्द—अंक : पृ० ८०८-९।
3. नन्ददुलारे वाजपेयी : प्रेमचन्द—साहित्यिक विवेचन : पृ० १५।

प्रेमचन्दजी अपने विचार और लेखन में आदर्शवादी है। आपका चरित्र-निर्माण और मनोवैज्ञानिक चित्रण आदर्शवादी हैं। आदर्शवादी चित्रण से तात्पर्य है मानव की सद्वृत्तियों पर विश्वास रख कर साहित्य निर्माण करना। उनकी समस्त साहित्यिक कृतियों को देख कर ही हम ऐसा कहते हैं।'[1] इस विषय में हमें यह उचित प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द समाजवादी-यथार्थवादी मान्यताओं के अधिक निकट है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने समाज व्यवस्था के आदर्श रूप पर स्पष्ट रूप से अपने विचार प्रकट नहीं किए हैं।

नीतिवादी के समान प्रेमचन्द कला और साहित्य को उपयोगितावाद की कसौटी पर कसना समीचीन समझते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य दलित, पीड़ित, वंचित एवं शोषित का रक्षक है। उसे त्रस्त मानवता की वकालत करनी है। समाज की दृष्टि उस ओर लानी है। समाज में न्याय और सौंदर्य के प्रति नवीन दृष्टिकोण जाग्रत करने का उत्तरदायित्व उसी का है।[2] महात्मा गांधी भी मार्क्स के समान कला और साहित्य का जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव देखते तथा उसी आधार पर साहित्य की श्रेष्ठता-निकृष्टता निर्धारित करने के पक्षपाती थे। महात्माजी ने शृंगार युक्त रचनाओं की आलोचना की थी और प्रेमचन्दजी ने उसका समर्थन करते हुए स्पष्ट किया कि सौंदर्य-बोध को दृढ़ करने वाले और ऊँचे भावों को जगाने वाले शृंगार रस के साहित्य का विरोध न महात्मा गांधी ने किया है और न किया जा सकता है—"कुछ लोगों को एतराज है कि महात्मा जी ने अपने भाषण में शृंगार रस का बहिष्कार कर दिया है और उसे निकृष्ट कहा है। यह भ्रम इसलिए हुआ है कि 'शृंगार' का आशय समझने में भेद है। शृंगार अगर सौंदर्य-बोध को दृढ़ करता है, हममें ऊँचे भाव जाग्रत करता है तो उसका बहिष्कार कौन करेगा? महात्माजी ने बहिष्कार तो उस शृंगार-साहित्य का किया है जो अश्लील है। एक दल साहित्यकारों का ऐसा भी है, जो साहित्य को श्लील-अश्लील के बन्धन से मुक्त समझता है। वह कालिदास और बाल्मीकि की रचनाओं से अश्लील शृंगार की नजीरें देकर अश्लीलता की सफाई देता है। अगर कालिदास या बाल्मीकि या और किसी नए या पुराने साहित्यकार ने अश्लील शृंगार की रचा है, तो उसने सुरुचि और सौंदर्य-भावना की हत्या की है। जो रचना हमें कुरुचि की ओर ले जाय, कामुकता को प्रोत्साहन दे, समाज में गन्दगी फैलाए, वह त्याज्य है, चाहे किसी की भी हो। साहित्य का काम समाज और व्यक्ति को ऊँचा उठाना है, उसे नीचे गिराना नहीं।"[3] उपयोगिता की विरोधी मान्यता 'कला कला के लिए' है। प्रेमचन्द ने इस पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "कलावादी मान्यताएं भी उपयुक्त हो सकती हैं, किन्तु, उनके लिए

1. नन्ददुलारे वाजपेयी : प्रेमचन्द—साहित्यिक विवेचन : पृ० १५।
2. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० १०-११।
3. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : २२२।

आज की भारतीय परिस्थिति अनुकूल नहीं है। वह कलावाद का विरोध परिवेशात्मक स्थिति को आधार बनाकर करते हैं। उनकी दृष्टि में 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे?"[1] और वह सोद्देश्य साहित्य न रच कर शाश्वत रचना करना रहे। यही है प्रेमचन्द की सोद्देश्य रचना का रहस्य। उनका यह उपयोगितावाद एक ओर भावनावाद से बँधा हुआ है और उसके दूसरी ओर है लोकजीवन।

प्रेमचन्द-युग कांग्रेस के आन्दोलन का युग है जिसमें कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथ में रहा है। मानवतावाद, धर्म, राजनीति तथा समाज-व्यवस्था आदि सबको ऐसा रूप देना चाहता है जिससे मानव की श्रेष्ठता प्रतिपादित हो जाय। कोई मानव दूसरे से ओछा न बनाया जाय। शोषण-शत्रुता और अन्याय मानवता के घोर शत्रु है। धर्म ने इस युग में मानवों को इतना मदमत्त बनाया कि वह एक-दूसरे के खून के प्यासे हो रहे। हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न मानवता-प्रेमियों के लिए एक चुनौती बनकर आया। प्रेमचन्द जैसा जागरूक साहित्य-मनीषी इस पर विचार किए बिना रह जाता—यह कैसे सम्भव था? उन्होंने साहित्य का उपयोग दोनों को एक-दूसरे के निकट लाने तथा अधिक सहिष्णु बनने के लिए किया। हमें आज धर्म की उपेक्षा करनी चाहिए। "अगर आज हम हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के साहित्य से ज्यादा परिचत हों, मुमकिन है हम अपने को एक-दूसरे से कहीं ज्यादा निकट पाएँ। साहित्य में हम हिन्दू नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, ईसाई नहीं हैं, बल्कि मनुष्य है और वह मनुष्यता हमें और आपको आकर्षित करती है।"[2] मानवतावादी प्रेमचन्द के प्रेम को ईश्वर मानते हैं तथा जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष प्राप्त करना है। जो व्यक्ति मानवीय भूमिका से बलपूर्वक हटने का प्रयास करता है प्रेमचन्दजी उसे पत्थर के समान हृदयहीन तथा मानवीय स्तर से गिरा हुआ मानते है। इस क्षेत्र में आने वाले ज्ञानी भी उनसे बचने नहीं।[3] सारे विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेमचन्दजी की मुख्य मान्यता जीवन को अधिक सुन्दर बनाने की है। इसके लिए उन्हें वर्तमान और भूत से शिक्षा लेनी होगी तथा भविष्य के लिए सपने सँजोने होंगे। उनका साहित्य जीवन के लिए है, जीवन से इतर उसका अन्य कोई उद्देश्य नहीं है। मानव सर्वोपरि है, सारा विश्व उसके लिए है यह उनके मानवतावाद का आधार है। मानव को

---

1. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० ७९।
2. वही : कुछ विचार : पृ० १३५।
3. वही, गोदान : पृ० २६७।

स्वतन्त्रता, समानता तथा शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए वह साहित्य का उपयोग करना उचित मानते हैं।

## अन्य प्रगतिशील तत्त्व

प्रगतिशील समीक्षक साहित्य और जीवन का सम्बन्ध मानकर चलता है। साहित्य को जीवन का आधार मिलता है, अतः साहित्य में वे सभी तत्त्व मिलते हैं जिनका स्वरूप जीवन के आधार पर टिका है। आज जैसे-जैसे जीवन-पद्धति बदल रही है उसी के अनुसार विचारधारा साहित्य एवं साहित्य की समीक्षा के सिद्धान्त भी बदल रहे हैं। इस परिवर्तन को समझकर ही प्रेमचन्द ने साहित्य का परम्परा-प्राप्त मानदंड त्यागकर नवीन समस्याओं, स्थितियों एवं अनुभूतियों को प्रमाण मानकर मानदंडों में क्रान्तिकारी परिवर्तन स्वीकार किया है। आज की बदली हुई स्थिति में "हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की बख्शीश पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुख आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अंतःपुर और बंगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खंडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी उनकी चर्चा करता भी था तो उनका मज़ाक उड़ाने के लिए। ग्रामवासी की देहाती वेषभूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लिए उसका शीन-काफ दुरुस्त न होना या महावरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्य-विद्रूप की स्थायी सामग्री था। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है, और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं,— यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।"[1] प्रेमचन्द साहित्य की कच्ची सामग्री जीवन से लेते हैं। जन-जीवन के इतना निकट तक वह चले आए है कि उपन्यास को जीवन-चरित्र मात्र कह देते है।[2] परिवेशात्मक स्वीकृति साहित्यकारों को देशभक्त बना सकती है और देशभक्त अपने देश के विरोधी राष्ट्रों को अपना शत्रु मान सकता है और उस स्थिति में उसकी देश-भक्ति अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की विरोधिनी सिद्ध हो सकती है, इसीलिए मार्क्सवाद में देशभक्ति की अपेक्षा सार्वभौमिकता पर बल दिया गया है। प्रेमचन्द में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता दोनों के पूर्ण तत्त्व एक साथ उपस्थित हैं। वह मूलतः मानवतावादी हैं अतः वह वहीं तक राष्ट्रीय हैं जहाँ तक कि राष्ट्रवाद मानव-विरोधी नहीं बनता। उनकी साहित्य को एक साथ राष्ट्रीय और सार्वभौमिक स्वीकार कराने वाली मान्यताएँ सच्चे साहित्य की कसौटी हैं। साहित्य-परिवेश जन्य होता हुआ ही सार्वभौम होता है।

---

1. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० २१।
2. वही, पृ० ७१।

"साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब देश में लहर उठती है तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और उस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।[1] मार्क्स ने दर्शन, राजनीति, साहित्य, कला, संस्कृति आदि का आधार अर्थ-सम्बन्धों को स्वीकार किया है। प्रेमचन्द भी प्रकारान्तर से इसी मान्यता को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि अर्थ सम्बन्धों की अपेक्षा वह इस स्थान पर जीवन को रखना पसन्द करते हैं। 'साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है"[2] लोक-जीवन, राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से घनिष्ठ मानकर प्रेमचन्दजी ने अपनी प्रतिशील दृष्टि का परिचय दिया है। वह मानते हैं कि समाज का राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः वह साहित्य से भी विच्छिन्न नहीं किया जा सकता है। इन तीनों तत्त्वों को उन्होंने 'माला' की उपमा दी है।[3] हावर्डफास्ट[4] तथा कॉडवेल[5] आदि सभी मान्य मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्रियों ने इसे स्वीकार किया है। लेनिन ने साहित्य की गंभीर महानताओं को स्वीकार करते हुए उसे कोटि-कोटि साधारण जनता के हास्य, रुदन, हर्ष, शोक, विजय, पराजय, संघर्ष, प्रेम और आशा का माध्यम घोषित किया है। प्रेमचन्दजी साहित्य पर उससे कम उत्तरदायित्व डालना समीचीन नहीं समझते हैं। उनके लिए " 'साहित्य' केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है। मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है, किन्तु, उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है, जिनसे व्यक्ति या समाज प्रभावित होते हैं।'[6] प्रेमचन्द की - अपने परिवेश के प्रति इतनी औचित्यपूर्ण आस्था देखकर ही डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है, "वास्तव में जिस समय उत्तर भारत के इतिहास के इस काल-खंड का सामाजिक इतिहास लिखा जाएगा, उस समय प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक व्यवस्थित सामग्री अन्यत्र नहीं मिलेगी और यदि इतिहासकार राजनीति से आतंकित होकर विवेक न खो बैठा, तो वह उन्हें भी पट्टाभि के इतिहास और नेहरू

---

1. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० १४६।
2. वही, पृ० १३६।
3. शिवरानी देवी : प्रेमचन्द—घर में : पृ० ६४-६५।
4. हावर्ड फास्ट : लिटरेचर एण्ड रियलिटी : पृ० ८८।
5. क्रिस्टोफर कॉडवेल : इल्यूजन एण्ड रियलिटी : पृ० २८६।
6. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ० ४-५।

और राजेन्द्र बाबू की जीवनियों से कम महत्त्व नहीं देगा।"[1] प्रेमचन्द ने साहित्य के ऊपर आर्थिक सम्बन्धों एवं उससे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित परतंत्रता के बंधन से मुक्ति दिलाने का उत्तरदायित्व डाला है। उनकी धारणा है कि 'भारत के नये साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिए, और वह है हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति और हमारी पराधीनता का प्रश्न : तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी इसमें क्रियात्मक शक्ति आएगी। वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अन्ध-विश्वास की ओर ले जाता है, हेय है, वह सब कुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।"[2] प्रेमचन्द तत्कालीन कांग्रेसी आन्दोलन की अंग्रेज़ी-विरोधी नीति मात्र से सन्तुष्ट नहीं होते। वह सोचते हैं कि अँग्रेज के स्थान पर यदि भारतीय शासक बन जाएगा तो उससे किसान और मजदूर के शोषण पर कोई अन्तर आने वाला नहीं है, अतः कम्यूनिस्ट पार्टी के दोहरे मोर्चे के समान उन्होंने भी दोहरे संघर्ष की आवाज उठाई। उन्हें डोमीनियनस्टेटस व्यर्थ लगता है और हिन्दुस्तानी सत्ता-धारी भी अंग्रेज का ही प्रतिरूप प्रतीत होता है—"इंग्लैण्ड का डोमीनियनस्टेटस के नाम से न घबराना समझ में आता है। स्वराज्य में किस्तों की गुंजाइश नहीं, न गोलमेज का उलझाव है, इसलिए वह स्वराज्य के नाम से कानों पर हाथ रखता है। लेकिन हमारे ही भाइयों में इस प्रश्न पर क्यों मतभेद है, इसका रहस्य आसानी से समझ में नहीं आता। वे इतने बेसमझ तो नहीं कि इंग्लैण्ड की इस चाल को समझ कर भी, डोमीनियन के पक्ष में हैं। इसका कुछ और कारण आशय है। डोमीनियन पक्ष को गौर से देखिए तो उसमें राजे-महाराजे, हमारे जमींदार, हमारे धनी-मानी भाई ही ज्यादा नजर आते हैं। क्या इसका यह कारण है कि वे समझते हैं कि स्वराज्य की दशा में उन्हे बहुत कुछ दब कर रहना पड़ेगा, स्वराज्य में मजदूरों और किसानों की आवाज इतनी निर्बल न रहेगी? क्या ये लोग उस आवाज के भय से घबरा रहे हैं? हमें तो ऐसा ही जान पड़ता है, वे अपने दिल में समझ रहे हैं कि उनके हितों की रक्षा अंग्रेज़ी शासन से ही हो सकती है। स्वराज्य कभी उन्हें गरीबों को कुचलने और रक्त चूसने न देगा। डोमीनियन का अर्थ उनके लिए यही है कि दो-चार गवर्नरियाँ, दो-चार बड़े-बड़े पद उन्हें और मिल जायेंगे, उनका स्टेटस इसके सिवा और कुछ नहीं है। ताल्लुकेदार और राजे-महाराजे इसी तरह गरीबों का खून चूसते चले जाएँगे। स्वराज्य गरीब की आवाज है। डोमीनियन गरीबों की कमाई पर मोटे होने वालों की—जिन्हें अंग्रेजों के साथ मिलकर प्रजा को लूटते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर प्राप्त है, वे

---

1. डा० नगेन्द्र : विचार और विवेचन : पृ० ११।
2. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ० २५५।

इसके सिवा और कर ही क्या सकते हैं—वे अपना-अपना स्वार्थ देखते हैं, अपनी प्रभुता का सिक्का जमते देखना चाहते हैं। उनके स्वराज्य में गरीबों को, मजदूरों को, किसानों को स्थान नहीं है। स्थान है केवल अपने लिए, मगर जिस व्यक्ति के हृदय में गरीबों की दिन-रात गिरती हुई दशा देखकर ज्वाला-सी उठती रहती है, जो उनकी मूक वेदना देख-देख कर तड़प रही है वह किसी ऐसे स्वराज्य की कल्पना से सन्तुष्ट नहीं हो सकता जिसमें कुछ ऊँचे आदमियों का हित हो और प्रजा की दशा ज्यो-की-त्यों बनी रहे। हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों से नहीं, हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है।"[1]

प्रगतिशील साहित्य का एक प्रमुख तत्व व्यंग्य है। प्रेमचन्द को भी जहाँ कहीं अमंगल, अशोभन तथा शोषण के दर्शन होते हैं, वहाँ वह तीव्र व्यंग्य का आश्रय ग्रहण करते हैं। उनका व्यंग्य अंग्रेजों के साथ-साथ भारतीय नेताओं की ओर भी अग्रवावित हुआ है। राजनीतिज्ञों और अंग्रेजी भक्तों की राष्ट्रभाषा उपेक्षा-नीति के सम्बन्ध में उनके शब्द अत्यन्त मार्मिक हैं। "जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं और फतह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुजारिश करूंगा कि हजरत, इस तरह के एक सौ एलेक्शन आएँगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे, लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा जितनी दूर स्वर्ग है। अंग्रेजी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रखदें लेकिन आपकी आवाज में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी न करेगा, जितने बच्चों के रोने की करता है।"[2] प्रेमचन्द ने ईश्वर-भक्तों,[3] नेताओं,[4] स्त्रियों की आभूषण प्रियता,[5] धर्म,[6] रिश्वत[7] तथा शिक्षा-पद्धति आदि पर खुलकर व्यंग्य किए हैं जिससे इन क्षेत्रों में चलने वाली मानवतावाद-विरोधी प्रवृत्तियों का निराकरण हो सके। उनके व्यंग्यों के पीछे एक मंगलमय भावी समाज की कल्पना कार्य करती दृष्टिगोचर होती है।

प्रेमचन्द ने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दोनों दृष्टियो से देखा है। व्यावहारिक दृष्टि से वह धार्मिक सहिष्णुता को ऐसे प्रश्न का हल मानने है[8] तथा उनकी मावतावादी दृष्टि अपने जीवन का उदाहरण प्रस्तुत करती हुई कहती है—"मैं एक इंसान हूँ और जो इंसानियत रखता हो, इंसान का काम करता हो, मै

---

1. प्रेमचन्द : हँस, १९३०।
2. वही : कुछ विचार : पृ० १९७।
3. वही, पृ० १२६।
4. वही, गबन : पृ० २१८-१९।
5. वही, पृ० ७८।
6. वही, कर्मभूमि : पृ० २०२।
7. वही, प्रेमाश्रम : पृ० २६३।
8. वही, कुछ विचार : पृ० १२६।

वही हूँ, और उन्हीं लोगों को चाहता हूँ। मेरे दोस्त अगर हिन्दू हैं, तो मेरे कम दोस्त मुसलमान भी नहीं हैं और इन दोनों में मेरे नजदीक कोई खास फर्क नहीं है, मेरे लिए दोनों बराबर हैं।"[1] हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न का ऊपर से दिखाई देने वाला आधार धर्म का रहा है। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द की दृष्टि पूर्ण वैज्ञानिक रही है। वह उस धर्म को कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहते जो "हमें यह सिखाता है कि इंसानियत और हमदर्दी और भाईचारा सब कुछ अपने ही धर्म वालों के लिए है, और उस दायरे के बाहर जितने लोग हैं सभी गैर है, और उन्हें जिन्दा रहने का कोई हक नहीं, तो मैं उस धर्म से अलग होकर विधर्मी होना ज्याद पसन्द करूँगा।'[2] प्रेमचन्द ने इन प्रश्नों का आधार राजनैतिक माना है जो यथेष्ट सीमा तक उचित है। थोड़ा-सा झगड़ा कभी किसी कारण से हो गया तो राजनैतिक उद्देश्यों को पूरा करने वाले उसे बढ़ाएँगे और अपना उद्देश्य पूरा करने लिए उसका अधिक-से-अधिक उपयोग करेंगे। कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय एवं धर्मनिरपेक्ष संस्था में जब वह धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रमुखता देने वाले व्यक्तियों का प्रवेश देखते हैं तो कड़ी से-कड़ी भाषा में उसक भर्त्सना करते है। "कांग्रेस में दुर्भाग्यवश हिन्दू और मुसलिम मनोवृत्तियों का अभी तक काफी जोर है। हिन्दू सभा के सैकड़ों ही उपासक उस आन्दोलन को इस समय कमजोर देखकर कांग्रेस में आ मिले हैं और यहाँ भी वही ज़हरीला असर फैला रहे हैं। अगर कांग्रेस में इस मनोवृत्ति को प्रोत्साहन न मिलता तो पंथगत द्वेष कभी इतना रूप न धारण करता। इसमें से अधिकांश लोग अब भी कहने को तो कांग्रेसमैन है, इन्कलाब की चीख मारते हैं, झण्डे के गीत गला फाड़ कर गाते हैं, लेकिन अन्दर देखिए राष्ट्रीयता छू तक नहीं गयी। कानपुर में अगर हिन्दुओं ने अधिक मुसलमानों को मारा या मुसलमानों ने हिन्दुओं का वध करने में बाजी मारी तो वे सन्तुष्ट हैं। धर्म के संकीर्ण क्षेत्र के बाहर उनकी निगाह ही नहीं पहुँचती, वे या तो हिन्दू है या मुसलमान, हिन्दुस्तानीपन का भाव उनसे कोसों दूर है। वे लोग मौके की ताक मे हैं, ज्योंही जनता को धर्म की ओर झुकते देखेंगे तुरन्त कांग्रेस से निकल भागेंग, क्योंकि-उन्हें लीडरी चाहिए चाहे कांग्रेस में मिले या मुसलिम लीग में।[3] प्रेमचन्द ने नारी-समस्या को अनेक प्रकार से उठाया है तथा उसके कुछ निराकरण भी सुझाए है। यह युग नारी और पुरुष के सम्बन्धों की नए परिवेश में व्याख्या करने का रहा है और प्रेमचन्द भी एक जागरूक विचारक के नाते इस दिशा में अग्रसर हुए है। उन्होंने सामन्तकालीन नारी की स्थिति का यथार्थवादी चित्र दिया है और विडम्बना यह है कि नारी अपनी हीनता का सम्यक ज्ञान रखती हुई भी परवश है और अपने को मुक्त कर पाने में असमर्थ बन रही है। वह जानती है कि मेरा वर्ग 'अभी पुरुषों का खिलौना

---

1. शिवरानी देवी : प्रेमचन्द—घर में, पृ० १३०।
2. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० १२६।
3. प्रेमचन्द : हंस, अप्रैल १९३१ ई० : सम्पादकीय।

है, अभी उनके पैरों की जूती है। इन्हीं दो अवस्थाओं में उसकी उम्र बीत जाती है। यह आपका दोष नहीं। हम स्त्रियों को ईश्वर ने इसीलिए बनाया है। हमें यह सब चुपचाप सहना चाहिए। गिला या मान का दण्ड बहुत कठोर होता है और विरोध करना तो जीवन का सर्वनाश करना है,[1] प्रेमचन्द ने देखा कि समाज मे गलतियाँ पुरुष करते हैं, उनके लिए भी जिम्मेदार नारी को ठहराया जाता है, क्योंकि व्यवस्था देने वाले —निर्णय करने वाले पुरुष हैं। नियामक पुरुष ने सारे कायदे-कानून अपने को केन्द्र में रखकर —अपने स्वार्थ को प्रमुखता देते हुए बनाए हैं। छोटी-सी त्रुटि हो जाने पर पुरुष नारी को घर से बाहर निकाल देता है। उनका सहज जिज्ञासु मन पूछता है कि नारी को, जो घर की स्वामिनी है, पुरुष को त्रुटि करने पर घर से बाहर निकालने का अधिकार क्यों नहीं है? उन्हें लगता है कि 'औरत से जो गलती हो जाती है, उसकी गुनहगार अकेली औरत ही नहीं है, पुरुष भी है। बल्कि मै तो कहता हूँ कि पुरुष औरत से दूना गुनहगार नही तो ड्योढ़ा तो जरूर ही है। मै कहता हूँ कि फिर स्त्री को ही क्यों बाहर निकाला जाता है, पुरुष को क्यों नहीं निकाला जाता है? उसका क्यों नहीं बहिष्कार किया जाता? उसमें सोलहों आना स्त्री को ही क्यों गुनहगार ठहराया जाता है और पुरुष तो शुरू से ही स्त्रियों के साथ ज्यादती करता आ रहा है। अपनी मर्जी के माफिक कायदा-कानून भी तो पुरुष ने अपने लिए बना रखे हैं। बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह पुरुष ही करते हैं।'[2] वह नारी के महत्त्व को पूर्णरूप से जानते एवं स्वीकार करते हैं। उन्हें पुरुषों की अपेक्षा नारी अधिक सवेदनशील तथा मनोरहस्यों की गहरी जानकारी रखने वाली प्रतीत होती है, इसीलिए वह उसका साहित्यिक क्षेत्र में सहयोग चाहते हैं।'[3] नारी जीवन में सबसे श्रेष्ठ तत्त्व एवं नारी का परम मानव रूप उन्हें उसका मातृत्व लगा है, जिसको स्थान-स्थान पर उन्होंने स्वीकृति प्रदान की है : 'नारी केवल माता है और इसके उपरान्त वह जो कुछ भी है सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बडी साधना है, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है। एक शब्द में मैं उसे लय कहूँगा —जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।'[4] नारी की समस्याओं को लेकर उन्होने अनेक उपन्यास लिखे है। विधवा-विवाह, अनमेल विवाह, परित्यक्ता, प्रेम-विवाह, अविवाहिता, आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी तथा परावलम्बी, आधुनिका, वेश्या, मध्यवर्गीय, उच्चवर्गीय, निम्नवर्गीय, देश-भक्ति, त्याग और तपस्या-प्रधान माता, प्रियतम के लिए सब कुछ त्यागने वाली प्रेमिका, पति के कंधे-से-कंधा मिलाकर चलने वाली जीवनसंगिनी आदि अनेक रूपों में नारी का जो अंकन प्रेमचन्द ने किया है, वह

---

1. प्रेमचन्द : कायाकल्प : पृ० ३७५-७६।
2. शिवरानी देवी : प्रेमचन्द—घर में : पृ० १३१।
3. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ० १०१।
4. प्रेमचन्द : गोदान : पृ० १५७।

सोद्देश्य है। प्रत्येक नारी एक समस्या है और अपने साथ बहुत-से प्रश्न लिए चलती है। अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उन्हें लगने लगा है कि नारी को जब तक आर्थिक स्वातन्त्र्य, शिक्षा तथा पुरुष के समान अधिकार कानूनी दृष्टि से नहीं मिलेंगे तब तक उसकी समस्याएँ थोड़े-बहुत अन्तर से ज्यों-की-त्यों बनी रहेंगी। सबके साथ मिलकर वह चिन्ता करते हैं 'अब सोचना यह है कि कैसे दोनों को बराबर किया जाय और बदमाशों को कैसे ठीक किया जाय? इसमें जरूरत इस बात की है कि स्त्रियाँ शिक्षित हों और उसके साथ-साथ स्त्रियों को वह अधिकार मिल जाय, जो सब पुरुषों को मिले हुए हैं। जब तक सब स्त्रियाँ शिक्षित नहीं होगीं और सब कानून-अधिकार उनको बराबर न मिल जायेंगे तब तक महज़ बराबर काम करने से ही काम नहीं चलेगा।'[1]

प्रेमचन्द ने लोकहित को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। वह उन्हीं तत्त्वों और अनुभूतियों को स्पृहणीय मानते हैं जिनसे लोककल्याण होता है। 'बिज़नेस से अगर समाज का हित होता है तो ठीक है, वर्ना ऐसे बिज़नेस मे आग लगा देनी चाहिए। सिनेमा अगर हमारे जीवन को स्वस्थ आनन्द दे सके तो उसे जिन्दा रहने का हक है। अगर वह हमारे क्षुद्र मनोवेगों को उकसाता है, हममें निर्लज्जता और धूर्त्तता और कुरुचि को बढ़ाता है और हमें पशुता की ओर ले जाता है तो जितनी जल्द उसका निशान मिट जाय, उतना ही अच्छा है।'[2] जीवन को अधिक सम्पन्न तथा ऊँचा उठाने वाला साहित्य ही श्रेष्ठ कहलाता है और प्रेमचन्द का भी यही विश्वास है कि "साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्श को उपस्थित करना है, जिसे पढ़ कर हम जीवन में कदम-कदम पर आने वाली कठिनाइयों का सामना कर सकें। अगर साहित्य से जीवन का सही रास्ता न मिले, तो ऐसे साहित्य से लाभ ही क्या? जीवन की आलोचना कीजिए चाहे चित्र खीचिए, आर्ट के लिए लिखिए, चाहे ईश्वर के लिए, मनोरहस्य दिखाइए चाहे विश्वव्यापी सत्य की तलाश कीजिए, अगर उससे हमें जीवन का अच्छा मार्ग नहीं मिलता, तो उस रचना से हमारा कोई फायदा नहीं। साहित्य न चित्रण का नाम है न अच्छे शब्दों को चुन कर सजा देने का, न अलंकारों से वाणी को शोभायमान बना देने का। ऊँचे और पवित्र विचार ही साहित्य की जान हैं।"[3] लोककल्याण तभी हो सकता है जबकि साहित्य आसानी से सभी वर्ग के पाठकों की समझ में आ सके, अतः इसके साथ ही सरलता का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। उपन्यास के सन्दर्भ में इस प्रश्न पर वह विचार करते हुए कहते हैं कि "जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।"[4] प्रेमचन्द ने यद्यपि साधारणीकरण पर सीधा-सीधा विचार नहीं किया है किन्तु

---

1. शिवरानी देवी : प्रेमचन्द—घर में : पृ० २६०।
2. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ० १२३।
3. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ० २८५।
4. वही, कुछ विचार : पृ० ९५।

प्रकारान्तर से भी इस प्रश्न पर वह मूक कैसे रह पाते ? "कवि तो इसलिए कविता करता है कि उसने जो अनुभूति पाई है, वह दूसरों को दे, उन्हें अपने दुःख-सुख में शरीक करे। ऐसा शायद ही कोई कवि होगा, जो निर्जनता में बैठ कर अपनी कविता का आनन्द ले। कभी-कभी वह निर्जनता में भी अपनी कविता का आनन्द लेता है, इसमें सन्देह नहीं, पर इससे उसकी तृप्ति नहीं होती। वह तो अपनी अनुभूतियों को, अपनी व्यथाओं को लिखेगा, छपाएगा और सुनाएगा। दूसरों को उससे प्रभावित होते देखकर ही उसे उसकी सत्यता का विश्वास होता है। जब तक वह अपने रोने पर दूसरों को रुला न ले, उसे इसका सन्तोष ही कैसे होगा कि वह वहीं रोया, जहाँ उसे रोना चाहिए था।"[1] साधारणीकरण जैसे प्रश्न पर साहित्य को सोद्देश्य मानने वाले प्रेमचन्दजी की धारणा वही है जो होनी चाहिए। यद्यपि उन्होंने 'कलावाद' के महत्त्व को भी परिस्थिति-विशेष (सम्पन्नता के काल मे) में स्वीकृति प्रदान की है किन्तु वह सम्भवतः उस काल में भी साधारणीकरण के प्रश्न पर उस तरह न सोच सके जिस तरह आज का अतिवैयक्तिकतावादी-कलावादी समीक्षक सोचता है। प्रेमचन्दजी कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष पर अधिक बल देते हैं, इसीलिए उन्होंने अलंकारों की बहुलता को अस्वीकार किया है। "जिस तरह मसालों के बाहुल्य से भोजन का स्वाद और उपयोगिता कम हो जाती है, उसी भाँति साहित्य भी अलंकारों के दुरुपयोग से विकृत हो जाता है। जो कुछ स्वाभाविक है, वही सत्य है और स्वाभाविकता से दूर होकर कला अपना आनन्द खो देती है और उसे समझने वाले थोड़े से कलाविद ही रह जाते हैं, उसमें जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह जाती[2]। प्रेमचन्द के भाषा सम्बन्धी विचार अति प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी हैं। सम्भवतः उन्होने सबसे अधिक इसी प्रश्न पर लिखा है। वह हिन्दी और उर्दू को पास-पास लाकर एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा के स्वरूपदाता है, जिसका व्यावहारिक पक्ष उनके उपन्यासों और भाषणों में मिलता है। वह संस्कृतनिष्ठ हिन्दी तथा अरबी और फारसीनिष्ठ उर्दू दोनों को ही इस देश के लिए अव्यावहारिक मानते है। 'वास्तविक बात तो यह है कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो वह उर्दू ही हो सकती है जो अरबी और फारसी के अप्रचलित तथा अपरिचित शब्दो के भार से लदी रहती है और न वह हिन्दी ही हो सकती है जो संस्कृत के कठिन शब्दों से लदी होती है।[3] उनके लिए राष्ट्रभाषा की समस्या का हल अनेक प्रश्नों का हल है। वह मानते हैं कि जब तक हमारे पास एक राष्ट्रभाषा नहीं होगी तब तक न हमारी कोई राष्ट्रीयता हो सकेगी, न कोई कौम, न कौमी साहित्य और यहाँ तक कि तब तक हम आज़ाद भी नहीं हो पाएँगे। राष्ट्रभाषा का प्रश्न उनके लिए आज़ादी का प्रश्न है। 'यह समझ लीजिए कि जिस दिन अंग्रेजी भाषा

---

1. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ० ९२९।
2. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० ६१-६२।
3. वही, पृ० ९३।

का प्रभुत्व तोड़ देंगे और एक कौमी भाषा बना लेंगे, उस दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जाएँगे।'[1] इस प्रश्न को सुलझाने का व्यावहारिक दृष्टिकोण सुझाते हुए उन्होंने साहित्यकारों से निवेदन किया है कि वह जनहित का दूसरों का भी ध्यान रखें तो समस्या सुलझ सकती है। दोनों को अपनी सीमाओं का विस्तार करना है — 'हिन्दी के लेखकों को लिखते वक्त यह समझते रहना चाहिए कि उनके पाठक मुसलमान भी हैं। इसी तरह उर्दू के लेखकों को यह खयाल रखना चाहिए कि उनके कारी हिन्दू हैं'[2] उन्हें यह स्वीकार न था कि हिन्दी राष्ट्रभाषा बने और वह अन्यों का ध्यान भी न रखे। 'शुद्ध हिन्दी' का नारा लगाने वाले प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को समुचित एवं तर्कयुक्त उत्तर देते हुए उन्होंने बताया —'जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी सभी जातियाँ मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनाई जा सकती है। उसका अंग-भंग करके उसका कायापलट करना होगा प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असम्भव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते-देखते सैंकड़ों विदेशी शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हें रोक नहीं सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। यह भाषा के विकास में बाधक होगा।[3] उनकी सम्मति में पहले हमें मिलकर एक राष्ट्रभाषा बना लेनी चाहिए तभी हम अंग्रेजी को पद्च्युत कर सकेंगे।[4] अन्यथा राजनैतिक स्वतंत्रता मिल जाने पर भी हम अंग्रेजी से अपना पीछा न छुड़ा पाएँगे। प्रेमचन्द की यह सलाह कितनी सामयिक थी, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हमें आज हो रहा है। विकासवाद के आधार पर उन्होंने हमें एक भाषा की आवश्यकता और उपयोग समझाया है। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, यह स्थानीय भाषा में किसी सूबे की भाषा में जा मिलती है और सूबे की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अङ्ग बन जाती है। हिन्दी में ही ब्रज भाषा, बुन्देलखण्डी अवधी, मैथिल, भोजपुरी आदि भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, लेकिन जैसे छोटी-छोटी धाराओं के मिल जाने से एक बड़ा दरिया बन जाता है, जिसमें मिलकर नदियाँ अपने को खो देती हैं, उसी तरह से वे सभी भाषाएँ हिन्दी की मातहत हो गयी हैं और आज उत्तर भारत का एक देहाती भी हिन्दी समझता है और अवसर पड़ने पर बोलता है, लेकिन हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा की जरूरत पड़ गयी है जो सारे हिन्दुस्तान में समझी और बोली जाय।'[5]

---

1. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य : पृ० १५३।
2. वही, पृ० १५४।
3. वही, पृ० १५४-५५।
4. वही, पृ० १५१ के आधार पर।
5. वही, पृ० १७०-७१।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द किसी संकुचित वाद में बँधकर चलने वाले कलाकार एवं विचारक नहीं हैं। उन्होंने जीवन को बहुत निकट से उसकी पूर्णता में देखा था और अनुभूतियों की सत्यता को साक्षी बनाकर अपना दृष्टिकोण बनाया था, जिसमें किसी प्रकार का पूर्वाग्रह या हठ उन्हें पूर्णतः अमान्य था। उनकी कृतियों, भाषणों तथा समीक्षात्मक लेखों में उनकी विचारधारा का एक सुस्पष्ट विकास-क्रम देखने को मिल जाता है जिसमें वह सुधारवादी से चलकर रक्त-क्रान्ति के समर्थक तक के स्तरों पर अग्रधावित होते दीख पड़ते हैं। उनको जीवन से प्रेरणा मिलती थी तथा वह सिद्धान्तों पर निर्भर न रहकर जीवन के व्यावहारिक पक्ष को देखते थे, जो प्रगतिशील दृष्टिकोण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रेमचन्द यथार्थवादी थे। जिन समीक्षकों ने उन्हें व्यावहारिक आदर्शवादी माना है उन्होंने भी उन्हें व्यवहार पर आधारित करके यथार्थवादी ही घोषित कर दिया है। साहित्यकार की सच्ची मान्यता उसका अपना जीवन होती है। प्रेमचन्द अपने को 'कलम का मजदूर' कहते हैं और इस प्रकार अपने को सर्वहारा वर्ग में रखकर वर्गविहीन समाज-व्यवस्था लाने के लिए जीवन भर संघर्ष करते हैं। उनका साहित्य अपनी सीमाओं में रहकर चलने वाला संघर्ष है, जिसका उद्देश्य एक ऐसी क्रान्ति को जन्म देना रहा है जो शोषणमूलक-व्यवस्था का अन्त करके वर्गरहित शोषण-मुक्त साम्य स्थिति ला सके।

## अन्य वर्तमानकालीन हिन्दी-आलोचक

### डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

**डा० द्विवेदी तथा मार्क्सवाद**

डा० द्विवेदी को हम मार्क्सवादी मान्यताओं का सैद्धान्तिक स्तर पर विवेचन करते तो पाते हैं[1] क्योंकि उन्हें वे ज्यों-का-त्यों स्वीकार करना अप्रमीचीन समझते हैं किन्तु वह ज्ञान के क्षेत्र को सीमित कर देने तथा उसमें और आगे जाने की सम्भावनाओं के समर्थक हैं। उन्हें लगता है कि मार्क्सवादी विचारधारा में सामान्यतः ऐसी कोई बात नहीं है जो हमारी संस्कृति के विपरीत हो, या जिसे हम थोड़ा-बहुत परिवर्तित करके स्वीकार न कर सकें।[2] मार्क्स ने द्वन्द्व के द्वारा जिस नित्य नवीनीकरण के सिद्धान्त की स्थापना की है,[3] उसकी परोक्ष स्वीकृति द्विवेदीजी के मानवतावाद के आधार मानव-जीवन में भी देखते हैं (वह नित्य नवीनीकरण को मानव-जीवन

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हमारी साहित्यिक समस्याएँ : पृ० १७७-७८।
2. वही, पृ० १७९।
3. मौरिस कौर्नफोर्थ : डायलेक्टीकल मेटीरियलिज्म, प्रथम भाग : पृ० ९२।

का मुख्य सूत्र मानते है। 'मै नित्य नवीन होने ही को मानव-जीवन का मूल सूत्र मानता हूँ।[1] 'नित्य नवीन होने का यह सिद्धान्त न केवल मानव-जीवन पर ही लागू होता है वरन् मार्क्सवाद ने इसके क्षेत्र में सभी वस्तुओं, विचारों एवं स्थितियों को स्वीकार किया है।) मार्क्स के इस सिद्धान्त का समाज पर आरोप उसका 'समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण' कहलाता है। मार्क्स के अनुसार समाज का विकास इसी नियम से होता चलता है। समाज का रूप बदलता है, व्यक्ति बदल जाते हैं, किन्तु समाज बना रहता है। मार्क्सवाद इसीलिए व्यक्तियों की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व देता है। डा० द्विवेदी भी इसी प्रकार की मान्यता को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। व्यक्ति के विकास के साथ ही साथ वह उसे सामाजिक-विकास का ही अंग मान कर समाज पर विशेष बल देते हैं। 'आप लोग व्यक्ति को अपने मन में इतना ऊँचा स्थान दिये हुए हैं कि समूह की बात ही भूल जाते हैं। व्यक्ति का उद्भव-विलय बराबर होता रहता है पर कभी आपने यह भी सुना है कि समूचा समाज का समाज मर गया हो। कभी भी क्या ऐसा समय बीता है कि जब पृथ्वी पर मानव-समूह निश्चिन्त हो गया हो।.....एक व्यक्ति व्यक्ति रूप से नष्ट हो सकता है पर पुत्र-पौत्र परम्परा से वह निरन्तर जीता रहेगा।[2] 'विकासवाद की ये मान्यताएँ स्वीकार करके उन्हें समीक्षा में स्थान देने का प्रयत्न करने वाले डा० द्विवेदी कई अन्य मार्क्सवादी मान्यताओं से भी प्रभावित हैं।' समीक्षा में कार्य-कारण-सम्बन्ध की मान्यता को स्वीकृति दी गई है। 'मनुष्य का चिन्ह सर्वत्र कार्य-कारण-शृंखला खोजता रहना है—अनुभूति और वेदना के क्षेत्र में भी। काव्यजन्य अनुभूति की स्पन्द्रता इस बात का पक्का प्रमाण है कि मनुष्य आवेगचलित अवस्था में कार्य-कारण-शृंखला के प्रति आस्था बनाए ही रहता है। जहाँ इसे नहीं पाता वहाँ देर तक जमना नहीं चाहता। यही कारण है कि भक्त कवि भगवान के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की कल्पना कर लेता है।[3] प्रगतिवादी दृष्टिकोण में वैज्ञानिक मान्यताओं को आधार मानकर चला जाता है। इसी आधार के कारण मार्क्स की भौतिकवादी दृष्टि को वैज्ञानिक-भौतिकवाद की संज्ञा दी गई है। विज्ञान ने हमारी जीवन-पद्धति तथा साहित्य के प्रति दृष्टि को किसी-न-किसी अंश में सामान्य रूप से प्रभावित किया है। डा० द्विवेदी ने भी विज्ञान की सहायता से अपने सिद्धान्त निर्धारित किये हैं, और उनकी स्वीकृति इस सीमा तक हुई है कि उनके दृष्टिकोण को वैज्ञानिक कहना अनुपयुक्त न होगा।[4] द्विवेदी जी वर्तमान समाज-व्यवस्था से असन्तुष्ट हैं। इस

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हमारी साहित्यक समस्याएँ : पृ० २०८।
2. वही, पृ० २१२।
3. वही : हिन्दी आलोचना का इतिहास : पृ० २४६।
4. वही, विचार और वितर्क : पृ० २२८-२९।

व्यवस्था के सम्बन्ध में उनकी धारणा प्रगतिशील समीक्षकों के समान है। उन्हें सुधारवाद पर अब विश्वास नहीं रहा है। वह मानते हैं कि परिस्थिति इतनी विषम हो गई है कि सामान्य उपायों एवं सुधारों से साम्य-स्थिति नहीं लाई जा सकती। अतः यह अनिवार्य है कि इस व्यवस्था को उलट दिया जाय और नई समाज-व्यवस्था लाई जाय, चाहे इस प्रकार का परिवर्तन लाने के लिए कितना ही मूल्य चुकाना पड़े। फलतः वर्तमान समाज को बदलने के लिए वह क्रान्ति का आह्वान करते हैं—'सारी समाज-व्यवस्था कुछ इतनी सड़ी हुई और विषैली हो गई है कि उत्तम साहित्य के प्रचार में सौ-सौ बाधाएँ अपने आप आ उपस्थित होती हैं इसीलिए आज साहित्यकार के सामने प्रश्न केवल अच्छी बातें सुनाने का ही नहीं है उस सड़ी हुई समाज-व्यवस्था को बदल देने का भी है जो अच्छी बातों का सुनाने में बाधक है। चिलम जब नहीं जल रही है तो क्यों न उसे उलट कर फिर से साजा जाय?'[1]

आज जिस गति से विचारधाराओं और जीवन-मूल्यों में परिवर्तन आ रहा है, उससे लगता है कि परिवेश के बदलते ही सब कुछ बदलने लगता है। व्यक्ति के बहिरन्तर परिवर्तन की दिशा ने डा० द्विवेदी जैसे युग-दृष्टा समीक्षक को भी यह स्वीकार करने को बाध्य किया है कि हमें मार्क्सवादी विचारधारा का आज नहीं तो कल अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। यह समय की माँग है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता। आज के तरुण साहित्यकारों को वह सम्बोधित करके कहते हैं कि उन्हें इस दिशा में अभी से मनन, चिंतन प्रारम्भ करना चाहिए और इस बात की गंभीरता से शोध करनी चाहिए कि इस मान्यता का कौनसा रूप हमारे लिए उपयुक्त होगा? जब औचित्य का निर्णय परिवेश से होता है तो हमें भी मार्क्सवाद के उसी रूप का अनुसंधान करना होगा जो यहाँ के परिवेश के अनुकूल हो। 'मेरा अपना विश्वास है कि एक समय आएगा जब भारतवर्ष के सभी क्षेत्रों पर समाजवाद या किसी-न-किसी रूप का आधिपत्य होगा। उस दिन के लिए हमें अभी से तैयारी करनी होगी। आज से ही हमारे प्रगतिशील तरुण साहित्यकारों को यह याद रखना होगा कि किसी दिन ऐसे सैंकडों मतवादों और तत्त्वचिन्ताओं को उन्हें अति निरपेक्ष भाव से अध्ययन, मनन, सम्पादन और विवेचन करना होगा।'[2] आज के प्रतिवादी साहित्यकारों की स्थिति पर भी उन्होंने गम्भीरता से विचार किया है। पार्टी का साहित्यकारों पर जो अंकुश रहता है उसे वह स्वीकार नहीं कर सकते हैं। उन्हें लगता है कि इससे साहित्यकार की चेतना बन्दी बन जाती है और उच्चकोटि का

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हमारी साहित्यिक समस्याएँ : पृ० ६८।
2. वही, पृ० १८५।

साहित्य-सृजन नहीं हो सकता। इसी दृष्टिकोण को लेकर ट्राटस्की ने कहा है[1] कि प्रचारवादी साहित्य स्थायी मूल्य का नहीं हो सकता एवं पार्टी निर्देश के अन्तर्गत रूढ़ि खण्डन के आवेश में महत्त्वपूर्ण जीवन-सत्य उसकी दृष्टि से अवश्य ओझल हो जाते हैं। आ० द्विवेदी ने इस सन्दर्भ में जो दूसरी आशंका प्रकट की है उसका भी भारी महत्व है। आज कोई ऐसी विचारधारा जो मानव को अपने से आगे सोचने पर प्रतिबन्ध लगा दे, मान्य नहीं हो सकती। मार्क्सवादी-साहित्य-धारा में जो परम्परा को रूढ़ि की तरह स्वीकार करके चलते हैं, उन्हें चेतावनी देते हुए उन्होंने समयोचित परामर्श दिया है। 'कम्युनिस्ट पार्टी से जिन साहित्यकारों का सम्बन्ध है उनको पार्टी के निर्देश पर चलना पड़ता है। पार्टी का इस प्रकार स्वतन्त्र चिंतन के मार्ग में आना हितकर नहीं हो सकता। कई प्रगतिवादी लेखक पार्टी के अंकुश को बर्दाश्त न कर सकने के कारण उससे अलग हो गये हैं। भविष्य में तो पार्टी को अपना अंकुश उठा लेना पड़ेगा या प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों से वंचित रहना पड़ेगा। कई चिंतनशील कवि और आलोचक प्रगतिशील कहे जा सकते हैं, यद्यपि उन्होंने मार्क्स द्वारा प्रवर्तित जीवन-दर्शन को पूर्णरूप से नहीं अपनाया या अपनाया भी तो कुछ स्वाधीनता के साथ।'[2]

डा० द्विवेदी के मानवतावाद को एकदेशीय ठहराया गया है[3] तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का विरोधी कहा गया है, यह कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि डा० द्विवेदीजी 'वादों' और सीमाओं से आबद्ध होना कभी स्वीकार नहीं करते, उनका उस संकुचित राष्ट्रीयतावाद में सीमित हो जाना कैसे सम्भव है जिसके भयंकर मानव-विरोधी परिणाम अभी-अभी द्वितीय महायुद्ध में देखे जा चुके हैं। मानवतावादी उसी सीमा तक राष्ट्रीय हो सकता है, जहाँ तक कि उसके राष्ट्र के निवासी भी मानव हैं तथा विश्व-मानवता के एक अंग हैं। इससे आगे जब वे शेष मानवता से अपने को विच्छिन्न कर लेंगे तभी मानवतावादी उनका विरोधी बन जाएगा। मार्क्सीयदर्शन विश्वमानवता को लेकर चलता है।

"Marxism is the banner, the creed of the working class, and of all toiling humanity, to which it revealed its historic mission, the emancipation of mankind from all oppression and explitation and showed the way to the building of communist Society....

द्विवेदी जी के साहित्य को आधार बनाकर यह कहा जा सकता है कि उन पर

---

1. ट्राटस्की : लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन: पृ० २०३।
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य : पृ० ४४६।
3. डा० रामाधार शर्मा : हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा : पृ० २५८।
4. मार्क्स एण्ड एंगल्स : सलेक्टेड वर्क्स, प्रथम भाग : भूमिका : पृ० १४।

जो कट्टर राष्ट्रीयता का आरोप है, वह अनुपयुक्त है। वह मानवतावादी हैं अतः सार्वभौमिक हैं। 'हम लोग जब हिन्दी की सेवा करने की बात कहते है तो प्राय भूल जाते हैं कि यह लाक्षणिक प्रयोग है। हिन्दी की सेवा का अर्थ है उस मानव-समाज की सेवा जिसका माध्यम हिन्दी है।'[1] अपनी भाषा हिन्दी को वह तभी श्रेय मानते हैं जबकि वह मानवता की सेवा का माध्यम है। वह मानव-कल्याण का अन्य मूल्यों से श्रेष्ठतर मानते हैं और तभी वह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव कल्याण के पक्षधर हैं—'मेरा पूर्ण विश्वास है किसी दिन यदि जगत् दुर्गति के इस दलदल से उद्धार पाने में समर्थ हुआ तो उस पुण्य कार्य के सबसे बड़े सहायक साहित्यकार ही होंगे। वे ही जन-चित्त को उस घिनौने मनोभाव को समझा सकेंगे जो युद्धों, विद्वेषों और संघर्षों को खुराक जुटाया करता है, जो संकीर्ण स्वार्थ के कारण लाखों निरीह जीवों के सर्वनाश में उल्लास अनुभव करता है।[2] द्विवेदीजी का मानवतावादी सांस्कृतिक दृष्टिकोण संस्कृति को देशविशेष या जातिविशेष या मौलिक सम्पत्ति या धरोहर नहीं स्वीकार करता। वह मानते हैं कि विश्व के मनुष्यों की संस्कृति के अनेक तत्त्व समान हैं तथा प्रयत्नपूर्वक ऐसी संस्कृति का निर्माण हो सकता है जो सार्वभौमिकता सम्पूर्ण मानव-समाज को स्वीकार हो सके तथा जिससे सार्वभौमिक कल्याण का पथ प्रशस्त हो जाये।[3] इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण को मार्क्सवादी-सार्वभौमिक-दृष्टिकोण के समक्ष रखकर देखा जा सकता है जिसमें ऐसे आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों को स्वीकार किया गया है जिनसे सम्भवतः द्विवेदीजी का विरोध नहीं है।

मार्क्स ने अपने दर्शन को भाववादी दर्शन का विरोधी कहा है,[4] अतः मार्क्सवादी समीक्षक भाववादी मान्यताओं का खण्डन तथा भौतिकवादी और यथार्थवादी मान्यताओं का समर्थन करते हैं। भाववादी आत्मिक सौन्दर्य पर निर्भर रहता है तथा बाह्य सौन्दर्य के बिना आंतरिक सौन्दर्य की सृष्टि की शक्यता उन्हें अमान्य है। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों को आंशिक रूप से स्वीकार करके डा० द्विवेदी ने यथार्थ समस्याओं से पलायन न करने पर विशेष बल दिया है। जो व्यक्ति बाह्य यथार्थ से परे जाकर भाववादी दृष्टिकोण को अपना आधार बना लेते हैं उसे वह अनुपयुक्त समझते हैं। 'साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत् को असुन्दर छोड़कर सौंदर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। सुन्दरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ : पृ० ९१।
2. वही, पृ० १०२।
3. वही, अशोक के फूल : पृ० ७७।
4. मोरिस कौर्नफोर्थ : डायलेक्टीकल मेटारियलिज्म : प्रथम भाग : पृ० २२।

और बड़ाई में धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में, आकाश-पाताल का अन्तर हो वह दुनिया सामंजस्य की नहीं कही जा सकती और इसलिए वह सुन्दर भी नहीं है। इस बाह्य असुन्दरता के ढूह पर खड़े होकर आन्तरिक सौन्दर्य की उपासना नहीं हो सकती। हमें उस बाह्य असौन्दर्य को देखना ही पड़ेगा। निरन्न, निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौंदर्य-लोक की कल्पना नहीं कर सकते। साहित्य सुन्दर का उपासक है। इसलिए साहित्यिक को असामंजस्य को दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा, अशिक्षा और कुशिक्षा से लड़ना होगा, भय और ग्लानि से लड़ना होगा। सौन्दर्य और असौन्दर्य का कोई समझौता नहीं हो सकता। सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसे पाने का सीधा और एकमात्र रास्ता उसकी कीमत चुका देना ही है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। हमारे देश का बाह्य रूप न तो आँखों को प्रीति देने लायक है, न कानों को, न मन को, न बुद्धि को। ह सचाई है।'[1] यह कहना सम्भवतः समीचीन होगा कि (डा० द्विवेदी मार्क्सवाद से एक सीमा तक प्रभावित हैं तथा उसकी उन विशेषताओं को स्वीकार कर लेना उचित समझते हैं जो उनके मानवतावादी-सास्कृतिक-दृष्टिकोण के एकदम विपरीत नही हैं।)

## साहित्येतिहास सम्बन्धी प्रगतिशील दृष्टि

(डॉ० द्विवेदी से पूर्व हिन्दी साहित्य का एक ही प्रामाणिक इतिहास आचार्य शुक्ल का था, जिसमें कालविभाजन, काव्यप्रवृत्तियाँ तथा तत्कालीन परिस्थितियों का महत्त्व स्वीकार किया गया था। उनमे पूर्व के इतिहासों में केवल कवियों का नाम, परिचय तथा उनकी कृतियों का उल्लेख मात्र करके अपने इतिहास-लेखक के उत्तरदायित्व को पूरा नहीं समझ लिया है, वरन् पूर्वापर सम्बन्धों को उद्घाटित करके अपनी स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं उनके शब्द हैं – "साहित्य के इतिहास में दो कारणों से इनका महत्त्व है। एक तो परवर्ती धार्मिक काव्यरूपों के विकास में ये सहायक हैं, और उस धार्मिक पृष्ठभूमि को समझने में सहायता पहुँचाती है, जिनके बिना हम काव्य-प्रयत्नों को समझ ही नहीं पायेंगे और दूसरे इनके अध्ययन से उस युग की भाषा-शैली, छन्दोविधान आदि का अध्ययन सुकर होता है। इन दो दृष्टियों से इन रचनाओं का महत्त्व है।)(फिर इन रचनाओं में सहज सत्य को अभी-अभी बड़ी प्रभावशाली भाषा में प्रकट किया गया है, जो तत्कालीन रूढ़ि-प्रवण धर्म विचारों से जकड़े मनुष्य को विद्युत की चमक के समान सत्य को उद्भासित कर देता है। मनुष्य चित्त को रूढ़ि-ग्रस्त धर्म-भावना से मुक्त करके और सहज सत्य के प्रति उन्मुख करके उन्होने परवर्ती भक्त कवियो के लिए क्षेत्र प्रस्तुत किया है।"[2] साहित्येतिहास साहित्य

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल : पृ० १५८-६६।
2. वही : हिन्दी साहित्य : पृ० ८०-८१।

के विकास की कहानी है। साहित्यिक विकास की धारा किस प्रकार प्रभावित हुई है और आज यहाँ तक आ पहुँची है, इसका विवरण ही साहित्येतिहास है। साहित्येतिहास का विकास समाज-विकास के अनुरूप होता है क्योंकि साहित्य जीवन एवं समाज की व्याख्या है, अतः साहित्येतिहास के सम्बन्ध में भी वे ही नियम लागू होते हैं जो सामान्य विकास के हैं। मार्क्सवादी मान्यतानुसार विकास का प्रत्येक चरण, उसके प्राचीन रूप में निहित अन्तर्विरोध का परिणाम होता है। विकास द्वारा जो नया रूप सामने आता है उसमें भी अन्तर्विरोध निहित होते हैं। वर्तमान रूप में कुछ तत्त्व उस पुराने रूप के रहते हैं जिसमें से विकसित होकर वह इस नए रूप में आया है तथा उसमें दूसरी ओर वे तत्त्व भी रहते हैं जो भविष्य मे चलकर इस रूप से विकसित होने वाले नए रूप को जन्म देंगे। इस प्रकार प्रत्येक विकसित रूप में अनुकूल और प्रतिकूल शक्तियों, भूतकाल और भविष्य तथा ह्रासशील और विकासशील तत्त्व एक साथ वर्तमान रहते हैं।'[1] इस उद्धरण से यह तथ्य पूर्णस्पष्ट है कि द्विवेदीजी ने साहित्येतिहास को एक निरन्तर विकसित होने वाली प्रवहणशील धारा के रूप में देखा है जो भूतकाल और भविष्य दोनों से घनिष्ठता के साथ सम्बद्ध है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के निवेदन में उन्होंने लिखा है—"ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाय।"[2] मार्क्सवादी समीक्षा में यह माना जाता है कि जनता ही इतिहास का निर्माण करती है।[3] आचार्य द्विवेदी ने अपनी साहित्येतिहास सम्बन्धी मान्यताओं में स्वीकार किया है कि—"भारतेन्दु की प्रेरणा ने हिन्दी भाषा के आन्दोलन को वास्तविक जन-आन्दोलन का रूप दे दिया। इसी जन-आन्दोलन ने हिन्दी को जन-भाषा बनाने की ओर बराबर उन्मुख बनाए रखा। यह जन-संश्रय का ही परिणाम है कि निरंतर उपेक्षित और अपमानित होते रहने पर भी हिन्दी आज सर्वोच्च गौरव की अधिकारिणी बनी है।"[4] इससे सिद्ध हो जाता है कि इतिहास को वास्तविकत शक्तियाँ और इतिहास को मोड़ने वाले तत्त्व जनता में निहित स्वीकार किए गए हैं। साहित्य के आन्दोलन अपने मूलरूप में जन-आन्दोलन होते हैं, जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक उनमें शक्ति नहीं आ पाती है।

ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के साथ-साथ उन्होंने काव्यगत विशेषताओं एवं शैली-शिल्प के रूपों का विकास खोजते समय भी लोक-प्रवृत्तियों पर दृष्टि जमाए रखी है

---

1. मौरिस कौनफोर्थ : डायलेक्टीकल मैटीरियलिज्म, प्रथम भाग : पृ० १२३।
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० ७।
3. फण्डामेन्टल्स अफ मार्क्सिज्म-लेनिनिज्म : पृ० २१६।
4. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : पृ० ४०१-४०२।

जहाँ कहीं उन्हें शक्ति, सौंदर्य तथा प्रभाविष्णुता के दर्शन होते हैं, वहाँ उसका मूल वह लोक-संस्कृति में खोजने का प्रयास करते हैं—"हिन्दी के जितने भी महान् कवि हुए हैं, उनकी रचनाएँ मात्रिक वृत्तों में ही चमकी हैं। जिन कवियों ने कई छन्दों में रचना की है वे भी मात्रिक छन्दों वाली रचना लिख कर ही कृतकार्य हुए हैं। यहाँ से हिन्दी कविता ने अपने असली छन्दों को पहचाना। सभंवत: लोक में इन्हीं छन्दों का अधिक प्रचार था।"[1] अब तक इतिहास के आधार अटकलबाज़ियों और अप्रासंगिक स्थितियों में खोजे जाते थे। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास में इतिहास का आधार लोक-साहित्य में खोजा गया है, जिससे नवीन मान्यताएँ स्पष्ट हुई हैं— 'लोक-कथाओं, प्राचीन निजन्धरी कथाओं और लोक-गीतों को मेल में रख कर हिन्दी साहित्य को देखने की यह बिल्कुल नई किन्तु अत्यधिक सम्भावनाओं से भरी दिशा है।"[2] डॉ० द्विवेदी ने साहित्येतिहास का विकास "जीवन्त समाज की विकास-कथा' के रूप में स्वीकार किया है। ग्रंथो और ग्रंथकारों को वह केवल उस दिशा का निर्देशक मानकर चले हैं, इसलिए नाम गिनाने की प्रवृत्ति का अभाव है। जो नाम इस दृष्टि से महत्वपूर्ण समझे गए हैं उन्हीं को संदर्भ के रूप में दिया गया है। उनके साहित्येतिहास का लक्ष्य देश, काल और परिस्थिति से नि:सृत वह धारा है जिसका अद्यावधि रूप आज की स्थिति है। साहित्येतिहास को इस रूप में देखने वाले डॉ० द्विवेदी की मान्यता इन शब्दों में स्पष्ट हुई है "साहित्य का इतिहास ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के उद्भव और विलय की कहानी नहीं है। वह कालस्रोत में बहे आते हुए जीवन्त समाज की विकास-कथा है। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राण धारा की ओर सिर्फ इशारा ही करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है वह प्राण-धारा जो नाना परिस्थितियों से गुज़रती हुई आज हमारे भीतर अपने आपको प्रकाशित कर रही है। साहित्य के इतिहास में हम अपने आपको ही पढ़ने का सूत्र पाते हैं। जो प्राण-धारा नाना देशकाल की विभिन्न परिस्थितियों से गुजरती हुई हमारे भीतर तक पहुँची है वही किसी भी इतिहास का मुख्य लक्ष्य है।"[3]

मार्क्सवादी इतिहासवेत्ता मानव-इतिहास के विकास का आधार केवल नियम को ही मानकर सन्तुष्ट नहीं हो पाते। वे जानते हैं कि समाज का विकास बिना व्यक्तियों के प्रयत्न के नहीं हो सकता है। वे उन विचारकों को बुर्जुआ कहते हैं जो उस दिन के इन्तज़ार में बैठे हैं, जबकि विकास के नियमों के अनुसार पूँजीवाद समाप्त होकर सर्वहारा का अधिनायकवाद स्थापित हो जाएगा।[4] वह मानते हैं कि

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : पृ० ११०।
2. शम्भूनाथसिंह : आलोचना, अक्टूबर १९५३ : पृ० १२३।
3. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हमारी साहित्यिक मान्यताएँ : पृ० २०६-२०७।
4. फण्डामेन्टलस आफ मार्क्सिज्म-लेनिनिज्म : पृ० १५५-५६ के आधार पर।

समाज, समाज का इतिहास, साहित्य और साहित्य का इतिहास तभी विकसित होते हैं जबकि समाज परिवेश के साथ सघर्ष करता है (वह इतिहास को निरन्तर विकसित होने वाला सांस्कृतिक स्रोत मानते हैं जो परिवेश से संघर्ष करता बढ़ता है, "वह काल-स्रोत में बह आते हुए जीवन्त समाज की विकास-कथा है। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राण-धारा की ओर सिर्फ इशारा ही करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है वह प्राण-धारा है जो नाना परिस्थितियों से गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने आपको प्रकाशित कर रही है। साहित्य के इतिहास में हम अपने आपको ही पढ़ने का सूत्र पाते हैं।"[1]) साहित्येतिहास की प्रवृतियों पर ध्यान देने का आग्रह उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचायक है—"प्रयत्न किया गया है कि यथा-सम्भव सुबोध भाषा में साहित्य की विभिन्न प्रवृतियों और उसके मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय दे दिया जाए। परन्तु पुस्तक को संक्षिप्त रूप देते समय ध्यान रखा गया है कि मुख्य प्रवृतियों का विवेचन छूटने न पाये और विद्यार्थी अथावधिक शोधकार्यों के परिणाम से अपरिचित न रह जाएँ। उन अनावश्यक अटकलबाजियों और अप्रासंगिक विवेचनाओं को छोड़ दिया गया है, जिनसे इतिहास नामधारी पुस्तकें प्राय. भरी रहती हैं। आधुनिक काल को समझने का प्रयत्न तो किया गया है, पर बहुत अधिक नाम गिनाने की प्रवृत्ति से बचने का भी प्रयास है। इससे बहुत से लेखकों के नाम छूट गये है पर यथा-सम्भव साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ नहीं छूटी हैं।"[2]

प्रगतिशील समीक्षा साहित्येतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध समाज के अर्थ सम्बन्धों एवं राजनीति से जोड़ती है। अर्थ-सम्बन्धों को वहाँ सारे सामाजिक विकास का आधार माना जाता है। डा० द्विवेदी ने भी राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ा है। वह अर्थशास्त्र को साहित्येतिहास की रीढ़ की हड्डी मानते हैं।[3] जिस प्रकार शरीर का सारा ढाँचा रीढ़ की हड्डी पर टिका होता है वैसे ही साहित्येतिहास भी अर्थशास्त्र की नींव पर खड़ा एक सुन्दर भवन है। इतिहास सम्बन्धी इन मान्यताओं का आधार मार्क्स की विकासवादी मान्यताएँ सिद्ध होती हैं जिन्हें खुलकर अपनी भाषा में डा० द्विवेदी ने न केवल स्वीकार किया है वरन् अपने साहित्येतिहास में उनको व्यावहारिक रूप भी दिया है। (द्विवेदीजी ने जो सिद्धान्त निर्धारित किये हैं, वे उनका पूर्णतः अनुगमन तो नहीं कर पाए हैं,

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कल्पलता : पृ० १७५।
2. वही, हिन्दी साहित्य : निवेदन : पृ० १।
3. वही, अशोक के फूल : पृ० १९४।

किन्तु चलने का प्रयास किया है, यह सत्य है। इसीलिए आज के साहित्येतिहास-दर्शनवेत्ता[1] उनके पथ को पूर्ववर्तियों से सर्वथा भिन्न एवं मौलिक मानते हैं।

## प्रगतिशील आलोचक

भाववादी समीक्षक भौतिक परिस्थितियों से तटस्थ या निरपेक्ष रह कर भावात्मक मान्यताओं के आधार पर काव्य का आकलन करता है, इसके विपरीत मार्क्सवादी समीक्षक आर्थिक-भौतिकवादी-दृष्टिकोण को ही मान्यता देता है। वह साहित्य-सृजन का मूल कारण आर्थिक मानता है। डा० द्विवेदी साहित्य के साथ अर्थशास्त्र एवं राजनीति का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, यह पीछे दिखाया जा चुका है। हिन्दी में चलने वाले प्रगतिशील आन्दोलन को वह स्वीकार ही नहीं करते वरन् उसके मंगलमय भविष्य में भी उनकी आस्था है और उनकी आकांक्षा है कि भक्ति-आन्दोलन जैसी साम्प्रदायिकता से यह बच सकेगा जिससे त्रस्त मानवता का कल्याण कर सके, 'प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान् उद्देश्यों से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भावना का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी, प्रगतिशील सम्भावनाएँ अत्यधिक हैं। भक्ति के महान् आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श-निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नए जीवन-दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है। भक्ति का महान् आन्दोलन साम्प्रदायिकता की चट्टान से टकराकर चूर्ण-विचूर्ण हो गया। इस आन्दोलन में भी एक प्रकार की साम्प्रदायिकता के उगने के चिह्न दीखने लगे हैं। आशा करनी चाहिए कि वह बढ़ नहीं पायेगा और मनुष्य को सब प्रकार के शोषणों और बंधनों से मुक्त करने की महिमामयी साधना सफल होगा।'[2] द्विवेदीजी को कुछ समीक्षकों ने मूल्यवादी ऐतिहासिक समीक्षक[3] माना है और कुछ ने मानवतावादी।[4] ये दोनों दृष्टिकोण एकांगी प्रतीत होते हैं क्योंकि इनके द्वारा द्विवेदीजी की आलोचनात्मक मान्यताओं का सही रूप हमारे समक्ष नहीं आता। यदि उन्हें मानवतावादी-सांस्कृतिक-समीक्षक कहा जाये तभी उनकी समीक्षा क्षेत्र की विशेषताओं में से अधिकांश का प्रतिनिधित्व हो सकेगा। डा० रामदरश मिश्र आदि शोधकारों ने उन्हें समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समन्वित माना है[5] किन्तु उनका समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण मार्क्सवाद का पर्यायवाची नहीं है। वस्तुतः डा० रामदरश जी जिस कारण डा० द्विवेदी को समाजशास्त्रीय मानवतावादी कहते हैं, वह है

1. नलिनविलोचन शर्मा : साहित्य का इतिहास-दर्शन : पृ० ९५।
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : पृ० ५००-५०१।
3. डा० भगवत्स्वरूप मिश्र : हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास : पृ० २७२-७३।
4. डा० रामाधार शर्मा : हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा पृ० : २४८।
5. डा० रामदरश मिश्र : हिन्दी आलोचना का इतिहास : पृ० २४३।

द्विवेदीजी की मानवता सम्बन्धी यह धारणा कि समाज के विकास के साथ ही मानवता का रूप भी बदलता जाता है। उनके मानवतावाद का आधार व्यक्ति मात्र न होकर विश्व मानव है, जिसकी अभिव्यक्ति अपनी सीमाओं में ही हो पाती है। 'मानवता' और संस्कृति' को निरन्तर विकासशील मानने वाले डा० द्विवेदी मानव के आंशिक विकास में आस्था रखकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते हैं। वह मानव की केवल बाह्य या केवल आंतरिक सम्पन्नता को ही पर्याप्त नहीं मानते, इसीलिए उनकी मानवता के विकास का आधार सांस्कृतिक है। उनकी समीक्षा का यह सांस्कृतिक आधार उन सभी तत्त्वों को स्वीकार करता चलता है जिससे मानवता का कल्याण हो। इसी कारण उन्होंने मार्क्सवादी समीक्षा के सर्व प्रमुख तत्त्व यथार्थवाद को स्वीकृति प्रदान की है। समीक्षक प्रवर डा० द्विवेदी यथार्थवादी दृष्टिकोण के प्रबल समर्थक ही नहीं हैं, वरन् अपनी समीक्षा में भी उन्हें जहाँ अवकाश मिलता है इस मान्यता का सृजनात्मक रूप प्रस्तुत करते है। बगाल के अकाल का दृश्य देखकर उनका हृदय पिघल उठा है, आत्मा रो उठी है और काल-कवलित व्यक्तियों की चीत्कारे साकार हो गई है—'आज सुजला-सुफला वगभूमि क्षुधा-जर्जर नर-कंकालों से भर गई है। अट्टालिकाओं की नगरी के प्रत्येक राजमार्ग बुभुक्षितों के भरे और अधमरे शरीरों से भरे हैं, बच्चे माताओं की गोद में दम तोड़ देते हैं और मरी हुई जननी की छाती पर अधमरे शिशु रेंगते हुए दिखाई देते है।'[1] कुछ विद्वानों की धारणा है कि यथार्थवाद समाज और व्यक्तियों की हीनता का चित्रण भर है,[2] किन्तु, द्विवेदीजी यथार्थ के स रूप के समर्थक नहीं हैं जो हमें हतोत्साहित, निवीर्य, पलायनवादी, तथा निराशावादी बनाता है। उनके यथार्थवाद में बाह्य चित्रण तथा व्यक्तित्व का यथार्थवादी रेखांकन इसलिए उपयोगी है कि इनके द्वारा व्यक्तियों के चरित्र की आन्तरिक विशेषताएँ मुखरता प्राप्त करती हैं। वह यह भी मानते हैं कि इन बाह्य विशेषताओं का चित्रण परिवेश के अनुरूप होना चाहिए। तभी वह विश्वसनीय बन सकता है। इस प्रकार यथार्थवाद उनके लिए साध्य भी है तथा साधन भी। उनका यथार्थवाद जिन्हें केवल कौशल प्रतीत होता है[3] वह इस तथ्य को महत्त्व नहीं देता कि उनका यथार्थ यदि शैली है तो कथ्य क्या है? मानवतावादी समीक्षक के रूप में जब वे उन्हें स्वीकार कर लेते हैं तो उनकी यथार्थवादी मान्यताओं को भी, यदि वे मानवतावाद और लोकमगल के अनुरूप हैं, स्वीकृति प्रदान करने में उन्हें संकोच नहीं होना चाहिए। जब ये समीक्षक उन्हें सामाजिक यथार्थवाद के

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हमारी साहित्यिक समस्याएँ : पृ० ९४।
2. प्रेमचन्द : कुछ विचार : पृ० ७१-७५।
3. डा० रामदरश मिश्र : हिन्दी आलोचना का इतिहास : पृ० २४९।

समीप पाते हैं—'हम मानते हैं कि द्विवेदीजी का यथार्थवाद कोई पारिभाषिक नाम न ग्रहण करके भी सामाजिक यथार्थवाद के समीप है। उससे उसका कोई विरोध तो नहीं है उसकी स्पिरिट उसकी स्पिरिट के पास है।'[1] तो क्या इसका यह अर्थ है कि सामाजिस यथार्थवाद भी एक शैली मात्र है? इस प्रश्न का उत्तर द्विवेदीजी की लोक-मंगल की भावना तथा मानवतावादी दृष्टिकोण से मिल जाता है। उनका यथार्थवाद लोकमंगलकारी है 'सवाल यह नहीं है कि सचमुच ऐसा ही होता है या नहीं। सचमुच ही होता होगा किन्तु सचमुच का बहुत कुछ होना ही बड़ी बात नहीं है। एक जहाज है। तूफान में उलझा है। भयंकर संघर्ष के बाद डूब जाता है। हजारों आदमी हाय-हाय करते हुए समुद्र के गर्भ में बैठ जाते हैं इन मरने वालों में जहाज का वह वीर कप्तान भी है जो अन्तिम क्षण तक अदम्य आशा और उत्साह लेकर अपनी विद्या और बुद्धि के बल पर तूफान से जूझता रहा और निरुपाय यात्रियों को बचा लेने के लिए जान लड़ाता रहा। मरना कप्तान का भी सही है और 'हाय-तोबा' मचाने वाले हजारों भीरु यात्रियों का भी सही है। दोनों सचमुच ही हुए हैं और दोनों ही यथार्थ हैं। परन्तु एक यथार्थ मनुष्य में आशा और विश्वास पैदा करता है और दूसरा यथार्थ निराशा और भीरुता। कोई भी लेखक जब दुनियां के लाख-लाख मनुष्यों में से किसी एक को चुनकर अपने ग्रन्थ का नायक बनाता है तो वह चुनता ही है। चुनाव तो उसे करना ही पड़ेगा, तो फिर क्यों न ऐसे यथार्थ चरित्र चुने जाएँ जो यथार्थ मनुष्य हों, मनुष्य की खाल ओढ़े हुए कीड़े-मकौड़े न हों।'[2] शंभूनाथसिंह ने उनके प्रगतिशील समीक्षक की विशेषताएँ बताते हुए लिखा है—'तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में सांस्कृतिक गति-विधि, लोक-जीवन, राजनीतिक हलचल आदि के बीच रखकर ही साहित्य का परीक्षण करना साहित्य-समीक्षा की समाजशास्त्रीय पद्धति है। कहना नहीं होगा कि हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में इस दिशा में पहला कदम उठाने वाले आचार्य द्विवेदीजी हैं।'[3]

प्रगतिवादी समीक्षा में फ्रायड आदि की मान्यताओं की कॉडवेल आदि अनेक मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रियों ने निन्दा की है तथा उन्हें समाज निरपेक्ष एवं अति-व्यक्तिवादी माना है। उन्होने मार्क्सीय मनोविज्ञानशास्त्री पावलव की समष्टिवादी मान्यताओं का समर्थन किया है और पावलव के दृष्टिकोण को फ्रायड की मान्यताओं का उत्तर माना है। पावलव खंडों की अपेक्षा समग्रता के पक्षपाती हैं। मनोविज्ञान का आज साहित्य-समीक्षा पर यथेष्ट प्रभाव है। डा० द्विवेदी पावलव के

---

1. डा० रामदरश मिश्र : हिन्दी आलोचना का इतिहास : पृ० २४६।
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य का साथी : पृ० १०२-१०३।
3. शम्भूनाथसिंह : आलोचना, अक्टूबर १९५३ : पृ० ११६।

निकट हैं—'सन्तुलन दृष्टिकोण इन्हीं एकांगी दृष्टियों की अतिवादिता से विनिर्मुक्त और इन सब में पायी जाने वाली सचाई पर आधारित समग्र दृष्टि है।'[1] मार्क्स दर्शन के समान द्विवेदीजी ने भी वैज्ञानिकता को साहित्य के साथ समन्वित किया है।[2] उनका वैज्ञानिक-विकासवादी दृष्टिकोण निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—'प्रत्येक व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियों के सहारे कुछ तथ्यों की उपलब्धि करता है और कुछ बातों को उपलब्धियों के सहारे स्मरण करता है। इन्हीं उपलब्धियों और स्मृतियों के ताने-बाने से व्यक्ति की दुनियाँ बनती है परन्तु यह दुनियाँ बदलती रहती है। वैयक्तिक तथ्य-जगत् निरन्तर दूसरे लोगों के उपलब्ध तथ्य-जगत् से टकराते रहते हैं और सामान्य तत्त्व छँट छँट कर हमारी ज्ञान-राशि के रूप में परिणत होते रहते हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो यह कि व्यक्ति के अन्तःकरण से गृहीत तथ्यात्मक ज्ञानराशि से टकरा-टकरा कर बना हुआ वह एक ऐसा पदार्थ है जिसे हम अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत् कह सकते हैं—दूसरी बात यह मालूम होती है कि यह अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत् निरन्तर परिवर्धमान और परिवर्तनमान पदार्थ है—यह गतिशील है। यह नाना वैयक्तिक तथ्य जगतों के संघर्ष से स्थिरीकृत सामान्य जगत है। हमारी ज्ञान-राशि अधिकांश में वैयक्तिक न होकर अन्तर्वैयक्तिक है।'[3]

## मानवतावाद

द्विवेदीजी की मानवतावादी दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट तथा सहज ही समझ में आ जाने वाली है। वह मानव को पशुओं से उच्च धरातल पर स्थित मानकर उसमें उन गुणों की स्थिति स्वीकार करते हैं जो उसे अधिक सहृदय, समाजोपयोगी तथा सुसंस्कृत बनाते हैं। 'मानवतावादी लेखक मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर का वास्तविक धर्म मानता है। वह विश्वास करता है कि यद्यपि मनुष्य में बहुत पशु-सुलभ वृत्तियाँ रह गई हैं तथापि उसने तप सौंदर्य-प्रेम और पर-दुःखकातरता जैसा गुणों का विकास किया है। ये गुण ही मनुष्य की मनुष्यता की निशानी है।'[4] द्विवेदीजी का मानवतावाद समष्टिगत मानव के आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक विकास का महत्त्वाकांक्षी है। सामाजिक मानवतावाद ही उनकी समस्या का समाधान खोज पाता है,[5] किन्तु इसके लिए वह सामाजिकता तक ही सीमित न रहकर उससे भी ऊपर उठते हैं और सही अर्थ मे मानवों की सांस्कृतिक उन्नति को ही अपना चरम

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क : पृ० २४४।
2. आलोचना : अक्टूबर १९५३ : पृ० ११९।
3. हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क : पृ० २२८-२९।
4. वही : हिन्दी साहित्य : पृ० ४२९।
5. वही, अशोक के फूल : पृ० ४९४।

लक्ष्य मानते हैं।[1] इस स्थिति को लाने वाले सभी तत्त्वों को उनके मानवतावाद में प्रश्रय मिला है। साहित्य को भी वह इसी दृष्टि से देखते हैं। 'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर-दुःखकातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य कहने में मुझे सकोच होता है।'[2] उनका मानवतावादी दृष्टिकोण सत्य और मंगल का समन्वित रूप है।[3] यही कारण है कि वह साहित्य को सौष्ठववादी समीक्षकों के समान आनन्दात्मक दृष्टिकोण से ही न देख पाये वरन् समाजोत्थान को ही उन्होंने साहित्य का मुख्य लक्ष्य ठहराया है। 'उत्तम साहित्य की सृष्टि करना ही सबसे बड़ी बात नहीं है सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना भी परमावश्यक है, जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके।'[4] मार्क्सवादी समीक्षा में भी लोकहित को प्रथम और आनन्द को द्वितीय स्थान दिया जाता है। स्वयं द्विवेदीजी ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए स्वीकार किया है कि 'राजनीति और अर्थनीति का लक्ष्य इन्हीं नियमों को अनुकूल विश्व-निर्माण में लगाना है और साहित्य और कला का उद्देश्य भी ऐसा ही है। अलौकिक आनन्द का अनुभव हो जाय तो उसे आनुषंगिक फल मान लेना चाहिए। वही साहित्य का वास्तविक फल नहीं है।'[5] यह आकस्मिकता नहीं है कि मार्क्सवादी समीक्षा दृष्टि और उनकी मानवतावादी-सांस्कृतिक दृष्टि समान उद्देश्यों से परिचालित हैं। निश्चित रूप से द्विवेदीजी कुछ परिवर्तनों के साथ प्रगतिवादी तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। उन्हें संस्कृति तभी तक मान्य है जब तक कि वह आज के परिवेश को स्वीकार करती हो मानवतावाद को सीमित करने वाली संस्कृति भी उन्हें अमान्य है।[6] साहित्य के कलापक्ष का महत्त्व भी उनकी दृष्टि में केवल इसलिए है कि उसके द्वारा मनुष्य को समझने का एक और सुन्दर साधन उपलब्ध हो जाता है। 'मनुष्य ही मुख्य हैं, बाकी सब बातें गौण हैं। अलंकार, छन्द, रस का अध्ययन इस मनुष्य को समझने का ही साधन है, ये अपने आप में कोई स्वतन्त्र चरम मान नहीं हैं। मनुष्य को अर्थात् पशु-सुलभ वासनाओं से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील उस प्राणी को जो त्याग, प्रेम, सयम और श्रद्धा की छीना-झपटी, मारामारी, लोलुपता और घृणा-द्वेष से बड़ा मानता है--

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क : पृ० ९६।
2. वही अशोक के फूल : पृ० १७९।
3. आलोचना, अक्टूबर १९५३ : पृ० १२०।
4. हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल : पृ० १८०।
5. वही : हमारी साहित्यिक समस्याएँ : पृ० १७८।
6. वही, अशोक के फूल : पृ० ८।

उसके लक्ष्य की ओर ले जाना ही साहित्य का मुख्य उद्देश्य है।'[1] इस मानव-सापेक्ष दृष्टि ने द्विवेदीजी को उपयोगितावाद से पूर्ण सम्बद्ध कर दिया है। साहित्यालोचक का उन्हें यही कर्तव्य सर्वप्रमुख प्रतीत होता है कि वह यह बतावे कि 'इस कवि से समाज को क्या लाभ या हानि है—अर्थात् समाज के लिए कौन कितना उत्कृष्ट या अपकृष्ट है।'[2])

## लोकदृष्टि

इतिहास, व्याख्यात्मक समीक्षा तथा साहित्यालोचनीय सिद्धान्त निर्धारण आदि सभी क्षेत्रों में द्विवेदीजी ने लोकसंस्कृति को विशेष महत्त्व दिया है।[3] वह मानते हैं कि कोई भी साहित्यकार शून्य में घोड़े नहीं दौड़ा सकता। वह परिवेश से सम्बद्ध रहेगा, उससे हटकर अलग हो ही नहीं सकता है। प्रेमचन्दजी के समान वह भी मानते हैं कि साहित्यकार को साहित्य का 'मसाला' परिवेश से ही मिलता है। 'यह निश्चित समझिये कि स्थूल जगत् को छोड़ कर मनुष्य रह नहीं सकता और वह काव्य लिखे या नाटक अपने इर्द-गिर्द के वातावरण से अस्पष्ट नहीं रह सकता। प्रतिभावान कवि अपने इर्द-गिर्द के जगत् से ही अपने काव्य का मसाला संग्रह करता है।'[4] सूर-साहित्य का समीक्षा करते समय द्विवदीजी ने तत्कालीन परिस्थिति, सभ्यता और संस्कृति के उपकरणों का तत्कालीन रूप तथा परिवेशगत अन्य तत्त्वों पर भी अपनी दृष्टि डाली है।[5] इसी प्रकार मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन के सम्बन्ध में अब तक जिन बाह्य परिस्थितियों को आधार मान कर जिन अटकलबाजियों का बाजार गर्म था, उस क्षेत्र में द्विवेदीजी ने लोकमत के साथ भक्ति का गहरा सम्बन्ध दिखाकर इस क्षेत्र में सर्वथा मौलिक मान्यताओं की स्थापना की है।[6] अपनी समीक्षा में उन्होंने उन्हीं साहित्यकारों को श्रेष्ठ ठहराया है जिन्होने जन-आन्दोलनों को साहित्य मे स्थान दिया था तथा जो जनप्रवृत्तियों को सच्ची कलात्मक अभिव्यक्ति देने में सफल हुए हैं। लोकजीवन के समक्ष साहित्य को प्रस्तुत कर देने वाले साहित्यकार भारतेंदु की महानता का यही रहस्य है। भारतेंदु का पूर्ववर्ती काव्य-साहित्य संतों की कुटिया से निकल कर राजाओं और रईसों के दरबार में पहुँच गया था, उसमें मनुष्य को प्रत्याहिक सुख-सुविधाओं के जंजाल से मुक्त करके उसे शाश्वत देवत्व के पवित्र लोक मे ले जाने की

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कल्पलता : पृ० १९४।
2. वही, साहित्य का साथी : पृ० १४५।
3. वही, हिन्दी साहित्य : पृ० ११०।
4. हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क : पृ० २३१।
5. वही, सूर-साहित्य : पृ० १४६।
6. वही, पृ० ८३।

महत्वाकांक्षा लुप्त हो चुकी थी। वह मनुष्य को देवता बनाने के पवित्र आसन से च्युत होकर मनोविनोद का साधन हो गया था। ऐसा होना वांछनीय नहीं था। जिन संतों और महात्माओं ने काव्य में मनुष्य को देवता बनाने की शक्ति संचारित की थी, उनके चेलों ने उनके नाम पर सम्प्रदाय स्थापित किए, काव्य की देवता बनाने की शक्ति लुप्त हो गई, उसकी साम्प्रदायिक अद्भुत व्याख्याएं शुरू हो गईं। और दूसरी ओर कवियों की दुनियां राजदरबारों की ओर खिंच गई। भारतेंदु ने कविता करके इन दोनों ही प्रकार की अधोगतियों के पंथ से उबारा। उन्होने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मंदाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकाल कर लोक-जीवन के आमने-सामने खड़ा कर दिया।[1] प्रगतिशील समीक्षा में लोक-संस्कृति को मूर्तिमान करने वाले लोक-साहित्य का बड़ा भारी महत्त्व स्वीकार किया गया है। लोक-साहित्य में जनता की सच्ची अनुभूतियां अपने सच्चे सहज और प्राकृतिक रूप में होती हैं, इसीलिए उनका प्रभाव शीघ्र एवं अपनी चरम सीमा तक पड़ता है। लोकजीवन की वास्तविकता को वह साहित्य की अमूल्य निधि मानते हैं। 'एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ और धीराएँ निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं, और वे अलंकारों से लदी हुई होकर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं। ये अपने आप में हो परिपूर्ण है।[2]

डा० द्विवेदी ने रस, छन्द, अलंकार तथा भाषा आदि के महत्त्व को इसलिए स्वीकार किया है कि ये भावों को साधारणीकृत करके सामान्य जनता तक पहुँचाने में सहायक होते हैं।[3] उनकी लोक-दृष्टि मानवतावादी-सांस्कृतिक-दृष्टिकोण का एक अंग है।

## आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

आचार्य वाजपेयी को स्वच्छन्दतावादी अथवा सौष्ठववादी समीक्षक माना जाता है और इसके साथ ही उन्होंने स्वयं अपने को जिस कोटि का माना है, उसका कम-से-कम ध्यान रखा जाता है। वाजपेयीजी मूलतः मानवतावादी समीक्षक हैं, उनकी समीक्षा में अन्य तत्त्व गौण हैं, जो उनके मानवतावाद के साधन रूप में आए हैं, किन्तु, यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि उनका मानवतावाद भी अपने में कोई रूढ़ि नहीं है, वरन् भावी पूर्ण सुसंस्कृत एवं आदर्शयुक्त विश्व-मानव का काल्पनिक चित्र है, जिसकी उपलब्धि का शुद्ध साहित्यिक प्रयास उनका उद्देश्य है। आचार्य

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : पृ० ३९६-९७।
2. वही, हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० १४९।
3. वही, साहित्य का मर्म : पृ० ४५।

वाजपेयी में अनेक समीक्षकों ने परस्पर-विरोधी प्रतीत हाने वाली मान्यताओं की स्थिति स्वीकार की है, तथा उनमें समन्वय भी खोजा गया है। (मार्क्सवादी दृष्टि से इन विरोधों को पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का परिणाम कहा जायगा) उन्होंने अपनी समीक्षात्मक कृतियों की जो समीक्षा स्थान-स्थान पर दी है - उसके द्वारा, तथा जिन समीक्षा-सिद्धान्तों को स्वीकार किया है उनके आधार पर ही यहाँ उनकी समीक्षा में प्राप्त प्रगतिशील तत्त्वों का आकलन संभव हो सकता है। आचार्य वाजपेयी गतिशील समीक्षक हैं। यद्यपि उन्होंने सन् १९३० के लगभग लिखी अपनी आलोचनात्मक कृति की मूल मान्यताओं से आज भी अपनी सहमति प्रकट की है,[1] किन्तु उन्हीं साहित्यकारों पर इधर लिखी उनकी मान्यताओं में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है,[2] यही नही अनेक प्रतिमानों को लेकर भी वे अपना दृष्टिकोण स्थिर नहीं रख पाए हैं।[3]

मार्क्सवादी मान्यताओं एवं प्रगतिवाद के सम्बन्ध में वाजपेयीजी ने विस्तार से विचार किया है तथा मार्क्सवादी दृष्टिकोण की सीमाएँ बताते हुए जिन तथ्यों का उद्‌घाटन किया है, उनमें मुख्यतः,[4] सामाजिक एवं साहित्यिक विकास अर्थानुवर्ती है— यह इसलिए असंगत है कि सारी समाज-व्यवस्था केवल अर्थाधारित नहीं है। साहित्य समाज एवं अर्थनीति को भी परिवर्तित करने की क्षमता रखता है (२) मार्क्सीय समाज-विकास का आधार वर्गसंघर्ष है, इस नियम के विकास का सच्चा रूप अस्पष्ट रह जाता है। (३) साहित्य और कला का अर्थ सम्बन्धों पर आधारित होना मानकर मार्क्स ने न कवि-कल्पना की स्वच्छन्दता के लिए स्थान रहने दिया है और न वर्गवादी साहित्य में उत्कृष्ट और निकृष्ट का अन्तर माना है। (४) घृणा और विद्रोह को बढ़ाने वाले साहित्य को श्रेष्ठ बताकर कलात्मक, भावात्मक और मानवीय मूल्यों का तिरस्कार किया है। (५) श्रेष्ठ साहित्य की रचना वर्गहीन समाज में ही हो सकेगी। तथा (६) राष्ट्रीय या मानवीय संस्कृति नाम की कोई वस्तु नहीं होती। इन सीमाओं के साथ ही साथ वाजपेयीजी के दृष्टिकोण से सम्बन्धित कुछ विशेषताओं को साहित्य और समीक्षा-क्षेत्र के लिए उपादेय भी पाया है। उस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उनकी यथार्थवाद सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार उचित होगा।

वाजपेयीजी फ्रायडवादी मनोवैज्ञानिक एवं व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का खंडन प्रगतिवादी समीक्षकों के समान करते हुए मार्क्सवादी प्रतिमानों का आंशिक आश्रय लेते हैं—'धार्मिक साहित्य, भक्ति और आत्मोन्मुखी दर्शन आदि मनोविश्लेषण की कसौटी पर कसे जाने पर अनेक अस्वाभाविक कुंठाओं के परिणाम सिद्ध होते हैं,

---

1. नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य नए प्रश्न : निकष : पृ० ६।
2. वही, पृ० ११।
3. वही, पृ० १२।
4. अ वही, पृ० ८ एवं ९ के आधार पर।
   आ वही, महाकवि सूरदास : १० के आधार पर।

परन्तु यह सारा का सारा विश्लेषण व्यक्तिमूलक है जबकि धर्म और दर्शन की विधियाँ और निर्देश पूर्णतः सार्वजनिक हैं। बिना बाह्य जगत् की परिस्थितियों और आवश्यकताओं का आकलन किए केवल किसी भक्त, कवि या दार्शनिक का मनोविश्लेषण करने बैठ जाना बड़ा ही चिंतनीय प्रयोग जान पड़ता है। प्राचीन काल में धर्म और दर्शन के साथ युग की समस्त विकासोन्मुख संस्कृति जुड़ी हुई है। बिना उस सम्पूर्ण विकास का लेखा लगाए व्यक्तिगत मनोभूमि का विश्लेषण करने लगना भयानक एकांगिता है,[1] वाजपेयीजी प्रगतिवादी दृष्टिकोण से उत्पन्न साहित्य की समाजोपयोगी दृष्टि का समर्थन करते हैं। उन्हें उचित प्रतीत होता है कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने साहित्य के जिन प्रेरणास्रोतों को प्रवाहित किया है उनसे एक ऐसी समाज-निष्ठ मन्दाकिनी के दर्शन हुए हैं जिसके तीव्र प्रवाह में जीवन और समाज से निरन्तर अलग ले जाने वाले तत्त्वों की कर्दम बह गई है।'[2]

वाजपेयजी ने अपना यथार्थवाद से प्रथम परिचय 'कंकाल' के माध्यम से माना है। आज वह यथार्थ को आदर्श से भी श्रेष्ठ मानते हैं। 'आदर्श से बढ़कर भी यथार्थ-नाम की कोई वस्तु हो सकती है, और नीति से भी अधिक आनन्द का महत्त्व है, ये दोनों जानकारियाँ मुझे कामायनी काव्य से हुईं।'[3] सम्भवतः वाजपेयजी को साहित्यिक उपयोग की दृष्टि से ही अपने अभिमत को परवर्तित करने की आवश्यकता पड़ी है। उन्होने 'कंकाल' के यथार्थवाद पर प्रकाश डालते हुए उसे पूर्ण नैतिक तथा उपयोगितावादी-दृष्टि से समाज के लिए अनिवार्य माना है। यथार्थवाद के अनिवार्य अङ्गों के रूप में उन्होंने समाज की कुरूपताओं, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों पर तीव्र प्रकाश डालना उचित ठहराया है तथा व्यंग्य को भी महत्त्वपूर्ण पद प्रदान किया है। 'प्रसाद के कंकाल में न तो किसी चरित्र में आदि से अन्त तक नैतिकता का निर्वाह हुआ है और न उपन्यास के अन्त में किसी ऊँचे आदर्श की सफलता दिखाई गई है, कभी-कभी तो अनावश्यक रूप से किसी भले आदमी का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया है, जिससे उपन्यास की सारी चरित्र-सृष्टि वर्णसंकर और विषयगामी बन गई है। फिर भी इस उपन्यास का लक्ष्य मुझे अनैतिक नहीं जान पड़ा, बल्कि सामाजिक परिष्कार में सहायक ही प्रतीत हुआ। तभी से मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि साहित्य में आदर्श का ही नहीं यथार्थ का भी स्थान हो सकता है, यदि लेखक का लक्ष्य समाज की कुरूपताओं, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर तीव्र प्रकाश डालना और व्यंग्य करना हो।'[4]

यथार्थवाद मानव एवं समाज के सम्बन्धों को उनकी गतिशीलता में चित्रित

---

1. नन्ददुलारे वाजपेयी : महाकवि सूरदास : प्राक्कथन : पृ० १२।
2. वही, पृ० ११।
3. वही, नया साहित्य नये प्रश्न : निवेदन : पृ० १२।
4. वही, पृ० ११।

करता है। समाज और साहित्य का सम्बन्ध स्वीकार करते हुए साहित्य के इसी निरन्तर विकासशील रूप का उद्‌घाटन वाजपेयीजी करते हैं—"साहित्य का मानव-जीवन से चिरन्तन सम्बन्ध है। साहित्य का सृष्टा मनुष्य है, मनुष्य के लिए ही साहित्य की सृष्टि है। मानव-जीवन ही साहित्य का उपादान और विषय-वस्तु रहा है और रहेगा। मानव-जीवन विकासशील वस्तु है, इसीलिए साहित्य भी विकासशील है। विकासशील मानव-जीवन के महत्त्वपूर्ण या मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति यही साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है।'[1] यथार्थवाद में न केवल वर्तमान एवं भूतकालीन यथार्थ परिस्थितियों का ही चित्रण होता है वरन् भविष्य की समाजोपयोगी आदर्श मान्यताओं को भी उसमें प्रश्रय मिलता है। समाजवादी यथार्थवाद एक प्रकार की दृढ़ आस्था लेकर चलता है, उसमें निराशावाद के लिए कोई स्थान नहीं होता। 'बीसवीं शताब्दी' के लेखों पर विचार करते हुए वाजपेयीजी ने उनमें एक भविष्य पर आधारित आस्था को मान्यता प्रदान की है।[2] जिस प्रकार जनतन्त्र में 'जनता' को केन्द्र में रखकर विचार किया जाता है, उसी प्रकार वाजपेयजी की मानतावादी जनतांत्रिक दृष्टि में सारा विवेचन मानवजीवन को केन्द्र में रखकर साहित्यिक दृष्टि से ही होना चाहिए। यह दृष्टिकोण प्रगतिशील ही कहा जायगा, यदि जिस सन्तुलन को बनाए रखने का वचन इसमें दिया जाता है, उसका पालन किया जाता रहे। यथार्थवाद केवल साहित्यिक प्रश्नों को ही लेकर नहीं बैठ जाता, वरन् जीवन के सभी रूपों को विवेचित करता है तथा उन पर अपनी सीमाओं में रहकर प्रकाश डालता है। आज के परिवेश में मार्क्सवादी विचारधारा के सिद्धान्त जब हमारे देश की शासन व्यवस्था ने स्वीकार किए हैं तो साहित्य-समीक्षक और उसमें भी वाजपेयजी जैसे जागरूक और समय के साथ चलने वाले साहित्य-मनीषी उनसे कैसे विरत रह सकते हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से साम्राज्यवाद का विरोध करते हुए आर्थिक वैषम्य को असह्य माना है—साम्राज्यशाही का बोझ असत्य हो गया है और आर्थिक वैषम्य का नग्न नृत्य देखा नहीं जाता.....हम यह मानते हैं कि भारतवर्ष में आज का मुख्य प्रश्न राजनीतिक और आर्थिक है। हम यह भी मानते है कि मार्क्स के सिद्धान्त बड़ी हद तक वैज्ञानिक हैं और भारतीय स्थिति पर भी लागू होते हैं। हम यहाँ तक मानने को तैयार हैं कि आज के साहित्यिक का प्रधान कर्तव्य मार्क्स के सुझाए हुए वर्गसंघर्ष में अपने पक्ष का ज्ञान और निर्णय कर लेना है। किन्तु यह होते हुए भी हम यह नहीं मान सकते कि साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह किसी सामाजिक मतविशेष का अनुचर मात्र है।'[3] वाजपेयीजी की यह मान्यता किसी प्रकार भी मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के प्रतिकूल नहीं कहीं जा सकती, वरन् इस मान्यता के आधार पर उन्हें

1. नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य नए प्रश्न : पृ० ३।
2. वही, पृ० ६।
3. वही, पृ० १६।

प्रगतिवादी कहा जायगा। वह प्रगतिवादी विचारकों के समान अर्थसम्बन्धों की प्रधानता, प्रचारवाद, वर्गसंघर्ष को भड़काने वाली घृणा-आधारित दृष्टि तथा राजनीति के नेत्रों से पथ देखने की प्रवृत्ति आदि मान्यताएँ स्वीकार नहीं कर पाते हैं।[1] वह साहित्य को उसके अपने नियमों से मूल्यांकित करने के पक्षपाती हैं।[2] उन्हें साहित्य को किसी 'वाद' में अनुशासित करना अग्राह्य है।[3] उन्हें साहित्य पर बदलते हुए जीवन-मानों का आंशिक प्रभाव तो स्वीकृत है किन्तु, साहित्य को सामाजिक-इतिहास का एक अध्याय बनाना अमान्य है।[4] साहित्य-क्षेत्र में वह निरपेक्षतावादी नहीं हैं, सापेक्षतावादी हैं। इसीलिए वह साहित्य को उन सभी तत्त्वों से प्रभावित मानते हैं जो हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं, किन्तु उन्हें वह वहीं तक स्वीकृति देते हैं जहाँ से साहित्य की प्रभुसत्ता की मौलिकता पर आँच न आए। इसका अर्थ यह नहीं कि वह 'कलावादी' हैं। कलावादी मान्यताएँ उन्हें एकदम अग्राह्य हैं – "जीवन-निरपेक्ष रस, कोरा अलंकार और शब्दाडम्बर। कविता के लिए कविता और कला के लिए कला। इससे बढ़कर भ्रामक वस्तु और क्या होगी ?"[5]

प्रेमचन्दजी के समान वाजपेयीजी सच्चे साहित्यकारों को सदैव प्रगतिशील मानते हैं किन्तु उनकी प्रगतिशीलता सामाजिक तत्त्वों की पर्यायवाची मात्र नहीं है, वरन् महान् कवि परिवेशात्मक यथार्थ के साथ ही साथ प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपों और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौंदर्य संवेदना का स्वरूप भी देता है।[6] वाजपेयीजी को सामाजिक यथार्थवाद से अनेक आशाएँ हैं और वह उसे अतिशय स्वस्थ एवं विकासोन्मुख मानते हैं। 'एक अतिशय स्वस्थ एवं विकासोन्मुख यथार्थवाद भी है, जिसे हम सामाजिक यथार्थवाद कहते हैं। यह हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान का एक अनिवार्य साधन है, जिसके द्वारा हम अपने राष्ट्र में अधिकाधिक सन्तुलन और समानता ला सकते हैं।[7]

अतिव्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक तथा अस्तित्ववादी मान्यताओं को लेकर आने वाले प्रयोगवाद का वाजपेयीजी ने खुल कर विरोध किया है—"प्रयोगवाद हिन्दी में बैठे-ठाले का धंधा बनकर आया था। प्रयोक्ताओं के पास न तो काव्य-सम्बन्धी कोई कौशल था और न किसी प्रकार की कथनीय वस्तु थी। धीरे-धीरे इस मज़ाक में भी सच्चाई जान पड़ने लगी और कुछ लोग इस अर्थहीन वस्तु में भी एक नए 'वाद' की

---

1. नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य नए प्रश्न : पृ० ८ एवं ९ के आधार पर।
2. वही, आधुनिक साहित्य : भूमिका : पृ० ५४।
3. वही, नया साहित्य नए प्रश्न : पृ० १६।
4. वही, नया साहित्य नए प्रश्न : पृ० १७।
5. वही, पृ० १६।
6. वही, पृ० १७।
7. वही, पृ० १९।

सम्भावना देखने लगे। क्रमशः यह भाषा-सम्बन्धी बीहड़ प्रयोगो का अड्डा बन गया जिससे पाठकों को भी थोड़ी-बहुत दिलचस्पी होने लगी। आगे चलकर इसमें टी० एस० ईलियट की शैली में आधुनिक जीवन के खोखलेपन का परिचय कराया जाने लगा। यह वाद हिन्दी में आरम्भ से ही हार खाए और फिर भी शौकीन तबीयत वाले व्यक्तियों के हाथ में रहा है। पिछले कुछ दिनों से इसमें इन निष्क्रिय व्यक्तियों की निराशा और गिरा हुआ मन प्रतिबिम्बित होने लगा है। आश्चर्य नहीं, यदि निकट भविष्य में यह वही रगत धारण करे जो पश्चिम में अतियथार्थवादियों की रचनाओं ने धारण की है।"[1]

वाजपेयीजी ने प्रगतिशील समीक्षा पर भी विचार प्रकट किया है। उन्हें प्रगतिवाद के सिद्धान्तों की अपेक्षा उसके व्यावहारिक रूप से अधिक शिकायत है जो यथेष्ट सीमा तक औचित्यपूर्ण है। हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षकों ने दोहरी त्रुटियाँ की हैं। एक ओर तो उन्होंने मार्क्सवाद के अर्थ-सिद्धान्तों को साहित्य पर सीधा-सीधा लागू करके—कार्य-कारण-सम्बन्ध दिखाकर निर्णय लेने में उतावली दिखाई है और दूसरी ओर उनमें श्रेष्ठ माने जाने वाले साहित्यकारों की साहित्यिक प्रतिभा का मार्क्सीय सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से विवेचन करके किसी निर्णय पर पहुँचने की अपेक्षा उन कवियों की साहित्यिक विशेषताओं को स्वीकृत प्रदान पहले करदी है और उन्हें प्रगतिवादी दृष्टि से औचित्यपूर्ण ठहराने का प्रयास तत्पश्चात्। इसका परिणाम यह हुआ है कि उन्हें प्रतिक्रियावादियों की अपेक्षा अपने ही खेमे के प्रबल विरोध का सामना पहले करना पड़ा है। इस स्थिति में एक अङ्ग का उद्घाटन करते हुए वाजपेयीजी ने व्यंग्य पूर्ण शैली में कहा है कि 'वह कहते तो यह हैं कि युग-विशेष की वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी स्थिति की वास्तविक भूमि पर ही उस युग के कवि का कल्पना-भवन खड़ा होता है, पर अनुशीलन करते हुए वह पहले कवि की साहित्यिक विशेषताओं को ज्यों-का-त्यों मान लेते हैं और तब उन विशेषताओं का उस तथाकथित उस युग-स्थिति से कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। स्पष्ट ही यह एक उल्टा और तर्कहीन क्रम है।[2]

व्यंग्य को साहित्य की शक्ति मानकर आलोच्य समीक्षक महोदय ने साहित्य के उपयोगितावादी दृष्टिकोण को मान्यता प्रदान करदी है। प्रेमचन्द और प्रसाद की इस शक्ति के लिए प्रशंसा करते हुए कहते हैं प्रेमचन्द साहित्य में अपनी मीठी चुटकियों के लिए प्रसिद्ध हैं। ये मीठी चुटकियाँ समाज-सुधार के लिए आवश्यक और उपयोगी होती हैं.....कंकाल की विशेषता यह है कि इसके व्यंग्य केवल वर्णन-प्रसंग में ही नहीं आए हैं वह उपन्यासों की घटनाओं से ध्वनित भी होते हैं, कथानक के भीतर भी निहित हैं। चरित्रों की सृष्टि में ही व्यंग्य है। जातीयता की दृष्टि से

---

1. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृ० ४४३ (द्वि० सं०)।
2. वही, नया साहित्य नए प्रश्न : पृ० ७।

सबके सब वर्णसंकर हैं।'[1] 'ककाल' की आलोचना में वाजपेयीजी उसे सामाजिक क्रान्ति का वाहक मानते हैं और कहते हैं कि हमारे आज के समाज की यथार्थ स्थिति का चित्र इस उपन्यास में दिया गया है। इस निष्क्रियता, अशिक्षा, थोथेधर्म, मिथ्या कुलीनता के दंभ तथा सामाजिक परतन्त्रता से जकड़े हुए हैं और इससे मुक्ति दिलाने का एकमात्र पथ 'समाज-क्रान्ति' का उपदेश इस उपन्यास से मिल जाता है।[2]

(वाजपेयीजी की समीक्षा के अन्य प्रगतिशील तत्त्वों में उनकी नवीन रसवादी मान्यताएँ सर्वप्रमुख आती हैं। इसका विवेचन करते हुए उन्होंने उसकी शास्त्रीय व्याख्या को अपर्याप्त माना है तथा आज की परवर्तित स्थिति में जो संशोधन आवश्यक समझे हैं उनका समावेश किया है।) उन्हें रस की न्यूनाधिक मात्रा वाली अनेक कोटियाँ स्वीकार्य हैं और साथ ही वह यह भी मानते हैं कि गीत-काव्य का मूल्यांकन रस की कसौटी पर नहीं हो पाता है,[3] अत इन दृष्टियों से उसमें विकास होना चाहिए। (वह रस को अलौकिक न मानकर आचार्य शुक्ल के समान लौकिक अनुभूतियों के स्तर पर स्थापित करते हैं।[4] उन्होंने दरबारी संस्कृति का विरोध करते हुए लोक-तत्त्वों का समर्थन किया है।[5] रीतिकालीन मान्यताओं का विरोध करते हुए वह केवल उस युग के काव्य पर ही चोट करके शान्त नहीं हुए हैं वरन् उप साहित्य की सैद्धान्तिक मान्यताओं—रसवाद तक पहुँचे है और रससिद्धान्त का दोष दिखाते हुए उन्होंने बताया है कि वह अश्लील-से-अश्लील साहित्य को भी श्रेष्ठता का प्रमाणपत्र दे देता है जिससे भ्रष्ट कविताएँ और निम्न कोटि के कवि पोषित होकर लोक-अमंगलकारी साहित्य की श्रीवृद्धि होती रहती है।[6] (वाजपेयीजी 'रस' को 'मानवतावाद' का पर्याय मानते हैं और उसमें निहित तत्त्वों की विवेचना करते हुए कहते हैं कि 'जब हम कहते हैं कि रस काव्य की आत्मा है तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में यदि वस्तुत: काव्य है, मानव-समाज के लिए आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। रस शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इसी मानवतावादी सत्ता से ही है।')[7] इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्व की बात जिसका मूल्य मार्क्सवादी समीक्षा सिद्धान्त की दृष्टि से अत्यधिक है, वह है 'रस' में बुद्धितत्त्व की स्वीकृति। अब तक रस में भावात्मक और नैतिक अनुभूतियों को तो स्वीकार किया जाता था किन्तु बुद्धितत्त्व को स्वीकृति प्राप्त नहीं थी। अब वाजपेयीजी

---

1. नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद : पृ० ३६-३७।
2. वही, पृ० ४८।
3. वही, हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी : पृ० ६५।
4. वही, पृ० ६७।
5. वही, पृ० ६७।
6. वही, पृ० ७२।
7. वही, आलोचना : अंक २२ : पृ० ५।

ने बौद्धिक अनुभूतियों को भी रस-प्रक्रिया में स्थान देकर प्रगतिवादी सौंदर्यशास्त्र के एक बड़े प्रश्न का समाधान कर दिया है। साधारणीकरण के द्वारा उन्होंने रस की समष्टिगत मान्यता भी स्वीकार की है।[1] इस मान्यता का व्यावहारिक रूप हमें सूरदास की आलोचना में मिल जाता है जब वह कृष्ण-भक्ति को वैयक्तिक प्रेम का सामाजीकरण मानते हैं।[2] रस की न्यूनाधिक मात्रा के आधार के अतिरिक्त वह उसकी सुखात्मक एवं दुःखात्मक दोनों प्रकार की अनुभूतियों को मानते हैं।

मार्क्सवादी समीक्षा में यह स्वीकार किया गया है कि यद्यपि साहित्य और कला के प्रेरक तत्त्व अर्थसम्बन्ध हैं किन्तु उनका कला और साहित्य से परोक्ष सम्बन्ध होता है, न कि प्रत्यक्ष, और एक बार जब साहित्य का चक्र चल जाता है तो उसका क्षेत्र स्वतन्त्र हो जाता है, अर्थात् वह अपने ही सिद्धान्तों से संचालित होने लगता है, अतः वाजपेयीजी जब कहते हैं कि 'काव्येन्तर समस्त तत्त्व वाद और साधनाक्रम' स्वतन्त्र अध्ययन के विषय अवश्य रहें, परन्तु काव्य-विवेचन के अवसर पर उन सबका पर्यवसान रचयिता की मनःस्थिति और जीवन-दृष्टि तथा भाव की भाव-पीठिका के अन्तर्गत हो जाना चाहिए।'[3] तो हमें उनकी यह मान्यता मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के अनुरूप ही प्रतीत होती है। वाजपेयीजी की महान साहित्य और साहित्यकार की कसौटी वही है जो समाजवादी यथार्थवाद में स्वीकार की गई है। उन्होंने वर्तमान के यथार्थ और भविष्य के आदर्शमय रूप को मिलाकर महानता की कसौटी निर्धारित की है। 'अपनी प्रशस्त कल्पना के द्वारा जो वर्तमान हलचलों का यथार्थ स्वरूप और आगम की झलक जितनी स्पष्टता से देख सकेगा, वह उतना ही बड़ा साहित्यकार होगा।'[4]

वाजपेयीजी राष्ट्रीयतावादी हैं, किन्तु, उनका राष्ट्रवाद न रूढ़िवादी है और न सीमित। वह विश्व-मानवतावाद की कड़ी है। सार्वभौम तत्त्वों तक पहुँचाने वाला मार्ग राष्ट्रभाषा की अंधी गली में होकर जाता है। जो साहित्यकार दिव्य दृष्टि रखते हैं बिना भटके हुए अभीप्सित मार्ग पर अग्रसर होते चले जाते हैं. किन्तु, जिन्हें अन्धकार भटका देता है वह रूढ़िवादी बनकर मानवतावाद के 'विरोधी' तक बन जाते हैं। वाजपेयीजी राष्ट्रीयता से साहित्य की रूपप्रतिष्ठा के एवं सार्वभौमता द्वारा उसकी आत्मा का सृजन करना अभीष्ट समझते हैं।[5]

वाजपेयीजी ने विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकृति प्रदान करते हुए भाषा व शैली के विवेचन एवं विकास में इसका व्यावहारिक रूप स्पष्ट किया है। वह भाषा

---

1. नन्ददुलारे वाजपेयी : आलोचना : अंक २० : पृ० ५।
2. वही, महाकवि सूरदास : पृ० १५२।
3. वही, आधुनिक साहित्य : पृ० ३२०-३२१।
4. वही, आधुनिक साहित्य : पृ० ३२९।
5. वही, आलोचना : अंक २३ : पृ० ५।

को परिस्थिति की उपज मानकर उसमें होने वाले परिवर्तनों का कारण भी परिस्थिति को ही ठहराते हैं।[1] वाजपेयीजी ने स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह मान्यता उनकी अपनी समीक्षा पर भी लागू होती है। 'छायावाद-युग में एक नए धरातल पर समीक्षा-दृष्टि का उन्नयन हुआ। कला की अधिक शुद्ध और सूक्ष्म चेतना, नीतिपरक दृष्टि के स्थान पर मानवतावादी दृष्टि को आग्रह नियम के स्थान पर संवेदनशीलता का उत्कर्ष और काव्य-सौष्ठन के प्रति अधिक अभिरुचि उसकी मुख्य विशेषताएँ थीं। इसके साथ ही हिन्दी-समीक्षा में अनेकमुखी वस्तुपरकता का आगमन भी हुआ। विज्ञान और मनोविज्ञान, इतिहास और समाजशास्त्र की नई शोधों का आकलन, साहित्य-समीक्षा के धरातल पर किया गया। एक अधिक वैज्ञानिक दृष्टि विकसित हुई और सांस्कृतिक भूमिका पर साहित्य मूल्यांकन की प्रवृत्ति दृढ़मूल हुई।[2])

इस विवेचन से हम यह समझ सकते हैं कि वाजपेयीजी ने प्रगतिवादी मान्यताओं पर यथेष्ट विचार किया है, जो प्रमाणित करता है कि वह इस ओर आकृष्ट हैं। वह मानवतावादी जनतांत्रिक समीक्षक हैं अतः मानव-जीवन ही उनका सर्वोत्कृष्ट आदर्श है, जिसकी वर्तमान स्थिति से उन्हें असन्तोष है। वह इस स्थिति को शीघ्र बदलने के पूर्ण पक्षपाती हैं, किन्तु रूस के लिए वह सर्वोत्कष्ट साधन साहित्य और कला को ही ठहराते हैं। उन्हें प्रगतिवादी मान्यताएँ अन्य तभी प्रचलित साहित्यिक 'वादों' में सबसे अधिक उपयोगी एवं मानवतावाद के निकट प्रतीत हुई हैं, किन्तु वह उन्हें उसी सीमा तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक वह साहित्यकार की प्रेरणा बनी रहकर उसकी कृतियों पर परोक्ष प्रभाव डालती रहें। इससे आगे बढ़ने पर मार्क्सवाद, क्या उन्हें धर्म, दर्शन, आदर्श आदि भी अस्वीकृत हैं। उनका दृष्टिकोण सर्वथा प्रगतिशील मानवतावादी है।

## डा० नगेन्द्र

डा० नगेन्द्र रसवादी समीक्षक हैं न कि फ्रायडवादी। यह कहना उचित है कि उन्होंने रसवादी मान्यताओं की जो नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, उनमें अन्य मान्यताओं के साथ मनोविज्ञान को भी स्वीकृति मिली है। काव्य की अन्तिम एवं शाश्वत कसौटी रस है। अपनी इस मान्यता को उन्होंने अनेक स्थानों पर सशक्त शब्दों में व्यक्त किया है। उनके रस की मीमांसा में आनन्द और लोक-हित दोनों का समन्वय है। रस के अतिरिक्त अन्य मानदण्डों को वह असाहित्यिक एकांगी एवं अहितकर मानते हैं। मेरा विनम्र मत है —साहित्य का चरम मान रस ही है जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि सौंदर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अन्तर मिट जाता है : अन्य कथित मान या तो रस के एकांगी व्याख्यान है या फिर असाहित्यिक

1. नन्ददुलारे व जपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : पृ० १५।
2. वही, आलोचना : अंक २३ : पृ० २-३।

मान हैं जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है।[1] डा० नगेन्द्र के रस-सिद्धान्त में हमें परस्पर-विरोधी स्थितियों की अन्विति दृष्टिगोचर होती है जिसके मूल में द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त की परोक्ष स्वीकृति है। रस के सम्बन्ध में मार्क्सवादी समीक्षकों की धारणा है कि उसमें स्थित आनन्द का कारण परस्पर-विरोधी तत्त्वों की एकत्र-स्थिति है। डा० नगेन्द्र की मान्यता की तुलना इस द्वन्द्वाधारित दृष्टिकोण से की जा सकती है। वह आनन्द का कारण बताते हुए कहते हैं—"काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में, अपने तत्त्व-रूप संवेदन के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।[2] वह रसवादी होते हुए आनन्दवादी एवं लोक-मंगलकारी दोनों हैं क्योंकि 'रसवाद' में इन दोनों तत्त्वों की अभिन्न स्थिति मानी गई है। जो समीक्षक इन दोनों तत्त्वों को परस्पर विरोधी मानते हैं उनसे असहमत होते हुए उन्होंने घोषणा की है—'आनन्द और कल्याण को परस्पर-विरोधी मानना असंगत है; पर इन दोनों में सापेक्षिक मूल्य आनन्द का ही अधिक है। आनन्द की व्यापक परिधि में हित की भावना अंतर्भूत है और हित की परिणति भी आनन्द ही है।'[3]

रस को अलौकिक मानकर वह समस्या से पलायन नहीं करते वरन् यथार्थ अनुभूतियों का आधार ग्रहण कर उसे ऐन्द्रिक एवं लौकिक मानते हैं। उन्होंने क्रोचे की सहजानुभूति की मान्यता का खण्डन मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है।[4] काव्यानुभूति न शुद्धेन्द्रिक अनुभव है और न शुद्धातीन्द्रिय। इस अनुभूति को शुद्धान्द्रिक मान लेने का अर्थ होता है—दुःखात्मक अनुभूतियों से दुःख की प्राप्ति, (जैसा कि आचार्य शुक्ल ने कहा है) किन्तु, डा० नगेन्द्र को यह मान्यता अस्वीकृत है क्योंकि वह सभी रसों में आनन्द की स्थिति अनिवार्य मानते हैं। दूसरी ओर शुद्ध अलौकिक मानने पर यह कठिनाई उपस्थित होती है कि काव्यानन्द में चपलता आदि की स्थिति होने से वह अचंचल आमतत्त्व का विरोधी बन जाता है।[5] उनकी दृष्टि में काव्यानुभूति को अनिवर्चनीय कहना भी उसको एक विचित्र और स्वतः सापेक्ष अनुभूति मानना समस्या को सुलझाना नहीं, उससे भागना है।.....जब सौंदर्य की अनुभूति के लिए हमारे पास कोई विशिष्ट या पृथक् इन्द्रिय नहीं है तो उस अनुभूति को भी विशिष्ट या पृथक् कैसे माना जा सकता है? उसका अनुभव साधारण इन्द्रियों द्वारा ही तो होता है इसलिए उसे साधारणतः एन्द्रिक अनुभूति से भिन्न कैसे मानें।[6] रसानुभूति

---

1. डा० नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण : पृ० ३।
2. वही, रीतिकाव्य की भूमिका : पृ० ६४।
3. वही, विचार और विश्लेषण : पृ० २।
4. वही, रीतिकाव्य की भूमिका : पृ० ६२।
5. वही, पृ० ६१।
6. वही, पृ० ६२।

का यह लौकिक और ऐन्द्रिक दृष्टिकोण अत्यन्त समुचित तथा प्रगतिशील है। इस संदर्भ में प्रगतिशील समीक्षक शिवदानसिंह चौहान से हुए अपने पत्र-व्यवहार की ओर[1] ध्यान आकृष्ट करना समीचीन समझता हूँ जहाँ उन्होंने रस को सभी कालों के लिए साहित्य की अन्तिम कसौटी स्वीकार किया है। डा० नगेन्द्र की उपर्युक्त मान्यता से एक अन्य विशिष्ट क्रान्तिकारी मान्यता यह है कि वह रस की आनन्दावस्था में भी निष्क्रियता की स्थिति को अस्वीकार करते हैं और मानते हैं कि वह शुद्ध आत्मिक अनुभूति इसीलिए नहीं है कि उसमें चापल्य वर्तमान रहता है। अपवर्गवादी दृष्टिकोण भी इसी मान्यता को स्वीकार करता है।

डा० नगेन्द्र ने साधारणीकरण को कवि की कसौटी माना है। 'कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके।'[2] उनकी दृष्टि में साधारणीकरण का अर्थ 'काव्य के भावना द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना' है। काव्य को 'अहं का सामाजीकरण' कहकर वह उसे अतिवैयक्तिक होने से बचाते हैं तथा साधारणीकरण द्वारा काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि को स्वीकृति प्रदान कर उसका माध्यम भाषा तथा मानव-सुलभ सहानुभूति को ठहराया है। उसका साधारणीकरण का सिद्धान्त मानवतावाद का समर्थन करता है तथा साहित्य को सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक मानता है। 'मानव-मूल्य निस्सदेह जीवन के चरम मूल्य हैं—मानवता से अधिक मानव-जीवन का मानदण्ड क्या हो सकता है? भारतीय रस शास्त्र आज से सहस्र वर्ष पूर्व अपने साधारणीकरण सिद्धान्त में हिन्दी मानव-मूल्यों को स्वीकृति देकर अपनी सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिकता सिद्ध कर चुका है।'[3] आचार्य शुक्ल के समान डा० नगेन्द्र भी अदृश्य आलम्बन के साथ कल्पना-विहार में औचित्य नहीं देखते। उन्हें जीवन की मधुर एवं गहन भावनाओं की रागमय बिम्बीय अभिव्यक्ति ही अभिप्रेत है।[4]

प्रगतिवाद का सैद्धान्तिक स्तर पर विवेचन करते हुए उन्होंने सभी आवश्यक अङ्गों का पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया है। इसमें इन्होंने द्वन्द्ववाद, भौतिकवाद, द्वन्द्ववादी आधार पर वर्गसंघर्ष तथा वर्ग-विभाजित समाज का साहित्य वर्गवादी होता है आदि प्रश्नों पर विचार किया है।[5] पूर्व-पश्चिम में सैद्धान्तिक स्थापनाओं के पश्चात् उन्होंने उस पर कुछ आरोप लगाए हैं जिनमें ये मुख्य-मुख्य है। (१) प्रगतिवादी जीवन-दर्शन संकुचित है। वह केवल आर्थिक सम्बन्धों की व्याख्या करके जीवन के सभी प्रश्नों का उत्तर उसी दृष्टि से दे देता है। (२) साहित्य को प्रगतिवादी-सामाजिक

---

1. साहित्य सन्देश : जुलाई १९६१ : पृ० २३-२४।
2. डा० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका : पृ० २०।
3. डा० नगेन्द्र : विचार और विवेचन : पृ० ३०।
4. वही, विचार और विश्लेषण : पृ० ३।
5. वही, गिरिजाकुमार माथुर : पृ० २८।

चेतना मानते हैं, जबकि वह आत्माभिव्यक्ति है। साहित्यकार पहले व्यक्ति है पीछे समाज की इकाई। व्यक्ति समाज-चेतना से बहुत कुछ ग्रहण करता हुआ भी साहित्यकार के रूप में अपने अहं का ही विस्फोट करता है। (३) प्रगतिवाद एक राजनैतिक विचारधारा मात्र है जो साहित्यिक क्षेत्र में जाकर व्याख्या करने में तो सहायता देती है, किन्तु मूल्यांकन के लिए अनुपयुक्त है। साहित्य को अर्थ-सम्बन्धों का परिणाम मानना उन्हें नितान्त असह्य है। वह साहित्य की कसौटी रस मानकर प्रगतिवादी मान्यताओं की सहायता रस-परीक्षण के लिए स्वीकार करना उचित मानते हैं। (४) प्रगतिवादी दृष्टिकोण वैज्ञानिक होने के कारण मूलतः बौद्धिक और आलोचनात्मक है उसमें साहित्योचित तन्मयता नहीं है। (५) ये वर्गवादी हैं और क्रान्ति का राग अलापते रहते हैं आदि-आदि आरोप लगाकर नगेन्द्रजी ने प्रगतिवाद को एकांगी दृष्टिकोण माना है जिसमें स्टजन की न्यूनता, समीक्षा की अधिका से पूर्ण की जा रही है।) स्टजनात्मक प्रगतिशील साहित्यकारों के सम्बन्ध में उनकी धारणा निर्विवाद रूप से सत्य है, जबकि वह लिखते हैं —' हिन्दी के अधिकांश प्रगतिशील लेखक उस जीवन से दूर हैं जो उनकी प्रेरणा का मूल स्रोत है। उनके सिद्धान्त पढ़कर और मनन करके प्राप्त किए हुए हैं, सहकर और भाग कर नहीं। केवल बौद्धिक सहानुभूति के बल पर शोषितों की पीड़ा को मुखर करने वाले या हजारों मील दूर पर लड़ने वाली लाल सेना के अभियान गीत लिखने वाले इन लेखकों की रचनाएँ स्वभावतः ही प्राणवान कैसे हो सकती हैं।"[1] वह प्रगतिवादी आन्दोलन को विकसित होने की सम्भावनाओं से युक्त मानते हैं। वह इस आन्दोलन को जीवन, उत्साह और चैतन्यता से समन्वित मानकर[2] परोक्ष रूप से उसकी मंगलकामना करते प्रतीत होते हैं।

(मानवतावाद प्रगतिशील दृष्टिकोण का प्रमुख तत्त्व है। मार्क्स के दर्शन का उद्देश्य मानवतावाद की रक्षा है। नगेन्द्रजी मानवतावादी दृष्टिकोण को संकुचित अर्थ स्वीकार नहीं करते वरन् उसको व्यापक स्तर पर मान्यता प्रधान करते हैं। उन्होंने लोकमंगल और लोकहित को भी इसी दृष्टिकोण के साथ सम्बद्ध किया है। लोकमंगल के प्रति उनका दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा अधिक आग्रही हो गया है। "पहले मुझे नैतिक मूल्यों के प्रति एक प्रकार की विरक्ति थी क्योंकि मुझे वे आनंदवादी मूल्यों के प्रतिकूल लगते थे। किंतु आज ऐसा नहीं है। आनन्द और मंगल में केवल विरोध ही नहीं है वरन् अभिन्न सम्बन्ध भी है।"[3] उनका मानवतावाद कुछ अन्य तत्त्वों से भी सम्बद्ध है जिनमें उपयोगितावाद भी एक है। उनकी उपोगितावादी मान्यतायें उनकी निम्न पंक्तियों से व्यापक भूमिका ग्रहण करती दृष्टिगोचर होती हैं। 'लेखक की इस आत्मभिव्यक्ति का दूसरों अर्थात् समाज के लिए क्या उपयोग है? पहला

1. ड० नगेन्द्र : विचार और अनुभूति : पृ० ३०।
2. वही, पृ० ७१।
3. वही, साप्ताहिक हिन्दुस्तान : २६ अगस्त १९६२ : पृ० २४।

उपयोग तो यही है कि सहानुभूति के द्वारा सामाजिकों को उससे परिष्कृत आनन्द की प्राप्ति होती है। यह परिष्कृत आनन्द उनकी संवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तित्त्वों को समृद्ध बनाता है—जीवन में रस उत्पन्न करता है, पराजय और क्रांति की अवस्था में शांति और माधुर्य का संचार करता है। इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है, इसका अनुमान लगाना आज कठिन है।[1] डा० नगेन्द्र सामाजिक चेतना के संस्कार का अर्थ मानवीय स्तर पर लेते हैं जिसमें हमारी कोमल वृत्तियों की सरसता के द्वारा मूढ़ता का हरण प्रमुख है। इसी आधार पर वह रीतिकालीन कविता का समर्थन करते हैं। उनका मानवतावाद राष्ट्रीय भी है और अन्तर्राष्ट्रीय भी। वह राष्ट्रीयता से उठकर अन्तर्राष्ट्रीयता के स्तर तक पहुँचे हैं। और विषम परिस्थितियों में जबकि राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में संघर्ष हो, वह संभवतः मूलतः मानवतावादी होने के कारण उन्हीं तत्त्वों का समर्थन करेंगे जो मानवतावाद के पक्ष में होंगे। इसीलिए उन्होंने एक युग और एक देश की अपेक्षा युग-युग और देश-देश की चेतना को अधिक महत्त्व दिया है। "एक युग और देश की चेतना का सम्बन्ध राजनीतिक अथवा सामाजिक नैतिक मूल्यों से है, और युग-युग तथा देश-देश की चेतना का सम्बन्ध मानवीय मूल्यों से है। इन दोनों में साधारणतः कोई सविरोध नहीं है, वास्तव में मानवीय मूल्यों में सामाजिक नैतिक मूल्यों का अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में यदि विरोध हो भी जाए तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय माने जायेंगे।'[2]

डा० नगेन्द्र ने नीति और सामाजिकता को अग्राह्य नहीं माना किन्तु इनकी प्रधानता भी स्वीकार नहीं की है। साहित्य न नीतिशास्त्र है और न समाजशास्त्र इसलिए साहित्य की व्याख्या करने में इन तत्त्वों की सहायता लेना तो उन्हें समीचीन लगता है किन्तु निष्कर्ष निकालने के लिए इन पर निर्भर करना उन्हें असाहित्यिक लगता है। इन दोनों तत्त्वों को जीवन के लिए अनिवार्य मानते हुए उन्होंने लिखा है: "परन्तु मैं नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निषेध नहीं करता। जीवन में नीति और समाज की सत्ता अतर्क्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, समाज की संघ-शक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संगठन और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का संकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य-रूप में समाज का अविभाज्य अङ्ग है—साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है—अतएव उसी अनुपात में उसका दायित्व भी अधिक है! जिस समाज ने उसे जीवन में उपकरण दिए हैं, बौद्धिक और भावगत

---

1. डा० नगेन्द्र : विचार और विवेचन : पृ० ५६।
2. वही, पृ० ५६।

परम्परायें दी हैं, उसका ऋणशोध करना उसका धर्म है। इससे स्वार्थ-साधना की संकुचित भूमि से उठकर उसके अहंभाव का उन्नयन और विस्तार होता है।"[1]

डा० नगेन्द्र ने साहित्य और जीवन के सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला है और यह सम्बन्ध उन्हें दुहरे रूप में स्वीकार है। साहित्य जहाँ एक ओर जीवन की अभिव्यक्ति है वहाँ दूसरे रूप में वह जीवन का निर्माता तथा शोधक है। इसे हम यथार्थ और आदर्श का सम्बन्ध भी कह सकते हैं। यथार्थ जीवन सबको प्रभावित करता है और साहित्यकार को विशेष, क्योंकि वह अधिक संवेदनशील होता है। अपने साहित्य में चाह कर भी वह उसे नहीं बचा सकता, उसकी परोक्ष अभिव्यक्ति साहित्य में होगी ही। अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा मंगलमय भविष्य का जो चित्र वह रागात्मक विम्बों द्वारा देगा - उसमें आदर्श का समाहित होना यदि अनिवार्य नहीं तो स्वाभाविक अवश्य है। अपनी सीमाओं के अन्तर्गत यही नियम साहित्यालोचक पर भी चरितार्थ होता है। नगेन्द्रजी ने इसीलिए जीवन और साहित्य में पिता-पुत्र सम्बन्ध माना है। "साहित्य का जीवन से दुहरा सम्बन्ध है : एक क्रिया-रूप में, दूसरा प्रतिक्रिया-रूप में। क्रिया-रूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति है, सृष्टि है प्रतिक्रिया-रूप में उसका निर्माता और पोषक है। जिस प्रकार एक सुपुत्र अपने पिता से जन्म और पोषक पाकर उसकी सेवा और रक्षा करता है, उसी प्रकार सत्साहित्य भी जीवन से प्राण और रक्त-मांस ग्रहण करके फिर उसको रस प्रदान करता है।"[1] आलोच्य समीक्षक समाज की सामयिक परिस्थितियों का साहित्य पर प्रभाव तो स्वीकार करते हैं किन्तु वह इन परिथितियों के सीधे-सीधे चित्रण के विरोधी हैं। परिस्थितियाँ जहाँ-कहीं साहित्य में सीधी अभिव्यक्ति प्राप्त करती हैं वहीं साहित्य निर्बल हो जाता है, वह शाश्वत और श्रेष्ठ नहीं रहता। साहित्य को सामयिकता की दृष्टि से देखना उसके साथ खिलवाड़ करना है। सामयिक परिस्थितियां और समाज का रूप निरन्तर परिवर्तनशील है अतः उनके आवरण को चीर कर मूल मानवीय अन्तरतत्त्वों को पकड़ना चाहिए। इसके लिए उदाहरण देते हुए वह बताते हैं कि यदि हमें किसी प्राचीन कृति की समीक्षा करनी हो तो सर्वप्रथम हमें तत्कालीन समाज की स्थिति का दिग्दर्शन करना चाहिए—उन प्रेरणाओं को स्पष्ट करना चाहिए जिन्होंने उसके निर्माण में योगदान दिया है—तत्पश्चात् यह देखना चाहिए कि वह कौन-कौन से तत्त्व हैं जो उस कृति को उस युग की होते हुए भी युग-युग का (सार्वकालिक) बना रहे हैं। साहित्यालोचन की यह प्रक्रिया उन्हें समुचित प्रतीत हुई है।"[2] डा० नगेन्द्र की समीक्षा में ऐतिहासिक आधार ग्रहण किया गया है। उन्होंने अपने शोध-प्रबन्ध (रीतिकाव्य की भूमिका) की भूमिका में लिखा है कि 'यहाँ मैंने घटनाओं को प्रायः बचाते हुए तत्कालीन जीवन

---

1. डा० नगेन्द्र : विचार और विवेचन : पृ० ५७।
2. वही, विचार और अनुभूति : पृ० ११।
3. वही, पृ० १५ के आधार पर।

की आन्तरिक प्रवृत्तियों को ही ग्रहण किया है।"[1] इससे स्पष्ट है कि वह घटनाओं और व्यक्तियों की अपेक्षा इतिहास की धारा के क्रम को ही अधिक महत्त्व देते हैं। इतिहास के विकास का यह दृष्टिकोण मार्क्सवाद में भी स्वीकृत हुआ है और मार्क्स ने इतिहास को सामान्य के अन्तर-सम्बन्धों की कथा कहा है। इस ग्रन्थ के व्याख्यात्मक भाव से पूर्ण तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण किया गया है जिसे उन्होंने अपनी समीक्षा का आधार बनाया है।[2] आगे चलकर भी रीतिकाल का विवेचन करते हुए उन्होंने प्रवृत्तियों को प्रधानता दी है, कवियों और ग्रन्थों को नहीं। डा० नगेन्द्र ने व्याख्यात्मक आलोचना में कतिपय प्रगतिशील तत्त्वों को स्वीकृति प्रदान की है। उनकी आलोचना का उद्देश्य भी लोकहित पर आधारित है—"आलोचक एक विशेष रसग्राही पाठक है और आलोचना उस ग्रहित रस को सर्वसुलभ करने का प्रयत्न है।"[3] इसी इन्टरव्यू में उन्होंने आलोचना और सृजनात्मक साहित्य के परस्पर सम्बन्धों का विश्लेषण मूलग्राही वृत्त से स्पष्ट किया है। उन्हें कलाकार का स्वरति-ग्रस्त होना अस्वस्थता का लक्षण प्रतीत हुआ है। यह मान्यता अत्यन्त स्वस्थ एवम् पूर्ण प्रगतिशील है—"आलोचना सर्जन की अनुवर्तिनी ही है। जहाँ उसने अग्रवर्तिनी होने का दम्भ किया, साहित्य का ह्रास अवश्यम्भावी हो जाएगा। इसी प्रकार कलाकार जहाँ स्वरति-ग्रस्त हुआ वहीं उसकी प्रतिभा विकृत और रुग्ण हो जायगी। न कवि को आलोचक से अपने गुण-कीर्तन की आकांक्षा करनी चाहिए और न आलोचक कवि से अपने अनुसरण की दुराशा। प्रख्या उपाख्या से पुष्ट होती है और उपाख्या प्रख्या से समृद्ध।"[4]

डा० नगेन्द्र समीक्षा और इतिहास में वस्तुवादी दृष्टिकोण के विरोधी नहीं हैं। उन्होंने गिरिजाकुमार माथुर की समीक्षा में भविष्य में उनकी श्रेष्ठता की सम्भावनाएँ इसी दृष्टिकोण से की हैं।[5] उन्होंने प्रयोगवादी काव्य का विवेचन करते हुए अपने स्वाभावानुसार प्रथम पूर्वपक्ष की स्थापना में प्रयोगवादी साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया है; फिर उदाहरण देकर उनकी मान्यताएँ और व्यवहार में असंगतियां स्पष्ट की हैं। प्रयोगवाद को वह एकान्त अन्तर्मुखी व्यक्तियों के मन की निविड़ता का विस्फोट मानते हैं। प्रवोगवादी कवि अपने अवचेतन के अर्द्धव्यक्त अनुभव-खण्डों को, जो एकांत व्यक्तिगत होते हैं, यथावत् वस्तु-रूप में अंकित करने का प्रयत्न करता है। यथावत् अंकन का यह प्रयत्न काव्य की बिम्ब ग्रहण की पद्धति के विपरीत पड़ता है। इसमें विशेष की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का इतना उत्कृष्ट आग्रह रहता है कि कवि

1. डा० नगेन्द्र : रीतिकाल की भूमिका—भूमिका।
2. वही।
3. वही, साप्ताहिक हिन्दुस्तान : २६ अगस्त सन् १९६२ : पृ० २५।
4. वही, पृ० २५।
5. वही, गिरिजाकुमार माथुर : पृ० २६।

साधारणीकरण नहीं कर पाता—वरन् एक प्रकार से वह साधारणीकरण को अनावश्यक ही मानता है। वह अपने विशिष्ट अव्यवस्थित भाव-खण्डों को उसी अव्यवस्थित रूप में प्रतीकों द्वारा अनूदित करने का प्रयत्न करता है। उसका अभीष्ट रहता है अवचेतन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति; अतएव वह निकटतम प्रतीकों का प्रयोग करता है। अवचेतन भाव-खण्डों के पास पहुँचते-पहुँचते ये प्रतीक स्वयं भी अर्द्धव्यक्त और निविड़ होते चले जाते हैं। परन्तु इसको वह सर्वथा स्वाभाविक एवं अनिवार्य मानता है, क्योंकि उसका मत है कि अर्धव्यक्त की अभिव्यक्ति के लिए पूर्णव्यक्त प्रतीक अवांछित है। वह श्रोता या पाठक को अभिप्रेत भाव-खण्ड का संवेदन न कराकर उसके मन में किसी भिन्न भाव-खण्ड अथवा धारणा की उद्‌बुद्धि करते हैं। अतएव वह अर्धव्यक्त एवं असम्बद्ध प्रतीकों का सचेष्ट प्रयोग करता है और अपने इस प्रयत्न में मनोविश्लेषण शास्त्र की 'मुक्त-विचार-प्रवाह,' 'स्वप्न-चित्र' आदि पद्धतियों से प्रत्यक्ष सहायता ग्रहण करता है।"[1] डा० नगेन्द्र साहित्यिक क्षेत्र में वादों के समर्थक नहीं। साहित्य आत्माभिव्यक्ति है; उसे वाद के घेरे में सीमित करना उसके साथ अन्याय करना है—ऐसा मानते हैं। उन्हें प्रयोगवाद की कविताओं का सैद्धान्तिक रूप से दुरूह होना, रागतत्त्व का स्थान बुद्धितत्त्व को देना, साधारणीकरण का त्याग, काम-कुंठाओं का यथावत् चित्रण एवम् भाषा का अतिवैयक्तिक प्रयोग अत्यन्त आपत्तिजनक लगते हैं। कोई भी रसवादी समीक्षक ऐसा ही दृष्टिकोण अपनाएगा। वह जीवन और साहित्य में नवीन प्रयोगों के विरोधी नहीं। किन्तु ये प्रयोग साहित्य के उद्देश्य के मूल्य पर ही हों तो वह उन्हें कैसे ग्रहण कर सकते हैं? उन्हें प्रयोगवाद का ऐसा रूप ग्राह्य हो सकता है जो 'जीवन के मूल तत्त्वों पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए उन्हीं के पोषण और समृद्ध विकास के निमित्त प्रयोग करे।' वह साहित्य को रूढ़ और स्थिरता से बचाने के लिए नवीन गतिविधि का अन्वेषण करना सार्थक और स्तुत्य मानते हैं। प्रयोगवाद का विरोध अनेक प्रगतिवादी समीक्षकों ने किया है तथा रूसी समीक्षा में भी प्रयोगवाद का विरोध खुलकर किया गया है। अलैक्जेंडर कारागनोव ने इस साहित्य का विरोध करते हुए लिखा है कि ये लेखक प्रयोगों को ही उद्देश्य मान लेते हैं जिनमें सामान्य पाठकों की समझ में आने लायक कुछ भी नहीं होता। इनमें कला और जीवन के प्रति भी विरोध मिलता है जो किसी भी दृष्टि से वांछित नहीं हो सकता।[2]

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से चाहे नगेन्द्रजी ने प्रगतिवाद में अनास्था प्रगट की है किन्तु साहित्य और साहित्यकार को वह स्वभावतः प्रगतिशील मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रगतिशील आन्दोलन के उन तत्त्वों को स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं जो काव्य और कलाओं को अधिक समृद्ध करें, पाठकों और श्रोताओं को इन कला-कृतियों का अधिकाधिक रसास्वदन करने में

---

1. डा० नगेन्द्र के श्रेष्ठ निबन्ध : पृ० १०६।
२. सोवियत लिटरेचर : अंक ६ : सन् १९५९।

सक्षम बनायें, रसवादी मान्यताओं की नवीन व्याख्या में जिनसे योग मिल सके तथा मानवतावाद की रक्षा हो। सैद्धान्तिक की अपेक्षा उनकी समीक्षा का व्यावहारिक पहलू अधिक प्रगतिशील तत्त्वों से समन्वित है। साहित्यकारों का विवेचन करते समय वह उन पर पड़े हुए सामाजिक प्रभावों को अनिवार्य रूप से देखते चले हैं और तत्कालीन परिस्थितियों से जोड़कर उनकी कृतियों का आकलन किया है। उन्होंने जहाँ सामयिकता का विरोध किया है उसे सामाजिकता का विरोध नहीं माना जा सकता क्योंकि सामाजिकता सामयिकता पर्याय नहीं है। साकेत एक अध्ययन में उन्होंने ग्रहस्थ सामाजिक सम्बन्ध एवम् परिवेश आदि के आधार पर पात्रों स्थितियों एवं मनोदशाओं का जो विश्लेषण किया है वह किसी भी प्रगतिशील समीक्षक की समीक्षा से टक्कर ले सकता है। समालोचना में साधारणीकरण को अनिवार्य मानकर उन्होंने मार्क्सीय सौंदर्य शास्त्रियों को भी इस दृष्टि से विचार करने की प्रेरणा दी है। आधुनिक नाटकों का वैज्ञानिक विवेचन तथा उनकी प्रेरणा-स्रोतों की शोध एवम् उनमें अभिव्यक्त सांस्कृतिक, नैतिक, राष्ट्रीय एवम् पौराणिक चेतना आदि का विवेचन समाज-चेतना के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डालता है। महान् साहित्यकारों को सीमाओं में बाँधने का प्रयास सदैव से हुआ है किन्तु उनकी महानता की विशेषता यही है कि वह चारों ओर से बाँधने पर भी किसी-न-किसी ओर से बाहर निकल कर उस प्रयास को विफल सिद्ध कर देते हैं। डा० नगेन्द्र के समीक्षा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी यही उक्ति पूर्णतः चरितार्थ है। न वह परम्परा-प्राप्त रसवादी हैं न पूर्णतः मनोविश्लेषणवादी और न प्रगतिवादी ही। किन्तु साथ ही उनमें व्यक्तिवाद, रसवाद-मनोविज्ञान, प्रगतिवाद, मानवतावाद तथा सरसता के वे सभी तत्त्व मिल जाते हैं जिन्होंने उन्हें हिन्दी समीक्षा का मूर्धन्य समीक्षक बना दिया है।

## शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रभाववादी समीक्षक शान्तिप्रियजी मार्क्सवाद से अत्यन्त प्रभावित और पन्तजी के समान युग की आर्थिक समस्याओं का समाधान उसके द्वारा पाने के लिए आशावान, किन्तु सांस्कृतिक उत्थान के लिए गाँधीवाद तक पहुँचने के समर्थक हैं। उनकी विचारधारा में एक क्रमिक विकास देख पड़ता है। 'युग और साहित्य' से पूर्व वह सृजनशील समीक्षक हैं। 'युग और साहित्य' में प्रगतिवादी तथा तत्पश्चात् गाँधीवाद के सांस्कृतिक आख्याता हैं। आज भी उन्हें मार्क्सवादी जीवन-दर्शन स्वीकार्य है किन्तु सीमित रूप में और वह भी कुछ संशोधनों के साथ। मार्क्सवादी दृष्टिकोण को उन्होंने शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार किया न करके युग-धर्म के रूप में स्वीकार किया है—"मैं युग-धर्म के रूप में समाजवाद को भी स्वीकार कर लेता हूँ।[1] उन्हें समाजवाद में दैनिक जीवन की सभी समस्याओं का समाधान दृष्टिगोचर हुआ है।

1. शांतिप्रिय द्विवेदी : युग और साहित्य : अपनी बात : पृ० २।

आज मैं जानता हूं कि समाजवाद न केवल एक नवीन आर्थिक दृष्टिकोण है बल्कि उसमें दैनिक जीवन की सम्पूर्ण आकुलताओं का निदान भी है।"[1] इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी धारणा आज भी बनी हुई है। आज वह अपने इस कथन से हट चुके हैं। आज तो वह मार्क्सवादी दृष्टि को केवल आर्थिक समस्याओं को सुलझाने की मुक्ति मात्र मानते हैं। आज उन्हें मार्क्सवाद 'अर्थ' और फ्रायडवादी 'काम' जैसे भारतीय जीवनोद्देश्यों के चार (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में एक-एक प्रतीत होते हैं। वह आज फ्रायडवाद का विरोध करते हैं और उसे कोई महत्त्व देना असमीचीन समझते हैं — 'फ्रायडियन दृष्टि से मनुष्य की विकृतियाँ दिखलाने में भला क्या विशेषता है? मनुष्य भी मूलत: पशु तो है ही। यह पशु-मानव अपने रक्त-मांस और मल-मूत्र के शरीर में भी कितना स्वस्थ हो सकता है, इसी सौंदर्य-दर्शन में कला का वैशिष्ट्य है। कला का दृष्टिकोण रचनात्मक है।"[2] इस मान्यता का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से दो दृष्टियों से मेल बैठ जाता है। एक तो मार्क्सवादी फ्रायड का विरोध उसकी समाज निरपेक्षता के कारण करता है और दूसरी ओर इसमें द्विवेदी जी ने मानव को मूलत: पशु मानकर विकासवाद को स्वीकृति प्रदान की है अर्थात् वह प्रकारान्तर से मानव के आत्मवादी रूप से हट जाते हैं और द्वन्द्ववाद को स्वीकार करते दिखाई देते हैं। उनकी द्वन्द्ववादी विकास की स्वीकृति अन्यत्र भी मिलती है। वह द्वन्द्व से विकास मानते हैं।[3] इतना ही नहीं द्वन्द्ववादी विकास का क्रम बिना क्रान्ति के कैसे स्पष्ट होगा। इस नियमानुसार वह क्रान्ति का समर्थन भी करते हैं। उन्हें समाज इतना सड़ा-गला और परम्परा-प्राप्त प्रतीत होता है कि बिना क्रान्ति के सामान्य सुधारों द्वारा उसे नहीं बदला जा सकता है। अब तक के समाज को वह वर्ग-आधारित मानते हैं और वर्ग-आधारित समाज की कला, संस्कृति एवं साहित्य सब-कुछ उन्हें प्रतिक्रियावादी प्रतीत होता है। समाज के वर्तमान ढाँचे को वह समाजवादी क्रान्ति के द्वारा समाप्त करके नई समाज-रचना का बिगुल बजाते हैं—"हमारा अब तक का शरीर (समाज) एकदम सड़ गया है, उसके भीतर चेतना पीड़ा से छटपटा रही है। फिर भी उसकी विवर्ण मुखाकृतियों (साहित्य, कला, संगीत, सभ्यता) में ही हम उसके भाव और संस्कृति का सौंदर्य और माधुर्य देखने का हृदयहीन प्रयत्न करते आ रहे हैं, मानो युग-युग की पीड़ा के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। साहित्य और कला के नाम पर एक बहुत बड़ी छलना लेकर हम जीवन का मिथ्या अभिनय कर रहे हैं। अब इस प्रवंचना का अन्त होना चाहिए। युग-युग की पीड़ित चेतना को उसके तरुण शरीर से मुक्ति देनी चाहिए। उस चेतना का समाजवाद ही कायाकल्प कर सकता है।"[4] प्रगति व्यस्त क्रान्तियों की

1. शान्तिप्रिय द्विवेदी : युग और साहित्य : अपनी बात : पृ० २।
2. वही, वृन्त और विकास : पृ० ९५-९६।
3. वही, युग और साहित्य : पृ० ।
4. वही, युग और साहित्य ; अपनी बात : पृ० ३।

आँधियों और तूफानों में से होकर जाती है। बिना तूफान झेले कोई आगे नहीं जा सकता। इस तूफान में भी जो दिशा-भ्रष्ट नहीं होता और अपने गन्तव्य की ओर चला जाता है वही प्रगति का पथ पा लेता है। एक रूपक द्वारा इस मान्यता को प्रकट किया गया है। जगे हुए आदमी को अंधड और तूफान देखने पड़ते हैं। उसे इन सबसे अपनी दृष्टि को स्वच्छ रखकर प्रगति के पथ पर गतिशील होना पड़ता है। अंधाधुन्ध चलते रहना ही प्रगति नहीं है।'[1] द्वन्द्ववादी पद्धति में ह्रासशील तत्त्वों एवं विकासशील तत्त्वों में संघर्ष होता है, ह्रासशील की पराजय एवं विकासशीलों की विजय होती है और इसके परिणामस्वरूप तीसरी और एकदम नए तत्त्व अस्तित्व में आते हैं जो उस वस्तु का रूप बदल देते हैं और यह विकास-क्रम निरन्तर चलता हुआ इतिहास का सृजन करता है। इतिहास की इस प्रगति का साहित्यिक क्षेत्र में अध्ययन करने वाले शान्तिप्रियजी ने लिखा है—"प्रत्येक युग दूसरे युग को कुछ देकर जाता है। अन्यथा इतनी बड़ी सृष्टि अस्तित्वहीन होकर कभी भी शून्य में समा जाती। एक युग दूसरे युग को जो कुछ दे जाता है, उसी के आदान-प्रतिदान से नव-नव युग भविष्य की ओर चलते हैं।"[2] प्रगति के इस सिद्धान्त को जब समाज के ऊपर लागू किया जाता है तो वर्गसंघर्ष की मान्यता स्पष्ट होती है। आज के समाज में आलोच्य समीक्षक ने भी वर्गसंघर्ष की भूमिका स्वीकार की है। 'पहले साम्राज्य लड़ते थे, अब उनकी विडम्बनाओं के परिणामस्वरूप वर्ग-युद्ध भी सजग हो गया है।'[3] इस वर्गसंघर्ष का आधार आर्थिक है। एक वर्ग दूसरे का शोषण करता है। जब से शोषण आरम्भ हुआ है तब से लेकर अब तक शोषितों के हितों के विपरीत तथा शोषकों के हितों के अनुकूल धर्म, भक्ति, कला, साहित्य आदि रहे हैं। इसीलिए मार्क्स ने माना है कि वर्ग-विभाजित समाज का सारा साहित्य वर्गवादी होता है, इससे सभी वर्गों की हित-साधना नहीं हो पाती है। द्विवेदीजी—इस संघर्ष को राम और रावण का संघर्ष कहते हैं। जनता (सर्वहारा) रामपक्ष है और शोषक रावण-पक्ष। आज समाजवादी झण्डे के नीचे सभी त्रस्त एवं निर्धन एकत्रित हो रहे हैं। "इतिहास बताता है कि सदियों से संसार के ऊपर 'रावण-राज्य' शासन करता चला आ रहा है—'जिमि दशनन मँह जीभ विचारी' की तरह निम्न वर्ग के भीतर से जो प्राणी अब भी बचे-खुचे चले आ रहे हैं उन्होंने ही आज समाजवाद के रूप में उस 'रावण-राज्य' के विरुद्ध त्राहि-त्राहि की है। हमारी अब तक की भक्ति, अब तक की कला, अब तक का साहित्य, और संगीत यह सब-कुछ रावणवंशीय है।"[4] मार्क्सवाद का इतना खुला समर्थन सम्भवतः अन्य कोई गांधीवादी लेखक नहीं कर पाया होगा जैसा कि द्विवेदीजी

---

1. शान्तिप्रिय द्विवेदी : युग और साहित्य : पृ० ५।
2. वही, पृ० २१।
3. वही, पृ० २५।
4. वही, पृ० २६।

ने किया है, क्योंकि रक्त-रंजित क्रान्ति से गांधीवाद का विरोध है और वह क्रान्ति गांधीवादी साधन और उद्देश्य दोनों की समानता के भी विपरीत पड़ती है।

इतिहास की व्याख्या करते हुए मार्क्सवादी दर्शन में कहा गया है कि इतिहास समाज के दो वर्गों के संघर्ष की कहानी है। साहित्य और समाज का सम्बन्ध भी इसी दृष्टिकोण से प्रभावित रहा है। सच्चा और सम्पूर्ण समाज का हित करने वाला साहित्य वर्गविहीन समाज-व्यवस्था आ जाने पर ही सृजित हो सकेगा। इन मान्यताओं को स्वीकार करके द्विवेदीजी ने लिखा है कि 'अब तक का इतिहास दो खण्डों (शोषक और शोषित) में विभक्त रहा है, अखण्ड जीवन हमें मिला नहीं इसी-लिए हमारे कवि भाव-जगत् में ही अपने आपको विस्मृत करते रहे हैं। प्रत्यक्ष रूप में यह भी राजा के सामने रंक थे अथवा किसी नृपति या धनपति के आश्रित।'[1]

द्विवेदीजी मानवतावादी दृष्टिकोण से परिचालित हैं। आज का समाज उन्हें अत्यन्त दीन, शोषित, विपन्न तथा दयनीय प्रतीत होता है। करुणा से तुरन्त विगलित हो जाने वाले द्विवेदीजी इस सारे दुःख का कारण खोजते हैं और प्रगतिशील समीक्षक के समान इसका कारण उन्हें 'शोषण' में मिलता है। उन्हें प्रतीत हो गया है कि वह शोषण दुहरा है। एक ओर आर्थिक ट्रैजेडी है और दूसरी ओर धर्म के नाम पर भी हमें खोखला किया जा रहा है। उन्हें अर्थ की इतनी प्रधानता असह्य है क्योंकि परिवार, समाज एवं व्यक्तियों के परस्पर सारे सम्बन्ध अर्थ पर आकर टिक गए हैं। मानव का मूल्य कुछ नहीं रह गया है। भला कोई भी मानवतावादी मानव का इतना उपहास कैसे सह सकेगा? 'आज की आर्थिक ट्रेजेडी में धन ही जीवन का मोक्ष बन गया है। प्राणी नगन्य हो गया है। वह अर्थ और धर्म दोनों ही द्वारा शोषित है।'[2] उनके मानवतावाद का धरातल देश और काल की सीमाओं से आबद्ध नहीं है। वह सार्वभौमिक स्तर पर मानवतावाद की प्रतिष्ठा करते हैं। उनकी चिन्ता का क्षेत्र नगर, गाँव, राष्ट्र से होकर सारे विश्व तक विस्तृत है। 'आज के अर्थग्रस्त जीवन में.. .....शिक्षा, संस्कृति, भगवद्भक्ति, दान-पुन्य, स्नेह-सहयोग, ये सब रूढ़ि मात्र रह गए हैं, एक बँधे हुए अभ्यास की तरह। एकमात्र आर्थिक प्रश्न सबकी छाती पर साँप बनकर बैठा हुआ है। क्या नागरिक जीवन, क्या ग्रामीण जीवन, क्या राष्ट्रीय जीवन, क्या अन्तर्राष्ट्रीय जीवन, उसी एक विषधर के विष से जर्जरित हैं।'[3] द्विवेदी जी की मानवतावादी दृष्टि उनकी व्यावहारिक समीक्षा में सर्वत्र स्पष्ट हुई है। पन्त, महादेवी, यशपाल तथा छायावादी-युग की समीक्षा में इस दृष्टि का चमत्कार विशेष रूप में दृष्टिगोचर होता है। रवीन्द्र और शरद् के उपन्यासों का विश्लेषण करते हुए

---

1. शान्तिप्रिय द्विवेदी : युग और साहित्य : पृ० ४५।
2. वही, युग और साहित्य : पृ० ३०३।
3. वही, पृ० ३०१।

उन्होंने इसी दृष्टिकोण से निष्कर्ष निकाले हैं। 'चरित्रहीन' की किरणमयी जब सतीश को समाज का भय दिखाती है तो उसके रुपए के बल पर सारी समस्या को सुलझा लेने की बात पर द्विवेदीजी टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—'यह चिंतनीय है कि दलित, पीड़ित और शोषितवर्ग को शक्ति-स्वावलम्बन शरण नहीं दे सके। कदाचित् इसके लिए जिस भविष्य की आवश्यकता थी, तब तक उसका आभास देश को नहीं मिला था।"[1]

उन्होने साहित्य और जीवन का सम्बन्ध बहुत उच्च स्तर पर स्वीकार किया है। साहित्य को वह जीवन की अभिव्यक्ति ही नहीं मानते वरन् जीवन का पथ-प्रदशक भी स्वीकार करते हैं। वह यथार्थवादी हैं किन्तु उनका यथार्थ केवल युग की समस्याओं का वस्तुगत चित्र देकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ लेता, वरन् वह समस्याओं का समाधान भी चाहते हैं। उन्हें यथार्थ के साथ आदर्श का संयोजन अनिवार्य प्रतीत होता है। सच्ची कला इन दोनों को लेकर चलती है। प्रेमचन्दजी ने जिसे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा है और गोर्की ने जिसे सामाजिक यथार्थवाद की संज्ञा दी है उसी को साहित्य का अभिप्रेत मानते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है कि 'सुन्दरता यदि कला है, परिच्छद है, तो यथार्थ उसका शरीर है और आदर्श उसकी मगल आत्मा।"[2] आदर्श और यथार्थ का यह समन्वय उन्हें गाँधीवाद और मार्क्सवाद का समन्वय प्रतीत होता है।[3] देवत्व और पशुत्व की प्रतिनिधि इन दोनों मान्यताओं को वह अलग-अलग न रहने देकर एक स्तर पर ले आना चाहते है और इस प्रकार देवत्व और पशुत्व के समन्वय से मानवतावादी संस्कृति की स्थापना उनके साहित्य का मुख्य उद्देश्य है। साहित्य लोकजीवन से प्रेरणा ग्रहण करता तथा उसी पर आधारित रहता है। देशकाल और परिस्थितियाँ साहित्य को प्रभावित करती हैं। वह साहित्य को जीवन और समाज की अभिव्यक्ति कहकर उसके इस उत्तरदायित्व को अनिवार्य बना देते हैं। "असहयोग-आन्दोलन ने जैसे समाज के सभी वर्गों पर प्रभाव डाला, वैसे ही साहित्य के सभी अङ्गों पर भी। कथा-साहित्य में यदि प्रेमचन्द इस आन्दोलन के प्रतिनिधि हुए तो काव्य-साहित्य में मैथिलीशरण।"[4]

उनकी समीक्षा मुख्यतः तीन तत्त्वों को आधारभूत रूप से स्वीकार करके चली है और वे हैं (१) संस्कृति (२) स्वाधीनता और (३) आर्थिक समता।[5] उनकी समीक्षा परिवेश के आधार पर चलती है[6] एवं युग-सत्य का बहिष्कार न करके एक

1. शान्तिप्रिय द्विवेदी : संचारिणी : पृ० ६४।
2. वही, युग और साहित्य : पृ० ३१।
3. वही, पृ० १५२।
4. वही, पृ० २३८।
5. वही, पृ० ११६;
6. वही, पृ० ११२।

अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार कर लेती है। आज उन्हें यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि किसी भी प्रकार मार्क्सवाद और गांधीवाद का समन्वय किया जाय। वह प्रगतिवादी दृष्टिकोण को स्वीकृति तो देते हैं किन्तु गांधीवाद के साथ उसे मिलाकर। उन्हें दोनों ही एकांगी लाते हैं।[1] 'जहाँ तक जीवन के ऐतिहासिक दृष्टिकोण का प्रश्न हैं मैं प्रगतिवाद की ओर हूँ। जहाँ जीवन के आंतरिक दृष्टिकोण का प्रश्न है मैं गांधीवाद की ओर हूँ।'[2] वह गांधीवाद की नवीन सस्कृति का तथा मार्क्सवाद को नवीन राजनीति का सृजन मानते हैं।[3] गांधीवाद शाश्वत धर्म है एवं मार्क्सवाद आपद्धर्म—युगधर्म।[4] वह तो यहाँ तक कहने को तैयार हैं कि यदि मार्क्स जीवित होते तो समाजवाद और कम्यूनिज्म के आगे की सीढी के रूप में उन्होने गांधीवाद (सर्वोदय) को स्वीकार कर लिया होता।[5] इससे सिद्ध हो जाता है कि वह मार्क्सवाद को उसकी वर्तमान सीमाओं से उठाकर और भी विकसित देखना चाहते हैं। अनेक मार्क्सवादी समीक्षकों के समान (इस वर्ग में चौहान एवं रांगेयराघव आते हैं) वह मार्क्सवाद को 'डोगमा' न मानकर निरन्तर विकासशील दर्शन मानते हैं। उनकी एक मान्यता से हम सहमत नहीं हो सकते कि गांधीवादी सस्कृति मानवीय है एवं मार्क्सवादी कला और संस्कृति मशीनी है।[6] क्योंकि एक ज्ञान पर आधारित है और दूसरी विज्ञान पर। मार्क्सवाद में संस्कृति पर यथेष्ट बल दिया जाता है और जहाँ तक उसके उपयोगितावादी दृष्टिकोण की बात है वह तो मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों में ही समान रूप से मान्य है।

मार्क्सवादियों के समान उन्हें साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध मान्य है और आज की विषम परिस्थिति में उन्हें साहित्य राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न दृष्टिगोचर होता है, जिसे वह मान्यता प्रदान कराते हैं।[7] इन सारे तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी मार्क्सवादी दृष्टिकोण के बहुत निकट हैं।

यद्यपि उनकी समीक्षा में सिद्धान्तों का आग्रह नहीं है फिर भी सिद्धान्तों से मुक्ति भी नहीं पा सके हैं। आज के प्रगतिशील गांधीवादी मार्क्सवाद के जितने निकट हैं लगभग उतने ही निकट श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी भी हैं।

---

1. शान्तिप्रिय द्विवेदी : सामयिकी : दो शब्द।
2. वही, दो शब्द।
3. वह, पृ० २३।
4. वही, पृ० २३।
5. वही, पृ० २५।
6. वह, पृ० १६५-६६।
7. वही, युग और साहित्य : पृ० ३६।

## बाबू गुलाबराय

बाबू गुलाबराय को रसवादी कहना ही समीचीन है, वैसे उन्हें पौर्वात्य एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की वे सभी मान्यताएँ स्वीकृत हैं जिनमें कुछ भी तत्त्व उन्हें दिखाई दिया है। और तो और उन्होंने क्रोचे और फ्रायड को भी स्वीकृति प्रदान की है। फ्रायड के सम्बन्ध में उन्होने स्वतंत्र रूप से लिखा है तथा उसके सिद्धान्तों का व्यावहारिक जीवन से उदाहरण दे देकर विवेचन किया है। वह मानवतावाद, कला जीवन के लिए, समन्वयवाद, उपयोगितावाद, ऐतिहासिकता, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण आदि के समर्थक हैं। समीक्षा के संबंध में उनकी मान्यता है कि वह परिवेश, युग परम्परा तात्कालिक सांस्कृतिक परिपार्श्व की दृष्टि में रखकर आगे चलते हैं। वह साहित्यकार की व्यक्तिगत सीमाओं को भी स्वीकार करना चाहते हैं। गुलाबरायजी की सैद्धान्तिक समीक्षा में मौलिकता की शोध उपयुक्त नहीं है। वे मूलतः व्यावहारिक समीक्षक हैं जो समन्वय के आधार पर रससिद्धान्त को लेकर चले हैं। उनमें आचार्य शुक्ल के समान पूर्वाग्रह नहीं है। वे समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाकर चलते हैं। उनकी शैली विस्तारवादी है, और विवेचन ऋजु। बीसवीं शताब्दी में रहते हुए भी वे आदर्शवाद को ही आग्रह-पूर्वक ग्रहण किये रहे हैं। विषय-प्रतिपादन में विस्तार के साथ-साथ सतह का स्पर्श अधिक है और गहराई कम।

उनका रसवाद परम्परागत है। साधारणीकरण को वह उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखते हैं। साधारणीकरण की उपयोगिता ही का व्यानुशीलन की उपय गिता है। उसके द्वारा हमारी सहानुभूति विस्तृत हो जाती है। हम दूसरे के साथ भाव-तादात्म्य करना सीखते हैं। हमारे भावों का परिष्कार होकर उनका पारस्परिक सामञ्जस्य भी हं ने लगता है[1] अपनी रसमीमांसा, पुस्तक में उन्होंने रस का जो विवेचन किया है उसे अन्यत्र मनोविज्ञान के साथ जोडने का प्रयत्न भी किया है। मार्क्सवादियों के समान वह फ्रायड के विरोधी नहीं हैं। उन्होंने साहित्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या को स्वीकृति प्रदान की है।[2] रस की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए मनोविज्ञान को रस से पीछे रह जाने वाला—रस के स्तर तक न पहुँचने वाला स्वीकार किया है।[3] जीवन और साहित्य का संबध आधुनिक युग के सभी समीक्षक किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करते हैं। और बाबूजी ने भी ऐसा किया है। वह साहित्य को जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। साहित्य मुखरित जीवन है। वह जीवन का ही आत्मचिन्तन है। जीवन की आवश्यकताओं को भूल कर हम साहित्य का चिन्तन नहीं कर सकते।[4] कलावाद के नाम से साहित्य और जीवन के सम्बन्ध न मानने वाले सौंदर्य-

1. गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० ५५।
2. डा० वेंकट शर्मा : आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास : पृ० २६७।
3. वही. पृ० २६७।
4. गुलाबराय : कुछ उथले कुछ गहरे : पृ० १५६।

शास्त्रियों की मान्यताएँ उन्हें स्वीकार नहीं हैं वे कला और साहित्य को जीवन का चित्र मानकर ही संतुष्ट नहीं हो जाते वरन् उनको "अन्योन्यासयित्व घोषित करते हैं। इस प्रकार उन्हें जीवन का साहित्य को और साहित्य को जीवन का अग्रसारित करना मान्य है। "हमारा साहित्य हमको एक संस्कृति और एकजातीयता के सूत्र में बाँधता है। जैसा साहित्य होता है वैसी ही हमारी मनोवृत्तियाँ हो जाती हैं। और हमारी मनोवृत्तियों के अनुकूल हमारा कार्य होने लगता है, इसलिए हमारा साहित्य हमारे समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं, वह उसका नियामक और उन्नायक भी है।[1] "बाबूजी को सामयिकता स्वीकार है। उनकी दृष्टि में साहित्यकार अपने समाज का प्रतिनिधि होता है, उसकी रचना में सामयिकता की पूरी-पूरी छाप होती है 'जिस प्रकार बेतार के तार का ग्राहक आकाश-मंडल में विचरती हुई विद्युत्-तंरगों को पकड़ कर उनको भाषित शब्द का आकार देता है, ठीक उसी प्रकार कवि-साहित्य में अपने समय के जातीय भावों की छाप होती है वह लेखक अपने समय के वायुमंडल मे घूमते हुए विचारों को पकड़ कर मुखरित कर देता है।'"[2] 'लोकजीवन और साहित्य को एक-दूसरे से संबंधित मानने वाला समीक्षक उपयोगितावादी होगा। बाबूजी ने न केवल व्याख्यात्मक आलोचना उपयोगितावादी दृष्टि से देखी है वरन् सिद्धान्तों का विवेचन भी इसी आधार पर किया है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में पीछे दिए गए उद्धरण से यह बिलकुल स्पष्ट है। वे कला और साहित्य को रीति और उपयोगितावाद से जोड़ते हुए लिखते हैं—"कला का सम्बन्ध जब मनुष्य के पूर्ण जीवन से है तब वह नीति सदाचार और उपयोगिता की अवहेलना नहीं करती।'[3] इसका यह अर्थ नहीं कि वह कलात्मक सौंदर्य को महत्त्व न देते हों। वह साहित्य और कला को मुख्य सौंदर्य की सृष्टि मानते हैं। साहित्य में सौंदर्य के लिए जिन-जिन उपकरणों का प्रयोग-शास्त्र-सम्मत है उन सबको गुलाबरायजी मान्य करते हैं किन्तु सौंदर्य को शिवत्त्व के साथ जोड़ना अनिवार्य प्रतीत होता है "सौंदर्य कलाकार का मुख्य ध्येय है किन्तु नीति, आचार और उपयोगिता को अपनाकर उसको सुसम्पन्नता प्रदान करना भी उसके पुनीत कर्तव्यों में है। सौंदर्य को मंगलमय बनाना उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करना है। यह प्राण-प्रतिष्ठा दक्षिणा के लिए नहीं होनी चाहिए वरन् श्रद्धा-भक्ति से प्रेरित होकर सच्चा दक्षिणय प्राप्त करने के हेतु। कलाकार को प्रयत्नशील होना वांछनीय है। श्रेय और प्रेय का समन्वय ही सच्ची कला है।"[4] अस्तित्ववादी अंग्रेजी समीक्षक टी०एस० ईलियट ने बताया कि कलाकार का अनुभव करने वाला मन और रचना करने वाला मन अलग-अलग होते हैं और जिस साहित्यकार में यह अन्तर जितना अधिक होता है वह उतना ही महान सिद्ध होता है। अस्तित्ववाद की इस मान्यता का खंडन

1. गुलाबराय : काव्य के रूप : पृ० ८।
2. वही, प्रबंध-प्रभाकर : पृ० २६-२७।
3. वही, प्रबंध-प्रभाकर : पृ० ४३।
4. वही, प्रबंध-प्रभाकर : पृ० ४८।

करते हुए बाबू गुलाबरायजी ने जैसे उसके साथ असहमति प्रकट करते हुए ही लिखा कि "कलाकार जब कला की रचना करता है तब तथा उसके अतिरिक्त काल में भी निरंतर नागरिक बना रहता है। अतः साहित्य में उद्देश्यहीनता को स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकती।" काव्य का क्षेत्र रेखागणित की भाँति संकुचित नहीं जितना ही राज्य व्यापक होगा, उतना ही बँधन अधिक होगा। कलाकार समाज से बाहर नहीं रह सकता, उसका नागरिक रूप उसके कलाकार रूप से पृथक नहीं। तीन लोक से न्यारी अपनी मथुरा बसा कर रहे तो केवल सौंदर्य भी नीति से विच्छिन्न हो अपूर्ण रहेगा। अतः नीति का प्रश्न उपेक्षणीय नहीं है।"[1] साहित्य और समाज का सम्बन्ध स्थापित करते हुए वह साहित्य के कलापक्ष को साहित्य का सामाजिकता का अनिवार्य परिणाम मानते हैं। प्रेषणीयता में सामाजिकता एक अनिवार्य तत्त्व है। उसे स्वीकार करते हुए बाबूजी ने लिखा है कि साहित्य मानव की सामाजिकता का परिणाम है। वह अपने हृदय के आनन्द को दूसरों तक पहुँचाकर उसका मिल-बाँट कर उपयोग करना चाहता है। यदि दूसरे साथी न भी हों तो उसे अपने भावों और विचारों को मूर्तिमान होते हुए देखकर प्रसन्नता है। यही कलाओं की प्रेषणीयता है।[2] इस उपयोगितावादी और मानवीय दृष्टि को इस युग का कोई भी हिन्दी समीक्षक अस्वीकार नहीं कर सका है। इस युग में जातीयता की जो लहर देश में परिव्याप्त हुई है उसने साहित्य को जनता तक पहुँचाने में तथा जनता को साहित्य के माध्यम से अपनी निजी भावनाओं को विस्तार देने में यथेष्ट योग दिया है। एक सीमा तक साहित्य ने जनता और जन-आन्दोलनों को नेतृत्व भी प्रदान किया है। साहित्य ने देश में एकता, जातीयता तथा राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न करने में जो सहायता दी है उसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। साहित्य की इस अपूर्व शक्ति को स्वीकृति प्रदान करते हुए बाबू गुलाबरायजी ने लिखा है कि, साहित्य हमारे अव्यक्त भावों को व्यक्त कर हमको प्रभावित करता है। हमारे ही विचार साहित्य के रूप में मूर्तिमान हो, हमारा नेतृत्व करते हैं। साहित्य ही विचारों की गुप्त शक्ति को केन्द्रस्थ कर उसे कार्यकारिणी बना देता है। साहित्य हमारे देश के भावों को जीवित रखकर हमारे जातीय व्यक्तित्व को स्थिर रखता है।"[3]

बाबू गुलाबराय युग से कभी पिछड़कर नहीं चले हैं। उन्होंने यदि युग को मार्ग नहीं दिखाया तो कम-से-कम युग को कंधा अवश्य दिया है। उन्होने युगीन प्रवृत्तियों में प्रगतिशील मान्यताओं को यथेष्ट सीमा तक स्वीकार किया है। उनकी प्रगतिशीलता में अनेक तत्त्व आते है।

---

1. गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० २०५।
2. वही, पृ० १७७।
3. वही, प्रबंध-प्रभाकर : पृ० २५।

यथार्थवाद के सम्बन्ध में उनकी मान्यता उसे मार्क्सवादी विचारधारा के साथ जोड़कर देखने के अतिरिक्त उसे आदर्शवाद के विरोधी रूप में भी स्वीकार करने की है। उनका यथार्थवाद प्रगतिवाद के साथ जुड़कर चलता है। वैसे तो उन्हें जहाँ नवीनता हो वहीं प्रगति के दर्शन होते हैं[1], और उन्होंने साहित्य को उसके प्रारम्भ से ही प्रगतिशील माना है, उनकी दृष्टि में जो जनहितकारी है वही प्रगतिशील है।[2] यथार्थवाद को वह जीवन का सच्चा रूप कहते हैं। इसमें वास्तविकता रहती है, किन्तु दृष्टि नगण्य, हेय और लघु की ओर रहती है, यही उन्हें मान्य है। "यथार्थ वह है जो नित्य प्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य और धूप-छाँह और सुख-दुख मिश्रित रहता है। यह सामान्य भाव-भूमि के समतल रहता है और वर्तमान की वास्तविकता में सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ग के स्वर्णिम सपने उसके लिए परीदेश की वस्तु है जो उसकी पहुँच से बाहर है। भविष्य उसके लिए कल्पना का खेल है। वह संसार के हाहाकार और करुण-क्रन्दन का यथा-तथ्य वर्णन करता है। वह कठोर सत्य को कहने में नहीं हिचकिचाता। वह वास्तविकता के नाते संसार में पाप और बुराई का विजयघोष करने में संकुचित नहीं होता। वह संसार की कलुष-कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता। वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित ही देखना चाहता है। वह उसे गलाकर और उसमें चमक उत्पन्न कर लोगों को चकाचौंध में नहीं डालना चाहता।"[3] यथार्थवाद के सम्बन्ध में उनकी यह धारणा प्रेमचन्दजी की धारणा के समकक्ष है। सम्भवत: वे प्रसादजी की यथार्थवाद सम्बन्धी मान्यताओं से सहमत हैं। उन्होंने फ्रांस के यथार्थवादी लेखकों के साहित्य को यथार्थवाद का उदाहरण मानकर ही ऊपर के उदाहरण में यथार्थवाद की 'कु' पर दृष्टि रखने की मान्यता को स्वीकार किया है। सम्भवत: वह समाजवादी-यथार्थवादी के उस रूप को स्वीकार करते हैं जिसमें आज की वर्तमान स्थिति का यथार्थवादी चित्र हो तथा साथ ही भविष्य के लिए एक संदेश तथा मंगलमय कल्पना, जो यथार्थ परिस्थितियों से ही विकसित होने वाली हो। इस यथार्थवाद को प्रेमचन्दजी ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की संज्ञा दी है। बाबूजी को भी यही रूप स्वीकृत है, क्योंकि इसमें यथार्थ स्थिति और मंगलकारी आदर्श समन्वित रूप में रहते हैं। दूसरी ओर यथार्थता के भी अपने गुण और दोष हैं। इसमें यथार्थता, स्वाभाविकता, सरलता, सुन्दरता, मूर्खता और वर्तमान जीवन से प्रेम विद्यमान रहता है। परन्तु इसके लिए नग्न चित्रण आवश्यक नहीं। कल्पना का पुट आवश्यक है, नहीं तो यथार्थ नीरस, अश्लील और अशान्ति का पोषक होकर पूर्णता तथा औचित्य का

---

1. गुलाबराय : हिन्दी काव्य विमर्श : पृ० २८६।
2. वही, प्रबंध-प्रभाकर : पृ० १३७।
3. वही, पृ० १७७।

विरोध करने लगता है। यथार्थ में सत्य रहता है, परन्तु कटु सत्य बहुधा भलाई में सहायक नहीं होता। कोरी नामावली और घटनाओं का विशद वर्णन इतिहास हो उठता है। दोनों के गुण-दोषों का विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि दोनों का सामंजस्य और समन्वय ही लाभकारी हो सकता है। दोनों एक-दूसरे को पारस्परिक पूर्णता प्रदान करते हैं।.....आदर्श यथार्थ को ऊँचा उठाता है और यथार्थ आदर्श को खोखला होने से बचाता है।'[1] 'यथातथ्य-वादी यथार्थवाद को वे अनेक कारणों से असमीचीन मानते हैं। (१) बुराइयों के उद्घाटन से लोगों में रुचि उत्पन्न होती है। (२) जब पाठक बुराई को फलते-फूलते देखते हैं और साधुता को दुःख उठाते देखते हैं तब वे निराश हो उठते हैं और सदाचार तथा सद्गुणों के प्रति आकर्षण कम हो जाता है। तथा (३) दुःख-संघर्ष आदि का जो वर्णन यथार्थ में रहता है वह हमें उबा देता है। इन तत्त्वों का भारी समावेश हमारे जीवन में पहले से ही है, साहित्य द्वारा इनकी इतनी अभिवृद्धि और भी उबाने वाली होगी।[2] इस प्रकार यथार्थ के सम्बन्ध में वे व्यवहारवाद से काम लेना चाहते हैं। यथार्थ के भीतर छिपे हुए आदर्श का उद्घाटन साहित्यकार का मुख्य उद्देश्य स्वीकार करते हैं जिससे पाठकों का ध्यान उस आकर्षक रूप की ओर खिच जाए। इस प्रकार का यथार्थवाद उन्हें सच्चा यथार्थ-वाद लगता है तथा इसे वे प्रगतिशील भी मानते हैं क्योंकि[3] इससे मानव-समाज के विकास में सहायता मिलती है। आदर्शों की अतिवादिता एवं संभाव्य की सीमा से उनका बाहर जाना भी उन्हें अमान्य है। अन्यथा वह उस उद्देश्य (उपयोगिता) की पूर्ति न कर सकेगा, जिसके लिए उसकी आयोजना की गई है।

बाबूजी अपनी समीक्षा में सामयिक समस्याओं के चित्रण के पक्ष में हैं। उन्होंने स्वय भी आज की समाज-दशा के सच्चे चित्र दिए हैं जिनमें साधारण जनता के स्तर, शासकीय अपव्यय, आर्थिक असमानता, नौकरशाही, शोषकवर्ग की विलासिता तथा निम्न वर्ग की दयनीय दशा आदि के लिए चिन्ता प्रकट की गई है। इस युग-समीक्षा का आधार सामाजिक-आर्थिक है, जो मार्क्सवादी समीक्षा के भी आधारभूत तत्त्व हैं।[4] मार्क्सवादी-विचारधारा जब साहित्य में प्रयुक्त हुई तो हिन्दी में उसे प्रगतिवाद कहा गया। बाबूजी ने प्रगतिवाद पर भी अपने विचार अनेक स्थानों पर प्रकट किए हैं। उन्हें प्रगतिवादी मान्यतायें जहाँ तक वे मानवतावादी हैं, स्वीकार हैं, किन्तु इन मान्यताओं को ही सब कुछ मानकर अन्य तत्त्वों को अप्रमुखता देना उन्हें अस्वीकार्य है। प्रगतिवाद के अनेक गुणों को उन्होने स्वीकार

1. गुलाबराय : पृ० १८०।
2. वही, काव्य के रूप : पृ० १८१।
3. वही, पृ० १८२।
4. वही, मेरे निबंध : पृ० २०४।

किया है जैसे हिन्दू-मुस्लिम एकता सर्वहारा का उत्थान, देश में साम्यभावना को लाना, व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठना तथा समष्टिवाद तक पहुँचना। प्रगतिवाद ने हमारे जीवन का मुख जीवन की ओर मोड़ा। जीवन की विषमताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। सर्वहारावर्ग को उत्थान दे उसने साम्य-भावना को प्रमुखता दी और हिन्दू-मुसलमानों को भी एक-दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न किया। प्रगतिवाद हमको स्वार्थपरायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को शय्या-सेवी अकर्मण्य नहीं रहने दिया है।'[1] ये राष्ट्रीयता के इसलिए समर्थक हैं कि वह मानवों को एक जाति में बाँधती है। उस भावना से हम साम्प्रदायिकता तथा जातीयता आदि की सीमाओं से ऊपर उठ जाते हैं। 'राष्ट्र सबके हित के लिए है। उसके लिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख सब बराबर हैं। वह किसी जातिविशेष का नहीं है और न किसी जातिविशेष को उसमें विशेष अधिकार है। सभी उसके संरक्षण और घोषणा के समान रूप से अधिकारी है। बाबूजी पूँजीवादी व्यवस्था की नारी सम्बन्धी मान्यता से असहमत हैं। वह नहीं चाहते कि नारी को नर से नीचा दर्जा मिले। आज तो विषम परिस्थिति है और नारी का जो शोषण हो रहा है उसके विरुद्ध समाज को चेतावनी देते हैं। इस दृष्टि से प्रगतिवादियों के समकक्ष हैं। उन्होंने स्पष्टरूप से लिखा है कि 'सदाचार के सारे बन्धन स्त्रियों के लिए ही होते हैं। बहुत सी स्त्रियाँ बेचारी रोटी-कपड़े के नौकर की तरह काम करती हैं पति का दाम्पत्य-अधिकार और बच्चों के रोने के वात्सल्य अधिकार की दो रज्जुओं से मंथित होकर रई की भाँति वह घूमती रहती हैं।'[2]

प्रगतिवाद का आधार आर्थिक सम्बन्ध है। गुलाबरायजी अर्थ को महत्त्व देते हैं, किन्तु यह नहीं चाहते कि दूसरों का शोषण किया जाए। वह यह भी मानते हैं कि समाज में जब तक पीड़ा, यातना, असमानता रहेगी तब तक कोई भी सुखी नहीं रह सकता। सच्ची नैतिकता असमानता के मिटने पर ही पैदा होगी। अन्याय के रहते हुए समाज के सभी वर्गों का पतन होता रहता है। अतः हमारे साहित्य में वह शक्ति आनी चाहिए जो इन दुर्गुणों को मिटाकर सबके कल्याण का मार्ग खोज सके। धन ही मनुष्य को नीचे गिराता है और धन ही उसे ऊँचा उठाता है। यदि धन का उपार्जन उचित साधनों से अर्थात् कठिन परिश्रम से, दूसरों की बेबसी का लाभ न उठाकर हो और धोखाधड़ी से बचाकर हो, तो उसका स्वागत करना बुरा नहीं.....पीड़ाओं, यातनाओं और असमानताओं के रहते हुए सुखी लोग भी सुखी नहीं हो सकते। सुखी का सुख, वह चाहे जितना भी निर्भय हो, दुखित वातावरण में नीरस बन जाता है। समाज की प्रतिक्रिया व्यक्ति पर होती है। सुखी

1. गुलाबराय : प्रबंध-प्रभाकर : पृ० १४२।
2. वही, मेरे निबंध : पृ० १६५।

समाज में ही व्यक्ति का पूर्ण विकास हो सकता है. जहाँ नैतिक स्तर नीचा होता है वहीं असमानताएँ जड़ पकड़ती हैं। सच्ची नैतिकता 'सर्व भूतहित' की ओर ले जाती है। मानव-उत्थान तभी हो सकता है जब हमारा नैतिक स्तर ऊँचा उठे। तभी समाज में न्याय-व्यवस्था पनप सकती है। अन्याय न शोषक को ही पनपने देता है और न शोषित को। धन-वैभव का यदि नीति से विच्छेद हो जाय, तो वह कल्याणकारी न रह कर विनाशकारी बन जाता है। हमको शक्ति के साथ शिव की भी उपासना करनी चाहिए।[1] प्रगतिवादियों ने जो नारेबाजी की है और लाल सेना पर कविताएँ लिखी हैं, उनका उन्होने समर्थन नहीं किया है। इसके विपरीत राष्ट्रीय समस्याओं पर लिखे गये रागात्मक साहित्य को श्रेष्ठ माना है। बंगाल के अकाल का जो यथार्थवादी चित्र प्रगतिवादी साहित्यकारो ने खींचा है उसकी उन्होने प्रशंसा की है[2] और बताया है कि यह वर्णन करुणा-प्रेरित है एवं साथ ही इसके मूल में पूँजी-पतियों एवं चोरबाजारी करने वालों के लिए घृणा का भाव भी है।

बाबू गुलाबरायजी ने 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' लिखा है। यद्यपि इस इतिहास में कोई मौलिक उदभावनाएँ नहीं हैं फिर भी इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि वह इतिहास के बल साहित्यकारों और ग्रन्थों का संकलनमात्र नहीं है वरन् तत्कालीन जातीय जीवन और उसमें प्रवाहित होने वाली समाज-चेतना का परिणाम है। वीरगाथा-काल की युग-चेतना किस प्रकार तत्कालीन साहित्य में प्रकट हुई है, इस सम्बन्ध में उनका निम्न उद्धरण स्थिति को स्पष्ट करता है।

'साहित्य का विकास तत्कालीन जातीय जीवन और उसमें प्रवाहित होने वाली विचारधाराओं पर निर्भर रहता है। कवि और साहित्यकार अपनी विशेष संवेदनशीलता के कारण समाज के वायुमण्डल में बिखरी हुई विचार-तरंगों को रेडियो के आकाशी की भाँति ग्रहण कर अपनी कल्पना और अभिव्यंजना के बल पर जनता के लिए ग्राह्य बना देते हैं। हिन्दी साहित्य भी समाज की गति के साथ प्रतिस्पंदित हुआ है। वीरगाथा काव्य संघर्ष-युग की देन है, किन्तु, उसमें संघर्ष की मार-काट और एक छोटे राज्य को ही देश मानने की संकुचित पर सच्ची वीर भावना के साथ मिश्रित स्त्री-परित्राण भावना से उत्पन्न शृंगारिकता का भी पुट है। उन दिनों वसुन्धरा की भाँति रमणी भी वीरभोग्या तो नहीं, आजकल की भाषा में वीर-पूज्या रही। काव्य उन दिनों राज्याश्रित अवश्य था, किन्तु कुछ उदार भावना के साथ कवि स्वयं भी वीरोल्लास से प्रवाहित हो जाता था।[3] फलतः यह स्पष्ट है कि गुलाबरायजी ने सैद्धान्तिक रूप से तथा व्यावहारिक आलोचना में प्रगतिशीलता को यथेष्ट सीमा तक मान्यता प्रदान करके उसे अपने व्यवहार में लिया है।

---

1. गुलाबराय : कुछ उथले कुछ गहरे ; पृ० २०४-२०५।
2. वही, काव्य के रूप : पृ० १५१।
3. डा० त्रिलोकमोहन शर्मा : अध्ययन और आस्वाद : पृ० १२०-१२१।

# डा० विनयमोहन शर्मा

स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों में अग्रगण्य डा० शर्मा युग की गतिविधि से पूर्ण-रूपेण परिचित हैं और देश, काल, परिस्थिति के सन्दर्भ में साहित्य का मूल्यांकन करना समीचीन समझते हैं। वह एक ओर आदर्शवाद से बंधे हैं तो दूसरी ओर शास्त्रीयता को आधार बनाये हुए हैं। वह युग से प्रभावित रहते हुए भी युग की सीमाओं का अतिक्रमण करके शाश्वत-युग-युग का साहित्य रचने की प्रेरणा देते हैं। यथार्थ उनके लिये 'रूप' या अभिव्यक्ति-पक्ष का नाम है। छायावादी काव्य उनका प्रेरणा-स्रोत है। वह शास्त्रीय समीक्षा का रससिद्धान्त को आधार बनाकर अपनी समीक्षा का ताना-बाना बताते हैं। आज की स्थिति उन्हें इतनी प्रेरणा नहीं देती जितनी कि पूर्वकालिक। भक्त कवियों से वह अत्यन्त प्रभावित हैं। छायावादी काव्य ज्यों-का-त्यों अग्राह्य है। उसमें से कुछ को त्याग कर ही शेष को वह स्वीकार कर पाते हैं। रस-शास्त्र' का साधारणीकरण सिद्धान्त उन्हें किसी भी दशा में अनुल्लंघनीय लगता है। वह इसको सामाजिकता की कसौटी का आधार पा जाने के कारण महत्त्व देते हैं। मनुष्य जगत् के साथ रागात्मक दृष्टि से बँधा है। वह इस रागात्मकता को विशेष महत्त्व देते हैं तथा इसी को सामाजिक चेतना का आधार मानते हैं।[1] साधारणीकरण की मान्यता उन्हें कलावाद तथा अतिव्यक्तिवाद का विरोधी बनाती है। वह 'सिन्दूर की होली' को इसीलिये महत्त्वपूर्ण कृति नहीं मानते कि वह उन्हें जीवन के लिए उपयोगी नहीं प्रतीत होती। उसमें उन्हें व्यक्तिवाद एवं कलावाद के दर्शन होते हैं।[2] आजकल की रचनाओं में बौद्धिकता का प्राधान्य और रागात्मकता का ह्रास मिलता है। डा० शर्मा को साहित्य के क्षेत्र में यह अश्लाघनीय प्रतीत होता है। वह प्रयोगवादी-काव्य तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी कथा-साहित्य के विरोधी हैं। यहाँ तक कि प्रगतिवादी साहित्य में भी जहाँ कहीं ये तत्त्व आ गये हैं उन्होंने उनकी तीव्र भर्त्सना की है। प्रगतिवादियों ने जिस ग्राम्या' की अत्यधिक प्रशंसा की है उसी को डा० शर्मा बौद्धिक स्तर का काव्य कहकर रागात्मकता से हीन ठहराते हैं।[3]

जहाँ तक मार्क्सवादी दर्शन तथा उसके तत्त्वों के प्रभाव का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि वह मार्क्सवाद के अध्येता हैं और उन्होंने उसे विवेचित भी किया है। मार्क्स का द्वन्द्ववादी सिद्धान्त व्यावहारिक आलोचना में एक आंशिक सत्य के रूप में उन्हें मान्य है। वह मानव-जीवन को द्वन्द्वात्मक मानते हैं।[4] उन्हें वर्गवाद

---

1. डा० विनयमोहन शर्मा : दृष्टिकोण : पृ० ४।
2. वही, पृ० ७३।
3. वही, पृ० २०२।
4. वही, पृ० ५०।

तथा वर्गसंघर्ष के आधार पर साहित्य की रचना का सिद्धान्त अमान्य है। उन्हें यह तो स्वीकार है कि साहित्य में युग-संघर्ष की छाया आ जाए किन्तु वह सामयिक चित्रण मात्र को ही साहित्य का इष्ट मानने को तैयार नहीं हैं। उन्हें भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय ही साहित्य के सम्बन्ध में उचित प्रतीत होता है। 'साहित्य में युग-संघर्षों की छाया सदा रहती आई है और रहेगी। आपत्ति तभी खड़ी होती है जब सामयिक चित्रण को ही साहित्य का सर्वस्व कहकर केवल प्रचार की चीजें लिखने वालों का ढोल पीटा जाता है। वही साहित्य स्थायी हो सकता है जिसमें मानव जीवन की दोनों बाजुएँ भौतिक और आध्यात्मिक सत्यता के साथ खींची जाती हैं।' इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह साहित्य में प्रचार के समर्थक नहीं हैं। वह वादों में बाँधकर साहित्य को सीमित करना असमीचीन समझते हैं। शाश्वत तत्त्वों से युक्त साहित्य को वह स्वीकार करने में (चाहे वह 'वादी' ही क्यों न हो) किंचित भी नहीं हिचकते,[1] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें साहित्य और लोकजीवन का सम्बन्ध अमान्य है।

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध कलावादी नहीं मानते और डा० शर्मा कलावाद के विरोधी हैं, अतः वह साहित्य और जीवन को घनिष्टता के साथ सम्बन्धित मानते हैं। साहित्य का ऐतिहासिक विकास दिखाने में[2] तथा कवियों और साहित्यकारों की समीक्षा में[3] उन्होंने परिवेश का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। तत्कालीन परिस्थितियों में उन्होंने राजनैतिक एवं आर्थिक तत्त्वों पर विशेष बल दिया है।[4] वह कथा-साहित्य के लिए युग-यथार्थ को आधार बनाना अनिवार्य मानते हैं। उपन्यासकार जिन व्यक्तियों के बीच में चलता-फिरता है, उनको ही वह भिन्न-भिन्न रंगों में साहित्य में उतारता रहता है – चित्रित करता रहता है। ईमानदारी साहित्य को जीवत रखती है। साहित्य-सृजन का एक ही सूत्र है —एक ही मंत्र है —वह है 'मनुष्य के जीविन को समझिए। अपने मित्रों और परिचितों की प्रवृत्तियों का अध्ययन कीजिए।'[5] उन्होंने उस साहित्य का विरोध किया है जो समाज के एक छोटे से अंग के लिए लिखा गया हो, या केवल उसी के हितों को सामने रखकर चलता हो और सामान्य जनता के हितों को न देखे। इसी आधार पर उन्होंने रीतिकालीन काव्य को हेय ठहराया है।[6] साहित्य और लोकजीवन का सम्बन्ध मानने वाला समीक्षक जहाँ कहीं इस सम्बन्ध को विच्छिन्न होता देखेगा, वहीं उसे यह खोजना

---

1. डा० विनयमोहन शर्मा : साहित्यावलोकन पृ० १५।
2. वही, पृ० ११२-११३।
3. वही, पृ० १३२।
4. वही, पृ० ११२-११३।
5. वही, पृ० ३०।
6. वही, पृ० ८।

होगा कि क्या इससे साहित्य और कला का ह्रास नहीं हुआ है ? डा० शर्मा ने मराठी रंगमंच का विवेचन करते हुए दिखाया है कि जिस काल में नाटक जनता से अलग हो गया, तभी वह पतनोन्मुखी बन गया। कला में इस स्थिति से सौन्दर्यविहीनता आ जाती है, वह ऐसा मानते हैं।[1]

जो समीक्षक जीवन और साहित्य का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है, उसका यथार्थवाद को स्वीकृति प्रदान करना स्वाभाविक है। डा० शर्मा मार्क्सवादी नहीं हैं अतः मार्क्सवादी जिस यथार्थ को स्वीकृति प्रदान करते हैं, उसे डा० शर्मा नहीं स्वीकार कर सके हैं। एक स्थान पर वह उदयशंकर भट्ट की 'मानसी' की समीक्षा करते हुए यथार्थवाद की पृथ्वी पर स्वर्ग को उतार लाने वाला कहते हैं। 'मानसी की अन्तर्धारा क्या है ? वह मानव को अपनी शक्ति का विश्वास दिलाना चाहती है और कर्म क्षेत्र में साहस के साथ प्राकृतिक नियमों के पालन की प्रेरणा देती है। वह मनुष्य-जीवन को आँसुओं में डुबाकर तिनके की तरह बहा देना नहीं चाहती। उसमें सुख, सौन्दर्य और आह्लाद की बस्ती बसाकर भूलोक में ही स्वर्ग उतारना चाहती है।'[2] अन्य स्थानों पर भी उन्होंने यथार्थवाद के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए उसे क्रांतिकारी दृष्टिकोण कहा है। 'कंकाल' के यथार्थवाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि वह 'समाज में घृणित, पद-दलित और उपेक्षित पात्रों का यथार्थ रूप चित्रित कर हिन्दी में आने वाले युग का जयघोष करता है।.....प्रतीत होता है, लेखक अपने समाज के अशोभन, असुन्दर और अनादृत स्वरूप का निरावरण मात्र करना चाहता है, जिससे जनता उसकी विभीषिका से चौंक कर आत्म सुधार कर स्वयं मार्ग खोज ले। प्रसाद ने अपने समकालीन उपन्यासकारों के समान समस्याओं को प्रस्तुत करके समय उपदेशक का बाना धारण नहीं किया। कंकाल में समाज की विकृत, अप्राकृतिक स्थिति के प्रति भीषण रोष व्यक्त हुआ है। धर्म के थोथेपन और आडम्बरपूर्ण सदाचार से लेखक की भारत के अतीत गौरव की आराधक मनोवृत्ति अस्वस्थ हो उठी है।'[3] यथार्थवादी मान्यताओं का आलोच्य समीक्षक पर इतना व्यापक प्रभाव है कि उन्होंने प्रसादजी की समीक्षा में युग परिस्थितियों का वर्णन करते समय भी यथार्थवादी शैली को अपनाया है। इस विवेचन में उनकी वर्तमान समस्याओं के प्रति यथार्थवादी दृष्टि भी स्पष्ट हुई है।[4] डा० शर्मा यथार्थवादी रचनाओं में भी आदर्श की खोज करते हैं। कंकाल में यमुना उर्फ तारा के चरित्र की विशेषताएँ ही उन्हें आकृष्ट करती हैं क्योंकि वह विजय बाबू की प्रेमिका न बनकर उनकी बहन बनना चाहती है तथा जिसे प्रेम

1. डा० विनयमोहन शर्मा : साहित्यावलोकन : पृ० २०३।
2. वही, दृष्टिकोण : पृ० १२४।
3. वही, साहित्यावलोकन : पृ० १५६।
4. वही, पृ० ७५।

किया है उसके प्रति जीवन भर वफादार बनी रहती है। अन्यत्र वह उपन्यास की श्रेष्ठता इसलिए मानते हैं कि वह 'हिन्दी में युगान्तरवादी रचना है कि इसने प्रथम बार उपन्यास-तंत्र के आदर्शवादिता की सर्वथा उपेक्षा की, रूढ़िग्रस्त समाज-मान्य नायक-नायिकाओं को तनिक भी चिन्ता न की— अनेक समान महत्त्व के पात्रों की सृष्टि कर पाठकों को ही अपने प्रियपात्र को प्रधानता देने की छूट दे दी। अश्लीलता का लोशन न रखकर भी समाज का नग्न-चित्रण यथार्थ रूप में जिस प्रकार किया जा सकता है, कंकाल इसका आदर्श है।'[1]

डा० विजयमोहनजी की आलोचना में अनेक प्रगतिशील तत्त्व मिलते हैं। वह प्रगति को सच्चे साहित्य एवं उच्चकोटि के साहित्यकार का अनिवार्य गुण मानते हैं।[2] वह हर युग में जीवित रहने वाले तथा सदैव एक प्रकार की ताजगी देने वाले साहित्य को ही प्रगतिशील मानते हैं। 'जो साहित्य हर युग में अपनी ताजगी कायम रख सकता है वही जीवित रहता है और वही प्रगतिशील है।'[3] प्रगतिशील साहित्य की जो अनेक विशेषताएँ उन्होंने मानी हैं[4]—(१) उनमें जीवन का तादात्म्य (२) कठिन साधना, (३) अभिव्यक्ति के प्रति ईमानदारी (४) राजनैतिक घेरे की संकीर्णता से मुक्ति (५) अभावग्रस्त एवं दलित-पीड़ितों के बीच रहकर उनके अभावों तथा अनुभव की सच्ची अभिव्यक्ति आदि प्रमुख हैं। ये सभी मान्यताएँ थोड़े-बहुत अन्तर से प्रगतिशील समीक्षा में भी स्वीकृत हैं। माओत्सेतुंग ने अपनी 'येनन-वार्ता' में भी इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि प्रगतिशील लेखकों और साहित्यकारों को उन्हीं लोगों के बीच जाकर रहना चाहिए जिन्हें वे अपनी कला-कृतियों का विषय बनाना चाहते हैं। वह प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति को बाहर से उधार लिया हुआ नहीं मानते, वरन् उन्हें वह आचार्य शुक्ल की समीक्षा का विकसित रूप प्रतीत हुआ है। आज प्रगतिवादी समीक्षक साहित्य का समाज के साथ आग्रहपूर्वक योग स्थापित करते हैं। क्या यह शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति का ही विकसित रूप नहीं है ?'[5] उनका यथार्थवाद उपयोगितावाद के साथ जुड़ा है। वह ऐसी भाषा, शैली, प्रतीक योजना के समर्थक हैं जिससे सभी पाठक परिचित हों और जिनके समझने में पाठकों को कोई कठिनाई न पड़े अन्यथा भावों का सामाजीकरण न हो सकेगा और साहित्य अपने उद्देश्य की पूर्ति न कर सकेगा।[6] प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के समय उन्होंने उनकी प्रशंसा उन तथ्यों के कारण की है जो प्रगतिवादी रहे हैं तथा हैं। जैसे

1. डा० विनयमोहन शर्मा : साहित्यावलोकन : पृ० १६१।
2. वही, पृ० ३०।
3. वही, साहित्यावलोकन : पृ० २९।
4. वही, पृ० ३० तथा ३१ के आधार पर।
5. वही, पृ० १०६।
6. वही, पृ० १२५।

'नामदेव और उनकी हिन्दी कविता' शीर्षक निबन्ध में वह सर्वप्रथम सारे देश को एकता के धागे में पिरो देने वाले समन्वयवादी तत्त्वों की चर्चा करके उनका महत्त्व प्रतिपादित करते हैं।'[1]

समाजवादी यथार्थवादियों के समान डा० शर्मा ने भी फ्रायडवादी मान्यताओं का विरोध किया है। उन्हें फ्रायड की मान्यताएँ एकांगी प्रतीत होती हैं क्योंकि 'क्या साहित्य में अतृप्त विकारों—इच्छाओं—का ही प्रतिबिम्ब होता है? यदि ऐसा है तो साहित्य से अनुभूत विकारों – इच्छाओं– का निष्कासन ही हो जाता है। पर हम देखते हैं, तृप्त वासनाओं – अनुभूत विकारों का भी चित्रण साहित्य में रहता है।'[2] मनोवैज्ञानिक काम-कुण्ठाओं से युक्त पात्र उन्हें 'टाइप' न लगकर विचित्र लगते हैं अतः उन्हें वह प्रगतिवादियों के समान यथार्थवादी साहित्य की विशेषता के रूप में न स्वीकार करके उलटा मानते हैं।[3] उन्हें जैनेन्द्रजी के 'श्रीकान्त' और 'शैला' असाधारण लगते हैं। उन्होने उन सभी का विरोध किया है जिन्होंने स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों को अपने साहित्य में स्थान दिया है। वह लेनिन के उन विचारों के बिल्कुल निकट हैं जिनमें उसने मातृत्व को नारी की गरिमा का सूचक माना है तथा पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों को यौनात्मक भूमिका पर अस्वीकार करके सामाजिक माना है क्योंकि उनके प्रेम का परिणाम एक तीसरे जीव की उत्पत्ति है अतः इसे स्वच्छन्द कैसे छोड़ा जा सकता है? नारी को यथार्थवाद के नाम पर जो नग्न रूप में अंकित करते हैं उन्हें डा० शर्मा कभी भी क्षमा नहीं कर कर सकते। वह सुनीता' और 'दादा कॉमरेड' के नग्नवाद को नारी जाति का अपमान घोषित करते हैं।[4]

अन्य प्रगतिवादियों के समान उन्होंने लोकसंस्कृति को यथेष्ट महत्त्व दिया है तथा अनेक स्थानों पर भाषा, भाव, संगीतात्मकता आदि के सम्बन्ध में निर्णय के लिए लोकभाषा,[5] लोकगीत तथा लोक रंगमंच[6] आदि का आश्रय लिया है। वह साहित्य को सीमाओं में आबद्ध करने, वादों का अनुगामी बनाने, जीवन से असंपृक्त करने, निरुद्देश्य घोषित करने, मानवता से असंपृक्त करने तथा समाज के एक अंग-विशेष के उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बनाने के विरोधी हैं। वह साहित्य को राजनीति और अर्थनीति से ऊपर मानते हैं, उनकी दृष्टि में साहित्य केवल मानव-जीवन का अनुगामी ही नहीं है किन्तु साथ ही उसका नियामक भी है। वह सामयिक तत्त्वों को साधन रूप में स्वीकार करते हैं साध्य रूप में नहीं। उन्हें भय है कि यदि सामयिक

---

1. डा० विनयमोहन शर्मा : साहित्यावलोकन : पृ० १६७।
2. वही, दृष्टिकोण : पृ० २।
3. वही, पृ० ३३।
4. वही, पृ० ४५।
5. वही, साहित्यावलोकन : पृ० १८२।
6. वही, पृ० १९२।

समस्याओं को उद्देश्य बना लिया गया तो उन समस्याओं के बदलते ही सारा साहित्य महत्त्व खो बैठेगा और उसमें शाश्वत शक्ति नहीं आ पावेगी।

## डा० सत्येन्द्र

सत्येन्द्रजी यद्यपि मूलत: शुक्ल-परम्परा के ही हैं किन्तु इस परम्परा के नये लोगों में यह निश्चय ही अधिक प्रतिभा से सम्पन्न और नवीन दृष्टिशील आलोचक हैं। इनमें मौलिक चिन्तन भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। इनके विचार करने का ढंग भी अपेक्षाकृत नया है।[1] इस कथन में सत्येन्द्रजी की समीक्षा के जो तत्त्व आये हैं वे उनकी सामान्यत: दिशा का बोध भी देते हैं और भ्रम में भी डालते हैं। शुक्ल-परम्परा का समीक्षक होने से यह प्रगट होता है कि शुक्लजी के पश्चात् के उसी दिशा में चलने वाले सामर्थ्यवान समीक्षक हैं, यह बात तो यथेष्ट सीमा तक सत्य है, किन्तु इससे सत्येन्द्रजी का सम्यक मूल्यांकन होने की अपेक्षा उनकी उन विशेषताओं के अप्रकाशन होने का भय उत्पन्न हो जाता है जिनके कारण उनका हिन्दी-साहित्य में अन्यतम स्थान है। लोक-साहित्य के सच्चे आलोचक होने के नाते उन्होंने प्रगतिशील समीक्षा को अभिनव देने दी हैं। उनका ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन तथा उसी क्रम में प्रकाशित एकाधिक ग्रन्थ उन अनेक तथ्यों को सामने ला सके हैं जिनसे प्रगतिशील समीक्षा बहुत आगे बढ़ी है। उनमें से कतिपय तथ्यों का दिक्दर्शन पर्याप्त होगा।

### प्रगतिशील दृष्टिकोण

साहित्य और युग का सम्बन्ध प्रतिपादित करते हुए कला-कल्पना और साहित्य की भूमिका में उन्होंने लिखा है, "हिन्दी-साहित्य में विविध निर्माताओं के मर्म युगों की प्रवृत्ति तथा युगीन साहित्य के तत्त्वों को स्पष्ट किया गया है।[2] कोई भी साहित्य अपने परिवेश से प्रेरणा ग्रहण करता है। किसी भी प्रकार की मान्यता से प्रेरित होकर साहित्य रचना की जाय किन्तु वह जीवन की भौतिक परिस्थितियों से असम्बन्धित नहीं हो सकती। इस मान्यता को स्वीकार करते हुए डा० सत्येन्द्र इसमें इतना और जोड़ देना चाहते हैं कि साहित्यकार युग को प्रभावित भी करता है पर इसके लिए वह युग का प्रभाव सौंदर्य से मंडित करके ही प्रस्तुत करता है।[3] मार्क्सवादी साहित्य में यथार्थवाद को बहुत महत्त्व दिया गया है। यथार्थ को साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हुए उन्होंने लिखा है कि "हमारे सम्पूर्ण साहित्य का एक बड़ा भारी दोष अभी तक यह रहा है कि

---

1. डा० रामदरश मिश्र, हिन्दी आलोचना का इतिहास : पृ० ४४४।
2. डा० सत्येन्द्र, कला कल्पना और साहित्य, कृति और कृतज्ञता से।
3. वही, पृ० १४।

उसने यथार्थ को कहने का साहस नहीं किया। उसके साहित्य की टैकनीक वही रही है जो किसी दस्यु की होती है। दस्यु या शोषक सत्य से आंखें चार नहीं करता। अपने आपके प्रति वह इतना चैतन्य होता है कि वह उसे पद्-पद् पर पुण्य कह कर पुकारना चाहता है— दान जैसे गर्हित कर्म की, जो समाज में भिक्षोपजीवियों की सृष्टि करता है, जो दरिद्रता को मौलिक मानकर चलता है, वह मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है और इसे सम्पूर्ण गुणों से श्रेष्ठ बतलाता है।[1]" वह यह मानते हैं कि यथार्थ की मनोवृत्ति को दबाकर और ह्रासशील तत्त्वों की प्रशंसा करके जो साहित्य दरिद्रता और कष्ट को श्रेष्ठ बता देता है वह कभी भी श्रेष्ठ नहीं हो सकता। वह कृत्रिमता का विरोध करते हैं और चाहते हैं कि साहित्यकार को सच्ची भाषा में— जनहित की भाषा में लिखना चाहिए और जो तत्त्व जनहित का विरोध कर रहे हैं बलपूर्वक उन्हें हटाना होगा।[2] यथार्थवादी मान्यताओं को स्वीकार करते हुए वह यह घोषित करते हैं कि उसे किसी वाद के साथ जोड़ना साहित्यिक दृष्टि से अहितकर है। वे गाँधीवाद और मार्क्सवाद दोनों को यथार्थवाद मानते हैं। गांधीवाद भी यथार्थवाद है और मार्क्सवाद भी यथार्थवाद है..... आज के साहित्य चिन्तक को अपने विचार और रचनाओं में गहराई से बैठकर दूर तक देख कर भारत और भारत ही नहीं, विश्व को देखकर किसी विषय का मूल्य आँकना होगा।[3] इन पंक्तियों से कई तत्त्व स्पष्ट होकर सामने आ जाते हैं। सर्वप्रथम तो डा० सत्येन्द्र का यह दृष्टिकोण व्यक्तिवादी नहीं है। यह राष्ट्रीयतावादी हैं किन्तु उनका राष्ट्रीयतावाद इतना व्यापक है कि वह सारी समस्याओं को सार्वभौमिक स्तर पर देखते हैं जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण का ऐसा व्यावहारिक रूप है जो भारतीय परम्परा के नितान्त अनुकूल है। दूसरी ओर हमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह यथार्थवाद के हामी हैं और साथ ही साहित्यकार की जीवन-दृष्टि पर किसी वाद-विशेष का अंकुश रखना उन्हें असह्य है। जहाँ तक राजनीतिक और अर्थ सम्बन्धों को समीक्षा का आधार बनाने का प्रश्न है, डा० सत्येन्द्र केवल इन्हीं तत्त्वों को आधार मानकर मूल्यांकन करने को तैयार नहीं हैं। हाँ उन्हें इस बात से कोई आपत्ति नहीं कि साहित्य में इन तत्त्वों का समावेश भी हो सकता है और किसी युग तथा किसी कृति की समीक्षा करते समय इन तत्त्वों की सहायता ली जा सकती है। उन्होंने बाल्मीकि और महाभारत काल के साहित्य की व्याख्या करते हुए इन तत्त्वों का सहारा लिया है। 'बाल्मीकि से लौकिक काव्य का आरम्भ होता है। बाल्मीकि के चरित्रों में स्वभाविकता है। क्षत्रित्व का बल बढ़ रहा है। साहित्यिकता और दुर्वृत्ति में संघर्ष तो प्रारम्भ हो गया है, फिर भी अर्थ का महत्त्व नहीं

1. डा० सत्येन्द्र : कला-कल्पना और साहित्य : पृ० ९६।
2. वही, पृ० ९७।
3. वही, पृ० १७।

है। महाभारत काल में अर्थ का महत्त्व मान्य हो चला है। राजनीति की प्रधानता प्रारम्भ होती है।[1]" वे समाजनीति, राजनीति, इतिहासचक्र और अर्थचक्र पर अपनी दृष्टि टिकाकर साहित्य रचना करने का परामर्श देते हैं और इतना ही नहीं इन तत्त्वों पर आधारित रहने वाले युग यथार्थ के चित्रणों द्वारा वह यह भी प्रतिपादित करते हैं कि साहित्य यथार्थ की सीमाओं को भेद कर उससे आगे जाय और उस महान अर्थ को भी प्रतिपादित करे जो महान क्रान्तियों का अग्र रूप सिद्ध हो सके। "राजनीति और समाजनीति, इतिहासचक्र और अर्थचक्र सभी की ओर उसकी दृष्टि रहती है, पर वह वहीं तक न रहकर उस यथार्थ को छोड़ कर उससे आगे के महार्थ को उपस्थित करने में सचेष्ट रहता है। इस प्रकार वह समय को प्रभावित करता है और नव-नव क्रांतियों का अग्रदूत हो जाता है।"[2] उसकी ये मान्यताएँ स्पष्ट करती हैं कि वह साहित्य और कला को उपयोगिता की तुला पर तौलना समीचीन समझते हैं।[3] वे मानवतावादी हैं और साहित्यकार का उत्तरदायित्व मानव की मुक्ति मानते हैं। वे न पशुत्व को श्रेयस्कर समझते हैं और न अति-मानवतावाद को। वे पूर्ण स्वस्थ मानव की कल्पना करके उस कल्पना को सिद्ध करने के लिए साहित्य का उपयोग करना चाहते हैं। उसका उत्तरदायित्व है मानव की मुक्ति, मानव को स्वस्थ करना। उसे यथार्थ मानव बना देना। अति-मानव (Superman) की कल्पना करना व्यर्थ है। पूर्ण स्वस्थ मानव की कल्पना करना ही ठीक है। उस कल्पना को सिद्ध करना—इसके लिए विकास का मार्ग ढूँढना आज की जर्जरित सभ्यता के सहारे असम्भव है। अन्तर से नये बीज वपन कर अथवा बाहर से नयी आक्रामक शक्तियाँ लाकर मौजूदा व्यवस्था को हटाने की व्यवस्था करनी होगी तभी मानव की प्रगति होगी, तभी मानव अगति और दुर्गति से बच सकेगा।[4] डा० सत्येन्द्र रस और साधारणीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और अपनी सैद्धन्तिक समीक्षा की विवेचना में जो मान्यताएँ उन्होंने स्पष्ट की हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें साहित्य की सामाजिक कसौटी स्वीकार है। उन्होने लोक-साहित्य का विस्तृत अध्ययन उपस्थित करते हुए सामूहिक सामाजिक भावना को अत्यन्त उत्कृष्ट भूमिका प्रदान की है। और माना है कि इस साहित्य के द्वारा सही युगीन स्थिति तथा लोकमानस का सच्चा चित्र मिल जाता है। लोक-साहित्य की जनवादी प्रवृत्तियों को स्पष्ट करके तथा उनके सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों को समुचित महत्त्व दिलाकर उन्होंने हिन्दी की प्रगतिशील समीक्षा में ऐसा वन्दनीय प्रयास किया है जिसका महत्त्व सदैव स्वीकार किया जायगा।

---

1. डा० सत्येन्द्र : कला-कल्पना और साहित्य : पृ० १६।
2. वही. पृ० १४।
3. वही, पृ० २०।
4. वही, पृ० ९७।

# निष्कर्ष

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-युग के प्रायः सभी समीक्षक किसी-न-किसी रूप में मार्क्सवाद के सम्पर्क में आ जाते हैं क्योंकि देश की बदलती हुई परिस्थिति ने उन्हें आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा अन्य दृष्टियों से एक ऐसी नवीन दिशा में सोचने-विचारने को विवश किया कि उनकी समीक्षा में किसी-न-किसी रूप में प्रगतिशील तत्त्वों का विवेचन आ ही गया और उनमें से प्रायः सभी ने जीवन और साहित्य के सम्बन्ध को स्वीकार कर यथार्थवादी मान्यताओं को प्रश्रय दिया। छायावादी कवि-समीक्षकों ने अधिक प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाया और शेष समीक्षकों में से आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी यथेष्ट सीमा तक प्रगतिशील तत्त्वों को मान्यता प्रदान की। इस दृष्टिकोण ने उन्हें शुद्ध भौतिकवादी तो नहीं बनाया किन्तु परिवेश के साथ इतनी घनिष्ठता से सम्बन्धित कर दिया कि उस काल के आदर्शवादी साहित्यकारों ने भी 'कंकाल' जैसे घोर यथार्थवादी उपन्यास लिखे। यह प्रगतिशील दृष्टिकोण यहाँ की सांस्कृतिक परम्परा का स्वाभाविक विकास था, न कि विदेशी मान्यताओं का अनुकरण मात्र। इस युग की समीक्षा का स्वर जनवादी—लोकतांत्रिक है, जो आध्यात्मिक परम्पराओं तथा व्यक्ति की आध्यात्मिक मुक्ति को लेकर चला है। इन समीक्षकों ने शोषितों, अछूतों, किसानों, मजदूरों, नारी आदि के प्रश्नों को स्वीकार किया और उनका निराकरण यथार्थवादी दृष्टि से किया गया। मानवतावाद को अन्य मान्यताओं की अपेक्षा अधिक प्रमुखता प्राप्त हुई। इसका विवेचन अनेक नवीन दृष्टिकोणों से किया गया जिनमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की सहायता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद की जिन मान्यताओं का खण्डन किया, आगे चलकर उन पर अधिक विस्तार से विचार किया गया और उन मान्यताओं में से कुछेक को मान्यता प्रदान की गई। इस युग की समीक्षा का प्रारम्भिक युग छायावादी काव्य को अस्वीकार करता रहा। किन्तु उत्तरकाल ने केवल छायावाद को उत्तम काव्य की कोटि ही प्रदान न की वरन् ऐसी समीक्षा-पद्धति का सृजन किया जो छायावादी काव्य को आदर्श मानकर चली तथा जिसने समस्त हिन्दी साहित्य तथा साहित्यकारों का मूल्यांकन इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर किया। सौष्ठववादी दृष्टिकोण यथेष्ट सीमा तक पल्लवित हुआ।

साहित्य का उद्देश्य रंजन और शिक्षण दोनों ही स्वीकार किए गए। सभी समीक्षक उपयोगितावादी मान्यताओं को लेकर चले। साहित्य के विकासक्रम को अशृंखलित एवं अंशों में देखने की प्रवृत्ति का निराकरण होकर एक विकासशील परम्परा के रूप में देखने की प्रवृत्ति सर्वसम्मत मान्यता का स्थान ग्रहण कर

सकी। साहित्य में रागत्व के साथ बुद्धितत्त्व की स्थिति स्वीकृत हुई। रीतिकालीन साहित्य का विरोध तथा उसके पुनर्मूल्यांकन की बात जोरों के साथ चली। अलंकार आदि को भावपक्ष के पूरक के रूप में स्वीकृति मिली, उनकी प्राथमिकता की जो मान्यता रीतिकाल में चली थी उसका विरोध हुआ। भाषा भी भावों की अनुगामिनी मानी गई। इससे सिद्ध है कि स्वच्छन्दतावादी समीक्षा लोकतांत्रिक पथ पर अग्रसर हुई, जिसकी अग्रिम कड़ी के रूप में ही प्रगतिवादी समीक्षा का उदय हुआ।

# अध्याय 5

## मार्क्सवादी आलोचना के विविध रूप तथा मान्यताएँ

हिन्दी की प्रगतिवादी आलोचना सर्वाधिक महत्व समाजवादी-यथार्थ को देती है। यथार्थवाद के अनेक रूपों का प्रचलन आज विश्व-साहित्य में हो रहा है, जो सभी किसी-न-किसी रूप में हिन्दी-साहित्य की परिधि में भी प्रवेश पा चुके हैं। यथार्थ को आधार मानकर चलने वाले वादों में प्राकृतवाद, अतितथार्थवाद, मनोविश्लेषणवादी यथार्थवाद, अस्तित्ववाद तथा समाजवादी यथार्थवाद प्रमुख हैं। प्राकृतवाद में मानव को पशु-स्तर पर चित्रित किया जाता है और माना जाता है कि वह प्रकृति, समाज और परिवेश द्वारा निरन्तर त्रस्त एवं शोषित किया जा रहा है। उसकी स्वतंत्रता का अपहरण हो रहा है। इस विचारधारा में मानव को पतनोन्मुखी तथा आहार-निद्रा-भय-मैथुन के स्तर पर जीवित रहने वाला प्रवृत्ति मूलक जीव माना जाता है। फ्रांस में प्रारंभ होने वाले इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक कलाकारों ने नग्न, गर्हित, वीभत्स एवं वर्जनीय को ही छाँट-छाँटकर अपनी कला का आधार बनाया। सत्त जीवन-मूल्यों को जान-बूझकर इन कलाकारों ने अपनी सीमाओं से अलग हटाया, इसलिए मानवतावादी दृष्टिकोण इन कलाकृतियों की प्रशंसा न कर सका। मार्क्सवादी समीक्षकों तथा स्वयं मार्क्स ने भी इनकी कृतियों में व्यक्त बुर्जुआ समाज की हीनता के सच्चे चित्रण का मूल्य आलोचनात्मक दृष्टिकोण से स्वीकार किया है। मार्क्स ने बालजक के यथार्थ समस्याओं के चित्रण की प्रशंसा की है। तथा उसे शोषितवर्ग की दयनीयता दिखाने का श्रेय दिया है।[1] बालजक और जोला के प्राकृतवाद की हंगेरियन मार्क्सीय सौंदर्य-शास्त्री लुकाच ने इसलिए प्रशंसा की है कि उसने ह्रासशील समाज के सम्बन्धों का रहस्योद्घाटन करके आलोचनात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास किया है।[2] अति-यथार्थवाद द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अस्तित्व में आया। इस आन्दोलन की दार्शनिक पृष्ठभूमि हीगेल-दर्शन है। हीगेल के द्वन्द्ववाद को कला के क्षेत्र में लागू किया गया है जो सारे साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता मानकर प्राचीन मूल्यों का विघटन चाहता है। इस आन्दोलन में कलाकार को पूर्ण स्वच्छन्दता रहती है। उसकी चिंतन-धारा और शिल्प पर कोई प्रतिबन्ध लगाना अनुचित माना जाता है। बोदलेयर,

---

1. कार्लमार्क्स : कैपीटल, भाग ३ : पृ० ५२।
2. जार्ज लुकाच : स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म : भूमिका के आधार पर।

मलार्मे, रिम्बो, रेनेन, आन्द्रे ब्रेतन आदि इसके प्रबल समर्थक हुए हैं। इस आन्दोलन पर मनोविज्ञान का प्रभाव पड़ा है। ये कवि अपनी कविताओं में स्वप्नों का वर्णन करते हैं और यथार्थ जगत् से अपने को काटकर एक कल्पित लोक में विचरण करना ही श्रेयस्कर समझते हैं। इंग्लैंड में हर्बर्टरोड इस आन्दोलन के आचार्य हैं जो स्वतः चालित लेखन को अत्यन्त महत्त्व देते हैं। आन्द्रे ब्रेतन ने अतियथार्थवाद के घोषणापत्र में एक ऐसी शृंखला की कल्पना की है जिसका उद्देश्य स्वतःचालित लेखन माना है। इस प्रकार अतियथार्थवादी रचनाओं में सर्वमान्य व्यवस्थाओं का एकदम अभाव है। इस कला में व्यक्तित्व के अन्तर्विरोध सामने आते हैं। व्यक्ति की जो भी प्राकृतिक आवश्यकताएँ हैं उनकी पूर्त्ति चाहे किसी प्रकार की जाय वह वैध है—उसे अनैतिक कहना असमीचीन है। इन कतिपय मान्यताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि अति-यथार्थवादी आन्दोलन समाज-निरपेक्ष है जो अपनी अतिव्यक्तिवादी—विशिष्ट मनोदशा का प्रतीकात्मक चित्रण करना ही पर्याप्त मानकर सन्तोष कर लेता है। मनोविश्लेषण-वादी यथार्थवाद पर फ्रायड, एडलर और जुंग प्रभृति यूरोपीय मनोविज्ञान-शास्त्रियों की मान्यताओं का प्रभाव है। फ्रायड साहित्य और कला को अवचेतन में पड़ी हुई काम कुंठाओं का विस्फोट मानता है। उसकी कामवृत्ति (लिबिडो) समाज-निरपेक्ष है। व्यक्ति जगत् के सम्पर्क में आकर अनेक वस्तुओं एवं स्थितियों को अपनाना चाहता है, समाज यदि उन्हें मान्यता नहीं देता तो वे अतृप्त वासनाएँ उसके अंतर्मन में प्रविष्ट हो जाती हैं और वर्जनाओं के रूप मे पड़ी रहती हैं। स्वप्नों और कलात्मक अभिव्यक्तियों द्वारा वे अपना उन्नयन करती हैं। मन के उतल गह्वरों में पड़ी हुई इन कामकुंठाओं का विश्लेषण भी यथार्थवादी माना गया है और इसको संज्ञा दी गई है मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की। इस यथार्थवाद में समाज का स्थान नगण्य होने से तथा कला को कुंठाओं का स्फोट मानने मात्र से मार्क्सवादी इसका तीव्र विरोध करते है। मार्क्सीय समीक्षक कॉडवेल ने अपनी प्रसिद्ध समीक्षा-पुस्तक मे इस दृष्टिकोण को प्रतिक्रियावादी कहा है और इसे बुर्जुआ दर्शन की देन माना है। अस्तित्ववादी साहित्यकारों के फ्रांसीसी नेता ज्याँ पाल सात्रे ने इस आन्दोलन की मान्यताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि कलाकार का मूल अधिकार स्वतंत्रता है। उसे आत्मा, सत्ता, प्रकृति तथा संकल्प-शक्ति की स्वतंत्रता तथा स्वच्छन्द प्रयोगों से भरे जीवन को स्वीकार करना चाहिए। उनके लिए सत्ता सुदृढ, स्पष्ट, ठोस एवं निश्चयात्मक है। चेतना अपने से भिन्न है और उसी के कारण व्यक्ति स्वतन्त्र है। ईश्वर की कोई सत्ता नहीं है। मानव स्वतंत्र एवं स्वभाग्य निर्णायक है। उसका भविष्य चेतना और संकल्प से निश्चित होता है। जगत् मूल्य-विहिन, निष्क्रिय और निरपेक्ष है। मनोविज्ञानानुमोदित मान्यताएँ स्वीकार योग्य हैं। कलाकार जो सृजन करता है उसी के अनुरूप उसका व्यक्तित्व बनता है। उसके मानदंड उसी के अनुरूप और आगे चले जाते हैं और इस प्रकार कलाकार कभी भी सन्तुष्ट नही हो पाता, उसे सदैव असन्तोष रहता है। इस विचारधारा के अनुसार

मूल्यांकन का आधार उपलब्धि न होकर कलाकार के संकल्पात्मक निर्णय एवं प्रतिमान ही होने चाहिए। उनके सभी निर्णय उनके और मानव-मात्र के लिए कल्याणकारी होते हैं। ये सारी मान्यताएँ कलाकार को अतिव्यक्तिवादी, अनास्थावादी, असंतुलित, क्षुद्र, यांत्रिक, अपंगु, लक्ष्यहीन, धुरीहहीन, क्लीव, निराश तथा कुंठाशील बनाती हैं। मार्क्सवाद ने इसका खुलकर विरोध किया है। समाजवादी यथार्थवाद में मुख्यतः समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण को यथार्थवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। साहित्य में समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण जहाँ एक ओर ह्रासशील तत्त्वों को नष्ट करने का प्रयास करता है वहाँ दूसरी ओर समाज को विकास-पथ पर अग्रसर करने वाले प्रगतिशील तत्त्वों को गतिशील बनाने के लिए कृत संकल्प होता है। आज की समाज-व्यवस्था में जो सामन्तवादी या पूंजीवादी तत्त्व हैं उनके गतिरोध को प्रकट करना जैसे चोर-बाजारी, भावों का बढ़ना, छूआछूत, जाति-पाँति, दहेज, शोषण आदि का चित्रण इसके अन्तर्गत आता है। साथ ही जो समाजवादी तत्त्व विकसित हो रहे हैं और उनके पीछे जो भावी समाज-रचना की सुन्दर कल्पना है उन्हें उभार कर सामने लाना आज के प्रगतिवादी साहित्य का उद्देश्य हो सकता है। प्रगतिवादी साहित्य में इस समाज-शास्त्रीय दृष्टि की अभिव्यक्ति यथार्थवाद के माध्यम से होना चाहिए, यह भी अनिवार्य है। यथार्थवाद को प्रगतिवादी साहित्य मे 'विशिष्ट पात्रों द्वारा विशिष्ट परिस्थितियों का चित्रण माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि विशिष्ट (टाइप) पात्रों को यथार्थवाद के लिए अनिवार्य माना गया है। टाइप के सम्बन्ध में अनेक प्रगतिवादी समीक्षकों ने अपने विचार प्रगट किए हैं। टाइप का यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसमें केवल वर्गगत विशेषताएं ही रहें वरन् उसमें वर्गगत विशेषताओं के साथ-साथ वे सारी विशेषताएँ भी रहती है जो किसी पात्र को विश्वसनीय, यथार्थ तथा हमारे जैसा जीवित व्यक्ति सिद्ध करें। इसीलिए ऐंगिल्स[1] ने प्रत्येक व्यक्ति को टाइप कहा है क्योंकि उसके पीछे दुहरा इतिहास होता है। एक ओर वह सामाजिक इतिहास की इकाई होता है, और दूसरी ओर एक व्यक्ति जिसका अपना एक इतिहास होता है, जो समाज के प्रत्येक आदमी से भिन्न है। जोर्ज लुकाच के अनुसार टाइप की चार विशेषताएँ होती हैं (१) टाइप में समस्त मानवीय एवं अनिवार्य सामाजिक तत्त्व अपनी चरम सीमा तक विकसित होने चाहियें (२) इन मानवीय तथा सामाजिक तत्त्वों में स्थित सभी सम्भावनाएँ प्रच्छन्न रूप से उद्घाटित हो जानी चाहिए (३) इन मानवीय और सामाजिक तत्त्वों का अतिवादी रूप भी दिखाया जाय (४) तथा व्यक्ति और युग के विकास-उच्चताएँ भी स्पष्ट हो जानी चाहिए।

गोर्की ने टाइप को निरा फोटोग्राफ नहीं माना है। वे पात्रों के यथातथ्य चित्रण को अस्वीकार करते हैं। उन्हें टाइप का साहित्यकार की कल्पना एवं

---

1. गोर्की : आन लिटरेचर : पृ० ३०।

सृजनात्मक प्रतिभा के आधार पर अनुकृति ही होना मान्य है। टाइप में साहित्यकार इस पात्र की वर्गगत विशेषताएँ, प्रवृत्तियाँ, रुढ़ियाँ, स्वभावगत विशिष्टाएँ, विश्वास, मान्यताएँ, तथा सैंकड़ों के बोलने की पद्धति-विशेष को पुंजीभूत कर देता है। उसमें व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ-साथ ये वर्गगत विशेषताएँ आकर ही उसे कलात्मक कृति बनाती हैं। एल्फ फाक्स ने टाइप पात्रों का विवेचन करते हुए लिखा है कि 'टाइप में पात्र को केवल आलोचनात्मक दृष्टि से ही शंकित नहीं करना चाहिए, वरन् व्यक्ति को अपने परिवेश को परवर्तित करने के संघर्ष में मत जीवन का स्वामित्व ग्रहण करते, ऐतिहासिक क्रम में समन्वय स्थापित करते तथा स्वभाग्य का स्वामी बनते दिखाया जाना चाहिए। इसके साथ ही साथ ये पात्र एक दूसरे से स्पष्टता के साथ भिन्न प्रतीत हों।' इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी समीक्षा में यथार्थवाद का प्रथम आधार टाइप स्वीकार किया गया है। टाइप के माध्यम से उन्हें व्यक्तिगत, समाजगत वर्तमानकालीन, भविष्य के आदर्श तथा जीवन के विभिन्न रागात्मक चित्रों को देना इष्ट है, और ये सब मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय दृष्टि से होना चाहिए।

यथार्थवाद में टाइप के समान ही महत्त्व परिवेश को भी दिया गया है। यथार्थवादी साहित्य में परिवेश के अन्तर्गत आर्थिक सम्बन्ध, व्यक्ति और परिवार के सम्बन्ध, एक परिवार का दूसरे परिवार से सम्बन्ध, इतिहास की दिशा, वर्गसंघर्ष शोषकों के अत्याचार, शोषितों की यथार्थ स्थिति तथा उनमें विकसित होती हुई समाज-चेतना, वस्तुवादी दृष्टिकोण, यथार्थ-शैली, लोकजीवन का प्रश्रय, क्रांतिकारी रोमांटीसिज्म, वैज्ञानिकता, विकासवाद, लोकमंगल, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, उपयोगितावाद तथा भावपक्ष और कला का समन्वय आदि मुख्य तत्त्व है। इन तत्वों का विवेचन प्रथम अध्याय में हो चुका है। अतः यहाँ पुनरावृति है। असमंचीन तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि समाजवादी यथार्थवाद के नाम पर चलने वाले अन्य वादों से भिन्न है।

## शिवदानसिंह चौहान

### प्रगतिवादी मान्यताएँ

भारतवर्ष में मार्क्सवाद से पठन-पाठन का विधिवत् सम्पर्क तो सन् १९३० से प्रारम्भ हुआ किन्तु उससे पहले १९२६ के लगभग डांगे एक पत्र निकालते थे जिसमें मार्क्सवादी विचारधारा का परिचय कराने का उद्देश्य प्रमुख था। १९१७ की रूसी क्रान्ति का प्रभाव जब यूरोप में हुआ तो कुछ भारतीय बुद्धिजीवियों ने यूरोप में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। १९३६ में प्रेमचन्दजी के

---

1. शिवदानसिंह चौहान : हिन्दी साहित्य के ८० वर्ष : पृ० २१६।

सभापतित्व में लखनऊ मे इस संघ की एक बैठक हुई। इसी समय के लगभग शिवदानसिंह चौहान ने अपने लेख लिखे जिनमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ। इस सन्दर्भ में स्वयं शिवदानसिंह ने लिखा है—'पहले शिवदानसिंह चौहान ने अपने आलोचनात्मक निबन्धो में प्रगतिवाद की व्याख्या की.....।' शिवदानसिंह चौहान ने प्रगतिवादी सिद्धान्तो, मार्क्सवादी दर्शन की विचित्र स्थापनाओं, ऐतिहासिक-भौतिकवाद, मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धान्तों, प्रगतिशीलता तथा इसी प्रकार के इन सभी प्रश्नों पर प्रकाश डाला है जिनकी विवेचन की आवश्यकता समय-समय पर हुई है। कार्ल मार्क्स का परिचय देते हुए आपने एक लेख में उसे जनवादी साहित्य की प्रेरक शक्ति माना है।[1] मार्क्सवादी दर्शन के मुख्य तत्त्वों तथा त्रस्त मानवता के प्रति उसके कारणमूलक दृश्यो का परिचय दिया गया है। वह मानते हैं कि मार्क्स ने मानव-जीवन के सभी स्तरों और क्षेत्रों को प्रभावित किया है। विश्व की कोटि-कोटि जनता को शोषण से मुक्त कराने तथा वर्गमुक्त, शोषण-मुक्त, हिंसामुक्त और स्वतत्र मानवीय जनसमाज के साम्यवादी जीवन का निर्माण करने की दिशा प्रशस्त की है।[2] कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन, ऐतिहासिक विकासवाद, वर्गसघर्ष, आर्थिक सम्बन्ध तथा इन सभी से प्रभावित होने वाले समाज और उसके ऊपरी ढाँच के तत्वों कला साहित्य, संस्कृति, राजनीति आदि का भी विवेचन किया है। इस सन्दर्भ में कुछ अधिक विस्तार से लिखना इसलिए अनुपयुक्त है कि एक तो कार्ल मार्क्स के इन सभी तत्त्वों का विवेचन प्रथम अध्याय में हो चुका है और दूसरे, शिवदानसिंह चौहान ने कोई नयी बात नहीं कही है। जहाँ तक इस मार्क्सवादी दर्शन की साहित्यिक अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है उसे प्रगतिवाद या प्रगतिशील की संज्ञा से अभिहित किया गया है जिससे अनेक प्रश्न जुड़ते हैं, जिन पर अलग-अलग विस्तार की अपेक्षा है।

प्रगतिवाद मार्क्स के द्वन्द्व की प्रगति का आधार मानता है। साहित्य के सम्बन्ध में भी उनकी यह धारणा है कि वह युग को आगे ले जाता है और साथ ही युग का चित्रण करता है। जीवन और साहित्य का यह सम्बन्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण का प्रमुख अंग है। कुछ आदर्शवादी समीक्षकों ने प्रगतिवाद पर यह आरोप लगाया है कि उसमें सामूहिक शक्ति की अभिव्यक्ति होने से उसका मूल्य प्रचारात्मक साहित्य के समान अस्थायी है। वह साहित्य के शाश्वत तत्त्वों को प्रमुखता देकर अग्रसर होने वाले दृष्टिकोण को ही मान्यता प्रदान करते हैं। शिवदानसिंह चौहान ने इस भ्रम-निवारण को प्रमुख मार्क्सवादी समीक्षक होने के नाते अपना कर्तव्य समझा है। वह साहित्य में सापेक्षक सत्य और निरपेक्ष सत्य (सामयिक और शाश्वत) दोनों प्रकार के तत्त्वों की स्थिति स्वीकार करते हैं। इनकी द्वन्द्व-जनित

1. शिवदानसिंह चौहान : साहित्यानुशीलन : पृ० १४०।
2. वही, पृ० १४०।

अन्विति विशेष को सामान्य बना देती है। यह द्वन्द्व सौन्दर्य का जनक कहा गया है।

"प्रगतिवादी व्याख्या के अनुसार कला या साहित्य वस्तु-सत्य (जिसमें व्यक्तिगत और समाजगत, भौतिक और मानसिक अन्तर और बाह्य सत्य के दोनों अंग द्वन्द्वात्मक रूप से विभिन्न अनुपातों में सम्मिलित रहते हैं) के किसी अंग को अनुभव के रूप में प्रतिबिम्बित करता है और यह प्रतिबिम्ब सक्रिय और गत्यात्मक होता है। साहित्य की प्रेषणीयता का प्रश्न तो आनुसंगिक है अर्थात् इस रूप में विचारणीय है कि वस्तु-जगत् के किसी अंग का अनुभव कला में किस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है कि वह प्रेषणीय बन जाता है। प्रगतिवाद अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार ही इसकी अवधारणा करता है और यह सिद्ध करता है कि विशेष या सापेक्ष सत्य जो व्यक्तिगत, समाजगत, वर्गगत या परम्परागत हो सकता है—और निरपेक्ष सत्य जो सम्पूर्ण जीवन की चिरन्तनता का सत्य है—दोनों की द्वन्द्व-जनित परस्परिता और अन्विति के द्वारा ही विशेष सामान्य बनता है और सामान्य एक नूतन सामंजस्य पाकर विशेष बनता है। इसी विशेष और सामान्य की द्वन्द्वात्मक अन्विति से सौन्दर्य और जीवन के मूल्य बनते हैं, जिसके कारण मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कला और साहित्य का इतना आत्यन्तिक और स्थायी महत्त्व है।'[1] शिवदानसिंह जी ने साहित्य के मूल्यांकन तथा सृजन सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का पहली बार समुचित दृष्टि से मार्क्सवादी उत्तर दिया है, जिससे अनेक प्रश्न जो विवाद के अन्धकार में उलझे हुए थे, प्रकाशवान हो सके हैं। सम्भवतः उन्होंने ही प्रथम बार यह घोषणा की है कि जो साहित्य सामयिक होगा वह शाश्वत भी हो सकता है। सामयिकता का शाश्वत से विरोध नहीं है। वह इन दोनों तत्वों को वैज्ञानिक दृष्टि से अलग करके देखने तथा उनका विश्लेषण करने में मार्क्सीय समीक्षा-सिद्धान्त को ही सूक्ष्म मानते हैं। पहला प्रश्न यह है कि क्या आलोचना आधुनिक साहित्य (जिसमें समकालीन साहित्य भी सम्मिलित है) का सही मूल्यांकन कर सकती है? अर्थात् क्या वह आधुनिक और समकालीन साहित्य में जो सामाजिक रुचि और फैशन राजनीतिक अथवा अन्य के अनुसार वास्तविकता का स्थूल और उथल परन्तु महत्त्वपूर्ण चित्रण है और वह जिसमें आधुनिक जीवन की वास्तविकता का इतना गहरा और व्यापक चित्रण हुआ है कि उसमें स्थापित्व के तत्त्व मौजूद हैं, इन दोनों को अलग करके बता सकती है और साहित्य-कृति के विवेचन से उसमें उठायी समस्या का उथला और गहरा रूप सिद्ध कर सकती है? यह कार्य अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वर्तमान में हमारी दृष्टि बहुत संकुचित और सीमित रहती है—

---

1. शिवदानसिंह चौहान : साहित्यानुशीलन : पृ० १०।

वस्तुएँ, घटनाएँ, भावनाएँ, राग-द्वेष अपनी अति-निकटता के कारण सारे दृष्टि-पथ पर छा जाते हैं और निर्णीत: स्वयं व्यक्तिगत या सामाजिक रूप से इन घटनाओं या भावनाओं से अपने को निर्लिप्त निस्संग नहीं रख सकता, अत: जो उसे तत्काल महत्त्वपूर्ण लगता है वही स्थायी और सुन्दर भी लग सकता है।[1] "साहित्य और जीवन का सम्बन्ध जोड़ने वाले समीक्षकों को समाजशास्त्री कहा जाता है। हिन्दी समीक्षा में अनेक मार्क्सवादी विचारकों ने प्राचीन साहित्य में तत्कालीन साहित्य के साथ जोड़ कर और उस समाज के अर्थसम्बन्धों का सीधा प्रतिफलत कहकर जो मूल्यांकन किया है उसे शिवदानजी ने कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण कहा है। वह आदर्शवादियों के समान इन समीक्षकों को भी एकांगी दृष्टिकोण वाला मानते हैं। अन्यथा एकांगी दृष्टिकोण अन्त में आदर्शवाद का, जिसके अनुसार साहित्य या कला का सौन्दर्य-तत्त्व एक निरपेक्ष गुण बन जाता है, अन्यथा कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण (यांत्रिक भौतिकवाद) का जिसके अनुसार किसी रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक वास्तविकता के सीधे स्पष्ट चित्रण पर ही निर्भर करता है, आखेट बन जाता है—और न यह प्रगतिवाद है, न वैज्ञानिक भौतिकवाद।[2] साहित्य और समाज का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में आदर्शवादी, मनोविश्लेषणवादी प्राकृतवादी, अतियथार्थवादी तथा अस्तित्ववादी आदि सभी मानते हैं। किन्तु इन लोगों के दृष्टिकोण में तथा प्रगतिवादी के दृष्टिकोण में एक मूलभूत अन्तर यह होता है कि प्रगतिशील साहित्यकार सच्चे अर्थ में स्वतन्त्रता चाहता है। उसका साहित्य स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अस्त्र है। लेनिन ने कला और साहित्य को सर्वहारा का अस्त्र माना है। इसी बात को शिवदानसिंहजी ने स्वतन्त्रता का अस्त्र कहकर स्वीकार किया है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि काव्य आदि काल से ही समाज के सामूहिक भाव से सम्बन्धित रहा है और आज तक तथा आगे भी उसके मूल में परोक्ष रूप से आर्थिक प्रश्नों का सूत्र कार्य करेगा—ऐसा माना गया है। मानव की यह स्वतन्त्रता सामाजिक श्रम का मुख्य अस्त्र लेकर अग्रसर होती है और साहित्य उसे इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायता देता है। इस मान्यता को उन्होंने निम्न पंक्तियों में स्पष्ट किया है।[4] "कविता का समाज से अविच्छेद सम्बन्ध है, क्योंकि कविता का मनुष्य के भावों से सम्बन्ध है। आदिकाल से मनुष्य प्रकृति से युद्ध करता आया है—उस पर विजय प्राप्त करने, उसके अन्तरतम प्रदेशों में प्रविष्ट होकर उसके निगूढ़ रहस्यों का उद्‌घाटन कर, उसके साथ उच्चतम स्थिर पर सन्तुलन स्थापित करने के लिए—क्योंकि मनुष्य प्रकृति

1. शिवदानसिंह चौहान : साहित्यानुशीलन : पृ० १५।
2. वही, पृ० १४।
3. वही, पृ० ६८।
4. वही, पृ० ६४।

के अन्य प्रकोपों और बन्धनों से मुक्त होना चाहता है, क्योंकि वह स्वतन्त्रता चाहता है। लेकिन एक मनुष्य इस कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता, इसलिए वह सामूहिक जीवन, व्यतीत करता है, समाज में रहता है। सामाजिक श्रम ही उसकी स्वतन्त्रता का अस्त्र है। मनुष्य की आर्थिक व्यवस्था या उत्पादन-प्रणाली ही उसकी प्रगति या उन्नति की द्योतक है। जितनी ही उन्नत आर्थिक प्रणाली होगी उतनी ही हद तक मनुष्य प्रकृति से स्वतन्त्र होगा। शिवदानसिंह चौहान को समाज-विरोधी, निरपेक्षतावादी, मनोवैज्ञानिक तथा फ्रायडीय मान्यताएँ अस्वीकृत रही हैं क्योंकि सामाजिक अभिव्यक्ति न मानकर व्यक्ति-मानस में पड़ी हुई अतिरिक्त कुंठाओं का उन्मोचन मात्र साहित्य को मानते हैं। इस प्रकार के चित्रों से युक्त साहित्य उनकी दृष्टि में आत्मनिष्ठ, असामाजिक और अनैतिक हैं। 'वह अपनी रचनाओं में वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करके व्यक्ति-मानस की वासना-जनित कुण्ठाओं को ही रूपायित करते हैं। एक प्रकार से ये रचनाए फ्रायडीय मनोविज्ञान के कथा-रूप में दृष्टान्त उपस्थित करती हैं। उनमें ऐसे अभिशप्त पात्रों का चित्रण किया जाता है जो आत्मनिष्ठ, असामाजिक और अनैतिक हैं' प्रगतिशील आन्दोलन को साहित्य की सभी विधाओं में व्याप्त कराने के लिए तथा मुख्यतः उसकी व्याख्या, समाज हित तथा मूल्यांकन सम्बन्धी प्रश्नों को सुलझाने के लिए उन्होंने जितना सैद्धान्तिक स्तर पर विवेचन किया है – उतना अन्य कोई प्रगतिवादी नहीं कर सका। प्रगतिवादी समीक्षकों में परस्पर मतभेद एवं आरोप-प्रत्यारोप का जो दूषित वातावरण उत्पन्न हुआ है उसका मुख्य आधार साहित्य-कारों की कृतियों का मूल्यांकन था। सिद्धान्तों को जब व्यावहारिक रूप दिया जाता है तो मतभेद होना स्वाभाविक है। प्राचीन साहित्यकारों को लेकर जितना मत-वैभिन्य इनमें दृष्टिगोचर हुआ है उतना अन्य किसी दृष्टि को लेकर चलने वाली आलोचना में नहीं। प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में प्रगतिवादी समीक्षकों ने अनुदारता से काम किया है और जहाँ उदारता भी दिखाई है उसमें यथोचित विवेचन व कारणों की कमी खटकती है। यह नहीं बताया जा सका कि कालिदास और सूर जैसे महाकवियों के काव्य की वे कौन-सी विशेषताएँ हैं जिनके कारण उनका काव्य अपने युग में जितना समादृत था आज भी उससे कम नहीं है। इन सारे प्रश्नों की ओर प्रगतिवादी आन्दोलन के हिन्दी प्रवर्तक शिवदानसिंह चौहान ने ध्यान आकृष्ट किया है—"प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में यह प्रश्न गौण है कि अमुक रचना में स्थायित्व के गुण हैं अथवा नहीं हैं। इस प्रश्न का उत्तर तो समय ही दे चुका होता है। कालिदास को महान् लेखक और उनकी रचना को स्थायी साहित्य सिद्ध करने की चेष्टा निरर्थक है। परन्तु इस रहस्य का उद्‌घाटन करना अथवा उन तथ्यों की व्याख्या करना अवश्य सार्थक प्रयत्न है जिनके कारण कालिदास की रचनाएँ आज भी हमें सौन्दर्यबोध कराने

में समर्थ हैं। आलोचक आधुनिक चेतना के अनुरूप कालिदास का सर्वांग पुनर्विवेचन करें। प्राचीन इसी प्रकार वर्तमान में अपने को पुनर्जीवित करता चलता है। इसी कारण इस मूल्यांकन में कालिदास के समकालीन समाज और उनका साहित्य पर पड़े प्रभावों के साथ-साथ उनकी कृतियों द्वारा परवर्ती समाज और साहित्य पर पड़े प्रभावों का विश्लेषण भी उतना ही आवश्यक है।

प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन पर विचार करते हुए शिवदानसिंह ने उसकी कसौटी का व्यावहारिक रूप कबीर की समीक्षा सम्बन्धी निम्न पंक्तियों में स्पष्ट किया है - "उन दिनों विभिन्न वर्गों के आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों की धर्म-व्यवस्था ही विचार-क्षेत्र में व्यक्त और प्रतिबिम्बित करती थी, क्योंकि धर्म ही मनुष्य के समस्त कार्य-व्यापारों का नियमन करता था—वही तब के ह्रासोन्मुखी सामन्ती समाज का स्वीकृत विधान था। सर्वसाधारण की आर्थिक सामाजिक गुलामी के बन्धनों को और कठोर बनाने के लिए विधि-विधान तीर्थाटन, पर्व, स्नान, वेदपाठ, व्रतोद्यापन, छूआछूत, अवतारोपासना, कर्मकांड आदि बाह्याचारों की शृंखला को और जटिल तथा सर्वसाधारण के लिए दुर्भिसाध्य और कठोर बनाया जाता था। इसी कारण समाज की निम्न अधिकार-वंचित श्रेणियों की ओर से सामन्ती आर्थिक-सामाजिक गुलामी पर आक्रमण करने के लिए भी हमेशा धर्म के कठोर विधान पर आक्रमण किया जाता था। इसे यों भी कह सकते हैं कि उस काल में धार्मिक बन्धनों को ढीला करने की जो चेष्टाएँ होती थीं वे मूलतः सामन्ती आर्थिक सामाजिक गुलामी की जड़ों पर ही कुठाराघात करती थीं। उन दिनों लोक-मानस में मनुष्य की मुक्ति का वर्गसंघर्ष धार्मिक स्तर पर जनता की लोक-परम्परा से प्राप्त विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच धार्मिक-दार्शनिक शब्दावली और रूपकों का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्ति पाता था। उस समय धर्म ही युग-चेतना का रूप और माध्यम था। ईश्वरोपासना के समान अधिकार की माँग वास्तव में आर्थिक-सामाजिक न्याय की माँग थी। जाति - कुल—वर्गश्रेणी की भिन्नता के बावजूद भक्तपद् प्राप्त करने की माँग उस समय के अमानवीय अन्यायपूर्ण समाज सम्बन्धों के मानवीयकरण की माँग थी और उन बनावटी, ऊपर से थोपी गयी मर्यादाओं को तोड़ने की माँग थी जो विशाल जन-समूह को अपने अधिकारों से वंचित रखती है। यही कारण है कि उस काल के तमाम जन-आन्दोलनों का बाह्य रूप धार्मिक था, तमाम प्रगतिशील जन-नेता और मनीषी धर्म के नाम पर ही मानव-मुक्ति और मानव मात्र की समानता और एकता पर जोर देते थे और उन तमाम सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों, साम्प्रदायिक कट्टरताओं, बाह्याचारों और कर्म-कांडों पर खुलकर आक्रमण करते थे जिनका आश्रय लेकर उच्चवर्ग और उच्च जातियाँ, सर्वसाधारण का शोषण-दोहन करती थीं। यदि इस ऐतिहासिक तथ्य पर एक दृष्टि से हम देखें तो हमें कबीर के काव्य में अपने युग की सभी मूलभूत समस्याओं

का अत्यन्त मार्मिक और यथार्थ चित्रण मिलेगा।"[1] वर्तमानकाल के साहित्य को वह आज की समस्याओं से अनुप्राणित और उनकी भावी निराकरण दृष्टि से युक्त देखना चाहते हैं। वह साहित्य में समाज के ऐतिहासिक और वर्तमान कालीन ऐसे चित्रों को स्वीकार करना समीचीन समझते हैं जो मानव-समाज के भावी-स्वरूप को निर्धारण करने में सहायक हो सके। वह मार्क्स और ऐंगिल्स के समान उस साहित्य को भी प्रगतिशील मानने को तैयार है, जो चाहे भविष्य के लिए कोई सन्देश न देता हो लेकिन् आज के युग-यथार्थ का सच्चाई के साथ विवेचित कर सके।

## यथार्थवादी मान्यताएँ

जो काव्य-शास्त्री साहित्य और जीवन को अन्योन्याश्रित मानकर चलता है, वह यथार्थवाद को मान्यता दिये बिना नहीं रह सकता। प्रगतिवाद में यथार्थवाद को मुख्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। शिवदानसिंह चौहान आज के समाज यथार्थ की मुख्य समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं और बताते हैं कि यथार्थवादी साहित्य को इन्हें साहित्य में मूर्तिमान करना चाहिए। आज की सामाजिक दशा पूर्व से अत्यन्त भिन्न है। इस युग-यथार्थ को चित्रित करना आज के यथार्थवादी दृष्टिकोण का मुख्य प्रश्न है। "एक ओर वर्ग समाज का अन्तिम युग (पूँजीवाद) इतिहास पर अपनी अन्तिम लीला समाप्त करते समय कुछ देर टिके रहने के लिए यदि अपनी अन्तिम रण-चेष्टाएँ कर रहा है तो दूसरी ओर इस समस्त पीड़ा, वेदना आशा, निराशा और दुःख-दर्द के बीच एक नये मानव-युग (समाजवाद) का उद्भव हो रहा है।"

यही इस युग की केन्द्रीय वास्तविकता है। इस वास्तविकता को इतिहास और जीवन की मूर्त भाषा में, उसके समस्त वैविध्य और गम्भीर वेदना के साथ साहित्य और कला में प्रतिबिम्बित करने की समस्या इस युग के साहित्यकार की सबसे बुनियादी समस्या है।[2] सौष्ठववादी समीक्षा में यथार्थवाद को शैली माना गया है और साथ ही यह भी प्रतिपादित किया गया है कि कोई भी साहित्य या तो यथार्थवादी हो सकता है या केवल आदर्शवादी। आदर्शोन्मुख यथार्थवादी या यथार्थोन्मुख आदर्शवादी होना असम्भव है। प्रेमचन्द की उन मान्यताओं का जो यथार्थ में आदर्श की सम्भावनाओं को स्वीकृति देती हैं, अस्वीकार किया गया है। गोर्की की मान्यताएँ भी इस दृष्टि से अमान्य हो जाती हैं। शिवदानसिंह चौहान ने इस सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यता को बुर्जुआ कहा है। उनकी यथार्थवाद को समझाने की दृष्टि कलापक्ष के साथ-साथ महान् तथ्य को स्वीकार करके चलती है। 'महान् साहित्य और कला सदा निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है, अतः उसकी एकमात्र कसौटी भी उसका यथार्थवाद ही है। केवल किसी

---

1. शिवदानसिंह चौहान : साहित्यानुशीलन : पृ० ५९-६०।
2. वही, साहित्य की समस्याएँ : पृ० ६३।

एक या अनेक रसों की सृष्टि ही या व्यंग्य और वक्रोक्तियों की भरमार ही, या अलंकारी रूप-सज्जा ही, या ध्वनियों का सामंजस्य ही, या उपचेतन अवचेतन मनोदशाओं की मनगढंत दृष्टान्त-कल्पना ही या घटनाओं का यथा-तथ्य, यांत्रिक अति-साधारण अथवा औसत-चित्रण ही—इनमें से किसी एक या सबको मिलाकर गढ़े गये मानदण्डों से महान् कला या साहित्य का मूल्यांकन सम्भव नहीं है, क्योंकि इन सबका सम्बन्ध कला के रूप से है, उसके मौलिक सत्य, विषय-वस्तु से नहीं।'[1] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह यथार्थवाद में कलापक्ष को महत्त्व नहीं देते हों, वह अभिव्यक्ति, तकनीक, शैली तथा कौशल को महान् कथ्य की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं और जब तक माध्यम उद्देश्य के अनुकूल न होगा और उसमें उद्देश्य को वहन करने की सामर्थ्य न होगी तब तक उसे असफल ही कहा जायगा। इसलिए महान् यथार्थवादी साहित्य में भावपक्ष के साथ-ही-साथ कलापक्ष की श्रेष्ठता को भी अनिवार्य मानते हैं किन्तु कलापक्ष तभी श्रेष्ठ होगा जबकि भावपक्ष ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील हो। 'यथार्थवाद कलाहीन, मानव अनुभूतियों से शून्य, नीरस, साहित्य की रचना नहीं है, न राजनीतिक इश्तहारबाजी का नाम ही यथार्थवाद है। विश्व-साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यथार्थवादी साहित्य महान्, दिग्गज प्रतिभाओं की ही सृष्टि है, प्रतिभा के बिना वास्तविकता का वैविध्यपूर्ण, मूर्त और सारवान कलात्मक चित्रण असम्भव है, ऐसे पात्रों की सृष्टि करना असम्भव है जो अपने युग के प्रतिनिधि हों और उनके जीवन-व्यापारों से ऐसी नैतिकता को जन्म देना असम्भव है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अपने युग की प्रगतिशील मानवता के मंगल की साधक हों, बाधक नहीं।'[2]

यथार्थवादी साहित्य में अनेक प्रश्नों पर विचार होता है और उनमें सबसे प्रमुख है ऐतिहासिक परिस्थितियों और चरित्रों का विश्लेषण। जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में विवेचित हो चुका है, यथार्थवादी साहित्य में विशिष्ट पात्रों (टाइप) का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। बिना टाइप पात्रों को यथार्थवादी कला साहित्य को मान्यता नहीं मिलती क्योंकि जीवन यथार्थ ऐसे व्यक्तियों के माध्यम द्वारा ही अभिव्यक्त किया जा सकता है जिनमें समाजगत और व्यक्तिगत विशेषताएँ उस सीमा तक पुंजीभूत हों जिससे समाज और व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध, समाज के भीतर चलने वाले आन्तरिक स्रोत, वर्गों के संघर्ष, आर्थिक सम्बन्ध से उत्पन्न परिस्थितियों और उनके प्रति प्रतिक्रिया आदि का सम्यक् निरूपण हो सके। प्रगतिशील समीक्षक को यथार्थवाद में यह भी दिखाना होता है कि विकासशील एवं ह्रासशील शक्तियाँ कौन सी हैं और साहित्यकार उन्हें ऐतिहासिक विकास के क्रम में सफलतापूर्वक

---

1. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ : पृ० ६४-६५।
2. वही, पृ० ६६।

दिग्दर्शित कर सका है। 'हिंसा और बलपूर्वक अपने को स्थायी और चिरन्तन बनाये रखने के बर्बर प्रयत्नों के बावजूद जो शक्तियाँ इतिहास-मंच पर अपनी भूमिका समाप्त करके विलीन हो रही हैं, वे जीवन वास्तव के असत्य की प्रतिनिधि होती हैं, और भीषण दमन, संघर्ष और अवरोधों के बावजूद जो शक्तियाँ इतिहास-मंच पर नये युग की भूमिका का आरम्भ करती हुई आगे बढ़ती आती हैं, वे ही युग-सत्य की प्रतिनिधि हैं, क्योंकि जो अपनी उपयोगिता समाप्त करके मिट रहा है, वह असत्य हैं और जो उभर रहा है वही सत्य है।'[1] जिस पात्र में इतिहासक्रम की ये विशेषताएँ तथा युग-सत्य जितनी अधिक मात्रा में प्रकट होता है वह उतना ही यथार्थ पात्र कहा जाता है। इन टाइप पात्रों में विशेष और साधारण का गत्यात्मक समन्वय उपस्थित किया जा सकता है। टाइप के सम्बन्ध में चौहान का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है—'चूँकि जीवन-वास्तव का चित्रण मनुष्य के जीवन और संघर्ष से ही सम्बन्धित होता है, इस कारण यह चित्रण व्यक्तियों के माध्यम से ही सम्भव है। इसीलिए ऐसे पात्रों की सृष्टि का प्रश्न यथार्थ और साहित्य की समस्या का प्रमुख प्रश्न है, जो प्रतिनिधि (टाइप) हों, जिनके व्यक्तित्व में विशेष और साधारण का गत्यात्मक समन्वय हो, जिनका जीवन समाज के जीवन से आंगिक रूप से सम्बद्ध हो, जिनकी भावभूमि और मनोभूमि समाज की चरमस्थितियों को उद्घाटित करती हो, जो लेखक की कल्पना में जन्म लेकर उसकी कृति में प्रस्तुत की गयी परिस्थितियों से क्रिया-प्रतिक्रियात्मक रूप से सम्बद्ध हों, अर्थात् स्वयं अपना सक्रिय अस्तित्व रखते हों, न कि लेखक के हाथ की कठपुतली हों।'[1]

## प्रगतिशीलता

प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में शिवदानसिंह चौहान और डा० रामविलास शर्मा में एक लम्बी बहस चली। डा० रामविलास शर्मा ने उस साहित्य को प्रगतिशील माना है जो समाज को आगे बढ़ाता है तथा मनुष्य के विकास में सहायक होता है।[2] इस मान्यता को चौहान ने दक्षिणपंथी माना है। डा० रामविलास शर्मा के ऊपर उन्होंने आरोप लगाया है कि वह प्रगतिशील साहित्य को देश-काल की विशिष्ट सामयिक परिस्थितियों से, एक विशेष राजनीतिक पार्टी के प्रोग्राम के साथ जोड़ देना चाहते हैं। इससे उन्हें यह शंका होना स्वाभाविक है कि जो लेखक इस प्रोग्राम और राजनीतिक मान्यता को स्वीकार करने में असमर्थ हैं वे सभी अप्रगतिशील सिद्ध हो जाते हैं।[3] वह प्रगतिशीलता को वर्गों, देशों, युगों आदि की सीमाओं में आबद्ध करने के विपरीत हैं। उनका दृष्टिकोण व्यापक और उदार है। उनका साहित्यकार के

---

1. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ : पृ० ६६।
2. डा० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा : पृ० ४१।
3. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्यायें : पृ० ५१-५२।

निजी दृष्टिकोण के प्रति कोई आग्रह नहीं है। वह तो उसके साहित्य में ही उन तत्त्वों को देखना चाहते हैं जो मनुष्य की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति में योग दे सके तथा जीवन-यथार्थ को गहनता तथा कलात्मक सत्य के साथ प्रतिबिम्बित करे। 'प्रगतिशील साहित्य' प्रोलेतेरियत या 'सोवियत-साहित्य' का पर्याय नहीं है। वह कोई आज की किसी विशेष 'युग, वर्ग' या 'देश' की चीज नहीं है। वह किसी विशेष सिद्धान्त या पार्टी-नीति के अनुसार लिखा गया साहित्य नहीं है। वह सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास नहीं, बल्कि स्वयं सांस्कृतिक विरासत है—चिरंजीवी प्राणवान् साहित्य की। यह विरासत प्रगतिशील है, क्योंकि उसने मनुष्य की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उन्नति में योग दिया है, दे रही है। और इस युग में भी जो साहित्य जीवन के यथार्थों को गहराई और कलात्मक सचाई से प्रतिबिम्बित करता है, वह प्रगतिशील है, चाहे उसकी रचना करने वाले लेखकों का व्यक्तिगत दृष्टिकोण आदर्शवादी हो या मार्क्सवादी।'[1] इसी का परिणाम है कि उन्होंने ऐसे साहित्यकारों को भी प्रगतिशील नहीं माना है जो मार्क्स के जीवन-दर्शन में तो विश्वास रखते हैं किन्तु उनके साहित्य में व्यक्तिवाद का स्वर प्रमुख है।[2] शिवदानसिंहजी को गांधीवादी अथवा आदर्शवादी मान्यताओं को प्रमुखता देने वाले साहित्यकारों को भी प्रतिक्रियावादी मानने का आग्रह नहीं है। यदि उनके साहित्य में आवश्यक प्रगतिशील तत्त्वों—"प्रगतिशील कविता का जब प्रश्न उठता है तो उसके पीछे किसी विशेष दार्शनिकवाद की मान्यता का आग्रह नहीं किया जा सकता। एक प्रगतिशील कवि गांधीवादी भी हो सकता है, मार्क्सवादी भी और द्वैत-अद्वैतवादी भी। जो साहित्य पाठक को स्वस्थ प्रेरणाएँ देता है, मनोवृत्तियों को और उभारकर व्यक्ति को असामाजिक और मानवद्रोही नहीं बनाता, जीवन-संग्राम में आगे बढ़ने का बल और साहस देता है और मनुष्य की चेतना को गहरा व्यापक और मानवीय बनाता है, हिंसा और द्वेष को नहीं बढ़ाता और जो वास्तव में जीवन की मार्मिक और सारगर्भित स्थितियों का चित्रण करता है अर्थात् जिसमें कला-सौष्ठव और गहराई है, वह सब प्रगतिशील होती है।"[3] जो साहित्य महान् है, उस सबमें तत्कालीन वर्ग समाज की मान्यताओं के प्रति तीव्र असंतोष मिलता है उसे चौहान प्रगतिशील मानते हैं। "प्रत्येक महान कलाकृति में तत्कालीन वर्ग-समाज की मान्यताओं और नैतिकता के प्रति गहरा प्रतिवाद मिलता है और अपने-अपने युग की विकास-सम्भावनाओं की सीमा में एक नई मानवीय नैतिकता के निर्माण के प्रति गहरा मोह प्रकट होता है। साहित्य और कला इसीलिए नैतिक होती हैं। कोई भी लेखक असत्य और अनैतिकता के गारे से महान्

---

1. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ : पृ० ५२-५३।
2. वही, पृ० ६०।
3. वही, पृ० ६२।

कला की इमारत खड़ी नहीं कर सकता।"[1] प्रयोगवाद का विरोध करते हुए सभी प्रगतिशील आलोचकों ने उनकी व्यक्तिवादी मान्यताओं को अस्वीकार किया है। चौहान प्रयोग के महत्त्व को स्वीकार करते हैं और उन प्रयोगशील कवियों को प्रगतिशील मानते हैं जो प्रयोग को अपने में ही इष्ट न मानकर नए प्रयोग उसी सीमा तक करते हैं जिससे वे अप्रेषणीय न बन जाएँ। यह मान्यता प्रयोगवाद को स्वस्थ परम्परा के आधार पर स्वीकार करती है "प्रयोगशील कवियों के सामने यह प्रश्न नहीं होना चाहिए कि उनकी कविताएँ रूढ़ि और परम्परा से कितनी अछूती हैं, बल्कि यह कि नये प्रयोग कवि और पाठकों के बीच भाव-विचारों को स्वच्छन्द रूप से प्रेषित करने के और भी नये तथा व्यापक मार्ग खोलें। इसलिए कविता या किसी कला-रूप के माध्यम में सार्थक प्रयोगों की एकमात्र कसौटी यह है कि वह अपने प्रयोजनों की पूर्ति करने में समर्थ हों।"[2]

प्रतीकवाद, प्रयोगवाद, नई कविता आदि की समीक्षा करते हुए चौहान ने इन सारी मान्यताओं को एकांगी कहा है। उन्हें इन साहित्यकारों से सबसे अधिक मतभेद उनके साहित्य और समाज के प्रति उत्पन्न हुए नवीन दृष्टिकोण से है। प्रयोगवाद को उन्होंने प्रतीकवाद के रूप में देखा है और कलाकारों के रोगी मानस का प्रतिबिम्ब कहा है क्योंकि उनके शैलीगत प्रयोग समाज के क्रान्तिकारी युगों से उत्प्रेरित नहीं हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है जबकि कला और साहित्य के रूपों में शैलीगत या टैकनीक-सम्बन्धी परिवर्तन समाज के क्रान्तिकारी युगों से उत्प्रेरित होकर नहीं होते, बल्कि सामाजिक जीवन में उत्पन्न हो गये संक्रामक रोगों की निशानी होते हैं। ऐसे समय समाज से कलाकार या लेखक का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और 'प्रयोग' समाज के नये सत्यों, नये, सम्बन्धों को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए नहीं बल्कि उनको नकारने और कलाकार के रोगी मानस की झाँकी देने के निमित्त ही किये जाते हैं। प्रतीकवाद ऐसे ही रोग की निशानी है।"[3] प्रयोगवाद का विस्तृत विवेचन करते हुए वह इस साहित्यिक प्रवृत्ति के संस्थापक अज्ञेय के प्रेरणा-स्रोतों तक पहुँचे हैं। प्रतीकवादी, बिम्बवादी तथा अस्तित्ववादी, यूरोपीय साहित्यकारों की ह्रासशील मनोवृत्ति के आधार पर इन्हें भी अराजकतावादी, जनविरोधी तथा व्यक्तिनिष्ठा का प्रतिनिधि कहा है।[4] प्रयोगवादियों में जो लोग फ्रायडवाद से प्रभावित हैं और जो उन्मुक्त विचार-प्रवाह-पद्धति से साहित्य-रचना करते हैं उनका विरोध सिद्धान्त के स्तर पर किया गया है। ये लोग कला को जीवन की सापेक्षकता से हटाकर आत्माभिव्यक्ति का साधन और साध्य मानते

1. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ : पृ० ६६।
2. वही, पृ० ७२।
3. वही, पृ० ७१।
4. वही, पृ० ७५।

हैं तथा अचेतन मानस में पड़ी हुई कुण्ठाओं का वर्णन करते हैं इसीलिए वह इन्हें कलावादी वर्ग में प्रस्तुत करते हुए उनका विरोध करते हैं। 'प्रयोग के समर्थक, जो अधिकांशतः व्यष्टिवादी हैं, मनोविज्ञान (विशेषकर फ्रायडी मनोविश्लेषणशास्त्र) के मननशील अध्येता हैं, जिन्होंने व्यक्ति के अचेतन मानस की ज्ञात और अज्ञात कन्दराओं में (आत्मावेक्षण द्वारा) घुसकर मनुष्य के जैवी-स्तर की पाशविक कृतियों और अन्धी काम-वासनाओं का साक्षात्कार किया है, जो वास्तविकता को अपने मन के भीतर ही देखते हैं, जो व्यक्ति मानस को ही समस्त घटनाओं और संघर्षों का केन्द्र और कारण मानते हैं, जो व्यक्ति-साक्षेप विशिष्ट अनुभूतियों को ही निरपेक्ष सत्य समझते हैं, जिनके लिए कला केवल व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति का ही साध्य और साधन है।"[1] चौहान की प्रगतिशीलता मानवतावाद की विशाल पृष्ठभूमि को स्वीकार करके चलती है। उन्होंने मार्क्सवाद की सबसे बड़ी देन उनकी मानवीय मुक्ति मानी है।[2] वह साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा के उपयोगितावाद से प्रेरित हैं। वह साहित्य को केवल मनोरंजनकारी स्वीकार नहीं करते वरन् उन्हें साहित्य के साथ चेतना का विकास अपेक्षित है। हमारा प्राचीन साहित्य उनकी इन सारी मान्यताओं को पूर्ण करता है इसलिए आज की सीमाओं में भी वह उसे स्तुत्य मानते हैं। जहाँ मानवतावादी दृष्टिकोण है वहाँ उन्हें प्रगति दृष्टिगोचर होती है। साहित्य की प्राचीन महाकृतियाँ जहाँ हमारा मनोरंजन करती हैं, हमारी चेतना का सीमा-विस्तार करती हैं, हमारी मानवता का विकास करती हैं, वहाँ वे हमारे अन्दर केवल यह भाव ही नहीं जगातीं कि मानव-मात्र एक है और उनका इतिहास देशकाल की अनेकरूपता के होते हुए भी प्रगति-पथ पर एकोन्मुख है, बल्कि वे हमारे अन्दर कर्म की प्रेरणा भी जगाती हैं ताकि हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर संघर्ष-क्षेत्र में कूद पड़ें और समय रहते हुए प्रतिक्रियावादी शक्तियों को विश्व की शान्ति भंग करने से रोक दें; ताकि हम, आप, संसार के सभी मनुष्य जीवित रह सकें और अपनी बुद्धि और अपने श्रम से एक स्वतन्त्र, जनवादी समाज का निर्माण कर सकें। साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा का संघर्ष इस व्यापक जन-संघर्ष का ही महत्त्वपूर्ण अंग है।'[3] जो साहित्य जितना अधिक राष्ट्रीय होता है उसकी जड़ें अन्तर्राष्ट्रीयतावाद में भी उतनी अधिक गहरी पहुँचती हैं। यदि राष्ट्रीय मान्यताओं का अर्थ संकुचित दृष्टि-कोण मात्र नहीं लिया जाय तो उसकी सीमाएँ या विशिष्टताएँ विश्वजनीन सत्य का माध्यम सिद्ध होती हैं। जैसे कोई व्यक्ति किसी-न-किसी माँ का पुत्र होगा, किसी स्थान-विशेष पर उत्पन्न हुआ होगा, किसी राष्ट्र का नागरिक होगा तो इससे

---

1. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ : पृ० ८०।
2. वही, साहित्यानुशीलन : पृ० १४० के आधार पर।
3. वही, साहित्य की समस्याएँ : पृ० ३१।

वह इतना प्रतिबिम्बित नहीं हो जाता कि वह अपनी संवेदना का वस्तार मानव मात्र या जीवमात्र में न कर सके। अतः राष्ट्रीयता अपने विकृत रूपों को छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी नहीं है। शिवदानसिंहजी राष्ट्रीयता को स्वीकार करते हैं। 'विश्व-साहित्य के इतिहास के इस व्यापक सत्य को भूल रहे हैं कि मानव-जीवन के विश्व-जनीन सत्य उसके विशिष्ट ऐतिहासिक और राष्ट्रीय जीवन के माध्यम से भी उद्घाटित हो सकते हैं कि कला में राष्ट्रीय तत्त्व जितना ही गहरा होगा, उसे विश्व-जनीन स्वीकृति मिलने में उतनी ही आसानी होगी।'[2] प्रगतिशीलता के साथ प्रचार का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। कुछ लोगों ने 'सारा साहित्य प्रचार है' की मान्यता को प्रगतिशील दृष्टिकोण कहा है। यदि साहित्य को प्रमुखतः प्रचारात्मक माना जाता है तो इसका तात्पर्य अभिव्यक्ति को प्रचार का पर्यायवाची मानना होगा, जिससे साहित्य की गरिमा और महत्त्व अस्पष्ट हो जाते हैं, इसलिए शिवदानसिंह ने इस मान्यता को अस्वीकार किया है। "सारा साहित्य प्रोपेगेण्डा है' की स्थापना को अब हम आसानी से अस्वीकृत कर सकते है, क्योंकि इस स्थापना में प्रापेगेंडा की व्याख्या के अनुसार प्रोपेगेण्डा और अभिव्यक्ति को पर्याय मान लिया गया है। लेकिन योजना पर अमल करने या अमल कराने के लिए जनसमूह या उसके किसी अंग को प्रेरित करना एक चीज है और व्यक्ति या समूह के विचारों या भावनाओं की अभिव्यक्ति करना एक दूसरी चीज है। पहला प्रोपेगेण्डा है, दूसरा प्रोपेगेण्डा नही है। यदि साहित्य में अनिवार्यतः विचारों या भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है तो उसे प्रापेगेंडा नहीं कहा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि सामाजिक क्रियाशीलता की अभिव्यंजना का साहित्य पाठक को भी उसकी अनुभूति कराता है पर इससे वह प्रोपेगेण्डा का पर्याय नहीं बन जाता।'[1]

कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की चर्चा प्रगतिवादी समीक्षा में अधिकांशतः सुनायी पड़ती रही है। इसने गुटबन्दी तक का रूप धारण किया है और ऐसे विषाक्त वातावरण का सृजन किया है जिससे न केवल प्रगतिवादी समीक्षा वरन् समस्त हिन्दी-साहित्य किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हुआ है। यद्यपि इस कुत्सित समाजशास्त्रीयता का आधार सैद्धान्तिक मतभेद माना जाता है। इस सम्बन्ध में शिवदानसिंहजी की मान्यता निम्न शब्दों में स्पष्ट हुई है। "प्रगतिवाद के दृष्टिकोण की विकृति जब कुत्सित समाजशास्त्रीयता के रूप में हुई तो साहित्यकार व्यापक उद्देश्य जीवन-सत्ता का वैविध्यपूर्ण और मूर्तचित्रण न रहकर केवल वर्गसंघर्ष को चित्रित करना भर हो गया और समीक्षा का उद्देश्य रचना की वस्तु और रूप-तत्वों की जाँच-परख के बाद उसका मूल्यांकन करना न रह कर केवल विशेष मतवादी दृष्टिकोण के चौखटे में ठूँस-ठाँस कर

---

1. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ : पृ० ३१।
2. वही, पृ० ५० व ४६।

फिट की गई वस्तु का विश्लेषण करना भर हो गया, जिसके परिणामस्वरूप एक ओर यदि साहित्य-दृष्टि संकीर्ण हुई तो दूसरी ओर निम्न कोटि की रचनाएँ भी विशेष उद्देश्य को कथा या कविता के रूप में पेश करने के कारण सराही गईं।'[1] शिवदानसिंह चौहान के इस दृष्टिकोण को डा० रामविलास शर्मा ने अमान्य करते हुए लिखा है कि इस गुटबन्दी का आधार सैद्धांतिक के साथ-साथ वैयक्तिक भी है। यहाँ पर इनके मूल शब्दों को उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा :

"मान्यता और व्यावहारिकता के आधार पर दो वर्ग हैं। एक वर्ग में मैं अकेला हूँ और दूसरे में श्री शिवदानसिंह चौहान, यशपाल, प्रो० प्रकाशचन्द गुप्त, नारायणसिंह, राहुल सांकृत्यायन, अमृतराय, और डा० रांगेय राघव आदि हैं। मुझको इनमें कुछ ने कुत्सित समाजशास्त्रीय लिखा है। इन मतभेदों के कारण सैद्धान्तिक के साथ-साथ वैयक्तिक भी हैं। जैसे मैंने ग्राम्याकाल में पंतजी को प्रगतिशील नहीं माना था क्योंकि वह मार्क्सवाद और गांधीवाद का समन्वय करते थे। इस पर शिवदानसिंह आदि ने उन्हे प्रगतिवादी प्रचारित किया। जब वह अरविन्दवादी हो गये तब भी मेरी आलोचनाओं का विरोध किया गया, किन्तु किसी भी विरोधी ने अरविन्द-दर्शन को प्रगतिशील नहीं बताया। इसी प्रकार राहुलजी ने जब बौद्धमत को भौतिकवादी कहा तो मुझे उसका विरोध करना पड़ा। विरोधी गुट इसलिए नाराज हो गया कि मुझ जैसे अदना आलोचक को राहुलजी की बराबरी कैसे करनी चाहिए? रांगेय राघव जैसे साहित्यिक को, जो इतिहास और संस्कृति को गड़बड़ करके हमें द्रविड़ रक्त से जोड़ रहे थे, जब हमने विरोध किया तो बजाय शास्त्रीय उत्तर देने के इसे बुरा मान गये और व्यक्तिगत रूप से विरोधी हो गये। नामवरसिंह, रांगेय राघव आदि डा० हजारीप्रसादजी की इस मान्यता से प्रभावित रहे हैं कि कबीर आदि सन्तों पर बौद्धों का प्रभाव है और उनका रोष तुलसी और सूर पर अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस गुट के लोग तुलसी को वर्णाश्रम-पोषक तथा ब्राह्मणों का पूजक कहकर प्रतिक्रियावादी ठहरा देते हैं। अपनी मान्यता तुलसी को महान् और प्रगतिशील कवि मानने की है।"[2] डा० विशम्भरनाथ उपाध्याय ने इस प्रश्न पर विस्तार से प्रकाश डाला है,[3] और बताया है कि जब कोई सिद्धान्त व्यवहार में आता है तो उसमें थोड़ा-बहुत दृष्टिकोण का अन्तर स्वाभाविक है। वह आन्दोलन की दृष्टि से इस कुत्सित समाजशास्त्र का महत्त्व स्वीकार करते हैं। शिवदानसिंह चौहान ने अपने दृष्टिकोण के समर्थन में विस्तार से लिखा है।[4] किन्तु उनके लेखन की सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं कि वह समीक्षकोचित भाषा में सैद्धान्तिक तर्कों का आधार लेकर

1. शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के मान : पृ० ३८-३९।
2. साहित्य-संदेश : जुलाई १९६१ : पृ० २६।
3. वही, पृ० २७-२८ के आधार पर।
4. वही, साहित्य की समस्याएँ : पृ० १५५ से ६० के आधार पर।

तथा प्रगतिशील सौन्दर्य-शास्त्र को व्यापक स्तर पर स्वीकार करके सभी युगों के लिए मानदंड प्रस्तुत करने की दृष्टि से लिखते हैं। वह किसी लेखक को कभी प्रगतिशील और कभी प्रतिक्रियावादी के फतवे देना उचित नहीं मानते। वह साहित्यिक गुटबाजी के विरोधी हैं और उन्होंने डा० रामविलास-गुट का विरोध किया है।[1] लेकिन दुःख के साथ यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्रतिवादी समीक्षकों में यहाँ तक कि गुटबन्दी का विरोध करने वाले भी, उससे मुक्त नहीं हैं।

## ऐतिहासिक दृष्टिकोण

मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर समाज का विकास और उसके परिवर्तन की दिशा निर्धारित की है। वह समाज के इतिहास को आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित वर्गसंघर्ष की क्रमिक-कथा कहता है। इस तथ्य को लगभग ज्यों-का-त्यों साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में शिवदानसिंहजी ने स्वीकार किया है। "समाज का इतिहास उत्पादन प्रणाली के विकास का इतिहास है, श्रम में लगे मनुष्य के जन-समूह का इतिहास है, क्योंकि वही भौतिक मूल्यों का निर्माण करता है और अन्त में, जीवन के सामाजिक और वैचारिक क्षेत्रों में अविराम होते आने वाले परिस्थिति-जन्य वर्गसंघर्ष का इतिहास है।'[2] ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य के क्षेत्र में आने वाली सभी प्रवृत्तियाँ तत्कालीन परिस्थितियों, आवश्यकताओं तथा विकास-क्रम की अगली शृंखलाओं की देन होती हैं। अतः किसी भी साहित्यिक प्रकृति को पूरा-पूरा किसी दूसरे देश के राजनैतिक या साहित्यिक क्षेत्र का प्रभाव कहना असमीचीन है। इससे पूर्व यह बताया जा चुका है कि प्रगतिवादी आन्दोलन रूप या अन्य भारतेतर देशों का प्रभाव मात्र नहीं है वरन् वह उन परिस्थितियों की देन है जो हमारे समाज में उत्पन्न हुई। इतिहास सम्बन्धी मार्क्सवादी मान्यता हमारे इस विचार के अनुकूल है और शिवदानसिंह चौहान को भी यही मान्यता स्वीकार है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने अधिकांशतः युगों के साहित्य की विशेषताओं का विवेचन करने से पूर्व उस काल की राजनैतिक परिसिस्थितियों का वर्णन किया है और साहित्य के साथ उनका सीधा सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा के रूप में इसे स्वीकार किया जा सकता है। काव्य राजनैतिक परिवर्तनों से ऐसा प्रभावित नहीं होता कि वह शासन-व्यवस्था के बदलते ही एक रात में उसका रूप एकदम बदल जाता हो। छायावादी कविता को ऐसे ही इतिहासकारों ने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन का परिणाम घोषित किया है। शिवदानसिंहजी इसका विरोध करते हुए अधिक वैज्ञानिक और इतिहाससम्मत कारण बताते हैं। "छायावादी कविता राष्ट्रीय आन्दोलन या जाग्रति का सीधा परिणाम नहीं है बल्कि

---

1. शिवदानसिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ : पृ० १५८
2. वही, पृ० १८।

पाश्चात्य अर्थ-व्यवस्था और संस्कृति से सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप हमारे देश और समाज के बाहरी और भीतरी जीवन में जो प्रत्यक्ष और परोक्ष परिवर्तन हो रहे थे, उन्होंने जिस तरह सामूहिक व्यवहार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्रीय एकता की भावना जगाई स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति को प्रेरणा दी।"[1]

## काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण

चौहान पहले प्रगतिवादी समक्षीक हैं जिन्होंने काव्य-शास्त्र के सर्वाधिक उलझनपूर्ण तथा गहन मनन की अपेक्षा रखने वाले शाश्वत काव्यशास्त्रीय प्रश्नों पर संतुलित प्रगतिवादी दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन तथा परीक्षण किया है। इसके सम्बन्ध में उनकी प्रसिद्ध मार्क्सवादी स्थापना स्मरण और विस्मरण के द्वन्द्व पर आधारित है।[2] रससिद्धान्त मार्क्सवाद के विरोध में नहीं आता क्योंकि उनकी दृष्टि में वे सभी सिद्धान्त मार्क्सवाद का पोषण प्राप्त करेंगे जिनके द्वारा मानवीय भाव-चेतना अधिक सम्पन्न और वैभवशाली बनती है। और भारतीय काव्यशास्त्र के सभी सिद्धान्त किसी-न-किसी अंश में उन्हें स्वीकार्य हैं।[3] रस के सम्बन्ध में उन्होंने विस्तार से विचार करते हुए लिखा है कि जब हम यांत्रिक पद्धति से सोचते हैं तभी रससिद्धान्त हमें मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं के विपरीत जाता दिखाई देता है। सामान्यतः ऐसा नहीं है। वह यह अवश्य मानते हैं कि रस की अब तक की व्याख्याएँ भाववादी थी जिनमें रस को निष्क्रियतावादी घोषित किया था। आज रस की वैज्ञानिक व्याख्या होनी चाहिए, जो उसे यथार्थवादी आधार दे सके।[4] रस को वह काव्य की शाश्वत एवं सर्वोपरि कसौटी मानते हैं किन्तु किसी भी कलाकृति को इस कसौटी पर कसने से पूर्व वह उसे अन्य प्रारम्भिक कसौटियों पर कसना भी अनिवार्य समझते हैं। यदि ऐसा न होगा तो खोटी रचनाएँ भी रस की कसौटी पर कसी जाकर श्रेष्ठ साहित्य का प्रमाणपत्र पा जाएँगी।[5] रससिद्धान्त का विवेचन करते हुए शिवदानसिंहजी ने उसको उस काल के जीवन-आदर्श का परिणाम माना है तथा बताया है कि रससिद्धान्त जीवन या समाज के एक अंग-विशेष को लेकर चलने वाला सिद्धान्त नहीं है, और न था, वरन् उसने समग्र जन-जीवन को आधार बनाया था—"तात्विक दृष्टि के अलावा भरत मुनि के सामने एक व्यापक सामाजिक आदर्श भी था और इस आदर्श को कार्यान्वित करने के

---

1. शिवदानसिंह चौहान : हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : पृ० ६२।
2. साहित्य-संदेश : जुलाई १९६१ : पृ० २४।
3. वही, पृ० २४।
4. वही, पृ० २४।
5. वही, पृ० २३।

लिए उन्हें नाटक ही एक ऐसा माध्यम दिखाई दिया जिसमें सभी शास्त्रों और कलाओं, काव्य स्थापत्य, चित्रकला, नृत्य, संगीत, अभिनय, इतिहास, दर्शन, समाज-शास्त्र, कपड़ों का रंगना, सजावट आदि—का समावेश और समन्वय करना सम्भव था और हर वर्ग और जाति के दर्शकों और अभिनेताओं के सामूहिक सहयोग से जिसमें समग्र भारतीय जीवन की झाँकी प्रस्तुत की जा सकती थी।"[1]

रस को शाश्वत-सिद्धान्त मानने का अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने उसे देश-काल और परिस्थिति से विच्छिन्न करके देखा है। इसमें भी उन्होंने अन्य शास्त्रों के समान निरपेक्ष और सापेक्ष सत्यों की अन्विति स्वीकार की है—"हर शास्त्र अपने देश-काल सीमित वस्तु-जगत् के ज्ञान पर आधारित होता है और प्रयोग में ही उसमें निहित सत्य की परीक्षा होती है, यानी वस्तु के साथ विचार की संगति ही सत्य की प्रतीति का एक मात्र नियम है। इसलिए हर शास्त्र (या वैज्ञानिक प्रमेय) सापेक्ष और निरपेक्ष सत्यों की द्वन्द्वात्मक अन्विति होता है। रससिद्धान्त भी सौन्दर्य के युग सापेक्ष और युग-निरपेक्ष नियमों की एक अन्विति है। काव्यार्थ-भाव-विभाग अनुभाव-संचारी के संयोग से नाट्य में रस की निष्पत्ति और प्रेक्षकों द्वारा उसके आस्वाद्य होने के भरत मुनि के सिद्धान्त में नाट्य-प्रयोग-सम्बन्धी अनेक स्थूल बातें युग-सापेक्ष हैं, अर्थात् उनका सम्बन्ध भरतकालीन समाज-व्यवस्था, विचार-दृष्टि, शिल्प-ज्ञान और तत्कालीन नाट्य-प्रयोग की पद्धति या परम्परा से है, जिसमें देवासुर कथा भी आती है। किन्तु इन युग-सापेक्ष नाट्य-प्रयोगों में सौन्दर्य-सृष्टि और सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी अनेक ऐसे सार्वभौम और सार्वजनीन सौन्दर्य-नियमों की उद्भावना हुई है जो निरपेक्ष सत्य की तरह शाश्वत और काल-निरपेक्ष हैं और मानव मात्र की स्थायी और जीवन्त विरासत हैं। सत्यनिष्ठा का तकाजा यह है कि अपनी विरासत में बीज-रूप निहित निरपेक्ष सत्य (परम्परा का जीवन्त तत्त्व) के ऊपर चढ़े युग-सापेक्ष सत्य (तत्कालीन समाज-व्यवस्था और ज्ञान-परम्परा से आबद्ध तत्त्व) के कंचुक को अलग करके प्राचीनों की स्थायी उपलब्धियों का मूल्यांकन किया जाय, क्योंकि उनका उपयोग केवल काल-सीमित ही नहीं होता। रस-सिद्धान्त पर विचार करते समय वह आचार्य शुक्ल की साधारणीकरण सम्बन्धी मान्यताओं से असहमत रहे हैं। साधारणीकरण की स्वतंत्र स्थापना के आचार्य शुक्ल के सिद्धान्त को वह यांत्रिक कहते हैं, क्योंकि उन्होंने साधारणीकरण को सहृदय के मन में होने वाली रसोद्बोधन की प्रक्रिया के अन्तर्गत न स्वीकार करके उसका दायित्व साहित्यकार के ऊपर डाला है। अर्थात् प्रेषणीयता और कला-निर्मिति उसके अधीन स्वीकार की हैं। इस मान्यता का खंडन करते हुए चौहान ने उसे प्रेषण और रसोद्बोधन की प्रक्रिया का अंग माना है। "हमारा विचार है कि साधारणीकरण रसोद्बोधन की प्रक्रिया का अंगभूत होने

---

1. शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के सिद्धान्त : पृ० १५।

के साथ ही प्रेषण (कम्यूनीकेशन) की प्रक्रिया का भी अंगभूत व्यापार ही है। उसे एक स्वतन्त्र सिद्धान्त की संज्ञा देना गलत है।"[1] इस प्रकार उनकी दृष्टि में इस कला-निर्मिति एवं उसके आस्वादन का एक संश्लिष्ट रूप ही सिद्ध होता है।[2] इसके अतिरिक्त अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी विवेचन उन्होंने किया है। उन्हें इन सिद्धान्तों में सार्वजनीन सार्वभौमिक सौन्दर्य-नियमों की अवस्थिति स्वीकृत है।[3] वह किसी ऐसे वस्तुपरक सौन्दर्य-शास्त्र की स्थापना की शक्यता अस्वीकार करते हैं जिसमें इस भारतीय काव्यशास्त्र की समृद्ध परम्परा की उपेक्षा की जा सके। उन्होंने पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर विचार करते हुए नित्य नए उभरने वाले साहित्यिक 'वादों' को इसलिए हेय दृष्टि से देखा है कि वे किसी एक अंग को लेकर आगे बढ़ चलते हैं और उसी के आधार पर साहित्य की सांगोपांग व्याख्या प्रारम्भ कर देते हैं। "पिछले सौ वर्षों में विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र नृतत्त्व शास्त्र, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान के विविध क्षेत्रों में अनुसंधान हुए है और नई जानकारी के आधार पर जो विशिष्ट सिद्धान्त या मान्यताएँ प्रतिपादित हुई है उनमें से किसी एक को या कभी कई को साहित्य-तत्त्व की जाँच का आधार बनाकर पाश्चात्य विद्वान नये-नये साहित्य-सिद्धान्तों की उद्भावना करते आये हैं। इनमें से हर सिद्धान्त साहित्य की सम्पूर्ण और सांगोपांग व्याख्या प्रस्तुत करने का दावा करता है। लेकिन चूँकि उसकी जीवन सम्बन्धी जानकारी की दृष्टि अनिवार्यतः एकांगी होती है और वह साहित्य की संश्लिष्ट प्रक्रिया, वस्तु, मूल्य और प्रयोजन के किसी एक ही पहलू का उद्घाटन कर पाता है, इसलिए दूसरा विद्वान् दार्शनिक और वैज्ञानिक क्षेत्र की अन्य उपलब्धियों की रोशनी से साहित्य-तत्त्व के किसी अन्य अछूते पहलू को प्रकाशित करते हुए नया सिद्धान्त गढ़ देता है।"[4]

शिवदानसिंह चौहान की समीक्षात्मक मान्यताओं के विपरीत अन्य मार्क्सवादी समीक्षकों ने यह आरोप लगाया है कि वह मार्क्सवादी मान्यताओं को अति-विस्तार देकर अमार्क्सवादी दृष्टिकोण को भी समाहित करके संशोधनवाद को जन्म दे रहे हैं। उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त द्वन्द्ववाद को एकांगी कह कर कुछ ऐसी भूमिका प्रस्तुत कर दी है जिससे प्रतिक्रियावादी शक्तियों को बल मिला है। अन्य प्रगतिवादियों की ये मान्यताएँ मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुकूल हैं, जहाँ वे यह कहते हैं[5] कि अध्यात्मवाद द्वन्द्ववाद का विरोधी है और जो लोग इन दोनों दृष्टिकोणों

---

1. शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के सिद्धान्त : पृ० ४२।
2. वही, पृ० ४८।
3. वही, पृ० ८२।
4. वही, आलोचना के मान : पृ० २५-२४।
5. मोरिस कोर्नफोर्थ : डायलैक्टीकल मैटीरियलिज्म : प्रथम भाग : पृ० ३२-२३ तथा ७३ के आधार पर।

में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते हैं वे किसी-न-किसी रूप में आदर्शवाद के साथ हैं, मार्क्सवाद के साथ नहीं। किन्तु, इस संदर्भ में अधिकांशतः परम्परावादी दृष्टि से सोचा गया है और विचार को मार्क्स से आगे ले जाने वालों को बहिष्कृत करके स्वच्छन्द चिंतन पर बड़े प्रतिबन्ध रहे हैं। आज भी रूस और चीन के मतभेद कुछ इसी प्रकार की मान्यताओं पर आधारित हैं। माओत्सेतुङ्ग लेनिनवाद की सीमाओं से बँधकर चलना और ख्रुश्चेव देश, काल और परिस्थिति से हो जाने वाले परिवर्तन के आधार पर निरन्तर विकसित परम्पराओं पर चलना श्रेयस्कर समझ रहे हैं। हिन्दी-साहित्य में यदि प्रगतिवाद सार्वजनिक आन्दोलन बन सका तो उसका थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ वही रूप स्वीकृत होगा जिसके प्रसारण का उद्योग शिवदानसिंह चौहान ने किया है, तथा कर रहे हैं। मुझे डा० रांगेय राघव की वे पंक्तियाँ चिरस्मरणीय प्रतीत होती हैं जिनमें उन्होंने मार्क्सवाद को 'डोगमा' बनाने का विरोध किया है और चिंतन को मार्क्स से आगे बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन दिया है।[1] द्वन्द्ववाद तथा विकासवाद पर आधारित मार्क्सवाद ही जब सैद्धान्तिक क्षेत्र में द्वन्द्ववाद को अन्तिम सिद्धान्त मानने लगता है तो आश्चर्य होता है। शिवदानसिंह इस सम्बन्ध में परम्परावादी दृष्टिकोण से न सोच कर प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाते हैं, जो एक स्वस्थ लक्षण है। मार्क्सवादी समीक्षक के क्षेत्र में मौलिक चिंतन के परिणामस्वरूप वह यह घोषणा कर सके हैं—"इतना कहना जरूरी है कि भौतिकवाद (मार्क्सवाद) जो भूत (मैटर) की सत्ता को प्रमुख मानता है। और अध्यात्मवाद जो मन या चेतन की सत्ता को प्रमुख मानता है, ये दोनों ही एकांगी है। स्वयं द्वन्द्वात्मकता (डायलैक्टिक्स) का सिद्धान्त-विरोधी तत्त्वों की अन्विति (यूनिटी आफ अपोजिट्स) को विकास का मूल आधार मानता है। इसलिए जड़ और चेतन में से किसी एक को प्रधान और दूसरे को उसका गुणात्मक या रूपात्मक स्फुरण या विकास मानना सर्वथा एकांगी है। हमें दोनों की सत्ता को स्वीकार करना पड़ेगा—कम-से-कम विज्ञान की नई शोधों से तो यही प्रमाणित होता जा रहा है। 'पानी और भाप' वाला उदाहरण अब काम नहीं करेगा। जड़ से चेतन और चेतन से जड़ की उत्पत्ति की कल्पनाएँ आज वैज्ञानिक नहीं रहीं। हर अणुपरमाणु के अन्दर चेतन की बीज-रूप में विद्यमान है। जूलियस हक्सले की इस मान्यता को अब कुछ मार्क्सवादी विचारक (जैकलिडसे आदि) मानने लगे हैं। व्यावहारतः केवल भौतिकवाद को मानने से मनुष्य के आध्यात्मिक विकास वैयक्तिक विचार-स्वतन्त्रता की एक-न-एक सीमा तक उपेक्षा हो जाती है, यानी समष्टि की वेदी पर व्यष्टि के हितों का बलिदान करना अनिवार्य हो जाता है, इससे कौन इनकार कर सकता है? इसी तरह केवल अध्यात्मवाद को ही अपनाने से मनुष्य के सामाजिक विकास-वर्गशोषण से मुक्ति की एक-न-एक सीमा तक उपेक्षा हो जाती है, यानी व्यष्टि की वेदी पर समष्टि के हितों

1. डा० रांगेयराघव : काव्य, कला और शास्त्र : पृ० १६।

का बलिदान करना अनिवार्य हो जाता है। दोनों ही अवस्था में अन्याय को प्रोत्साहन मिलता है और असन्तोष पैदा होता है। मनुष्य आज जिस शोषणमुक्त, न्याय और समानता के सिद्धान्तों पर आधारित जनतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था की आकांक्षा करने लगा है उसमें वह भौतिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में समान रूप से विकास करना चाहता है। इसके लिए जरूरी है कि मानवीय जीवन का नियमन करने वाला सिद्धान्त इतना व्यापक हो कि उसमें मनुष्य की भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं में से किसी की उपेक्षा न हो।"[1] इस लम्बे उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि चौहान की दृष्टि अत्यन्त व्यापक तथा मानवतावाद की विस्तृत पृष्ठभूमि पर आधारित है। राजनीति के समान वह साहित्य-क्षेत्र में भी सहअस्तित्व की नीति के समर्थक हैं।[2] उन्हें यह अनिवार्य प्रतीत हो रहा है कि व्यक्तियों के बीच, व्यक्ति और समाज के बीच, विभिन्न भाषाओं—संस्कृतियों एवं सभ्यताओं के बीच, विभिन्न धर्मों—दार्शनिक विचारधाराओं आदि के बीच भी मानवीय स्तर पर सहअस्तित्व करना आज की ऐतिहासिक आवश्यकता है। यदि ऐसा नहीं होता है तो उस विस्तृत मानवतावाद का विकास नहीं हो पाएगा जो 'स्व' को 'पर' तक ले जायगा और एक नवीन सांस्कृतिक मानव को उत्पन्न कर सकेगा। जब तक यह नहीं होगा तब तक उस विश्व-संस्कृति के पल्लवित होने की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी जो विविध भाषाओं, संस्कृतियों एवं विचारधाराओं में सामंजस्य प्रस्तुत कर सच्चे शोषणमुक्त—वर्गविहीन—साम्ययुक्त समाज को जन्म दे सके।

## डा० रामविलास शर्मा

**सिद्धान्तपक्ष**

कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों का गहन अध्ययन करके डा० रामविलास शर्मा ने जहाँ एक ओर उनकी विवेचना की है वहाँ दूसरी ओर अपनी आलोचना में उसका प्रयोग भी किया है। मार्क्स के द्वन्द्ववाद को स्वीकार कर उन्होंने विरोधों की अन्विति को विकास का कारण माना है। मार्क्स की मुख्य-मुख्य मान्यताओं का विश्लेषण करते हुए उन्होंने बताया है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त इस प्रकार समाज के विकास की कहानी कहता है। वह इतिहास की परम्परा का विकास आर्थिक संबंधों तथा उत्पादनों पर निर्भर मानते हैं।[3] आर्थिक संबंधों के आधार पर ही मनोभावों, आकांक्षाओं और विचारधाराओं का ढाँचा खड़ा होता है। उन्होंने कम्युनिष्ट घोषणा-पत्र का जिक्र करते हुए वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का भी विवेचन किया है, जिसमें शोषण की पद्धति स्पष्ट रूप से

---

1. शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के मान : पृ० १२२-१२३।
2. वही, पृ० ९६-९७।
3. डा० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा : पृ० ३९।

शामिल की है।[1] इतिहास-क्रम का विकास दिखाकर वह पूँजीवादी समाज-व्यवस्था तक आते हैं और घोषणा करते हैं कि मजदूर ही वास्तविक क्रान्तिकारी हो सकता है। वह किसानों को सहकारी के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] वह मानते हैं कि वर्ग-विभाजित समाज में जिस कला और साहित्य का सृजन होगा वह वर्गवादी होगी। सच्ची कला तभी उत्पन्न होगी जब साम्यवादी समाज बन जायगा। जब तक यह स्थिति नहीं उपलब्ध होती तब तक साहित्य और कला इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अस्त्र मात्र हैं। "साहित्य का उद्देश्य थोड़े से गिने-चुने संपत्तिशाली लोगों का मनोरंजन करना न होना चाहिए बल्कि उस जनता के आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष से उसे नाता जोड़ना चाहिए जो नए समाज का निर्माण करने की क्षमता रखती है और पुरानी व्यवस्था के उत्पीड़न को खत्म करने को लड़ रही है।"[3] डाक्टर शर्मा जहाँ स्वयं अपनी मान्यताओं के कट्टर पंथी हैं वहाँ अपने विरोधों और विरोधियों के प्रति दृष्टिकोण में भी उसी पथ के पथिक हैं। उन्होने ट्राटस्की की विचारधारा का विरोध किया है। शिवदानसिंह चौहान को उन्होंने ट्राटस्कीवादी कहा है।

वह कॉडवेल के साथ विचारो और कलाओं का आधार मनुष्यों के आदर्शों से जोड़ते हैं। जैसे-जैसे उत्पादन-साधन बदलते हैं, उत्पादन बदल जाता है, जिससे समाज में चलने वाले उत्पादन संबंध बदलते हैं और समाज बदल जाता है। समाज के साथ-ही-साथ उस पर आधारित कला-संस्कृति की विचारधारा भी बदल जाती है। कोर्नफोर्थ के समान डाक्टर शर्मा भी यह मानते हैं कि परिवर्तित होता समाज जहाँ नवीन रूप ग्रहण करता है वहाँ पूर्वपरम्पराओं को भी स्वीकार करता है।[4] वह यह मानते हैं कि वर्ग दो होते हैं, शोषक और शोषित और इन्हीं में संघर्ष चलता है। बुद्धिजीवियों को एक अलग वर्ग में रखना इन्हें अस्वीकार्य है। क्योंकि वह इनमें प्रचलित मान्यताओं को इन्हीं दोनों वर्गों में समाहित करते हैं।[5] बुद्धिजीवी इतिहास के क्रम में इसीलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि वे श्रमिकों के आन्दोलन को दिशा प्रदान करते हैं, उद्देश्य स्पष्ट करते हैं, और समाजवादी व्यवस्था तक लाते हैं।[6] मह बुद्धिजीवियों को वहीं तक क्रान्तिकारी मानते हैं जहाँ तक वे शोषितों के साथ हैं।[7] पूँजीवादियों के साथ रहने वाला बुद्धिजीवियों का वर्ग पेती बुर्जुआ है, जो प्रतिक्रियावादी है। इस वर्ग में वह उन लोगों को रखते हैं जो सारी समस्या को शान्ति के साथ सुलझाने को पसन्द करते हैं। इसलिए वह क्रान्ति-विरोधी

---

1. डा० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा : पृ० ३९।
2. वही, पृ० ३९।
3. वही, पृ० ४०।
4. वही. स्वाधीनता और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता : पृ० ३१।
5. वही, पृ० ५०।
6. वही, पृ० ५१।
7. वही, पृ० ५२।

कहे जाते हैं ।[1] गान्धीवाद के संबंध में डा० शर्मा की मान्यता साहित्य के स्तर की न होकर राजनीतिक स्तर की है । उसे वह पूँजीपतिवर्ग का सांस्कृतिक वर्ग मानते हैं क्योंकि उसमें सक्रिय प्रतिरोध नहीं है ।[2] वह सहअस्तित्व में विश्वास नहीं करते उनकी आस्था केवल संघर्षमय है ।[3] डा० शर्मा ने नारी-समस्या पर विचार किया है और वह नारी को क्रान्तिकारी आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के लिए आमंत्रित करते हैं ।[4] वह इस समस्या का निराकरण मार्क्सवादी समाज-व्यवस्था में ही देखते हैं । वह धर्म को ईश्वर और परलोक को शोषकों द्वारा प्रयुक्त शोषणों की विधियाँ मानते हैं ।[5]

**प्रगतिशीलता**

डा० शर्मा साहित्य को राजनीति का अनुगामी मानते हैं । उनकी आलोचना का आधार राजनीति है । वह संस्कृति को राजनीति पर आधारित करते हैं । इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही विस्तार से प्रकाश डालते हुए अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है । "राजनीति साहित्य का आधार है । किसी भी देश की राजनीति संस्कृति तथा आर्थिक व्यवस्था के आधार के बिना टिक नहीं तकती । जो लोग संस्कृति को राजनीति से अछूता रखना चाहते हैं, वे वास्तव में एक निराधार संस्कृति की सृष्टि करना चाहते हैं । राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ संस्कृति में भी परिवर्तन होता है । इसलिए सामंती आर्थिक व्वयस्था को पोषित करने वाली संस्कृति को पूँजीवादी संस्कृति आदि कहते हैं । संस्कृति का यह गुण है कि वह अपने आधार को पुष्ट करे । हमारे समाज में कुछ विचार या सिद्धान्त ऐसे हैं जो जनता के शत्रुओं का हित करते हैं इसलिए आलोचक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्य के विचारों और सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए वह यह स्पष्ट करे कि उनसे जनता का हित होता है या जनता के शत्रुओं का । राजनीति और साहित्य का यह संघर्ष सामने रखने की वजह से मेरी आलोचना में राजनीति की पुट रहती है ।"[6] वह समाज और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । साहित्य समाज का चित्रण करता है एवं समाज को प्रभावित करता है । न साहित्य का समाज पर प्रभाव सीधा-सीधा पड़ता है और न लेखक ही सामाजिक प्रभाव को यांत्रिकता के साथ स्वीकार करता है । समाज की आर्थिक सामाजिक स्थिति

---

1. डा० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा : पृ० ६० ।
2. वही, लोकजीवन और साहित्य : पृ० ४५ ।
3. वही, पृ० ४६ ।
4. वही, पृ० ६७ ।
5. वही, निराला : पृ० १४६ तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की हिन्दी आलोचना : पृ० १७७ एवं ८६ ।
6. डा० कमलेश : मैं इनसे मिला : प्रथम भाग : पृ० १६१ ।

का परिणाम ही साहित्य है।[1] वह प्रगतिशील आन्दोलन को बाहर से थोपा हुआ न मानकर परिवेश की देन मानते हैं।[2] प्रगतिशील साहित्य की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए शर्मा उसे जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य मानते हैं।[3] वह साहित्य में अश्लीलता, निराशावाद एवं प्रयोगवादी मान्यताओं के कट्टर विरोधी हैं; क्योंकि वे व्यक्ति और समाज के यथार्थ सम्बन्धों पर पर्दा डालते हैं, शोषण को स्पष्ट होने से बलपूर्वक रोकते हैं और सर्वहारा को क्रांति।विमुख करते हैं। ऐसे साहित्य का विरोध करने के लिए वह प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता अनुभव करते हैं। "साहित्य में अश्लीलता, निराशावाद, तथाकथित प्रयोगवाद यानी घटिया और कुघड़ साहित्य, अपनी परम्परा से विलग और अंग्रेजी के निम्न साहित्य की छिछली नकल, साम्प्रदायिकता आदि की प्रवृत्तियाँ आदि वर्तमान हैं। साहित्य के सर्वांगीण विकास की समस्या हमारे सामने है—ऐसा साहित्य जो हमारे राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप हो और जिसे हम वास्तव में जनता का साहित्य कह सकें। क्या इन सब बातों से एक शक्तिशाली साहित्यिक आन्दोलन की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती ?"[4] वह शिवदानसिंह चौहान की तरह प्रगतिशील साहित्यकारों को यह छूट देने तैयार नहीं हैं कि वे व्यक्तिगत रूप से चाहे मार्क्सवादी भले ही न हों किन्तु उनकी साहित्योपलब्धि उन विशेषताओं से युक्त हो जो प्रगतिशीलता के लिए आवश्यक हैं। ऐसे लोगों को वह एक सीमा तक अपने साथ लेने को तैयार हैं किन्तु पूर्णरूप से नहीं। उन्होंने लिखा है कि बिना मार्क्सवाद को समझे, उसमें बिना विश्वास किये और उसके आधार पर कार्यक्रम निश्चित किए भावी समाज-रचना में हम अपना योग नहीं दे सकते, अतः प्रगतिशील लेखक का मार्क्सवादी होना वांछनीय है। "मार्क्सवाद समाज को समझने और उसे बदलने का विज्ञान है। जो भी वर्तमान व्यवस्था को बदलना चाहता है, वह मार्क्सवाद का अध्ययन किए बिना नहीं रह सकता। मार्क्सवाद भारतीय समाज को समझने के लिए एक दृष्टिकोण देता है। उस दृष्टिकोण का उपयोग करके हम कौनसा कार्यक्रम निश्चित करते है और उस कार्यक्रम को व्यवहार में लाने के लिए कौनसी नीति अपनाते हैं, इसका कोई निर्धारित सूत्र मार्क्सवाद की किसी पोथी में नहीं है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने का अर्थ यह नहीं है कि हम साहित्य को किसी राजनीतिक कार्यक्रम से बाँध देते हैं वरन् उससे प्रभावित होने का अर्थ समाज और साहित्य की गतिविधि के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना है। सन् ४७ के पहले भारत की विशेष परि-स्थितियों में कांग्रेस-नेतृत्व की ढुलमिल-नीति के कारण सामन्तवाद और साम्राज्यवाद

---

1. डा० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा : पृ० ३।
2. वही, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ : पृ० १३८।
3. वही, पृ० २५।
4. वही पृ० १५२।

के विरुद्ध सगत रूप से संघर्ष करने के लिए मार्क्सवाद की सामाजिक आवश्यकता थी। सन् ४७ के बाद देश में सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के अवशेष खत्म करके समाजवादी व्यवस्था रचने के लिए मार्क्सवाद की ऐतिहासिक आवश्यकता हुई है। यदि समाज को समझने, उसे बदलने और नया समाज रचने के लिए वैज्ञानिक समाजवाद की आवश्यकता है, तो साहित्य के लिए भी वह उपयोगी होगा क्योंकि समाज को समझने, उसे बदलने और नया समाज रचने से साहित्य का गहरा सम्बन्ध है।"[1] वह मानते हैं कि जनता और साहित्य का सम्बन्ध समझने के लिए तथा पुराने साहित्य का वैधानिक मूल्यांकन करने के लिए मार्क्सवाद की सहायता आवश्यक है। 'साहित्यिक-क्षेत्र में जनता और साहित्य का सम्बन्ध समझने में पुराने साहित्य का वैज्ञानिक मूल्यांकन करने में, कला को लोकप्रिय रूप देने में मार्क्सवाद हमारी सहायता करता है। भारतीय संस्कृति और विभिन्न जातियों की प्रदेशात संस्कृति का सम्बन्ध क्या है और क्या हो, हिन्दी भाषी जाति का सांस्कृतिक नवनिर्माण कैसे हो, साहित्य मे विषयवस्तु और रूप का क्या सम्बन्ध हो, दूसरे देशो की संस्कृति से हम क्या लें और क्या छोड़ें, इन और ऐसे अनेक प्रश्नों का समाधान पाने में मार्क्सवाद से सहायता मिलती है।'[2] उन्होंने प्रतिक्रियावादी और प्रगतिवादी विशेषताओं का अलग-अलग उल्लेख किया है। पूँजीवादी साहित्य में जनता से भय, भविष्य के प्रति निराशा, कुढन और खीझ, मनुष्य से घृणा, नई समाजवादी संस्कृति को पूजना आदि मानी हैं तथा समाजवादी साहित्य की विशेषताएँ देश-प्रेम, संसार की जनता का भाईचारा, भविष्य में आस्था, आशा और उल्लास आदि हैं।[3]

जहाँ डा० शर्मा ने साहित्य का विवेचन किया है वहाँ प्रगतिशील साहित्य की विशेषताएँ ही दिखायी हैं क्योंकि अप्रगतिशील साहित्य को वह साहित्य ही नहीं मानते। साहित्य और जन-जीवन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि कला का स्रोत जनता है। जो साहित्य जनता से असम्बद्ध होता है उसमें वे सभी विशेषताएँ नहीं आ सकतीं जो साहित्य को प्रगतिशील बनाती हैं। "साहित्य जनता की वाणी है, उसके जातीय चरित्र का दर्पण है। प्रगति-पथ में बढ़ने के लिए उसका मनोबल है, उसकी सौन्दर्य की चाह पूरी करने वाला साधन है।"[4] प्रगतिशीलता का सम्बन्ध यथार्थवादिता से है। वह प्रगतिशील साहित्यकार को प्रजापति कहते हैं। ऐसा साहित्यकार समाज की वास्तविक स्थितियों का चित्रण करते हुए भी उसकी दृष्टि भविष्य पर रहती है। अर्थात् उसमें यथार्थ और आदर्श का समन्वय

1. डा० रामविलास शर्मा : प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ : पृ० १४१।
2. वही, पृ० १४२।
3. वही, स्वाधीनता और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता : पृ० १३०।
4. वही, पृ० २४३।

मिलता है। इसे समाजवादी यथार्थवाद कहा जाता है। "प्रजापति कवि गम्भीर यथार्थवादी होता है, ऐसा यथार्थवादी जिसके पाँव वर्तमान की धरती पर हों और आँखें भविष्य के क्षितिज पर लगी हुई हैं।"[1] यथार्थवादी होने के कारण ही वे साहित्य को उपयोगितावाद की तुला पर तोलते हैं। जो साहित्य मनुष्य को श्रेष्ठ विचार नहीं देता और उन विचारों को कार्यक्रम में परिणत करने की प्रेरणा नहीं देता, हमारे मनोबल को नहीं बढ़ाता वह व्यर्थ है। साहित्य विज्ञान और दर्शन से आगे बढ़कर हमें अधिक संवेदनशील बनाता है तथा हमारे भाव-जगत् को विस्तृत करता है। इसीलिए वह उसे शास्त्रों की अपेक्षा अधिक उपयोगी मानते हैं। "साहित्य मनुष्य को श्रेष्ठ विचार ही नहीं देता, वह उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए प्रेरणा भी देता है। वह हमारा मनोबल दृढ़ (या क्षीण) करता है, हमारा चरित्र बनाता या बिगाड़ता है। वैज्ञानिक या दार्शनिक तर्क द्वारा हमें आश्वस्त भले कर दे या पराजित कर दे, उनके विचारों में श्रेष्ठ आस्था पैदा करना, उन विचारों को आचरण में उतारने के लिए, दृढ़ संकल्प में उतारने के लिए, दृढ़ संकल्प पैदा करना साहित्य का ही काम है। इसीलिए मानव-चरित्र पर किसी जाति या राष्ट्र के चित्र पर, मनुष्य के कर्ममय जीवन पर जितना प्रभाव साहित्य का पड़ता है उतना दर्शन या विज्ञान का नहीं। साहित्य की यह सबसे बड़ी उपयोगिता है।"[2] सच्चे यथार्थवादी के समान उन्होंने अभिव्यक्ति-पक्ष को भी समुचित महत्त्व दिया है। वह कलापक्ष और भावपक्ष के समन्वय को यथार्थवादी साहित्य का आधार मानते है। जब कथ्य प्रगतिशील होता है, तो उसकी सफल अभिव्यक्ति के लिए कलापक्ष भी उसी के अनुरूप प्रगतिशील तत्त्वों से समन्वित होना चाहिए; क्योंकि दोनों के सामंजस्य से ही वांछित प्रभाव उत्पन्न हो सकता है। अनेक उदाहरण देकर इस मान्यता की पुष्टि करते हुए वे कहते हैं कि "साहित्य में विषय और व्यंजना दोनों एक-दूसरे के आसरे हैं। सफल साहित्यिक रचना में विषय और व्यंजना का सामंजस्य होता है। एक प्रतिक्रियात्मक और दूसरा प्रगतिशील नही हो सकता। व्यंजना के साहित्य की श्रेणियों के अनुसार अनेक प्रकार होते हैं। दरबारी कवियों की उक्तिचातुरी, संत कवियों की सरल वाणी, रोमांटिक कवियों का दुरूह शब्द-विन्यास आदि कुछ मोटे उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि भाव के साथ शैली में भी परिवर्तन होता है। इसलिए विषय-वस्तु के निरूपण के साथ व्यंजना और कला के संबंध में भी यह याद रखना चाहिए कि वह चिरंतन नहीं है, वरन् लेखक की प्रतिभा अथवा युग की प्रवृत्ति के अनुसार प्रतिक्रियावादी अथवा प्रगतिशील हो सकती है।"[3] वह उन प्रगतिशील

---

1. डा० रामविलास शर्मा : स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य : पृ० ७८-७९।
2. वही, लोक जीवन और साहित्य : पृ० ११।
3. वही, संस्कृति और साहित्य : पृ० २०८।

लेखकों की आलोचना करते हैं कि वे केवल तथ्य को महत्त्व देते हैं और अभिव्यक्ति-पक्ष को नगण्य मानकर कलाकृतियों को असन्तुलित बना देते हैं। इसी प्रकार उन्होंने अतिव्यक्तिवादी अनुभूतियों को विकृत कला के द्वारा साकार करने वाले प्रयोगवादियों को ही लताड़ा है।[1] कला को ही मुख्यता प्रदान करने वाले कलावादी साहित्यकार कला को जीवन से असंपृक्त मानने के कारण उनकी आलोचना के मुख्य विषय रहे हैं। इस प्रकार की कला अराजकतावादी बन जाती है, जिससे न आनन्द मिलता है न समाज का ही हित होता है। "कला के ऊपर सामाजिक प्रभावों को नियामक न मारने से अन्त में कला भी अराजक बन जायगी और न तो उसमें समाज-हित होगा और न आनन्द-लाभ ही होगा। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि समाज-विरोधी विषय-वस्तु के वर्णन या चित्रण से समाज के बहुसंख्यक लोग आनन्द-लाभ नहीं कर सकते।[2]" डा० शर्मा ने भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार विस्तार से प्रकट किए हैं। वह साहित्य में ऐसी भाषा के पक्षपाती हैं जो सामान्य व्यवहार की हो। साहित्य सामान्य जनता के लिए होता है जो सामान्य जनता भाषा को नहीं समझ पाएगी तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही अपूर्ण रह जायगा। उनकी स्वयं की भाषा में जो एक विशिष्ट प्रकार का ओज मिलता है वैसे ही ओज को वह भाषा की शक्ति कहकर उसे अपनाने की ओर प्रत्यक्ष इंगित करते हैं। भाषा के सम्बन्ध में जो उन्होंने नवीन ग्रन्थ लिखा है उसमें कतिपय मौलिक भावनाएँ भी हैं। भाषा के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि वह समाज के साथ विकसित होकर चलती है। भाषा का विकास पहले बोली के रूप में होता है, तब वह साहित्यिक बनती है। हिन्दी और उर्दू दोनों का विकास तथा प्रयोग ऐसे समान स्तर पर हुआ है कि वह आज अलग-अलग प्रतीत नहीं होतीं। हिन्दी और उर्दू के प्रश्न को उन्होंने सच्चे प्रगतिवादी की दृष्टि से समझाया है। उनकी मान्यता है कि इन दोनों भाषाओं के शब्दों को परस्पर मिलाकर एक ऐसी मिली-जुली भाषा बनानी चाहिए जो जनता की आवश्यकता की पूर्ति कर सके इसके लिए पर्याप्त कारण देते हुए वह लिखते हैं, "हिन्दी और उर्दू के भेदभाव के बावजूद उनकी परस्पर समानता को विकसित करने का जो प्रयत्न हो रहा था, उसे इस बटवारे से भारी धक्का लगा है। लोग यह भूल जाना चाहते हैं कि दुनिया की कोई भी दो भाषाएँ परस्पर इतनी मिली-जुली हैं जितनी कि हिन्दी और उर्दू। ग्रामीण जनता अपनी बोलियों में जिस तरह संस्कृत और फारसी के शब्दों को अपनाती है, वह इन दोनों भाषाओं की भाषा-एकता की ओर संकेत करना है। हिन्दी और उर्दू को बोलने वाली दो नेशनेलिटी नहीं हैं। धर्म के नाम पर दो जातियाँ बना कर हिन्दी

1. डा० रामविलास शर्मा : विरामचिन्ह : पृ० २३०।
2. वही, प्रगति और परम्परा : पृ० १२६।

और उर्दू को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक कारणों से बाध्य होकर दोनों के लिखने और बोलने वालो को एक जगह आना ही पड़ेगा और एक मिली-जुली भाषा बनानी ही पड़ेगी।[1]" डा० शर्मा भाषा के संस्कृतकरण तथा फारसीकरण के तीव्र विरोधी हैं। वह नहीं चाहते कि जीवित भाषा को मृतक बना दिया जाय। वह यह नही कहते कि संस्कृत के शब्द नहीं लिये जाएँ। आवश्यकतानुसार वे लिये जा सकते हैं किन्तु जिनके लिए हिन्दी में सरल शब्द मौजूद हैं उनके स्थान पर संस्कृत की क्लिष्ट शब्दावली को क्यों प्रयोग किया जाय ? छन्द के सम्बन्ध में उन्होंने यह माना है कि उससे काव्य-शक्ति बढ़ जाती है। वह कहते हैं कि काव्य में उन छन्दों के प्रयोग से अधिक शक्ति आ जाती है जिनका प्रयोग तत्कालीन जनता में रहा होता है। सतों की लोकप्रियता का कारण बताते हुए वह कहते हैं कि संतों ने अधिकतर भजन रचे जो जनता में गाये जाते थे और आज भी गाये जाते हैं। संगीत और काव्य का यह समन्वय उनकी लोकप्रियता का एक कारण था।[2] निराला के काव्य की समीक्षा करते हुए उन्होंने मुक्त छन्द की नाटकीयता उसके स्वर के उतार-चढ़ाव आदि को लेकर जहाँ उसकी प्रशंसा की है[3] वहीं दूसरी ओर जहाँ कविता की सामाजिकता का विवेचन किया है वहाँ मुक्त छन्द को हेय ठहराया है।[4] सम्भवतः ये विरोधी मान्यताएँ उनकी निराला-भक्ति के कारण हैं।

## काव्यशास्त्रीयता

भरतीय काव्यशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त रस के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ शिवदानसिंह चौहान से भिन्न हैं। वह रस को अन्तिम और शाश्वत कसौटी नहीं मानते।[5] आचार्य शुक्ल के समान वह रस को लौकिक मानते हैं।[6] भाववादी व्याख्याकारों ने रस को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है। उनकी दृष्टि में सभी रसों का पर्यवसान आनन्द में होता है। डा० रामविलास शर्मा को ये भाववादी मान्यताएँ अस्वीकार हैं। आचार्य शुक्ल के समान वह स्थायी भावों को लौकिक अनुभवों के आधार पर कसकर देखते हैं और पाते हैं कि कुछ भाव दुःखात्मक होते हैं और कुछ सुखात्मक। डा० शर्मा इस मान्यता से पूर्ण सहमत हैं।[7]

---

1. डा० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा ; पृ० ७६।
2. वही, लोकजीवन और साहित्य : पृ० ३१।
3. वही, निराला : पृ० ३६।
4. साहित्य-सन्देश : जुलाई, १९६१ : पृ० ३६।
5. डा० रामविलास शर्मा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : पृ० ५।
6. वही, पृ० ४-५।
7. वही, संस्कृति और साहित्य : पृ० १३६।

साहित्य में जो परम्परागत स्थायी भाव माने गये हैं उनको डा० शर्मा इसलिए स्वीकार नहीं करते कि मनुष्य का जीवन सदैव स्थिर नहीं रहता। देश, काल और परिस्थितियों से उसमें विकास होता रहता है, अतः रसों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती है। डा० शर्मा को रस की व्याख्या करते हुए द्वन्द्ववाद का आश्रय लेना पड़ा है। वह मानते हैं कि रस की मार्क्सवादी व्याख्या हो सकती है। जब दो विरोधी तत्त्वों की एकता प्रकट होती है तभी रस उत्पन्न होता है। साहित्य साधारण और असाधारण—जनरल और पर्टिकुलर के विरोधी तत्त्वों की एकता प्रकट करता है। यदि दुष्यन्त हर प्रेमी के समान हो तो वह दुष्यन्त न रह जाय, उसके व्यक्तित्व की अपनी विशेषता न रहे। यदि वह इतना असाधारण हो जाय कि साधारण प्रेमियों से समानता न रहे, तो उसके क्रियाकलाप से औरों को दिलचस्पी न रहे। इसलिए साहित्य की विषयवस्तु साधारण और असाधारण, मौलिक और उधार ली हुई—दोनों होती है। श्रोता और दर्शक में पहले से रस ग्रहण की शक्ति न हो तो वह नाटक देख-सुनकर ज्यों-का-त्यों लौट आये। साहित्य का प्रभाव सहृदय मनुष्य पर ही पड़ता है, लेकिन एक बार प्रभाव पड़ने पर उनकी सहृदयता निखरती भी जाती है। साहित्य और पाठक या श्रोता की सहृदयता का यह द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है।[1] रस की सत्ता स्वीकार करके भी डा० शर्मा देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप निरन्तर विकासमान तथ्य के रूप में ही मान्यता दे सकते हैं। वह जानते हैं कि समाज के विकास के साथ मानव-मन बदलता जाता है अतः प्राचीन रसों के आधार पर नये साहित्य की व्याख्या नहीं की जा सकती है। "साहित्य विकासमान है और यह एक महान् सामाजिक क्रिया है, जिसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि प्राचीन आचार्यों ने भविष्य देखकर जो सिद्धान्त बनाये थे, वे आज नये साहित्य पर पूरी तरह लागू नहीं किये जा सकते। उन्हें लागू करने से या तो पैमाना टूट जाएगा या फिर अपने ही पैरों को थोड़ा तराशना पड़ेगा। काव्य के नौ रसों के रस-साहित्य की परख नहीं हो सकती।[2]" वह रस की भाववादी व्याख्या को सामन्त-युग की देन मानते हैं और आज के युग के लिए नितान्त अनुपयुक्त। उन्हें वही साहित्य श्रेष्ठ प्रतीत होता है जो शोषण के प्रति घृणा उत्पन्न करके सर्वहारा के पक्ष का समर्थन करता हो, ऐसा न करने पर साहित्य प्रतिक्रियावादी होगा, समय से पिछड़ा रहेगा और उसका कोई मूल्य न होगा। इसीलिए वह आज के अनास्थावादी त्रिशंकुओं के साहित्य का घोर विरोध करते हैं। डा० जिवागो के सम्बन्ध में उन्होंने अपना अभिमत प्रकट करते हुए उसके प्रगति-विरोधी रूप की भर्त्सना तथा क्रान्ति के समर्थन आदि की प्रशंसा की है। डा० जिवागो उन्हें इतिहास विरोधी, परम्परावादी, क्रान्ति-विरोधी, प्रचार से युक्त तथा साथ ही राजनीति-

1. डा० रामविलास शर्मा : लोकजीवन और साहित्य : पृ० १४-१५।
2. वही, प्रगति और परम्परा : पृ० १३०।

विरोधी होने के कारण असुन्दर कृति प्रतीत हुई है। इसी प्रकार नयी कविता के सम्बन्ध में अपनी तीव्र व्यंग्यात्मक शैली में उन्होंने जो विरोध प्रकट किया है उसमें भी उनकी यही मान्यता प्रकट हुई है कि जो कुछ जीवन, यथार्थ, प्रगति तथा समाजवादी दृष्टिकोण के विपरीत है उसे आज स्वीकार नहीं किया जा सकता है। डा० शर्मा से कतिपय विद्वानों को जो यह शिकायत है कि वह जिसका विरोध करते हैं उसके लिए विद्रूपात्मक भाषा-शैली का अस्त्र अपनाकर ही अपना काम निकालना चाहते हैं। वह शिवदानसिंह चौहान के समान सैद्धान्तिक स्तर पर उसका खण्डन करने का कष्ट नहीं करते। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः वह उन रचनाओं को गम्भीर ही नहीं समझते होंगे, तब फिर उनके गम्भीर विवेचन की आवश्यकता नहीं है। ऐसा सोच कर अपने उद्देश्य की पूर्ति व्यंग्य-प्रधान भाषा तथा कटूक्तियों से चला लेते होंगे। इसके विपरीत जिस कलाकृति को उन्होने विवेचन के योग्य समझा है वहाँ उसकी प्रशंसा में कोरी वाहवाही से अपने उद्देश्य की पूर्ति न कर उसका गम्भीर एवं सिद्धान्ताधारित विवेचन किया है और उन समस्त विशेषताओं को खोलकर दिखाया है जिनके कारण उसका साहित्य में स्थान होना चाहिए। उन्होंने नयी कविता के खण्डन के कारण और आधार भी दिये हैं जिनमें अहंवाद, यथार्थ से पलायन, रस—आनन्द—आशा और जीवन की अस्वीकृति, नीरसता—विद्रूप, निराशा और कुण्ठा की स्वीकृति आदि माने हैं।[1] वे नयी कविता के एकान्तविरोधी नहीं हैं वरन् प्रयोगों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इस काव्य में आए हुए विकासशील तत्त्वों की शोध तथा समर्थन के विरोधी नहीं हैं। इस काव्य के भविष्य में उनकी अडिग आस्था है। 'कविता में तरह-तरह के प्रयोग करने की बड़ी गुंजाइश है। अनेक प्रकार की शैलियों द्वारा कवि अपने भाव और विचार पाठकों तक पहुँचा सकता है। शैली की यह विविधता भावों की अभिव्यंजना में ही नहीं, भावानुभूति और संवेदन के प्रकारों में भी देखी जा सकती है। इस विविधता से हिन्दी-कविता की मूल यथार्थवादी धारा समृद्ध होती है। नयी कविता और आधुनिक हिन्दी कविता एक ही वस्तु नहीं है। हमें संकुचित अर्थ में ग्रहण की जाने वाली नयी कविता के अलावा भी पिछले दस वर्षों में रची हुई आधुनिक हिन्दी कविता की विवेचन करना चाहिए। आलोचना का कोलाहल शान्त होने पर नयी कविता के कदम पर यथार्थवाद की निर्मल धारा बहती दिखाई देगी।"[2]

प्रगतिवादी समीक्षा के क्षेत्र में कुत्सित समाजशास्त्रीयता सम्बन्धी विवाद डा० शर्मा को लेकर चला है। इस सम्बन्ध में विस्तार से पिछले पृष्ठों में विचार हो चुका है, किन्तु, यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि डा० शर्मा की

---

1. डा० रामविलास शर्मा : आस्था और सौन्दर्य : पृ० २२२।
2. वही, पृ० २५६।

ओर से इस विवाद में जो कुछ योगदान हुआ है उसे वह अपनी ओर से सैद्धान्तिक और दूसरों की ओर से व्यक्तिगत मानते हैं। शिवदानसिंह चौहान के समान वह सहअस्तित्व में विश्वास नहीं रखते हैं। उन्होंने स्वयं मुझे बताया है कि शान्तिमय पद्धति से कभी भी शक्ति सर्वहारा के हाथों में नहीं आ पावेगी।[1] वह इसके लिए संघर्ष की अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार करते हैं और यह संघर्ष समीक्षा के क्षेत्र में भी प्रकट हुआ है और प्रतिक्रियावादियों के साथ-साथ प्रगतिवादियों में आपस में भी लतियाव चलने लगा है। अभी जब शक्ति कम्यूनिस्ट पार्टी के हाथों में नहीं आई है तब तक यह हाल है तो शक्ति हाथ लग जाने पर यह लतियाव निश्चित रूप से गृह-युद्धकता का रूप ले लेगा। (यह बात दूसरी है कि अधिनायकवाद इस विग्रह पर भी प्रतिबन्ध लगा दे।) इसका अर्थ यह नहीं है कि समीक्षा में विचारवैचित्र्य के लिए स्थान नहीं है या खण्डन-मण्डन नहीं होना चाहिए, वरन् निवेदन यह है कि यह सब कुछ साहित्य के हित की दृष्टि से--व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठकर होना चाहिए, जिसमें एक उच्चस्तर बना रह सके और वह सामान्य गाली-गलौज की सीमाओं को न घेर ले।

डा० शर्मा निर्भीक, स्पष्टवक्ता तथा आग्रही समीक्षक हैं। वह सोचने लगते हैं कि समाज बदल जायगा तो जनता का सौन्दर्य-बोध अपने आप बदल जायगा, अत. अभी साहित्य को आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति के लिए कार्य करना चाहिए और इसके लिए वह खुल कर राजनीति के समान शब्दावली का प्रयोग करे। अन्य समीक्षकों के समान उन्हें केवल साहित्य-क्षेत्र की शब्दावली अपर्याप्त लगती है। एकांगी दृष्टिकोण का जो आरोप उनके विरुद्ध लगाया जाता है[2] उसमें एक सीमा तक औचित्य है। एक शक्तिशाली समीक्षक के अनेकों गुण उनमें हैं। वह दृष्टि, पकड़, समझ और अनुभूतिशीलता से युक्त हैं। हिन्दी समीक्षा को उन्होंने परम्परागत कार्य से हटा कर नये पथ पर अग्रसर किया है। अमार्क्सवादी लेखकों की जनवादी मान्यताओं को स्वीकार करके सच्चे प्रगति-पथ को प्रशस्त करने में उन्होंने अपना अपूर्व योग दिया है। शेष मान्यताओं में यथेष्ट सीमा तक वह अन्य प्रगतिवादियों के समान ही हैं।

## डा० राँगेय राघव

### काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण

हिन्दी आलोचना के समर्थ सेनानी रांगेय राघव को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की यथेष्ट मान्यताएँ स्वीकृत रही हैं। उन्होंने रस का तथा अन्य भारतीय काव्यशास्त्रों का द्वन्द्वात्मक पद्धति से विवेचन किया है। वह रस-सम्प्रदाय को मार्क्सवाद के विपरीत

1. साहित्य-सन्देश : जुलाई १९६१ : पृ० २६-२७।
2. डा० रामदरश मिश्र : हिन्दी आलोचना का इतिहास : पृ० ३६०-१।

नहीं देखते। उन्होंने लिखा है कि भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के अभिमतों की आलोचना की जाय तो एक भी ऐसी नहीं मिलती जो मार्क्सवाद के विपरीत हो। साथ ही मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य में जितने तथ्यों और विशेषताओं को स्वीकृति मिली है वे सभी कहीं भी रस-सम्प्रदाय को नहीं काटते।[1] वह रस को सम्प्रदाय-दर्शन और सामाजिक व्यवस्था के अनुसार बदलते रहने वाली वस्तु नहीं मानते और उन्हें ये सभी तत्त्व रस के बाह्यावरण के रूप में स्वीकार हैं।[2] मनुष्य के स्थायी और संचारी भाव प्रायः वे ही रहते हैं। जो साहित्य-प्रचार को आधार मानकर चलता है और भावों के उद्रेक पर ध्यान नहीं देता, उसे वह साहित्य की महानता से गिरा हुआ मानते हैं। उससे आनद की उपलब्धि नहीं हो सकती।[3] वह कला को न प्रचार मात्र मानते हैं और न कला को कला के लिए। उन्हें साधारणीकरण का सिद्धान्त स्वीकार है। उनके शब्दों में "साधारणीकरण काव्य-साहित्य का मानवीय मूल्यांकन है। साधारणीकरण की समान भूमि मनुष्य के भावों की सहज समानता मानी गयी है। एक विशेष परिस्थिति में मनुष्य पर एकसा ही प्रभाव पड़ता है इसीलिए कह सकते हैं कि अमुक अवस्था में अमुक परिणाम निकल सकते हैं। प्रेम, ईर्ष्या, घृणा, भय आदि मनुष्य में थे और हैं, और संभवतः बने रहेंगे।...यदि मार्क्सवादी स्वीकार करता है कि मनुष्य के ये भाव शाश्वत रहेंगे तो रस-सिद्धान्त का यह भाव का आनंद-पक्ष ठीक बैठता है।"[4] भावपक्ष और बुद्धिपक्ष का विभाजन उन्हें अस्वीकार है, भाव बुद्धि के अनुसार होते हैं। वह भाव को सार्वभौमिक मानते हैं। किन्तु वह भावपरिवेश से प्रभावित होते रहते हैं। इस प्रकार साधारणीकरण रस-सिद्धान्त को वैज्ञानिक सत्य का रूप प्रदान करता है। रांगेय राघव ने उन मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रियों को आड़े हाथों लिया है जो साहित्य में सर्वत्र वर्गसंघर्ष ढूंढते हैं। वह मानते हैं कि वर्ग-संघर्ष आधार अवश्य है, किन्तु वही सब कुछ नहीं है। कुछ अन्य तथ्य भी हैं जो अपना प्रभाव डालते हैं।[5] रांगेय राघव ने सारे विचारों का अन्त मार्क्स में नहीं माना है। वह मार्क्स की रचनाओं में मार्क्सवाद की इतिश्री नहीं समझते हैं। वह मार्क्सवाद को वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते हैं। वह प्रतिपादित करते हैं कि जैसे-जैसे वैज्ञानिक शोध होता जायगा, नये-नये सत्य सामने आते जायेंगे, वैसे-ही-वैसे मार्क्सवाद का विकास होता जायगा। मार्क्स के सिद्धान्तों का स्थान नवीन सिद्धान्त ले लेंगे।[6] कुछ मार्क्सवादी जो मार्क्स के सिद्धान्तों को कला और साहित्य के क्षेत्र में यांत्रिक पद्धति से लागू करते हैं उनसे अपना विरोध

---

1. ड० रांगेय राघव : आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार : भूमिका : पृ० ७।
2. वही, पृ० ७।
3. वही, पृ० ७।
4. वही, पृ० ८।
5. वही, पृ० १२।
6. वही, पृ० १३।

प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है—"मार्क्स के सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं कि वह अपरिवर्तनीय रूप से अक्षरशः सब पर लागू हो जाएँ।.....गत्यात्मकता मूल नियम है। इसी प्रकार प्रत्येक देश की विभिन्न सामाजिक परिस्थिति होती हैं। प्रत्येक देश के साहित्य में विभिन्न विशेषताएँ होती हैं, उनमें भेद के रहते हुए भी एक सार्वभौम मानवीयता उनके भीतर रहती है, जो शताब्दियों को भेद जाती है। तभी यूनान का होमर हज़ारों वर्षों के उपरान्त भी आज आनन्द देता है। उसमें जो 'वह' है जो 'आनन्द' देती है वह उसकी 'मानवीयता' है, जो हमारे 'भावों' को समाती है, जगाती है और वह भव्य आनंद ही रस है।"[1] इस प्रकार सिद्ध होता है कि रांगेय राघव के रस-सिद्धान्त का आधार मानवीयता है और उन्हें शिक्षा के साथ रंजन भी मान्य है। उनका साधारणीकरण रस की सामाजिकता है जिसे उन्होंने निम्न शब्दों में प्रकट किया है: "काव्य का भाव से सम्बन्ध है। भाव हृदय-पक्ष को लेकर चलता है। हृदयपक्ष अपने आप में पूर्ण नहीं होता, क्योंकि वह विचार से सम्बद्ध होता है। विचार का विश्लेषण, जो मनोविज्ञान का स्वरूप है, उसकी अवस्थिति का ही नहीं उसकी परपुष्टि का भी आधार है। इसीलिए काव्य और मनोविज्ञान का गहरा सम्बन्ध है, जो आज के युग में अधिकाधिक प्रभाव डाल रहा है। काव्य का मनोविज्ञान नीरस नहीं हो सकता। वह वर्गीकृत विचारों और अनुभूतियों का वैज्ञानिक विश्लेषण भर बनकर प्रभाव नहीं डाल सकता। दुरूह-से-दुरूह मानसिक उलझन काव्य का विषय हो सकती है, किन्तु वह तभी काव्य हो सकती है जब न केवल सामाजिक रूप धारण करे वरन् अभिव्यक्ति में ऐसी हो जिसे दूसरे भी समझ सकें। इसी को साधारणीकरण कहते हैं।"[2]

## प्रगतिशील तत्त्व

डा० रांगेय राघव ने काव्य और कला का मूल वेदना में मानकर संगीत और श्रम का परिणाम कहा है। इस सम्बन्ध में उन पर कार्डवेल का प्रभाव स्पष्ट है। उसमें जो वेदना दिखाई देती है वह पीछे की है, जिसमें समाज का कष्ट भरता चला गया है। वेद में, जो सर्वप्रथम साहित्य है, वेदना का स्थान नगण्य है। उनकी मान्यता है कि वेद सामूहिक रचनाओं के संग्रह हैं। इस सन्दर्भ में विचारणीय है कि वह मार्क्सवादी ऐतिहासिक दृष्टिकोण को सीधा-सादा भारतीय इतिहास पर लागू करना चाहते हैं और अपनी मान्यता की सिद्धि के लिए जो भी प्रमाण मिल सका है, उसी से सन्तोष कर लेते हैं। ऊपरी और भीतरी धाराओं और अन्तर्धाराओं को समझ कर निर्णय लेने की जैसे उन्हें फुर्सत नहीं रही है, ऐसा लगता है। उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि उन्होंने भारतीय दास-प्रथा का जो रूप स्वीकार किया है उसके सम्बन्ध में अन्य मार्क्सवादी

---

1. डा० रांगेय राघव: आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार: भूमिका: पृ० १३।
2. वही, काव्य कला और शास्त्र: पृ० १२।

ही भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं तथा पुरातत्त्व-शास्त्री भी उनसे असहमत रहे हैं। साहित्य और समाज को सम्बन्धित मानकर प्रगतिशील आधार पर यथार्थवादी मान्यताओं की उन्होंने स्थापना की है। उनका यथार्थवाद समाजवादी यथार्थवाद है, जिसमें यथार्थवाद और आदर्श का समन्वय होता है। वह शोषण को प्रगतिशील साहित्य का विरोधी मानते हैं। उनकी प्रगतिशीलता का उद्देश्य केवल राजनीतिक नहीं है वरन् जनकल्याण तक पहुँच कर नये समाज का निर्माण है। "आज प्रगतिशील साहित्य उस अवस्था को शीघ्रतम लाना चाहता है जो शोषण का दौर समाप्त करने में सहायक हो। क्रान्ति का मतलब मजदूरों का उत्थान मात्र नहीं है। पहले बौद्धिक परिवर्तन की जड़ें जमानी पड़ती हैं। एक विशेष अवस्था में जब समाज के विभिन्न वर्ग अपनी क्रान्तिकारी शक्तियों को काम में लगा चुकते हैं, तब मजदूरवर्ग आगे आता है। आज मजदूर-क्रान्ति का दौर नहीं है, साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे को दृढ़ करने का भारत में प्रयत्न है। यही प्रगतिशील साहित्य का राजनैतिक और वर्तमान पक्ष है। किन्तु प्रगतिशील साहित्य इतने में ही समाप्त नहीं हो जाता। उसका ध्येय जनकल्याण है और मनुष्य के जीवन का सर्वांगीण चित्रण करते हुए श्रेष्ठ कला को जन्म देना है। वह व्यंग्य और प्रहारों में समाप्त नहीं हो जाता, वह स्वयं नया निर्माण है।"[1] साहित्य और समाज का सम्बन्ध स्थापित करते हुए उन्होंने बताया है कि साहित्य का आधार युग होता है। यदि आज का युग कल का इतिहास होने वाला है और आज का भविष्य कल का यथार्थ बनने वाला है तो प्रगतिशील साहित्य भूत और भविष्य से भी सम्बन्ध रखेगा। साहित्य मनुष्य का सर्वांगीण चित्रण है। वह प्रगतिशील साहित्य में मानवीय भावनाओं, युगयथार्थ, जनकल्याण के सत्य तथा सुन्दर अभिव्यक्ति को आवश्यक मानते हैं और उनकी मान्यता है कि यथार्थवाद साहित्य को सप्राण बनाता है। यथार्थवादी वर्णन साहित्य को वह शक्ति देता है जिससे वह मानवीय हृदय को आकृष्ट कर सके। जिस साहित्य में ये सभी गुण नहीं होते वह न केवल अप्रगतिशील है, वरन् साहित्य ही नहीं है।[2] प्रगतिशील साहित्य को वह राजनीतिक उद्देश्यों तक ले जाकर वहीं नहीं छोड़ देते वरन् उसके द्वारा जीवन की व्यापकता को उपलब्ध करने और वर्गवादी समाज से वर्गहीन समाज की ओर अग्रसर कराने वाला मानते हैं। साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों की वैविध्यपूर्ण अभिव्यक्ति उन्हें मान्य है और इतिहास के क्रम में इस विकास-यात्रा को देखना उनके प्रगतिवादी दृष्टिकोण का ऐतिहासिक भौतिकवादी पहलू है जिसमें जीवन के सत्य को सौन्दर्य का आधार माना गया है।[3] जीवन का वह अन्य प्रगतिवादियों

---

1. डा० रांगेय राघव : प्रगतिशील साहित्य के मानदंड, भूमिका : पृ० (ग)।
2. वही, पृ० (घ)।
3. वही, भूमिका : पृ० (घ)।

के समान साहित्य से सम्बन्ध जोड़ कर यथार्थवाद को कसौटी के रूप में स्वीकार करते हैं। यथार्थ के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण है—"यथार्थ है जीवन का वह वास्तविक चित्रण जो समाज का पूरा चित्र उतार देता है। समाज में उसका रूप है—उन शक्तियों को बल पहुँचाना जो समाज की विकृतियों को दूर करने में लगी हैं। समाज की मूल विकृति है सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण में असमानता, शोषण। धन के माध्यम से जो आज सारे सम्बन्ध नियंत्रित हैं वह मनुष्य के समाज की सबसे बड़ी विकृति है। धन न तो आज व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देता है, न सामाजिक।'[1] जैसा कि इस उद्धरण से प्रकट है कि मार्क्स के द्वन्द्ववाद, विकासवाद एवं अर्थ सम्बन्धों पर आधारित वर्गसंघर्ष को रांगेयराघव ज्यों-का-त्यों मानते हैं। मार्क्स के समान उनके यथार्थवाद, उनकी प्रगतिशीलता आदि का आधार मानवतावाद है—उन्होंने सारे लेखकों को सम्बोधित करते हुए इस सम्बन्ध में गम्भीर चेतावनी दी है कि वह संकुचित साधनों को छोड़कर मानव की रक्षा करें और इसके लिए यदि उन्हें इसके विरोधियों से संघर्ष करना पड़े तो उसके लिए भी तैयार रहें---"आओ ! लेखको ! मनुष्य की आत्मा के शिल्पियो ! अतीत के सारे लेखक हमारी ओर हैं और कह रहे हैं कि जितना हम मनुष्य के लिए अपने युग के बन्धनों में रहकर कर सकते थे, वह सब प्रगति हम तुम्हें देते हैं, उसे लो और मनुष्य के अन्तर्बाहर को सुन्दरतम् बनाने के लिए, अपने व्यक्तिगत संकुचित स्वार्थों को छोड़ कर एक हो जाओ। उससे युद्ध करो जो मनुष्य का शत्रु है। उन कारणों को मिटाओ जिन्होंने आज तक के मानवतावादी मेधावियों और बलिदानी वीरों के तपस्पूत स्वप्नों को व्यर्थ कर दिया है, जिन्होंने बार-बार रूप बदल कर संसार को दुःख से भर दिया है।"[2] रांगेय राघव किसी पार्टी के सदस्य न थे और न पार्टी और वाद में सीमित होकर लिखना उन्हें मान्य था। उन्होंने उन सभी बातों का जो सामाजिकता के विरोध में आकर खड़ी होती हैं, डटकर खण्डन किया है। फ्रायडवादियों की यौनवादी प्रवृत्तियों को लेकर उन्होंने लिखा है कि केवल ये ही मानव-जीवन की शत्रु नहीं हैं। यह माना जा सकता है कि इनका आंशिक अनुभव जीवन में होता हो किन्तु वह भी एक निश्चित मर्यादा और सतुलन के साथ। "यौनवाद के समर्थक दुहाई देते हैं कि क्या हमारे समाज में यौन-समस्याएँ नहीं हैं ? उनके लिए उत्तर है—हैं। परन्तु नग्न चित्रण यदि रस लेकर भावनाओं को विकृत करने के लिए है तो वह हमें शरीर की उन परिधियों में घेर लेता है जो समाज की सामाजिकता के स्थान पर व्यक्तिगत उलझनों में डालता है। ये व्यक्तिगत उलझनें पथ को प्रशस्त नहीं करतीं,

---

1. साहित्य सन्देश, जनवरी-फरवरी १९६३ : पृ० २६३।
2. डा० रामविलास शर्मा : प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड : पृ० समर्पण।

भाग्यवाद को स्थान देती हैं। हम समाज में दिगम्बर नहीं रहते। समाज ने हमारे लिए अथवा कहें हमने समाज में रहने के लिए कुछ नियम बनाये हैं। उन्हें हमको देखना है, उनकी जाँच करनी है। यौन-समस्याएँ भी उन्हीं के अन्तर्गत हैं। समाज केवल यौन-समस्याओं का ही भण्डार नहीं है। यौन-समस्याओं का उतना ही रूप श्रेयस्कर है जो अपने सापेक्ष रूप में उचित और स्वस्थ है।[1]" कला और साहित्य में भी वह दोनों पक्षों को समानता प्रदान करते हैं। न उन्हें कोरा कलावाद मान्य है और न नारेबाजी। भावपक्ष और कलापक्ष के समन्वय का प्रतिपालन करते हुए उन्होंने लिखा है कि कला केवल बाह्य सज्जा नहीं है वह तो आन्तरिक सौन्दर्य से सम्बन्ध रखती है। इसीलिए प्रगतिशील साहित्य की बाह्य सज्जा के साथ हमें उसका आन्तरिक सौन्दर्य भी देखना आवश्यक है।

यथार्थवादी साहित्य पर रसवादी यह आक्षेप करते हैं कि उसमें वर्गसंघर्ष को इतनी प्रमुखता मिल जाती है कि जीवन के अन्य तत्त्व नगण्य हो जाते है। डा० रांगेय राघव को इस आपत्ति में एक सार प्रतीत हुआ। इस आपत्ति को आंशिक स्वीकृति देते हुए उन्होंने सुझाया है कि यथार्थवादी साहित्य में वर्गसघर्ष के अतिरिक्त अन्य उन वृत्तियों का चित्रण भी होना चाहिए जो मानव को उसकी पूर्णता में दिखाने के लिए अनिवार्य हैं। डा० रांगेय राघव ने इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखा है —"रस-सिद्धान्तियों का कहना है कि मार्क्सवादी लेखक केवल वर्गसंघर्ष ढूँढते हैं। ये साहित्य के सौन्दर्य को नहीं देखते, वरन् उसकी राजनीतिक चेतना को देखते रह जाते हैं। यह सत्य है। आधुनिक रूसी उपन्यास-कार इसी राजनीति से इतने पराभूत हो गये हैं .....मार्क्सवाद केवल वर्ग-संघर्ष की व्यवस्था नहीं है। वह मानव-जीवन के समस्त अंगों का व्यापक अध्ययन है, जो सम्पूर्ण मनुष्य को छूने की सामर्थ्य रखता है। प्रत्येक युग में जो भी विचारधारा रही है उसने मनुष्य और उसकी संस्कृति को समर्थ बनाया है, उसके चिन्तन को उकसाया है, जबकि सिद्धान्त प्रतिपादन के आवेश में मार्क्सवादी लेखकों ने अपने को अधिकांशत: एकांगी कर लिया है। गहराई उन महान कलाकारों में ही हो सकती है जो मनुष्य की असीम मेधा को आँककर उसे उसके सामाजिक सापेक्ष रूप में देख सकें।"[2] वह यह भूल जाते हैं कि जब लेखक वर्णन करता है तब वह सर्वांगीण मनुष्य को देखता है, जिसका वर्गसंघर्ष आधार है अवश्य, किन्तु सब कुछ वही नहीं है। ऐंगिल्स ने स्वयं इसे स्वीकार किया था कि वर्गसंघर्ष के अतिरिक्त भी प्रभाव डालने वाले कुछ तथ्य हैं। साहित्य इसी सम्पूर्ण मानव का अध्यतन और चित्रण है।[3] डा० रांगेय राघव साधारणीकरण के प्रश्न को अन्य मार्क्सवादियों

---

1. डा० रामविलास शर्मा : संगम और संघर्ष : पृ० २।
2. वही, आधुनिक हिन्दी कविता मे प्रेम और शृंगार : पृ० ११।
3. वही, पृ० १२।

के समान टालते नहीं वरन् अधिक गम्भीरता से स्वीकार करते हैं। वह मानते हैं कि साधारणीकरण वर्गवाद का विरोधी है। यह साधारणीकरण की एक नयी व्याख्या है जो मार्क्सवाद को यान्त्रिक दृष्टि से देखने वालों के लिए सर्वथा मौलिक और नवीन है। सामाजिक और आर्थिक आधार जो प्रगतिवादी साहित्य मे स्वीकृत है उसी को साधारणीकरण का भी आधार माना गया है। इससे उसमे वर्गवाद का विरोध सिद्ध हो जाता है—"साहित्य सौन्दर्य का सृष्टा है। सौन्दर्य सापेक्ष होता है तभी वह सामाजिक आधार लेता है। साधारणीकरण के आधार सामाजिक और आर्थिक है। जो वर्गवाद का विरोध करते हैं और इसलिए रससिद्धान्त भी जहाँ तक मनुष्य के भाव-चित्रण का प्रश्न है, वर्गवाद का विरोध करता है।"[1] यथार्थवाद में उन्हें साहित्य का जो रूप मान्य नहीं उसकी व्याख्या केवल वर्तमान, केवल भूत और केवल भविष्य को मान्य करना उन्हें समीचीन नहीं लगता। क्योंकि यह कथन ऐतिहासिक विकास के दृष्टिकोण से भिन्न और एकांगी होता है। उन्होने भूत, वर्तमान और भविष्य का व्यापक संतुलन के साथ चित्रण करना यथार्थवाद के लिए अनिवार्य माना है, जो अत्यन्त समीचीन और द्वन्द्वात्मक है—"अधुनातक प्रवृत्तियों में प्रगतिशील आलोचना-सिद्धान्त के नाम पर मार्क्सवाद ने ही ऐसे सार्वभौम मानदण्डों को भूत, वर्तमान और भविष्य के व्यापक सन्तुलन के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जिसमें अतीत की सभी परम्पराओं के प्रति स्वस्थ निष्पक्ष और बाह्य दृष्टिकोण हो, जो न केवल अतीत के प्रति अजायबघर की दृष्टि से हो वरन् वर्तमान की जटिल परिस्थितियों में समस्याओं का हल बनता हुआ उस भविष्य का निर्माता और निर्णायक हो जिसमें मनुष्य के विकास की धरती पहले से कहीं अधिक उपजाऊ हो जाय। बौद्धिक विकास के लिए मनुष्य शोषण का अन्त करके विज्ञान के द्वारा एक सुखी समाज बनाने में सफल हो।"[2] डा० रांगेय राघव मार्क्सवादी चिन्तन को सापेक्ष बुद्धि से देखने का निर्णय करते हैं। उनकी मान्यता है कि मार्क्सवादी दर्शन को हमें भारतीय चिन्तन के साथ देखना चाहिए—"किसी भी मतवाद को हमें सापेक्ष बुद्धि से देखना चाहिए। मार्क्सवाद के नाम पर बहुत कुछ साहित्य भारत में परित्यक्त किया जा रहा है और दुहाई यह दी जा रही है कि जो साहित्य इसके दावेदारों द्वारा स्वीकृत नहीं है वह वास्तव में पलायनवादी साहित्य है; अतः जनवादी नहीं है। इसलिए आवश्यक यह है कि पहले हम नए चिन्तन को भारतीय चिन्तन के समक्ष रखें और तब अपने निष्कर्षों पर पहुँचें, क्योंकि किसी को भी आँख-कान मूँद कर स्वीकार नहीं करना चाहिए।[3]"

---

1. डा० रामविलास शर्मा : आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार : पृ० १२।
2. वही, पृ० ६।
3. वही, पृ० ११-१२।

यथार्थवाद के नाम पर जो ऐसी मान्यताएँ चल रही हैं जिनमें वस्तुतः यथार्थवादी तत्त्व नहीं हैं उनका निराकरण डा० रागेयराघव ने किया है। वह एकांगी जीवन-दर्शनों पर आधारित काव्यगत विशेषताओं को अस्वीकार करते रहे हैं। उन्होंने उस साहित्य की घोर निन्दा की हैं जो व्यक्तिवादी और असामाजिक मान्यताओं को लेकर चला है। प्रयोगवाद का विश्लेषण करते हुए वह लिखते हैं—"काव्य के अनेक पहलू होते हैं किन्तु जो उसके रागपक्ष को प्रस्तुत करते हैं वे उसके अन्तरतम् से बाहर आये हुए भाव होते हैं। आज उस पर आलोचकों की दृष्टि नहीं ठहरती। वह उसके बाह्य का अधिक परीक्षण करते हैं। इसका कारण है निष्पक्षता का भाव। प्रयोगवाद का अभाव, प्रयोगवाद का विकास आज काव्य के इस मूल स्वर को खण्डित कर देना चाहता है। किन्तु उसका प्रभाव इसलिए गौण है कि वह काव्य के मूलाधार साधारणीकरण को ही अस्वीकार करता है। जिस ईलियट की हिन्दी में नकल हो रही है, वह एक धार्मिक आस्था को सामने रखने वाला व्यक्ति है, शैली में अवश्य उसने अपने विषय संकुचित दृष्टिकोण बना रखे हैं, किन्तु हिन्दी के प्रयोगवादियों में न आस्था है, न व्यक्तित्व। शैली मात्र ही उनके चमत्कार-व्यवसाय का आधार है जिसके पक्ष में बहुत से अनर्गल और आडम्बरपूर्ण लेख भी प्रस्तुत किए जाते हैं।[1]" उनके यथार्थवाद में मानवतावाद, विश्वकल्याण तथा उपयोगितावाद का ऐसा समन्वित रूप देखने को मिलता है जो सच्चे रूप में कला कला के लिए नहीं, मनुष्य के लिए है। प्रगतिशील विचारक सौन्दर्य-दृष्टि के सामाजिक कल्याण वाले रूप को कला और सामाजिक कल्याण के कलात्मक रूप को काव्य की उपादेयता मानता है।"[2] प्रगतिशील समीक्षा के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने बताया है कि इसका नेतृत्व ऐसे ही लोगों ने किया है जो भारतवर्ष और हिन्दी की प्रकृति को ठीक प्रकार से नहीं समझ पाये हैं। परिणामस्वरूप साहित्य में अंधानुकरण ही अधिक हुआ है। उनका यह आरोप यथेष्ट सीमा तक सही है और उनकी आलोचना पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता, किन्तु उन्होने मौलिकता की झोंक में ऐसी मौलिक स्थापना कर दी हैं जिनसे सहमति प्रकट करना सम्भव नहीं है। उन्होंने साहित्य और समीक्षा के लगभग सभी पहलुओं को सामने रख कर विचार किया है। अतः किसी भी एक विषय पर विचार नहीं हुआ है और उनके कथन दिशासूचक सूत्रमात्र बन कर रह गये हैं, जिन पर अभी बहुत अधिक विचार और ऊहापोह की आवश्यकता है।

## ऐतिहासिक दृष्टि

मार्क्सवाद में ऐतिहासिक भौतिकवाद का आधार द्वन्द्ववाद, वर्गसंघर्ष,

---

1. डा० रामविलास शर्मा : हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार : पृ० ५।
2. वही, प्रगतिशील साहित्य के मानदंड ; पृ० ३०६-७।

अर्थाधारितशोषण, उत्पादन-साधनों का परिवर्तन आदि माना गया है। सैद्धान्तिक रूप से ये सारी मान्यताएँ डा० रांगेय राघव को स्वीकार हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध इतिहास[1] में प्राचीन भारतीय संस्कृति का अध्ययन तुलनात्मक दृष्टि से किया है, जिसमें सांस्कृतिक, धार्मिक प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप से विवेचित हुई हैं। अब तक की जो परम्परागत मान्यताएँ और धारणाएँ इस सम्बन्ध में चली आ रही थीं उनका निराकरण करते हुए ऐतिहासिक विकासक्रम को द्वन्द्वात्मक दृष्टि से देखा है। वह इतिहास के विकास के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण से पूर्णतः सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनका मानना है कि भारतीय इतिहास अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ रखता है जिन्हें मार्क्सवादी कोटियों में विभाजित करना सम्भव नहीं है। इतिहासक्रम को विरोधों पर आधारित मानते हुए विकसित होता दिखलाया है। महाभारत के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि यह तत्कालीन समाज-व्यवस्था के अन्तर्राविरोधों का परिणाम था।[2] "महाभारत में एक ओर गणनायक कृष्ण और पांडव थे जो आर्य सत्ता और कुछ सहूलियत दिये हुए स्वत्त्व के आधार पर निरंकुशता नष्ट करना चाहते थे, दूसरी ओर कौरव और आर्येत्तर राजा अपने अक्षुण्य अधिकार चाहते थे, पर विरोधाभास यों हुआ कि दोनों में ही दास-प्रथा की होड़ थी। आन्तरिक विरोधों के कारण युद्ध हुआ।" यहाँ रांगेय राघव ने वही मान्यता स्वीकार करली है जिसका स्वयं विरोध किया है अर्थात् मार्क्सवाद में बताये हुए युगों को भारतीय इतिहास पर थोप दिया है। दूसरे प्रगतिशील समीक्षक भी उनके दृष्टिकोण से असहमत रहे हैं। इतिहास के सम्बन्ध में उनकी देन का सर्वाधिक महत्त्व यह है कि गन्तव्य दिशा का निर्देशन उन्होंने किया है और आगे लिखे जाने वाले अधिक गम्भीर ग्रन्थों की भूमि तैयार करदी है।

## डा० रांगेय राघव की देन

रांगेय राघव सच्चे अर्थ में चिन्तक, कृती साहित्यकार, द्वन्द्ववादी समीक्षक तथा प्रतिभासम्पन्न कलाकार हैं। उन्होंने मार्क्स को और भारतीय चिन्तन-परम्परा को समन्वित करने का जो प्रयास किया है वह अभूतपूर्व है। यदि भारतवर्ष में मार्क्सवादी परम्पराएँ स्वीकृत हुईं तो निश्चयपूर्वक उनका वह रूप स्वीकृत नहीं हो पाएगा जो रूस में हुआ है या उन साम्यवादी देशों में हुआ है जिनकी सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ भारतवर्ष से भिन्न हैं और यह भी सत्य नहीं है कि मार्क्स का चिन्तन और उस चिन्तन की निष्कर्ष-प्रधान घोषणाएँ अन्तिम हैं। उनके विकास की सम्भावनाएँ समान बुद्धिजीवी भी करेगा। रांगेय राघव ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया है तथा सत्य को सापेक्ष मानकर परीक्षण करते रहने

1. डा० रामविलास शर्मा : प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास।
2. वही, भूमिका : पृ० ६।

पर बल दिया है—"सच तो यह है कि वे दो विचारधाराएँ हैं, एक विचारधारा मार्क्सवाद को ऐसा सत्य मानती है जिसको परखने की आवश्यकता नहीं है और उसे ही शाश्वत स्वयंसिद्ध सत्य होना चाहिए जो हर चीज़ पर एकसा लागू होता है और होता रहेगा। ये लोग भारतीय परिस्थितियों पर बराए नाम नजर डालते हैं और परिणामस्वरूप इसका जनता से कोई सम्पर्क नहीं है। दूसरी विचारधारा मार्क्सवाद को एक वैज्ञानिक खोज के रूप में लेती है और सत्य को सापेक्ष मान कर परख करती है। यह रूढ़ विचार नहीं मानती कि जो मार्क्स ने लिखा है वह सब ईश्वरीय वाक्य है और देशकाल की परिस्थितियों के भेद को देखती है और ग्रन्थों की जगह जनता के संघर्षों से अनुप्राणित होती है।[1]" रांगेय राघव ने जो व्याख्यात्मक आलोचनाएँ लिखी हैं उनमें भी अपनी मौलिक और द्वन्द्वात्मक सूझ का परिचय दिया है। उन्होंने अपने नये ग्रन्थ 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार तथा 'आधुनिक हिन्दी कविता' में विषय और शैली में जो वैज्ञानिक विवेचन किया है और नयी कविता को जिस सैद्धान्तिक स्तर पर आधारित करके उसकी विशेषताएँ स्पष्ट की हैं उन्हें देखकर यह लगता है कि सचमुच वह अन्य प्रगतिशील समीक्षकों के लिए ऐसे नवीन मार्गों का दिशा-निर्देश कर गये है जिन पर चल कर प्रगतिवादी समीक्षा एकांगी और यान्त्रिक बनने से बच सकती है। कुत्सित समाज-शास्त्रियों और यांत्रिक भौतिकवादियों ने हिन्दी-साहित्य और विशेषत: समीक्षा को जो हानि पहुँचाई है उसके प्रति यदि चाहे कुछ समीक्षक उदारवादी दृष्टिकोण अपनावें और उसकी अनिवार्यता का औचित्य सिद्ध करें किन्तु रांगेय राघव उसे श्रेयस्कर मानते हैं। उन्होंने प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड में इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है और अन्तिम समय तक इसे अनुपयुक्त मानते रहे हैं।[2] उन्होंने यह मान्यता प्रकट की है कि कुत्सित समाजशास्त्रीयता के अन्तर्गत लेखकों ने रूसी और चीनी परिस्थितियों में प्रकट होने वाले बिचारों को जिस रूढ़िवादी ढंग से अपनाया है वह स्थिति का यथार्थ अंकन है। वह मार्क्सवाद को रूढ़ि रूप में अस्वीकार करके एक वैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली के रूप में स्वीकार करते हैं। तभी सच्चे अर्थ में भारतीय दृष्टिकोण बन पाएगा। भाषा-समस्या के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य में जो विवाद चला है और जिसमें अनेक प्रकार की सामान्य से लेकर वैचित्र्यपूर्ण तक अनेक विचारधाराएँ सामने आई हैं उन पर डा० राघव ने विचार किया है और अपने सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण को व्यावहारिक और प्रगतिशील रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दी और जनपदीय भाषाओं के प्रश्न पर भी उन्होंने विस्तार से प्रकाश डाला है।[4] वह हिन्दी को जनता की भाषा

1. डा० रामविलास शर्मा : काव्य कला और शास्त्र : पृ० ३९।
2. वही, आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार : भूमिका : पृ० ५।
3. वही, पृ० ७।
4. वही, प्रगतिशील साहित्य की विरोधताएँ : पृ० २७० से २९२।

मानकर सारे राष्ट्र द्वारा उसे स्वीकार करने के पक्षपाती हैं। उन्हें उसका संस्कृतनिष्ठ बनाना अमान्य है। यदि वह कठिन नियति के अज्ञात हाथों से बचे रहे होते तो निश्चित ही प्रगतिवादी आन्दोलन को सच्चा जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन बनाने में अपना अपूर्व योग देते।

## अमृतराय

**मार्क्सवाद-सिद्धान्त-पक्ष**

मार्क्सवाद के सम्बन्ध में जितना विवेचन हिन्दी साहित्य में सिद्धान्त-पक्ष को लेकर हुआ है उसमें सबसे अधिक गहन और वैविध्यपूर्ण विवेचन जितना अमृतराय जी ने किया है वैसा अन्य समीक्षकों ने नहीं किया है। इस सम्बन्ध में वह मार्क्स के उन अनुयायियों में से हैं जिन्होने द्वन्द्व को ठीक से समझ कर और उसकी भौतिकवादी ऐसी व्याख्या की है जिससे अनेक उलझे हुए प्रश्न स्पष्ट हुए हैं। भौतिक जगत और उसके अस्तित्व तथा उसकी भाववादी ब्रह्म-आधारित परिभाषा का खण्डन करके उसकी द्वन्द्ववादी जो परिभाषा की है उसमें उन्होंने चेतना की सत्ता जगत पर आधारित और सापेक्ष मानी है। भाववाही चेतना को निरपेक्ष मानते हैं जबकि अमृतरायजी ने उसे वस्तु-सापेक्ष, परिस्थिति-सापेक्ष और समाज-सापेक्ष कहा है। भाववादी जगत का अस्तित्व चेतना पर आधारित मानते हैं, जबकि अमृतराय ने स्वीकार किया है कि चेतना चाहे रहे या न रहे पर जगत् का अस्तित्व रहेगा।[1] उन्होंने एक उदाहरण देकर समझाया है कि मेरे कमरे की दीवारें तो रहेंगी ही चाहे मैं उनको देखूँ या न देखूँ। मनुष्य की चेतना परिस्थितियों का सृजन नहीं करतीं बल्कि परिस्थितियाँ ही मनुष्य की चेतना का सृजन करती हैं। यथार्थ जगत् परिस्थितियों का आधार है, जिससे स्वतन्त्र और निरपेक्ष कुछ नहीं है। "समाज-ब्रह्म जैसी कोई निराकार वस्तु तो है नहीं। समाज मनुष्यों का होता है। मनुष्य अपनी जीविका उपार्जन करते हैं। जीविकोपार्जन की क्रिया में वे एक-दूसरे से किसी निश्चित सम्बन्ध में बँध जाते हैं, बँधते जाते हैं, बँधे रहते हैं। जीविकोपार्जन के साधन भी स्थिर और अपरिवर्तनीय तो हैं नहीं, अतः उत्पादन अर्थात् जीविकोपार्जन के साधन जब विकास के एक धरातल पर रहते हैं तो एक प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध होता है और जब उसमें कोई विकास या परिवर्तन आता है तो उसी के अनुसार इस सामाजिक सम्बन्ध में भी विकास का परिवर्तन आता है। इस प्रकार उत्पादन के साधनों के विकास के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता चलता है...वस्तु-जगत् ही उसका मूलाधार है, उससे स्वतन्त्र और निरपेक्ष वह कुछ नहीं है। इस बात को एक सरल रूप में कहें तो कहेंगे कि परिस्थितियाँ मनुष्य की चेतना को गढ़ती हैं।"[2]

1. अमृतराय : नयी समीक्षा ; पृ० २।
2. वही, पृ० २।

मार्क्सवाद का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त ऐतिहासिक भौतिकवाद का है। इतिहास की अब तक की जितनी व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं उन सब में घटनाओं और व्यक्तियों का आधार मानकर निर्णय लिए जाते थे जब कि मार्क्स ने यह प्रतिपादित कर दिया कि इतिहास घटनाओं और व्यक्तियों का संग्रहमात्र नहीं है वरन् वह समाज के भीतर चलने वाली परिवेशात्मक आर्थिक-सामाजिक वृत्तियों का एक निश्चित क्रम में होने वाला विकास है। मार्क्स ने यह प्रतिपादित किया है कि अब तक का इतिहास समाज में चलने वाले दो वर्गों—शोषित और शोषक की संघर्ष-गाथा है। यह वर्गभेद और संघर्ष आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित है। प्राचीन काल में आदिम साम्यवादी समाज में जब व्यक्ति केवल अपनी आवश्यकतावश उत्पादन करने में समर्थ था तब शोषण न होने के कारण वर्गसंघर्ष नहीं था। उस समय जिस कला का विकास हुआ वह सच्ची कला है। उसके पश्चात् दूसरा युग दास-प्रथा का है। इस सब का वैज्ञानिक विवरण अमृतरायजी ने प्रस्तुत किया है—"एक समय था कि समाज में सब लोग बराबर थे। मृगया ही उनके जीवनोपार्जन का साधन था। सब लोग मिल कर आखेट करते थे और मिलकर उसका उपभोग करते थे। यह आदिम साम्यवाद का युग था। कालान्तर में दास-प्रथा का प्रचलन हुआ। युद्धों में बन्दी बनाये गए शत्रु दास होने लगे और इतिहास में पहली बार दो मानवों के बीच दास और प्रभु का सम्बन्ध स्थापित हुआ। प्रभु इसी नाते प्रभु थे कि उत्पादन के साधन—भूमि पर उनका आधिपत्य था और दासों को उनकी आज्ञा का पालन करना होता था, नहीं तो अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता था।"[1] इसी प्रकार दास-प्रथा से सामन्तवाद का, सामन्तवाद से पूँजीवाद का जन्म हुआ। इन्हीं सभी समाजों में शोषण का वह मुख्य आधार था जिसने इन समाज व्यवस्थाओं को ह्रासशील बना दिया। "दास-प्रथा, सामन्तवाद और पूँजीवाद सबके बीच में यह व्यक्तिगत सम्पत्ति का दोष था, इसलिए यह सब समाज-रचनाएँ कालान्तर में प्रगति की अवरोधक और प्रगतिगामी बन गयीं। इन सभी समाज-रचनाओं के मूल में एक ही बात है : सबका आधार शोषण है।[2]" इतिहास का आधार जिस प्रकार अर्थ-सम्बन्ध है, इसी प्रकार समाज का आधार भी वही है। जैसे-जैसे अर्थ-सम्बन्ध बदलते जाते हैं वैसे-वैसे समाज में परिवर्तन होता जाता है। समाज के विकास से उसके अंगों के सम्बन्ध बदलते चले जाते हैं। साहित्य चूँकि जीवन की अभिव्यक्ति है, फलस्वरूप परिवर्तित अर्थ-सम्बन्धों से अप्रभावित नहीं रह पाता। साहित्य में जीवन के संघर्ष तथा तत्कालीन परिवेश का चित्रण होता है। साहित्य के इस अर्थाधारित स्वरूप का विवेचन अक्सर प्रगतिशील समीक्षक यांत्रिक दृष्टि से करते हैं, जबकि अमृतराय ने इसे विकास के सही परिप्रेक्ष्य में देखा है। "उत्पादन के

---

1. अमृतराय : नयी समीक्षा : पृ० ३-४।
2. वही, पृ० ५।

साधनों के विकास के साथ-साथ समाज ने विकास किया है, उन्हीं के अनुसार भिन्न-भिन्न कालों की समाज-रचना में परिवर्तन आया है और भिन्न-भिन्न समाज-रचनाओं में भिन्न-भिन्न सामाजिक सम्बन्धों की स्थिति रही है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न सामाजिक सम्बन्धों में बँधे हुए लोगों के संघर्षों (वर्ग-संघर्ष) उनके क्रियाकलापों का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी अनिवार्य रूप से पड़ा है। उत्पादन के साधन ही मानव समाज के विकास के मूल में हैं और वह आर्थिक होते हैं, इसीलिए यह कहा गया है कि साहित्य का आधार अन्ततः आर्थिक होता है।[1]" अमृतराय ने उन भयंकर भूलों की ओर भी स्पष्ट इंगित किया है जो युग-विशेष में विचारों को तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों से सम्बद्ध कर देती हैं। "किसी युग-विशेष में विचारों को तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों की प्रतिकृति मान बैठना मार्क्सवाद की हत्या करना है। यह कहना गलत है कि—युग की आर्थिक परिस्थितियाँ—युग की विचारधारा है।"[2] साहित्य के सन्दर्भ में मार्क्स की कुछ मान्यताओं को मानते हुए अमृतराय ने कुछ गलतफहमी भी की है। उन्होंने प्राचीन साहित्य को वर्ग-साहित्य कहा है। एक सीमा तक इस मान्यता को स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि वह वर्गभेद का अर्थ उन सभी प्राचीन भेदों को मानते हैं जो तत्कालीन समाज का परिचय देते हैं—"मार्क्स भारतीय, चीनी, मिस्री, यूनानी, रोमन आदि सभी प्राचीनतम साहित्यों की गवेषणा के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जो लिखित साहित्य हम तक पहुँचा है, वह वर्ग-विभक्त समाज की उपज है, इसलिए उस पर समाज के वर्गभेद की छाप है। .....यह वर्गभेद अवश्य ही वह वर्गभेद नहीं है जो आज हमें दिखलाई पड़ता है, क्योंकि तब की समाज-रचना भी आज की सी न थी। हमें अपने प्राचीन साहित्य में आर्यों और अनार्यों के परस्पर संघर्षों का जो उल्लेख मिलता है और जगह-जगह जो वर्णभेद, जातिभेद बड़े गहरे रूप में दिखलाई पड़ता है, वह तत्कालीन समाज के वर्गभेद का ही रूप है।[3]" अमृतरायजी की मान्यता का वह अंश आपत्तिजनक है अथवा सम्भवतः मार्क्सवाद के विपरीत है जिसमें वह लेनिन के आधार पर यह प्रतिपादित करते हैं कि अब तक की सारी कला वर्गयुक्त समाज की उपज होने के कारण केवल उन्हीं मान्यताओं का प्रतिपादन करती है जो इस काल के शोषकवर्ग की हैं।[4] वह जो मानते हैं वह सारे प्राचीन साहित्य को व्यर्थ और प्रतिक्रियावादी सिद्ध कर देता है। हिन्दी साहित्य पर यदि इस मान्यता को लागू कर दिया जाएगा तो सूर और कबीर की वे कविताएँ जो रीतिकालीन शोषण का विरोध करने के लिए

1. अमृतराय : नयी समीक्षा : पृ० ५।
2. वही, पृ० ६।
3. वही, पृ० ७।
4. वही, पृ० ८।

लिखी गयी हैं, प्रतिक्रियावादी सिद्ध होंगी। कबीर और सूर को किसी प्रकार भी अमृतरायजी अपने युग की विचारधारा का वाहक नहीं सिद्ध कर सकते और इसे सिद्ध करने के लिए उन्होने जो दृष्टान्त दिया है[1] वह भी असमीचीन है। इन मार्क्सवादी मान्यताओं और विवेचनों के साथ ही भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के प्रति उनका सिद्धान्त जान लेना भी समीचीन होगा। उन्होंने कॉडवेल के 'सामूहिक भाव' की मान्यता को पूर्णतः स्वीकार किया है। वह साहित्य की इस कसौटी को स्वीकार करते हैं कि उसमें उच्चकोटि की संवेदनीयता हो, जिससे उस कलाकृति का अपने युग में तथा आगे आने वाले युगों में समादर हो सके। उन्हें लोकरंजन और लोकशिक्षण भी स्वीकार है। इस संवेदनीयता को वह साधारणीकरण का पर्यायवाची मानते हैं और साधारणीकरण को कलाकृति का प्राण कहते हैं। इससे सिद्ध है कि उनको साधारणीकरण का सिद्धान्त मान्य है। "कलाकृतियों की महत्ता इसी में है कि वह अपनी उच्चकोटि की संवेदनीयता के कारण अपने युग में सम्पूर्ण जन-समाज द्वारा तथा युग-युग तक समादृत हों और लोकरंजन तथा लोकशिक्षण का अपना जीवन स्फूर्त्त उद्देश्य पूरा करती रहें। देश या विदेश की जो प्राचीन से प्राचीन रचना आज भी जनता के मन में स्नेह और आदर का स्थान बनाए हुए है, वह अपनी इसी संवेदनीयता के कारण है। यह संवेदनीयता का गुण या साधारणीकरण ही किसी साहित्यिक कृति की आत्मा, उसका प्राण है।[2]" रससिद्धान्त के सम्बन्ध में उनकी धारणा उसे नये धरातल पर स्वीकृति प्रदान करने की है—"मैं समझता हूँ कि मार्क्सवादी आलोचकों को साधारणीकरण या रस को मान लेने में कोई कठिनाई न होगी। लेकिन वह उसे स्वीकार करेंगे मनोविज्ञान की भूमि पर, अन्य किसी लोकोत्तर भूमि पर नहीं जब तक रस-सिद्धान्त को थोते अध्यात्म के जंजाल से मुक्त करके उसे पूर्णतः शरीरी नहीं बनाया जाता और उसमें आधुनिकतम मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के आलोक में नई बातों का समावेश नहीं किया जाता तब तक यही स्थिति रहेगी कि एक ओर तो कुछ लोग उसे अपने जीवन के शेष संबल की तरह चिपकाये बैठे रहेंगे और दूसरी ओर कुछ उसके नाम मात्र से बिदकेंगे।[3]" अन्य मार्क्सवादी समीक्षकों के अनुसार वह रससिद्धान्त को स्वीकार करने में कोई अनौचित्य नहीं देखते, लेकिन उनकी दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं है क्योंकि वह साधारणीकरण को रस का पर्यायवाची मानते हैं।[4] व्यक्तिवाद का विरोध करते हुए उन्होंने कला का सार्वजनिक उपयोग स्वीकार किया है। वह मार्क्सवादी आलोचकों

1. अमृतराय : नयी समीक्षा : पृ० १०।
2. वही, नयी कविता : पृ० २४।
3. वही, पृ० २४।
4. वही, पृ० २४।

का उदाहरण देकर सिद्ध करते हैं कि उनकी इस मान्यता में और साधारणीकरण की मान्यता में कोई अन्तर नहीं है। "मानव जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रत्येक वस्तु के चित्रण के अन्दर यह बात निहित है कि अंकित चित्र का महत्त्व केवल कलाकार के लिए नहीं वरन् सामान्य रूप के सभी मनुष्यों के लिए होना चाहिए। इस प्रकार कला का वास्तविक महत्त्व किसी वस्तु का चित्रण इस प्रकार करने में है कि केवल कलाकार के निकट महत्त्वपूर्ण वस्तु सामान्य रूप में सबके लिए उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण हो उठे। मार्क्सवादी आलोचकों के इस कथन में और साधारणीकरण के सिद्धान्त में क्या कोई अन्तर है? रसोद्बोधन की, पाठक अथवा श्रोता की भावात्मक सत्ता को प्रभावित करने की जो प्रेरणा साधारणीकरण के सिद्धान्त के मूल में है, क्या वही प्रेरणा मार्क्सवादी आलोचकों के इस कथन के मूल में नहीं है? अवश्य है।[1] अमृतरायजी साहित्य का उद्देश्य पाठक या श्रोता की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालना स्वीकार करते हैं। जो साहित्य यह नहीं कर सकता, वह अपने उद्देश्य की दृष्टि से असफल है। सब मिलाकर कुछ सीमाओं के साथ उनकी दृस्टि व्यापक आधार ग्रहण करके चली है।

## साहित्य और जन-जीवन

जैसा कि पीछे दिखाया जा चुका है, साहित्य और समाज के सम्बन्ध अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है कि यदि साहित्यकार सामाजिक परिस्थिति से अप्रभावित रहने का पूरा प्रयास करे तब भी उसके लिए ऐसा करना असम्भव है। वह चाहे या न चाहे परिस्थितियों का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ेगा। परिस्थितियाँ विचारधारा को प्रकट करती हैं और विचारधारा परिस्थितियों को। आलोच्य समीक्षक साहित्य और समाज का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित मानते हैं— "जिस समाज का वह प्राणी होता है, जिन परिस्थितियों में वह सोता-जागता, उठता बैठता तथा जीवकोपार्जन करता है, उनसे प्रभावित हुए बिना उसका साहित्य नहीं रह सकता। साहित्यकार चाहे या न चाहे परिस्थितियाँ उस पर प्रभाव डालेगीं ही, सामयिक समाज-रचना की छाप उस पर पड़ेगी ही। परिस्थितियाँ विचारधारा पर प्रभाव डालती हैं और विचारधारा परिस्थितियों पर। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। समाज का प्रभाव साहित्यकार पर पड़ता है और साहित्यकार का प्रभाव समाज पर—यह सामान्य तथ्य है जिसे स्वीकार करने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होगी। यही मार्क्सवादी आलोचना का बीज है।[2] साहित्य और समाज के सम्बन्ध को इस वृहद् सीमा तक स्वीकार करने के कारण ही वह मार्क्सवादी आलोचना का आधार साहित्य की समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक व्याख्या को मानते हैं। जिसमें वर्तमान

1. अमृतराय : नयी समीक्षा : पृ० २५।
2. वही, पृ० २।

मान सामाजिक सम्बन्धों को दिखा कर आगामी समाज-रचना का रूप भी स्पष्ट होना चाहिए—ऐसा मान्य करते हैं। "मार्क्सवादी आलोचना-साहित्य की वह समाज-शास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए समाज और साहित्य के अन्योन्याश्रय तथा गतिशील सम्बन्ध का उद्घाटन करती है और सचेतन रूप में समाज को बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करती है।[1] साहित्य और समाज का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध मानने वाली विचारधारा उन निरपेक्ष और स्वतन्त्रता की घोषणा करने वाली दृष्टियों का विरोध ही करेगी जो साहित्य को अर्थ सम्बन्धो से सम्बन्धित नहीं मानती। उनकी मान्यताओं का खण्डन करते हुए वह लिखते हैं—"मार्क्सवादी साहित्य की पूर्ण निरपेक्ष स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करते। विचारधारा का विकास किसी सीमा तक स्वतन्त्र रूप में होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों एक-दूसरे से विच्छिन्न हैं और विचारधारा अपने आर्थिक आधार से पूर्णतया स्वतन्त्र है क्योंकि यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भूतकाल में आर्थिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप विचार-जगत् में परिवर्तन हुए हैं और उसी प्रकार आज के परिवर्तन भविष्य के विचार-जगत् के परिवर्तनों की रूपरेखा निर्धारित कर रहे हैं। प्रत्येक विचारधारा अपने युग के आर्थिक विकास का परिणाम होती है।"[2] उन्हें निरपेक्षतावादी मान्यताएँ जितनी एकांगी प्रतीत हुई हैं उतनी ही भौंड़ी यांत्रिकवादी मान्यताएँ लगी हैं जिनमें तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों का ज्यों-का-त्यों प्रतिबिम्ब उतारना स्वीकार किया जाता है। वह परिस्थितियों और साहित्य की उस दुहरी भूमिका में विश्वास करते हैं जिनका सम्बन्ध एक-दूसरे से है—"मार्क्सवादी न तो कलाकार की पूर्ण, निरपेक्ष, वर्गसमाज और तत्कालीन परिस्थितियों से ऊपर उठी हुई सत्ता को स्वीकार करता है और न इस भौंड़े मत को कि कलाकार अपनी कृतियों में तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियो का ज्यों-का-त्यों प्रतिबिम्ब उतारता है। मार्क्सवादी आलोचक इन दोनों स्थापनाओं को एकांगी और अवैज्ञानिक, इसलिए भ्रामक समझता है। वह दोनो ही स्थापनाओं का विरोध करता है और कलाकार और समाज के सम्बन्ध को गतिशील रूप में समझने के कारण, जीवन की दृष्टि से देखने के कारण जिस प्रकार कलाकार को समाज से प्रभावित होते हुए दिखाता है, उसी प्रकार प्रभावित करते हुए भी। कलाकार की स्थिति परिस्थिति-सापेक्ष अवश्य है, पर वह परिस्थितियों का दास नहीं है, परिस्थितियों का विधायक है। परिस्थितियाँ यदि उसका निर्माण करती हैं तो वह भी परिस्थितियो का निर्माण करता है।"[3] जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध मानने के कारण ही उन्होंने साहित्य की कसौटी जीवन को माना

---

1. अमृतराय : नयी समीक्षा : पृ० ५।
2. वही, पृ० १३।
3. वही, पृ० १४-१५।

है। जो साहित्य इस कसौटी पर खरा उतरता है उसी को वह स्वीकार करते हैं[1] कॉडवेल ने जनजीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हुए साहित्य को लेखक की मनोवैज्ञानिक भूमि पर स्थापित करके उसे कलैक्टिव इमोशन कहा है। अमृतराय ने उसका विस्तार से विवेचन किया है और बताया है कि साहित्यकार को जनजीवन के यथार्थवादी चित्रण के लिए जनता के बीच जाकर सच्चा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[2] "यदि कोई साहित्यकार विशाल जनता के जीवन का चित्रण करना चाहता है तो उसे सम्पूर्ण रूप में जनता के जीवन के साथ अपने को एकाकार कर देना चाहिए। उसी दशा में साहित्यकार जनता के सामूहिक भावों का यथोचित परिपाक अपने में कर सकेगा।" जनजीवन और साहित्य को सम्बन्धित करने वाला कलाकार मानवतावादी पहले होता है, और कुछ बाद में। अमृतराय ने कलावाद को मानवतावाद का विरोधी मानते हुए लिखा है —"प्रगतिशील क्रांतिकारी साहित्य से मानवतावादी साहित्य का सम्बन्ध जो चीज जोड़ती है, वही कला के कला वाले विशुद्ध साहित्य से उसका सम्बन्ध तोड़ती भी है। कला कला के लिए अपने लिए होती है। उसकी दृष्टि अपने ऊपर रहती है। मानवतावादी साहित्य की दृष्टि मनुष्य के सुख-दुःख पर है। उसके सृष्टा वे हैं जिन्होंने अपने जीवन में अकथ्य कष्ट सहे हैं। कष्टों की ज्वाला में जलते हुए उन्होंने मानवता के स्वर्णिम विहान का स्वप्न देखा है। इसलिए उनके ये स्वप्न-अवकाश भोगियों, उपजीवीवर्ग के अकर्मण्य बनाने वाले सपनों से भिन्न हैं। उनमें व्यक्ति और समाज को कर्म के पथ से उन्नति की ओर स्वप्न के स्वर्णिम विहान की ओर अग्रसर करने की समीक्षा है।"[3] उनकी इस मान्यता में कोई मौलिकता नहीं है। फिर भी साहित्य की सामयिक और सार्वकालिक कसौटी के रूप में उनका यह कथन उपयुक्त लगता है कि—"जो साहित्य आज युग-युग के साहित्य के रूप में वंदित है, वह सबसे पहले अपने युग का था, अपने युग और समाज में पूरी तरह डूबा हुआ।"[4]

## समाजवादी यथार्थवाद

समाजवादी यथार्थवाद का जो विवेचन अमृतराय ने किया है दुर्भाग्य से उसका आधार भारतीय साहित्य और परिस्थितियाँ न होकर रूसी-साहित्य और वहाँ की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियाँ हैं। उन्होंने इस संदर्भ में कोई ऐसी बात नहीं कही है जो मौलिकतापूर्ण हो तथा जिसमें पिष्टपेषण की सीमाओं से ऊपर उठा गया हो। इस विषय में उन्होंने उन्हीं मान्यताओं का पुनः-पुनः समर्थन किया है जिनका विवेचन

1. अमृतराय : नयी समीक्षा : पृ० १७।
2. वही, पृ० १५।
3. वही, पृ० ३१।
4. वही, पृ० ४४।

पिछले पृष्ठों में हो चुका है। यथार्थवाद की जो परिभाषा उन्होंने दी है वह निम्न पंक्तियों में अपना एक रूप स्पष्ट करती है—"जो साहित्यकार जितनी अधिक संवेदनीयता के साथ जीवन को अपने साहित्य में उतारता है, वह उतना ही बड़ा साहित्यकार होता है और जीवन से हमारा अभिप्राय, काल्पनिक, स्वप्निल जीवन से नहीं प्रत्युत जीवन-संघर्ष से है, जीवन-संघर्ष से पैदा मानसिक, वैचारिक और भावात्मक उथल-पुथल से है।"[1] गोर्की के साहित्य की विशेषताओं का परीक्षण करते हुए उन्होंने लिखा है कि उनके साहित्य की शक्ति यथार्थवाद है। गोर्की का यथार्थवाद नग्न चित्रण करके ही नहीं रुक जाता वरन् आजादी के लिए लड़ता-मरता और मानवता को आजाद होता हुआ देखता है। उसके पात्रों के सामने मनुष्य का क्रांतिकारी स्वरूप भी रहता है जिसमें वर्तमान को बदलने की क्षमता है।"[2] अमृतराय अपने समाजवादी यथार्थवाद को गोर्की की मान्यताओं पर ही आधारित करते हैं। यथार्थवादी साहित्य की विशेषताओं का प्रतिपादन करते हुए वह अनुभूति की गहराई और अभिव्यक्ति की मार्मिकता को अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। समाजवादी यथार्थवाद की विशेषताएँ बताते हुए उन्होंने कहा है कि किसी समाज के ऐतिहासिक विकास के क्रम की जो क्रांति दिशा होती है समाजवादी यथार्थवाद उसके साथ होता है। वह जीवन की वास्तविकताओं के साथ आगे बढ़ता है। जीवन के ह्रास को जिस रूप में वहाँ चित्रित किया जाता है वह केवल इसलिए कि वह वर्तमान समाज-व्यवस्था का यथार्थ रूप है, जिससे शिक्षा ग्रहण करके हमें भविष्य के विकास की दिशा निर्धारित करनी है। उसमें प्राचीन परम्परावादी ट्रैजेडी के लिए स्थान नहीं है वरन् एक सशक्त रोमांचवाद उसके मूल में काम करता है। आज क्रांति की जो शक्तियाँ उज्ज्वल भविष्य की आवाज दे रही हैं वे भी समाजवादी यथार्थवाद की आधार हैं।[3] अमृतराय ने प्रेमचन्द जी के साहित्य का मूल्याङ्कन करते हुए पुनः प्रगतिशील साहित्य का यह रूप भी स्वीकार किया है और प्रेमचन्द को प्रगतिशील समाज-सुधारक की संज्ञा देकर समाज में अमूल्य परिवर्तन लाने वाला कहा है। इससे सिद्ध है कि आलोच्य समीक्षक समाजवादी यथार्थवाद के जहाँ सिद्धांत-पक्ष के गोर्की तथा अन्य रूसी मार्क्सवादी समीक्षकों के अनुकरणकर्ता हैं वहाँ व्यावहारिक समीक्षा में पूर्वाग्रहों से आक्रांत हैं। अमृतराय ने समीक्षा के नाम पर अधिक नहीं लिखा है, इसलिए अनेक प्रश्नों पर वह विचार नहीं कर पाए हैं और उस सम्बन्ध में उनकी धारणाएं अज्ञात हैं। कुत्सित समाजशास्त्रीयता का जो आन्दोलन चला उसमें उन्होंने सक्रिय भाग लिया। उनकी समीक्षा में प्रचारवादी स्वर का प्रामुख्य यदि न रहता तो संभवतः विवेचन में अधिक गांभीर्य आ जाता।

---

1. अमृतराय : नयी समीक्षा : पृ० ३८।
2. वही, पृ० १०४-५।
3. वही, पृ० ५२।

# प्रकाशचन्द गुप्त

## मार्क्सीय सिद्धान्त

जगत् का द्वन्द्ववाद से विकसित होना प्रो० प्रकाशचन्द गुप्त को मान्य है। जगत् का आधार सतत चलने वाला आधार है। ह्रासशील शक्ति मिटती हैं और विकासशील शक्ति आगे बढ़ती है। इस विकास में परम्परा भी रहती है और नवीनता भी। "दो विरोधी तत्त्वों से मिलकर जगत् बना है। इनमें सतत संघर्ष चला करता है। इन दो शक्तियों के तनाव से सत्य निकलता है। एक शक्ति हमें पीछे खींचती है, दूसरी आगे ले जाती है। इस पारस्परिक संघर्ष से जो स्थिति उत्पन्न होती है उसमें कुछ पुराना होता है और कुछ नया। यह समन्वय पिछली स्थिति से एक पग आगे अवश्य होता है। हम अपने अतीत को नहीं छोड़ सकते किन्तु उसमें उलझ कर रुक भी नहीं सकते।[1] जगत् और जीवन का सामान्य नियम गतिशीलता है। यह गतिशीलता भौतिक जगत् और वैचारिक जगत् दोनों को संचालित रखती है। मनुष्य की विचारधारा उसकी भौतिक स्थिति की देन है। सत्य शिव सुन्दर शाश्वत नहीं हैं, निरन्तर सापेक्ष हैं। इसीलिए भौतिक परिवर्त्तनों के साथ ही कला और दर्शन बदलते हैं। गति जीवन का सनातन नियम है, भौतिक और विचारों के जगत् दोनों में ही, क्योंकि विचारों का जगत् यथार्थ का ही प्रतिबिम्ब है। मनुष्य के विचार उसके वातावरण के अनुकूल बनते हैं। भौतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ उसके विचार भी बदला करते हैं। सत्य शिव और सुन्दर के नित्य नये रूप उसके सामने आते हैं। कला और दर्शन समय की गति के अनुसार रूप बदलते हैं और सदा एक स्वर में व्यक्त होते हैं।"[2] समाज-व्यवस्था उत्पादन-साधनों पर आधारित होती है। उत्पादन-साधनों के बदल जाने से समाज में क्रांति हो जाती है और समाज बदल जाता है। फिर जब धीरे-धीरे यह व्यवस्था जड़ होने लगती है तो दूसरी क्रांति आती है और उसे जड़ बना देती है। विकास का यह क्रम चलता रहता है। साहित्य इस क्रम को समझ कर आगे बढ़ता है। "उत्पादन के साधनों में निरन्तर परिवर्तन होता है, किन्तु सामाजिक सम्बन्ध एक हद तक स्थिर हो जाते हैं। उन्हें बदलने के लिए क्रांति होती है। जो समाज आज विकास के पथ पर है, कल जड़ और अचल होकर पिछड़ जाता है और एक प्रतिगामी शक्ति बन जाता है। इसे बदलने की आवश्यकता होती है। यह संघर्ष हर समाज में चला करता है।"[3] विकास के लिए मनुष्य को वातावरण से संघर्ष करना पड़ता है। संघर्ष का परिणाम प्रकृति को अपने वश में करना होता है। इस नये अनुभव से उसे जो ज्ञान मिलता है उसी को अपनी कला के द्वारा सजाता है।

---

1. प्रकाशचन्द गुप्त : हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० १३८।
2. वही, पृ० १३८।
3. वही, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० १३९।

इस प्रकार कला का जन्म सौंदर्य की शाश्वत भूख है। "मनुष्य निरन्तर अपने वातावरण से युद्ध करता है। प्रकृति की विराट शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करके अपने में नया बल अनुभव करता है। इस संघर्ष में उत्पन्न हुई अनुभूतियों को वह कला से सजाता है। इस प्रकार काव्य, संगीत, चित्रकला आदि का जन्म होता है।"[1] विज्ञान को आधार मानकर चलने वाली मार्क्सवादी मान्यता प्रगतिवाद को भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समन्वित करती है। गुप्तजी ने नवीन कविता के विकास में वैज्ञानिक योगदान को स्वीकार किया है। "अंग्रेजी शासन के साथ औद्योगिक क्रांति का भारत में प्रवेश हुआ। रेल, तार और बाद में वायुयान और रेडियो ने भारतीय जातियों को ऐसी वैज्ञानिक एकता में बाँध दिया, जो पहले सर्वथा असम्भव थी। काल और देश पर इस विजय का श्रेय विज्ञान को है।"[2] जब कोई विचार जनता को स्वीकार हो जाता है तो वह एक ऐसी शक्ति बन जाता है जो सारे समाज को बदल देता है। समाज के ढाँचे में अर्थ-सम्बन्ध आधार की तरह होते हैं एवं विचार, कला, संस्कृति, दर्शन आदि उस आधार पर खड़े भवनों के समान हैं। मार्क्स की इस मान्यता को गुप्तजी ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया है—"मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार जब कोई विचार जनता के मन में घर कर लेते हैं तब वह भौतिक शक्ति बन जाते हैं। भौतिक परिस्थितियों और विचारों का सम्बन्ध नींव और उस पर खड़ी इमारत के समान है। यदि आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध नीव हैं तो ज्ञान, विज्ञान, कानून, दर्शन, साहित्य और कला उस नींव के आधार पर खड़ी इमारत के समान हैं। नीव और इमारत के खण्डों में जितनी ही दूरी बढ़ती जाती है, आधार उतना अप्रत्यक्ष और प्रच्छन्न होने लगता है किन्तु वास्तविकता यह नहीं होती। कानून, शासन-पद्धति आदि में यह प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष होता है, किन्तु इमारत के अन्तिम खण्डों में, कविता और शुद्ध विज्ञान में प्रच्छन्न होने लगता है। जब समाज में प्रगति की सम्भावना प्रकट होती है तब विज्ञान में आत्म-विश्वासी प्रवृत्तियाँ व्यक्त होती हैं।"[3] जैसे ही यह आधार बदल जाता है वैसे ही ऊपर का भवन बदलने लगता है। परिवेश के अनुसार यह परिवर्तन अवश्यम्भावी है, इसको रोका नहीं जा सकता। यह परिवर्तन लोगों के दृष्टिकोण को और उनकी काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं को एकदम बदल देता है। इस मान्यता को स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है—"प्रत्येक समाज-व्यवस्था अपने आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों के अनुरूप विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों को एक विशेष दिशा में मोड़ती है, एक विशेष साँचे में ढालती है। देश और काल के इस प्रभाव से बचना संभव नहीं है। इतना ही नहीं, वरन् व्यक्तियों के समूह अथवा वर्गों के भी इस सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से विशेष सम्बन्ध होते हैं और इन सम्बन्धों के अनुरूप उनकी दृष्टि

---

1. प्रकाशचन्द गुप्त : नया हिन्दी साहित्य : पृ० १।
2. वही, साहित्य-धारा : पृ० ८०।
3. वही, पृ० १-२।

में अन्तर आता है।"[1] कला और साहित्य आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर बने शोषक और शोषित दोनों वर्गों की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करते हैं। शासकवर्ग उच्च कोटि की कला को अपना माध्यम बनाता है और शोषितवर्ग लोकगीतों आदि को। यह कला का दुहरा रूप प्रत्येक युग में देखा जाता है। प्राचीनकाल में इन रूपों का दर्शन करते हुए उन्होंने लिखा है "मनुष्य ने सभ्यता का पहला पाठ सबके साथ मिल-बाँट कर खाना सीखा। कृषि-समाज के साथ भूमि व्यक्ति की संपत्ति बनी और समाज दो भागों में बँट गया : एक वर्ग के हाथ में सत्ता थी, दूसरा शासित था। शताब्दियों से कला शासकवर्गों की भावनाओं का प्रतिबिम्ब रही है, क्योंकि शासितवर्ग के पास भावनाओं की अभिव्यक्ति के कोई विशेष साधन न थे। शोषितवर्ग की भावनाएँ लोकगीतों में और लोककला के अन्य रूपों में प्रसार पाती रहीं। लेकिन यह कला दबी दबी जीवन यापन करती रही।"[2] आधुनिक काव्य को इसी कसौटी पर कसते हुए उन्होंने छायावादी कवियों का विश्लेषण किया है जो यथेष्ट सीमा तक युक्तिसंगत और ऐतिहासिक-क्रम को समझने में सहायक सिद्ध होता है। "छायावादी कवियों की प्रेरणा समय के प्रवाह के साथ अधिकाधिक व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी होती गयी, यह स्वाभाविक था, क्योंकि विदेशी पूँजीवादी साहित्य और कला का प्रभाव भारत में पड़ रहा था। पूँजीवाद के अन्तर्गत मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध टूट जाते हैं। व्यक्ति और व्यक्ति का सम्बन्ध टूट कर व्यक्ति और पूँजी का नाता बनता है। सब सामाजिक सम्बन्धों का आधार पूँजी बन जाती है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में पला कवि अपने को अकेला पाकर विकल होता है और उसका क्रन्दन कविता में भर जाता है।"[3] आर्थिक सम्बन्धों की इन ऐतिहासिक मान्यताओं का क्रम आदि युग से लेकर वर्तमान काल तक स्पष्ट किया गया है और भारतवर्ष के सन्दर्भ में यह आशा की गई है कि यहाँ पर भी सर्वहारा क्रांति के द्वारा वर्ग-विभाजित समाज-व्यवस्था को नष्ट करके साम्यवादी समाज की रचना होगी। सच्ची सभ्यता और संस्कृति का प्रादुर्भाव उसी युग में होगा। उनकी यह मार्क्सवादी मान्यता निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—"सर्वहारा की सेना आगे बढ़ रही है। उसकी विजय निश्चित है। विश्व की नवीन समाज-व्यवस्था शोषण और शोषक दल का सदा के लिए अन्त कर देगी। नवीन संस्कृति इतिहास में पहली बार पूर्णरूप से जन-सत्तात्मक होगी। तब आदिम-युग का अन्त होगा और सच्ची सभ्यता का आरंभ।"[4] आर्थिक आधारों का यह विकास इतिहास के प्रति एक नये दृष्टिकोण को जन्म देता है। इस ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार सबसे पहले प्रागैतिहासिक युग की कल्पना की गयी है। इस युग में आदिम साम्यवादी

1. प्रकाशचन्द गुप्त : हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० ७।
2. प्रकाशचन्द गुप्त : नया हिन्दी साहित्य : पृ० १ :
3. वही, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० १४०
4. वही, नया हिन्दी साहित्य : पृ० ५।

समाज-दशा थी जिसमें सभी लोग अपनी आवश्यकता-भर उत्पादन करते थे। इस अवस्था के पश्चात् दास-प्रथा आई, जिसमें समाज दो वर्गों में बँट गया—शोषक और शोषित—"प्रागैतिहासिक युग में वह जंगल के कंद-मूल-फल बटोर कर खाता था, जंगली जानवरों का शिकार करता था, या शिकार बनता था। उसका जीवन भाग्य का एक पासा था। फिर उसने जानवर पाले, धरती जोती, बीज बोये, आग जलाना सीखा। उसकी युक्ति में यह एक बहुत बड़ा कदम था। उसने नगर बसाये, सामूहिक जीवन-यापन सीखा, उत्पादन के साधनों में उन्नति के साथ-साथ श्रम-विभाजन की आवश्यकता भी आ पड़ी और समाज दो भागों में बँट गया। दास भूमि गोड़ते थे और एक अवकाशभोगी वर्ग कला, विज्ञान आदि संस्कृति के अंग सँवारता था। इस श्रम-विभाजन ने समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन और विकास किया।"[1] दास-प्रथा आदिम साम्यवाद से एक चरण आगे थी किन्तु जब वह सड़ गयी अर्थात् अधिक विकास संभव न रहा तो फिर क्रांति हुई और सामंतवादी युग आ गया, जिसमें दास किसान बना और स्वामी सामंत बन गया। दास-युग की अपेक्षा यह युग एक नया विकास-चरण था। इस युग में आकर कविता और कला सामंत के मनोरंजन का साधन मात्र बन गयी। "कृषि-प्रधान समाज कालान्तर में सामंती समाज में परिणत हुआ, जब उत्पादन शक्तियों का प्रबन्ध सामंतों के हाथ में आया। सामंतवर्ग भूमि का स्वामी था और भू-दासों के श्रम पर उनका जीवन अवलम्बित था। सामंती समाज के अनुरूप उनकी कला का भी विकास हुआ, जिसमें अनंत अविकास-प्राप्त व्यक्तियों के विलास और क्रीड़ा का चित्रण था।"[2] सामंती अवस्था को बदलने वाला युग औद्योगिक क्रांति की देन है। इस क्रांति में पूँजीवाद को जन्म मिला। सामंती संस्कृति में कला और साहित्य काम पर आधारित हो गये किन्तु पूँजीवादी समाज में आकर वह अर्थाधारित सिद्ध हुए। "क्रमशः सामंती समाज का ह्रास हुआ और उसका स्थान एक नवीन समाज-पद्धति ने ग्रहण किया। पुराने शासक धूल में मिल गए और नवीन वर्ग ने सिर उठाया। इस वर्ग ने उत्पादन-शक्तियों का अपूर्व विकास किया और वर्ग-संस्कृति को अनेक कदम आगे बढ़ाया। किन्तु यह व्यवसायी संस्कृति अर्थ को उसी प्रकार अपना सर्वस्व मानती है, जैसे सामंती संस्कृति 'काम' को।"[3] हमारे देश में आजकल यही पूँजीवादी व्यवस्था चल रही है। आज के प्रगतिशील लेखक का उत्तरदायित्व है कि आगे आने वाली समाज-व्यवस्था के लिए भूमिका तैयार करे। किन्तु वह क्रांति की झोंक में संस्कृति के इन तत्त्वों का भी विरोध न करने लगे जो मूल्यवान हैं और जिन्हें आगे भी छोड़ा नहीं जाएगा। जो आगे चलकर नष्ट होंगे उनका ही विरोध होना चाहिए।

---

1. प्रकाशचन्द्र गुप्त : हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० १३८-३९।
2. वही, नया हिन्दी साहित्य : पृ० २।
3. वही, नया हिन्दी साहित्य : पृ० ४।

"प्रगतिशील लेखक सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति चाहता है। वह एक अत्यन्त विस्तृत धरातल पर मानव-संस्कृति का निर्माण चाहते हैं। अपनी पुरानी विरासत को सम्मान सहित अपनाकर वह आगे बढ़ता है। कुछ भी मूल्यवान वस्तुएँ वह पीछे नहीं छोड़ सकता। किन्तु अवांछित भार उसे ढोने चाहिएँ क्योंकि आज कल जो दोहराएगा नहीं कल की संस्कृति कल से भी अधिक विकसित और अच्छी होगी।"[1] ऐतिहासिक क्रम में इन सारे तत्त्वों को समझकर साहित्य की मार्क्सवादी आलोचना, जनप्रवृत्ति, आर्थिक सम्बन्ध, आर्थिक राजनैतिक मान्यताएँ, समाजशास्त्र, उत्पादन और विनिमय आदि को आधार मानकर चलती है। प्रकाशचन्द गुप्त ने इन समस्त मान्यताओं के सिद्धान्त का विवेचन नहीं किया है वरन् अपनी साहित्य-समीक्षा में इनको कसौटी के रूप में स्वीकार भी किया है। मूल्यांकन में इस आधार ने जो सहयोग दिया है उसका एक रूप यह है —'सूर-साहित्य के सामाजिक महत्त्व को समझने के लिए हमें भक्ति-आंदोलन की भूमिका समझनी होगी। एक विशेष राजनीतिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में भक्ति-आंदोलन का उत्थान हुआ। उस काल की सामाजिक व्यवस्था के तल में ऐसे भूमि-सम्बन्ध थे, जो अनेक साम्राज्यों के उलट-फेर और विदेशी आक्रमणों के प्रभाव से भी अछूते रहते थे। मध्यकालीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की आधार-भूमि ग्राम-पंचायतें थीं, जिनके संगठन में बँधी जनता कह सकती थी—'कोउ नृप होउ हमें का हानी, चेरी छाँडि न होउब रानी'। इसी कारण मध्य-युग में ही हम यह देख सकते थे कि एक ओर तो साम्राज्य पर आधिपत्य के लिए युद्ध हो रहा है, किन्तु पास ही खेत में किसान हल चला रहा है। ग्राम-पंचायतों के कारण मध्यकालीन भारत के मुख पर एक स्थिर, अविचल भाव है, उसे लगता है कि यह संसार कभी बदल न सकेगा किन्तु मध्यकालीन भारतीय समाज में इतिहास आधारभूत परिवर्तनों की माँग कर रहा था। एक ओर स्वावलम्बी ग्राम-पंचायतें और दूसरी ओर सतत परिवर्तन-शील साम्राज्यवादी शक्तियाँ—यह नक्शा भारतीय जनता के हित में न था। उद्योग-धंधों, व्यवसाय और व्यापार के विकास के लिए स्वावलम्बी ग्राम-पंचायतों का टूटना आवश्यक था, आर्थिक विकास स्वावलम्बन से विशेष उत्पादन की दिशा में होता है। उत्पादन की इस पिछड़ी हुई पद्धति के साथ मध्यकालीन भारतीय जनता को वैभव-सम्पन्न साम्राज्यों का भार भी वाहन करना होता था। मध्यकालीन भारतीय समाज में दैन्य, गरीबी, महामारी और अकाल का प्रकोप रहता था। मुगल सम्राटों के वभव और विलास के नीचे त्रस्त जनता का रुदन और क्रन्दन निरन्तर उठ रहा था।"[2]

## प्रगतिशील दृष्टिकोण

प्रगतिवाद में साहित्य को जनजीवन के साथ जोड़ कर देखा जाता है। जन-

1. प्रकाशचन्द गुप्त : हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० १४८।
2. वही, साहित्य-धारा : पृ० ६०।

जीवन से हटकर चलने वाला साहित्य मूल्यहीन माना जाता है। साहित्य के कोई भी मानदण्ड ऐसे नहीं हो सकते जो सदैव चलते रहें। जैसे-जैसे समाज बदलाता जाय वैसे-वैसे साहित्य बदलना जाता है और साहित्य-समीक्षा की कसौटी भी उसी के अनुरूप परिवर्तित होती जाती है। इस अन्तर को समझ कर आज का साहित्य धर्म-परायणता, ईश्वर और परलोक को जब शोषण का साधन मानता है तभी प्रगतिशील बनता है—"सत्य का रूप बदलना रहता है। आज यही सत्य हम मान कर चलते हैं कि मनुष्य-मनुष्य के बीच अन्तर रहेगा, जीवन का रस बिरले ही लूट सकते हैं और परमात्मा धनी का साथ देते हैं। सत्य का यह नीचा रूप भी काल के गाल में विलीन हो जाएगा और संस्कृति का यह संकुचित आदर्श भी बदलेगा कि वह एक सूक्ष्म गुट के ही उपभोग के लिए बनी है।[1] "आजकल का प्रगतिशील समीक्षक समाज में वर्गसंघर्ष को स्वीकार करके चलता है। समाज के दो वर्ग—शोषक और शोषित में से वह शोषित का पक्ष लेता है। गुप्तजी ने दोनों वर्गों की सही स्थिति स्पष्ट की है और लिखा है, "समाज का एक विराट अंग सदा से दलित और त्रस्त रहा है, इसे अस्वीकार करना असम्भव है। बहुत पुराने आदमी समाज को छोड़कर, जबकि सामूहिक श्रम के फल का समान विभाजन होता था, किन्तु जब उत्पादन के साधन बहुत पिछड़े होने के कारण श्रम का फल भी बहुत सीमित था—इस आदिम समाज को छोड़ कर सदा से ही हम सभ्य समाज में एक ओर तो शक्ति-सम्पन्न और समृद्ध एक संकुचित वर्ग और दूसरी ओर दलित और त्रस्त मानव-समूह को देखते चले आ रहे हैं।"[2] साहित्य और समाज का सम्बन्ध हरा होता है। गुप्तजी मानते हैं कि जहाँ कलाकार सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है वहाँ वह उन्हें भी प्रभावित करता है। इस प्रकार सामाजिक परिवेश और कलाकार अन्योन्याश्रित रूप से एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं।[3] किन्तु यह सम्बन्ध बहुत स्पष्ट और इतना खुला हुआ नहीं होता कि सभी स्तर के पाठकों की समझ में आसानी से आ जाए। इसे वह अन्तरंग सम्बन्ध कहते है। प्रगतिवादी साहित्य जनसाधारण की भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करता हैं। प्रगतिवादी समीक्षा उन्हीं साहित्यकारों को मान्यता प्रदान करती है जो जन-चेतना को मुखरित करते हैं। प्रकाशचन्दजी प्रेमचन्द और पन्त को इसलिए समाजवादी साहित्यकार मानते हैं कि उन्होंने भारतीय जन-चेतना को वाणी दी है। उनका साहित्य देश की परम्परागत साहित्य-साधना का एक छोर है। वह हमारी साहित्यिक परम्पराओं को ऐसे नवीन पन्थों पर ले गए हैं जहाँ पहुँच कर जनवादी रूप प्रकट

---

1. प्रकाशचन्द गुप्त : नया हिन्दी साहित्य : पृ० २१३।
2. वही, साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० १८।
3. वही, साहित्य-धारा : पृ० १९।

हो सका है।[1] समाज के साथ जुड़ा हुआ साहित्य समाज की बेड़ियों के रहते कल्पना के गीत नहीं गा सकता। वह अपने साहित्य की शक्ति द्वारा उन बेड़ियों को तोड़ने का प्रयास करेगा। वर्ग-विभाजित समाज में चूँकि कलाकार मुक्त नहीं होता, इसी लिए सच्ची कला की उसमें अपेक्षा नहीं की जा सकती। जब वर्गवाद समाप्त होगा तभी सच्ची कला का सृजन होगा। "जो कलाकार समाज की बेड़ियाँ तोडने को अधीर हैं वे आज भी प्रतिभाशाली साहित्य की रचना कर सकते हैं। उनके प्राण जितने मुक्त होंगे, उनकी रचना में उतनी ही गति होगी। समाज का बन्धन टूटने पर कला का विकास कल्पनातीत होगा। उन्नत समाज की संस्कृति में अनन्य गति भर जाती है। इसका साक्षी इतिहास है।"[2] साहित्य और कला के द्वारा कलाकार मनुष्य की सूक्ष्मतम अनुभूतियों और भावनाओं को व्यक्त करता है। इन अनुभूतियों में सामाजिकता का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। कलाकार समाज में रहकर समाज-यथार्थ से जब टकराता है तो उसकी भावनाएँ क्षुब्ध होती हैं और यह क्षोभ मानसिक प्रगतिक्रिया है, जो कवि के जीवन-दर्शन से मिलकर रागात्मक छवि-चित्रों के द्वारा मूर्तिमान हो उठता है। इस तरह कला और साहित्य जीवन की सूक्ष्म और कलात्मक अभिव्यक्ति हैं। यह अभिव्यक्ति मधुर और उग्र दोनों रूपों में प्रकट होती है। इससे सिद्ध है कि प्रगतिशील सौन्दर्य-शास्त्र सामाजिकता और अनुभूति दोनों को जाड़ कर चलता है। "कविता में मनुष्य की सूक्ष्मतम अनुभूतियों और भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। ये अनुभूतियाँ और भावनाएँ जीवन के प्रति कवि की मानसिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं और उनके पीछे व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से कवि का जीवन दर्शन अथवा उनकी जीवन-दृष्टि भी निहित होती है। इस प्रकार यह भी कहा जाता है कि कविता जीवन के प्रति कवि-दृष्टि की सूक्ष्म और कोमल अनुभूतियों को प्रकट करती हैं। सदा ही कवि की भावनाएँ और अनुभूतियाँ कोमल हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनेक महान कवि अपने महाकाव्यों में उग्र रूप प्रकट करते हैं।"[3] सामाजिक दृष्टिकोण को आधार मानकर रचना करने वाले साहित्यिक प्रकाश-चन्दजी ने सामाजिक दृष्टिकोण से श्रेष्ठ माने हैं और इसी आधार पर भक्ति-काल के कवियों के काव्य की प्रशंसा की है—"भक्तिकाल के कवियों का दृष्टिकोण सामाजिक है, इसे अस्वीकार करना असम्भव है। सामाजिक पीड़ा के स्रोत मे फूट कर उनके काव्य की धारा निकलती है और निरन्तर उन्होंने इस जगत के पाखण्डों और कुरीतियों पर दृष्टिपात किया है। उनके समय के सामाजिक संघर्ष का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में है। सतसंग की महिमा ये कविगण गाते हैं, कल के दुखों से पार पाने की कामना अपने काव्य का ध्येय बनाते हैं। उनका मानवतावाद

---

1. प्रकाशचन्द गुप्त : सिद्धान्त और समीक्षा : पृ० ११२।
2. वही, नया हिन्दी साहित्य : पृ० ५२।
3. वही, साहित्य-धारा : पृ० १०३।

समाज के सामने उच्चतम आदर्श रखने की प्रेरणा उन्हें देता है। उस युग के संघर्ष में भक्त कवि भारतीय जनता के प्रतिनिधि थे, उसके हिरावल थे। खुले रूप से यह संघर्ष उस काल की शासन-व्यवस्था के विरुद्ध न था; किन्तु सभी सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं पर, जो इस व्यवस्था का मूल आधार थीं, यह संत-साहित्य एक मर्म-प्रहार अवश्य था। नीच ऊँच का भेद, गरीब-अमीर का भेद, हिन्दू-मुसलमान का भेद, यह सब दुराव भक्त-कवियों के दरबार में नहीं चलते। हरि के यहाँ तो 'हरि को भजे सो हरि का होई'।[1]' प्रेमचन्दजी की रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए उनमें वर्गसंघर्ष की स्थिति स्वीकार की गई है। उनकी कला-श्रेष्ठता एवं मान्यता का रहस्य यह बताया गया है कि वह भारतीय जनता से अन्यतम सम्पर्क रखते थे।[2] इस जनता और कला के सम्बन्ध का आधार श्रम स्वीकार किया गया है। वह मानते हैं कि सामान्य जनता कलाओं का उपयोग सामूहिक रूप से श्रम-भार को कम करने के लिए करती रही है। सभी कलाओं के प्राचीन रूपों से यह मान्यता पुष्ट होती है।[3] जैसे समाज बदलता है तो नये साहित्य के साथ नया सौन्दर्य-बोध भी लाता है। यह सत्य है कि साहित्य का आधार सामाजिक यथार्थ है। कोई साहित्य किसी भी मान्यता को लेकर चलने वाला हो वह समाज से अलग होकर जीवित नहीं रह सकता और साथ ही साथ यह भी सत्य है कि साहित्य में मानवीय अनुभूतियाँ, भावनाएँ और संवेदनाएँ मूर्तिमान रहती हैं, जिनमें परिवर्तन बहुत कम होता है। किन्तु युग के बदल जाने पर युग-यथार्थ जहाँ साहित्य की नवीन रचना को प्रेरित करता है वहाँ युगानुरूप सौन्दर्य-बोध भी देता है। इतना होने पर भी एक युग का पाठक दूसरे युग के साहित्य को पूर्णरूप से समझने में असमर्थ रहता है। क्योंकि पाठक की मनोवृत्ति और सौन्दर्य को परखने की दृष्टि युग से सीमित होती है।[4] साहित्य के समान संस्कृति में प्रकाशचन्दजी ने यथेष्ट ऊहापोह किया है। वह साहित्य और संस्कृति में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। संस्कृति सम्बन्धी समाज की सामाजिक दशा और आर्थिक व्यवस्था का परिणाम है जो संस्कृति को आर्थिक सम्बन्धों के साथ जोड़ कर देखने में अनौचित्य मानते हैं। उनसे असहमति होते हुए गुप्तजी ने लिखा है कि संस्कृति समाज से अलग शून्य में विचरण करती हुई कोई दैवी वस्तु नहीं है।[5] संस्कृति के समान ही वह अन्य दृष्टिकोणों को युग-विशेष और समाज-विशेष के संदर्भ में ही स्वीकार करना चाहते हैं। उनका यह सापेक्षतावादी दृष्टिकोण मार्क्सवाद के अनुकूल और सर्वथा समुचित है।

---

1. प्रकाशचन्द गुप्त : हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० ३६।
2. वही, साहित्य-धारा : पृ० ८९।
3. वही, पृ० २७।
4. वही, पृ० १०-११ के आधार पर।
5. वही, नया हिन्दी साहित्य : पृ० २१२।

है। आज के बुद्धिवादी वर्ग और पूँजीवादी व्यवस्था के सम्बन्धों का यथास्थान विवेचन करते हुए उन्होंने बार-बार यह घोषणा की है कि जब तक बुद्धिजीवी सर्वहारा को अपने साथ लेकर नवीन समाज-व्यवस्था के लिए क्रान्ति नहीं करेगा तब तक शोषक और शोषितों का यह अन्तर बना रहेगा। पूँजीवादी युग का प्रारम्भ हमारे यहाँ उन्होंने सन् १८५७ से स्वीकार किया है और तभी से वह सामन्तवाद का ह्रास भी मानते हैं।[1] भारतीय काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार विस्तार से कभी प्रकट नहीं किए। व्याख्यात्मक समीक्षाओं में जहाँ कहीं प्रश्न आया है वह अपने दृष्टिकोण को परोक्ष रूप से प्रकट करते रहे हैं। शिवदानसिंह चौहान की तरह उन्हें यह मान्य नहीं है कि रससिद्धान्त साहित्य की शाश्वत और अन्तिम कसौटी है। इस सम्बन्ध में मेरे द्वारा उनको लिखे जाने पर उन्होंने प्रकट किया है कि साहित्य की अन्तिम कसौटी कोई नहीं हो सकती। साहित्य की परिभाषा प्रत्येक नये युग के साथ बदलती रहती है। नये जीवन-सत्य साहित्य में व्यक्त होते हैं जो पुरानी सीमाओं में नहीं समाते। मोटे रूप से उनका आशय है कि मानव-भावनाओं और विचारों की सुन्दर एवं सबल भाषा में अभिव्यक्ति साहित्य कहलाती है, किन्तु, इस कसौटी को भी वह बहुत अपूर्ण मानते हैं।[2] रस को अस्वीकार करते हुए कला का सामाजिक महत्त्व स्वीकार करने के कारण वह पाठकों के हृदय तक पहुँचना और उन्हें प्रभावित करना साहित्य की सफलता की कसौटी मानते हैं और इस प्रकार उन्होंने साधारणीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया है—"हमें स्वीकार करना होगा कि कला एक सामाजिक क्रिया है और कलाकार अपनी जनता के हृदय तक पहुँचकर उसे प्रभावित करना चाहता है। इस सिलसिले में कुछ रुकावटें पैदा होती हैं जिन्हें हटाना होगा। कल के साधारणीकरण और सामाजीकरण की समस्याओं पर हमें ध्यान केन्द्रित करना होगा।"[3] प्रकाशचन्दजी पर भारतीय की अपेक्षा रूसी और चीनी आलोचना का जो प्रभाव है साहित्य की समीक्षा करते हुए तथा साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र-परम्परा के उन आधारभूत तत्त्वों को भी मान्यता नहीं दी है, जिन्हें आज तक का इतिहास सर्वोत्कृष्ट मानता रहा है और आगे का इतिहास भी जिन्हें अस्वीकार करके खड़ा नहीं रह सकेगा। उन्होंने साहित्य को अंग्रेजी के चश्मे से देखने का प्रयास किया है, जिससे प्रगतिवादी आन्दोलन का वह हित के स्थान पर अहित करते हुए ही अधिक दिखलाई देते हैं। सामाजिक यथार्थ सम्बन्धी उनकी मान्यता रूसी समाजवादी यथार्थवाद का अनुकरण है जिस पर कॉडवेल का प्रभाव स्पष्ट है, "सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति साहित्य और कला में सदा प्रत्यक्ष और प्रकट नहीं होती। सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों और

1. प्रकाशचन्द गुप्त : हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० १२३।
2. साहित्य सन्देश : जुलाई १९६१ : पृ० २४।
3. प्रकाशचन्द्र गुप्त : साहित्य-धारा : पृ० २७।

कोमल कल्पनाओं की अभिव्यक्ति कला में होती है, किन्तु इन अनुभूतियों और कोमल कल्पनाओं का सम्बन्ध आर्थिक आधार से अवश्य होता है। कलात्मक अभिव्यक्ति सूक्ष्म, कोमल और संश्लिष्ट होती है, आर्थिक आधार से उसका सम्बन्ध वही होता है जो फूल का भूमि से। फूल भूमि से उगता है और उसी का अंश और परिष्कृत रूप होता है, यद्यपि वह भूमि से भिन्न प्रतीत होता है।"[1] प्रगतिवादी समीक्षा का यह दुर्भाग्य है कि उसमें दो-एक आदमियों को छोड़ कर कोई भी विचारवान समीक्षक नहीं है और तात्विक विवेचन बहुत कम किया गया है। प्रचार और उपस्थापनावादी स्वर ही तीव्रतम है। प्रकाशचन्दजी जहाँ कहीं कोई गम्भीर बात कहते प्रतीत होते हैं तो या तो वह पिष्टपेषण होता है अथवा सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का साहित्य के साथ यांत्रिक सम्बन्ध मात्र। माओत्सेतुङ्ग की शब्दावली को दुहराते हुए उन्होंने साहित्यकारों को जनता के बीच में जाकर प्रत्यक्ष अनुभव ग्रहण करने और तब साहित्य रचना करने की आवश्यकता को बल प्रदान किया है।[2] यथार्थवाद को उन्होने शैली और कथ्य दोनों रूपों में मान्यता दी है। वह प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के विरोधी हैं। "यहाँ महाजन सूद खाता है, पंडितजी मोटे होते हैं, व्यापारी बैलों के प्राण तक खींच लेता है, घूस चलती है और जमींदार, उसके कारिन्दों और पुलिस का एकछत्र राज्य है। इस संसार में प्रेमचन्द कुछ पात्र पेश करते हैं, इनका यथार्थवादी चित्रण वह करते हैं। सभी दुर्बलताएँ और स्वाभाविक सीमाएँ वह दिखाते हैं। जब कहानी की गति अपने चरम-बिन्दु तक पहुँच जाती है, तब वह अनायास ही एक मोड़ लेती है। मनुष्यता की जीत होती है, अन्धकार की शक्तियाँ हारती हैं।"[3] जहाँ कहीं उन्होंने अपनी बुद्धि के आधार पर मूल्यांकन किया है वहाँ उनके निष्कर्ष निर्विवाद रूप से निष्पक्ष प्रगतिशील तत्त्वों को प्रकट करके साम्य लाने वाले तथा परम्परावादी मान्यताओं से अलग हैं। यह बात दूसरी है कि उन्होंने अपना मानदंड इतना विस्तृत कर लिया है कि उसमें कोई भी साहित्यकार और कोई भी कलाकृति श्रेष्ठ सिद्ध हो जाती है। नई कविता के सम्बन्ध में उन्होंने अपना अभिमत देते हुए लिखा है कि "इन लेखकों ने अपने सामाजिक दायित्व का साहस से निर्वाह किया है। जन-आन्दोलनों से उन्होने सम्बन्ध स्थापित किया है—जनता तक पहुँचने के लिए उन्होंने जन-गीतों की एक नई शैली और भाषा गढ़ी है। वर्तमान संकट से निकलने का मार्ग उन्होंने हिन्दी के पाठकों को सुझाया, राष्ट्रीय आन्दोलन के सर्वोच्च आदर्श को उन्होंने जनता में लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया। साम्राज्यवाद और फासिज्म का विरोध उन्होंने अपनी कला के माध्यम से किया और दमन का आतंक सहा। बंगाल

---

1. प्रकाशचन्द गुप्त, साहित्य-धारा : पृ० २।
2. वही, पृ० ३१।
3. वही, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० १०४।

के अन्न-संकट मे उन्होंने सक्रिय भाव लेकर जनता की सेवा की।"[1]

प्रकाशचन्दजी को मानवतावादी आस्था से समन्वित कहना समुचित है। मानवतावादी आधार पर ही उन्होंने सूर के दृष्टिकोण को तुलसी की अपेक्षा अधिक जनवादी कहा है और इसका आधार माना है सखा-भक्ति को।[2] वह कला का उद्देश्य मानव-जीवन के प्रति गहरी अनुभूति को जगाना मानते हैं।[3] सच्चा मानवीयता-समन्वित साहित्य वही है जो शोषित वर्ग का हित करता चलता है। उसके अतिरिक्त जो साहित्य है उसे द्वितीय कोटि में रखा जाना चाहिए। इसका उदाहरण उनकी दृष्टि में रीतिकालीन कविता है। "श्रेष्ठ साहित्य में एक मानवीय गुण होता है जो शिक्षा-दीक्षा की सीमाओं को पार करके मानव मात्र के हृदय को स्पर्श करने का गुण रखता है। इस महान् साहित्य से उतर कर दूसरी श्रेणी का साहित्य वह होता है जो शासक-वर्ग की भावनाओं और अनुभूतियों को व्यक्त करता है। हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य इसी प्रकार का साहित्य है।"[4] वह सभी समाज-विरोधी प्रवृत्तियों के शत्रु हैं। प्रयोगवाद की फ्रायडवादी अतिवैयक्तिक मान्यताएँ उन्हें नितान्त अनुचित प्रतीत होती हैं और इन मान्यताओं के आधार पर जो साहित्य रचा गया है उसकी उन्होंने खुल कर निन्दा की है—"फ्रायड ने मनुष्य के अन्तरमन का जो विकृत नक्शा खींचा है वह भी शाश्वत सत्य नहीं, वरन् क्षयग्रस्त विलासी समाज का नक्शा है। फ्रायड के के अनुसार अधिकतर कला खोडीपस कम्पलेक्स की उपज है, यानी माँ के प्रति पुत्र की वासना, जो बचपन से ही चली आती है। ये विचार स्वस्थ समाज पर लागू नहीं हो सकते, ये क्षय रोग के कीटाणु हैं। हम कला को समाज की जीवन-शक्ति बनाते हैं, समाज से अलग अन्तरिक्ष की रचना नहीं। जो कला ह्रासमूलक शक्तियों का शिकार बन जाती है, वह निर्जीव हो जाती है और सामाजिक प्रगति में सहायता नहीं कर पाती।"[5] नवीन हिन्दी उपन्यास में जिस नग्न कामुकता का प्रचार हुआ उसका उन्होंने विरोध किया और साहित्यकारों को उसके विरुद्ध संघर्ष करने की चेतावनी दी है।[6] वह व्यक्तिवाद को पूंजीवाद का परिणाम मानते हैं। व्यक्तिवादी युग में महाकाव्य नहीं लिखे जाते, ऐसी उनकी मान्यता है।[7] यह मान्यता समुचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि छायावादी काव्य जिसे उन्होंने पूँजीवादी युग की देन कहा है, उसमें कामायनी जैसा महाकाव्य लिखा गया, जिसे अस्वीकार करने वाला प्रगतिवाद

---

1. प्रकाशचन्द गुप्त : सिद्धान्त और समीक्षा : पृ० ११३।
2. वही, साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० ४०।
3. वही, साहित्य-धारा : पृ० ९-१०।
4. वही, पृ० ८।
5. वही, नया हिन्दी साहित्य : पृ० ६५।
6. वही, साहित्य-धारा : पृ० १७।
7. वही, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० १३४।

ही कहीं अस्वीकृत न हो जाय यह भय है। प्रतीत यह होता है कि उन्होंने नियमों को यांत्रिक ढंग से लागू किया है। भाषा-शैली के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने हास्य-व्यंग्य को जनता का अस्त्र कहा है और माना है कि राजनीति और सामाजिक सुधार के लिए इसका उपयोग सर्वथा समीचीन है।[1] अभिव्यक्ति कौशल में वह उन सभी तत्त्वों को सम्मिलित करते हैं जिनसे कला द्वारा जनता पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ता है।[2] कोरे कलावाद से उत्पन्न प्रभाव उन्हें अमान्य हैं। क्योंकि उसमें गहरी जीवन-दृष्टि नहीं होती जिसका काव्य में होना अनिवार्य है।[3] उन्हें कलापक्ष और भावपक्ष का समन्वित रूप ही स्वीकार है।[4] हिन्दी और उर्दू के विवाद को लेकर भी उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं। उनकी दृष्टि में प्रेमचन्द की मान्यताएँ इस दृष्टि से अत्यन्त समीचीन हैं तथा उनकी भाषा एक ऐसा निराकरण प्रस्तुत करती है जो अधिक व्यावहारिक है। "प्रेमचन्द की भाषा जनवादी परम्परा में ढली है और जन-जीवन के बहुत निकट है। उन्होंने फारसी, अरबी और संस्कृत के भारी-भरकम शब्दों को अपने लेखन में स्थान न दिया, यद्यपि उनका हिन्दी और उर्दू दोनों पर समान रूप से अधिकार था। प्रेमचन्द का उदाहरण हमें बताता है कि हिन्दी और उर्दू के बीच की खाई पाटने का एक ही तरीका है वह यह है कि हिन्दी और उर्दू के लेखक एक-दूसरे के साहित्य का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन करें।[5] जनवादी होने के कारण वह व्यावहारिकता पर अधिक बल देते हैं और जन-सुलभ भाषा को स्वीकार करना समीचीन समझते हैं। इस विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रो० प्रकाशचन्दजी प्रगतिशील समीक्षा के संकुचित दृष्टिवादी कुत्सित समाज-शास्त्रीय आन्दोलन से क्षुब्ध हैं। इससे उन्हें आन्दोलन की हानि होती प्रतीत हुई है।[6] वह साहित्यकारों की समीक्षा में दोनों पक्षों का दिग्दर्शन कराना उचित समझते हैं। वह डा० रामविलास शर्मा की तरह अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में एकांगिता से बचते रहे है। यह शुभ लक्षण है। यदि उन्होंने अपनी मौलिक सूझ-बूझ का उचित उपयोग किया होता तो निःसन्देह उनके द्वारा ऐसी समीक्षा कृतियाँ सृजित होतीं जिन्हें प्रगतिशील आन्दोलन के क्षेत्र से बाहर रहने वाले विद्वानों ने भी सराहा होता।

## अंचल

अंचलजी हिन्दी के कृती साहित्यकार हैं। उन्होंने जहाँ कविता लिखी है वहाँ

---

1. प्रकाशचन्द गुप्त : पृ० ७८।
2. वही, साहित्य-धारा : पृ० ५।
3. वही, पृ० ११।
4. वही, पृ० ५।
5. वही, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा : पृ० ११६।
6. वही, पृ० १६०।

आलोचना पर भी लेखनी चलाई है। उन्होंने जीवन-दर्शन के रूप में मार्क्सवाद को ही स्वीकार किया है। मार्क्स के दृष्टिकोण का विवेचन करते हुए द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति को ही वह सर्वश्रेष्ठ दर्शन के रूप में स्वीकार करते हैं। मार्क्सीय दर्शन ने साहित्य को प्रभावित किया है जिसे प्रगतिवाद के रूप में हिन्दी में जाना जाता है। अंचलजी उसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण कहते हैं।[1] मार्क्स ने जगत् का आधार भूत को ठहराया है और आदर्शवादी मान्यता, जिसके आधार मूल-तत्त्व ब्रह्म को ठहराया गया है, उसका उन्होंने खण्डन किया है। सत्य के सम्बन्ध में भी उन्होंने ऐसी ही मान्यता प्रकट की है।[2] द्वन्द्ववाद पर आधारित ऐतिहासिक भौतिकवाद हमें यह बताता है कि वर्ग-संघर्ष द्वारा जो आर्थिक सम्बन्धों का परिणाम है, समाज का विकास होता चलता है।[3] वह अपने को प्रगतिवादी कहते हैं और घोषणा करते हैं कि प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक दृष्टिकोण है। "मनुष्य का जीवन पैदावार के साधनों पर निर्भर करता है। पैदावार के साधनों पर जिस व्यक्ति या श्रेणी का अधिकार होगा उसी के फैसले और हित के विचारों से समाज की व्यवस्था चलेगी। इस दृष्टि से यदि प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा कहा जाता है तो एक प्रगतिवादी के नाते मुझे इसमें कोई असंगति नहीं दीखती। इसी को मैं दूसरे शब्दों में सबका हित या सबका सुख मानता हूँ।"[4] इतिहास के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि प्रगतिवादी है। विकास को वह विरोधों का परिणाम मानते हैं। "एक स्वतंत्र ऐतिहासिक तरीके की दृष्टि से कला हमेशा सेविका रही है। उसकी एक ऐतिहासिक उपादेयता यह है कि वह एक खास वातावरण और एक खास हालत का चित्र है, चाहे वह विशुद्ध निरुद्देश्य कला हो चाहे कला के लिए कला हो, चाहे विषयात्मक कला हो। लेकिन न तो हर वर्ग अपनी कला पैदा कर सकता है, न वातावरण का प्रत्येक परिवर्तन कला में परिवर्तन ला सकता है। असल में मनुष्य को कलात्मक उद्योग एक पूर्ण और सिलसिलेवार चीज है जो द्वन्द्वात्मक है और भीतरी टूट-फूट से स्थापित होती है।"[5] इतिहास आज तक आते-आते पूँजीवाद और समाज के रूप तक आकर स्पष्ट हो गया है। वर्गसंघर्ष अपनी विभीषिका में प्रकट हुआ है। वह वर्गशोषण के आधार ईश्वर, धर्म आदि को उसके यथार्थ रूप में समझते हैं और इन तत्त्वों का विरोध इसलिए करते हैं कि इनका उपयोग शोषकों के हित में न हो सके।[6] मार्क्सवाद में साहित्य को सर्वहारा का शस्त्र माना गया है। उन्हें भी यह मान्यता स्वीकार है। वह साहित्य को आन्दोलन का

---

1. अंचल : समाज और साहित्य : पृ० १।
2. वही, पृ० १।
3. वही, पृ० २।
4. वही, पृ० २।
5. वही, पृ० १३।
6. वही, पृ० ६।

आधार मानदे हैं।[1]

## सिद्धान्तपक्ष

उन्हें कतिपय प्रगतिवादियों के समान रस को साहित्यिक कसौटी मानना स्वीकार है। अंचलजी रस, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि सम्प्रदायों को परस्पर-विरोधी न मानकर एक-दूसरे का पूरक मानते हैं। "हमारे यहाँ जो भिन्न-भिन्न काव्य-सम्प्रदाय बन गये हैं—रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय—ये एक-दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं।"[2] अन्य प्रगतिवादी समीक्षकों के समान वह सामाजिकता और प्रगतिशीलता जैसे तत्त्वों को अनिवार्य रूप से साहित्य का अंग मानते हैं, किन्तु यह सब प्रभावोत्पादक और सप्राण नहीं बनता जब तक कि रस-योजना के अनुसार साकार न हुआ हो—'मेरा विश्वास है कि ऊँची से ऊँची सामयिकता, सामाजिकता और प्रगतिशीलता—आदर्श की बड़ी-से-बड़ी योजना रस के माध्यम से ही साकार और सप्राण होती है।'[3] रस के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि यही कविता का लक्ष्य है। "कविता का लक्ष्य रस की प्राण-प्रतिष्ठा है।'[4] रस के प्रति उनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी है। "रस के स्वरूप की सारवानता काव्य में असंदिग्ध है।"[5] रसवादी काव्यशास्त्रियों ने उसकी आनन्दवादी व्याख्या की है। रामचन्द्र शुक्ल ने सभी मनोभावों, विचारों को एक ही वर्ग में न रख कर दुखात्मक एवं सुखात्मक दो वर्गों में रखा है और रसानुभूति को लौकिक अनुभव माना है। अंचलजी ने इस सम्बन्ध में विशेष व्यापक स्तर पर विचार न करके सामान्य रूप से कविता का आधारभूत सत्य आनन्द माना है। उनका आनन्द लोकहित को अपने अन्दर समाहित किए है जो उपयोगितावाद का आधार है। "कविता का लक्ष्य—उसका आधारभूत सत्य आनन्द है।.....आनन्द से बड़ा कौन लोकहित होगा—जीवन की कौनसी उपयोगिता उससे बड़ी कही जाएगी?"[6] डा० रामविलास शर्मा की तरह वह काव्य और कला में केवल समाज का आर्थिक और राजनैतिक हित ही सर्वप्रथम देखें ऐसे आग्रही वह नहीं हैं। उन्हें अनुभूति की तीव्रता काव्यसृजनता का मुख्य आधार प्रतीत होती है और उसी के अनुरूप वह अन्य तत्त्वों की संयोजना की अपेक्षा करते हैं। अनुभूति के बिना काव्य निष्प्राण होगा—

---

1. अंचल : समाज और साहित्य : पृ० १०।
2. वही, काव्य संग्रह भाग २, भूमिका : पृ० ११।
3. माखनलाल चतुर्वेदी : एक अध्ययन : सम्पादक पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (अंचल का माखनलालजी का प्रगतिशील दृष्टिकोण)।
4. काव्य-संग्रह भाग २ : पृ० ६६।
5. वही, पृ० ५।
6. वही, भूमिका : पृ० ६।

"काव्यात्मक सृजन में मैं कल्पना को अनुभूति की मुखापेक्षी मानता हूँ। यदि अनुभूति में गहराई, तीव्रता और व्यापकता होगी तो उसका शृंगार करने वाली कल्पना भी उदात्त, विराट, स्पन्दनशील और प्राणवान होगी। नहीं तो वह केवल रूढ़िगत और साँप के त्यक्त केंचुल-जैसी निष्प्राण होगी।"[1] अपने को केन्द्र में रखकर वह यह स्वीकार करते हैं कि कविता दूसरों के आग्रह की पूर्ति के लिए नहीं लिखी जाती। कवि के मन में यथार्थ बन कर वेदना के रूप में अनुभव फूट निकलता है, तभी कविता का सृजन होता है। "लिखता मैं तभी हूँ जब मेरे भीतर कला की वेदना फूटती है। आग्रह की पूर्ति के लिए मैं नहीं लिख पाता।"[2] इससे स्पष्ट है कि अंचलजी रूढ़िवादी न बन कर व्यापक स्तर पर प्रगतिवाद को स्वीकार करने के पक्षपाती हैं। वह भारतीय काव्यशास्त्र-परम्परा को समेट कर चलना चाहते हैं और नवीन सौन्दर्य-बोध के साथ उसे संयुक्त करके एक अभिनव काव्यशास्त्र के उद्भव की कल्पना भी करते हैं।

## जन-जीवन और साहित्य

जो समीक्षक मार्क्सवादी दृष्टिकोण को मानकर चलेगा वह साहित्य को जन-जीवन से असम्पृक्त करके नहीं देख सकता। साहित्य को वह जीवन से दुहरी गति से सम्बन्धित मानते हैं। साहित्य में जहाँ एक ओर जीवन का चित्रण होता है वहाँ दूसरी ओर वह जीवन को प्रभावित करता है। जो साहित्य समाज को नयी दिशा में न ले जाता हो, उसे कर्मठ न बना सके, व्यर्थ है। "प्रगतिवाद की माँग है कि रचना हमारे कार्यों और विचारों की प्रतिमूर्ति हो। प्रगतिवादी लेखक उनके लिए लिखता है जो कर्मशील हैं—"कार्य में अग्रसर हैं, जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों द्वारा अपने जीवन की गति अग्रसर करता है वैसे ही प्रत्येक सामाजिक क्रिया से समाज आगे बढ़ता है।[3] "साहित्य का विषय समग्र जीवन हो सकता है।[4] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि जीवन में जो कुछ नगण्य और कम महत्त्व का है कला उसको ही अभिव्यक्त करे। सामाजिक शक्तियों की अभिव्यक्ति कविता का प्रमुख उद्देश्य मानते हुए अंचलजी ने लिखा है—"कविता सामाजिक शक्तियों की अभिव्यक्ति और कवि के सामाजिक अनुभवों की देन है।" मानव समाज सदैव स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करता है। प्रगतिवादी साहित्य इसी स्वतंत्रता को उपलब्ध कराने में सहायता देता है।[5] वह कला को सोद्देश्य मानते हैं। कला के पीछे समाज-चेतना को स्वीकृति देकर उसे स्वप्नशील हृदय की कल्पना मात्र कह देना उन्हें अस्वीकार है। उन्होंने साहित्य और

1. अनन्तिका, नवम्बर-दिसम्बर १९५६ : पृ० ४८।
2. मैं इनसे मिला, भाग २ : पृ० १८५।
3. अंचल : प्रगतिवाद एक अनुशीलन : पृ० २२।
4. वही, काव्य संग्रह भाग २ : भूमिका ; पृ० १।
5. वही, समाज और साहित्य, आमुख : पृ० ३।

लोक-जीवन को इस सीमा तक सम्बन्धित माना है कि वह अभिव्यक्ति-पक्ष को भी सार्वजनिक बोधगम्यता की कसौटी पर कसना समीचीन समझते हैं—"वही क्रिया कला की मान्यता प्राप्त कर सकती है जिसके पीछे एक चेतन सामाजिक प्रयोजन हो। एक स्वप्नशील हृदय की 'फेन्टेसीज' कला नहीं है—वह तभी कला की संज्ञा पाती है जब वह सामाजिक रूप में मान्य प्रतीकों में प्रकट की जाती है। इस प्रकटीकरण की क्रिया में ही कला का सामाजिक प्रयोजन सबसे पहले पूछा जाता है।"[1] लोकजीवन और साहित्य का सम्बन्ध हमें दो अनिवार्य साहित्यिक अनिवार्यताओं तक पहुँचाता है। एक है समाज की यथार्थ परिस्थितियों का साहित्य में अंकन और दूसरी है वर्तमान परिस्थितियों को साहित्य के द्वारा ऐसे स्तर तक पहुँचा देना कि अपेक्षित विकास हो सके। पहली मान्यता को सामान्यतः यथार्थवाद और दूसरी को आदर्शवाद कहा जाता है। प्रगतिवादी न कोरा यथार्थवादी होता है और न केवल आदर्शवादी। वह अपने साहित्य में यथार्थ और आदर्श का समन्वय करता है। इसे प्रगतिवादियों की भाषा में समाजवादी यथार्थवाद कहा जाता है। इस समाजवादी यथार्थवाद में साहित्य की उन शक्तियों का संघर्ष दिखाया जाता है जो विकास का आधार हैं। सच्चा प्रगतिशील साहित्य दोनों पक्षों का सम्यक् उद्घाटन करता है। इसमें ह्रासशील और विकासशील शक्तियाँ उभर कर सामने आती हैं, संघर्ष रत होती हैं और अपरोक्ष रूप से भावी समाज-रचना का दिशा-निर्देशन भी करती हैं। इसी को अंचलजी ने सच्ची प्रगतिवादी रचना कहा है—"जन-बल की दुर्दम शक्तियों का लौकिक सत्य और असत्य से संघर्ष (मार्क्सवादी सिद्धान्तों की वैज्ञानिक भूमिका में) जब तक काव्य की मूल रस-धारा से सम्पर्क और दृढ़ पारस्परिक विकास नहीं स्थापित कर लेता तब तक मेरी समझ में सच्चे प्रगति-काव्य की रचना असम्भव है।"[2] उनके यथार्थवाद में समाज के उस प्रसंग का चित्र उपयुक्त नहीं समझा गया है जिसमें विलासिता या अलस बौद्धिकता का पक्ष लिया गया हो। विकासवादी होने के कारण वह मानव के आदर्शप्रेरित यथार्थ जीवन को साकार करना उपयुक्त मानते हैं—"प्रगतिवादी कला विलासिता या अलस बौद्धिकता की हिमायती नहीं है। वह दुर्धर्ष मानवता का विकासोन्मुख आदर्शप्रेरित किन्तु यथार्थ जीवन-दर्शन सामने रखती है।"[3] साहित्य को वह मनुष्य और उसकी परिस्थितियों के पारस्परिक संघर्ष का परिणाम मानते हैं और उन्होंने लिखा है कि "साहित्य मनुष्य और उसकी परिस्थितियों या वातावरण के पारस्परिक संग्राम का व्यक्तिकरण है।"[4] निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है

---

1. अंचल : समाज और साहित्य : पृ० ३०।
2. वही, लाल चूनर, भूमिका : पृ० २।
3. वही, समाज और साहित्य : पृ० ६५।
4. वही, आमुख : पृ० ८।

कि अंचलजी साहित्य को जीवन का पूरक मानते हैं[1] और उसे जीवन की सापेक्षता में देखना चाहते हैं। वह साहित्य जो किसी जीवन-दर्शन को आधार मानकर आगे नहीं बढ़ता वह यथार्थ परिस्थितियों का चित्रण करते हुए भी अपने उद्देश्य की पूर्ण उपलब्धि नहीं कर पाता।

## अन्य प्रगतिशील तत्त्व

यथार्थवादी समीक्षक उपयोगितावाद से असम्बद्ध नहीं रह सकता है। प्रगतिवाद में साहित्य का लक्ष्य जिस साम्यवादी समाज की स्थापना है वह अंचलजी को मान्य है "प्रगतिवाद का लक्ष्य ही उस समाज की स्थापना है जिसमें व्यक्ति और समाज के पार्थक्य की रेखा न होगी। उस वैयक्तिक अनुभूति का क्या महत्त्व है जो व्यक्तित्व को सर्वप्रधान बनाकर अपरिचित रह जाती है।"[2] अंचलजी समाज-व्यवस्था के बदलने की प्रक्रिया मार्क्स के समान क्रान्ति को मानते हैं और साहित्य को उस क्रान्ति की स्थिति को लाने वाला माध्यम। इसके लिये वह घृणा के माध्यम को मानना असमीचीन नहीं समझते और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक असमानताओं, शोषण के भयंकर रूपों तथा विपन्न मानवों के चित्र देखना उचित ठहराते हैं।[3] उपयोगितावादी साहित्यकार यदि आदर्शवादी होते हैं तो साहित्य को नीतिशास्त्र का रूप देते हैं और यदि यथार्थवादी होते हैं तो समाजशास्त्र या मनोविज्ञानशास्त्र का। वह परोक्ष रूप से कला को प्रचारात्मक मान लेते हैं। अंचलजी को साहित्य का प्रचारवाद तो ग्राह्य नहीं है, हाँ, वह उपयोगितावाद को जो स्थान मिलना चाहिए उसे देना अनुपयुक्त नहीं मानते क्योंकि इससे जीवन अधिक अनुरागमय बन जाता है।' सारी कला प्रचार है ऐसा न कहकर यदि हम कहें कि साहित्य सदैव एक वस्तुमता से पूर्ण सामाजिक प्रयोजन की उपयोगितापूर्ण परिपूर्ति है तो उचित होगा।...साहित्य का दूसरा प्रयोजन है प्रत्येक उस स्थिति को नये तौर पर सृजित करना जो मनुष्य में जीवन के प्रति अनुराग पैदा करती है।"[4] साहित्य को लोकमंगल से सम्बन्धित करते हुए उन्होंने लिखा है—"साहित्य यदि वह सच्चे अर्थों में प्रगतिशील है तो सदैव जीवन को अधिकाधिक निकट से देखेगा और मानवीय उपकरणों के विकास और कल्याण पर जोर देगा।"[5] अंचलजी का दृष्टिकोण मानवतावादी है। वह मानव को आदर्श मानते हैं और उसकी वर्तमान परिस्थिति को अधिक सुन्दर बनाने के पक्षपाती हैं। उन्हें आदर्शों से युक्त यथार्थाधारित कल्पना मान्य है और वही स्थिति उनके मानव-

---

1. अंचल : हिन्दी साहित्य अनुशीलन : पृ० १४८।
2. वही, काव्य-संग्रह भाग २, भूमिका : पृ० ६२।
3. वही, समाज और साहित्य : पृ० १५०।
4. वही, समाज और साहित्य, आमुख : पृ० १०।
5. वही, किरणवेला : पृ० २०।

वाद का आधार है—"प्रगतिवाद को सपनों से आपत्ति नहीं है परन्तु वे स्वप्न एक नूतन, सुन्दर, परिपूर्ण और आदर्श जीवन के निर्माण के प्रतीक होने चाहिएँ।"[1] आज की परिस्थिति में वही मानवतावाद चल सकता है जो व्यक्ति को उसकी सीमाओं से ऊपर उठाकर सामाजिक स्तर तक पहुँचा सके, उसके अहं का सामाजीकरण कर सके। ऐसा मानवतावाद जो मानवो को वर्गों में विभाजित करे, एक वर्ग को दूसरे से श्रेष्ठ ठहरावे, इसके लिये नये-नये सिद्धान्त गढ़े, आज के युग में अधिक समय तक नहीं ठहर सकता। प्रगतिशील कविता इस पुरातन मानवतावाद के स्थान पर एक नवीन तथा सर्वथा क्रान्तिकारी रूप जिसमें वर्ग नहीं रहेंगे, दर्शनीय है—"आज की प्रगतिशील कविता एक नवीन हृदयधर्म और बुद्धिधर्म चलाकर—व्यक्ति के अहं को समष्टि के जागरण का रूप देकर अपनी एक दृष्टि निश्चित कर चुकी है और उसी का विनियोग जीवन के अंग-प्रत्यंग में कराके एक नवीन मानवता के निर्माण के लिए संघर्ष कर रही है।"[2] मानवतावाद का विरोधी भाव संकीर्ण राष्ट्रीयतावाद है। राष्ट्र-प्रेम अपने में कोई संकुचित मनोवृत्ति नहीं है। राष्ट्र को प्रेम करने वाला अपने राष्ट्र के अतिरिक्त श्रेष्ठ मानवता को घृणा करे यह आवश्यक नहीं है, किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि एक देश दूसरे देश से युद्ध करने में संलग्न हो जाता है और तब मानवतावादी लेखक के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह अपनी निष्ठा को कहाँ ठहरावे? अंचलजी मानवतावादी होते हुए भी राष्ट्रीय हैं। उनकी राष्ट्रीयता मानवतावाद का विरोध न करके चलती है। उसे प्रगतिशील काव्य में उन्होने राष्ट्रीय आकाक्षाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार किया है। "प्रगतिशील कविता मे हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं, नवनिर्माण की प्रवृत्तियों और रचनात्मक प्रेरणाओं की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।"[3] प्रगतिवाद के सम्बन्ध में एक भ्रम यह भी चल रहा है कि वह राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध है। अंचलजी ने इस प्रश्न को स्वीकार करते हुए अपनी स्वीकृति दी है कि यह मान्यता नितान्त निर्मूल है। प्रगतिवाद राष्ट्रीयता का विरोधी न होकर पूँजीवाद और सामन्तवाद का विरोधी है। "प्रगतिवाद को जो लोग राष्ट्रीयता का विरोधी मानते हैं वे भूल करते हैं। प्रगतिवाद केवल पूँजीवाद का विरोधी होता है, सामन्तवाद का विरोधी होता है और जनता की उन्नति के मार्ग में रोड़ा बनने वाले जो इतरवाद हैं उनका विरोधी होता है, राष्ट्रीयता का नहीं।"[4] अंचलजी काव्य के कलापक्ष पर विचार करते हैं और उनकी दृढ़ धारणा है कि अनुभूति को व्यक्त करने वाली अभिव्यक्ति भी उसी के अनुरूप होनी चाहिए। इन दोनों पक्षों में अनुभूत को प्रमुखता देते हुए वह मानते हैं कि अनुभूति तीव्र होगी तो भाषा को भी

---

1. अंचल : समाज और साहित्य : पृ० २६।
2. वही, किरणवेला, भूमिका : पृ० २०।
3. वही, काव्य-संग्रह भाग २, भूमिका : पृ० ६८।
4. वही, मैं इनमे मिला, भाग २ : पृ० : १८२-८३।

तदनुरूप शक्तिशाली बना सकेगी—"अनुभूति की प्रचुरता काव्य-भाषा को भी अधिक सरल बेसाख्ता और यथार्थवाहिनी बना सकती है।"[1] भाषा के साथ ही साथ अन्य अभिव्यक्ति के उपकरणों पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है। अन्य प्रगतिवादियों ने व्यंग्य को यथार्थवादी शैली का अपरिहार्य अंग कहा है। अंचलजी भी व्यंग्य की शक्ति को स्वीकार करते हैं—"केवल व्यंग्य और विषाक्त भावुकता कविता नहीं हैं। आज नव-जागरण और सांस्कृतिक परम्परा का रस में समन्वय करने की आवश्यकता है।"[2] अंचलजी ने प्रगतिवाद की स्वरूप स्थापना और विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने इस आन्दोलन की न्यूनता और अशक्तियों का रहस्योद्घाटन करते हुए लिखा है—"प्रगतिवादी कविता में काव्य का व्यापक और महान् सत्य आत्मानुभूति का निचोड़ कम उतरा है। प्रगतिवाद ने नई शैलियाँ और नये प्रयोग तो दिए हैं पर नये प्राणों का निर्माण वह नहीं कर पाया। ये कवि समय की उन शक्तियों को धुँधले रूप में ही पहचान गये जो भविष्य का निर्माण करती है। यह कवि सामाजिक सत्य का अनुभव तो कर पाये, उसे अपने काव्य द्वारा लोकधर्म और विश्वबोध में परिणत न कर सके। कविता नई जीवन-भूमि पर जाकर भी अपने लिए अधिकाधिक प्राण-पोषक तत्त्वों का संचय न कर सकी। प्रगतिवाद बहुत जल्द रूढ़ और गतिहीन हो गया।"[3] साहित्यकार को प्रगतिवाद समाजशास्त्री मानता है और उससे भावी समाज-रचना का स्पष्ट निर्देशन करने की अपेक्षा करता है। सामाजिक सत्य का वाहक मानकर साहित्य को इसी प्रकार का गौरव अंचलजी ने प्रदान किया है—"कवि सबसे बड़ा समाजशास्त्री होता है।.....काव्य उसका उपलक्ष्य हो जाता है और लक्ष्य होता है उस सामाजिक सत्य और मानवीय जीवन-योजना की पूर्णता का एक्यबोध जो सामाजिक चैतन्य का मार्मिक आधार हैं।"[4] अंचलजी मूलतः कवि हैं और आवश्यकता के दबाव से उन्हें समीक्षा लिखनी पड़ी है, इसलिए उनकी समीक्षाओं में हमें उन सारे प्रश्नों का रूप नहीं मिलता जो प्रगतिशील समीक्षा में अन्यत्र विवेचित हैं। शिवदानसिंह चौहान, रांगेय राघव आदि के समान वह मार्क्सवाद को एक रूढ़िवादी मान्यता के रूप में स्वीकार नहीं करते, उसे वह एक गतिशील दर्शन मानते हैं जो निरन्तर विकसित हो रहा है और एक स्थिति से आगे वह दूसरे विचार को जन्म देने का उपादान बनेगा, ऐसा भी वह सोचते हैं। इसीलिए उन्होने लिखा है कि प्रगतिवाद भिन्न-भिन्न देशों में एक ही रूप को लेकर नहीं चलेगा, बल्कि उस देश की सांस्कृतिक परम्परा भी उसको प्रभावित करेगी और उसमें भिन्नता आती जायगी—'किसी भी देश की कविता के लिए यह असम्भव है कि वह सांस्कृतिक प्रभावों से अछूती रह

1. अवन्तिका, नवम्बर-दिसम्बर १९५६ : पृ० ४८२।
2. अंचल : हिन्दी साहित्य अनुशीलन : पृ० ३१०।
3. अंचल : काव्य संग्रह भाग २ : पृ० ६५।
4. वही, लाल चूनर, भूमिका : पृ० ३।

सके।"[1] शिवदान सिंह चौहान ने यह माना है कि व्यक्तिगत जीवन में साहित्यकार कोई भी मान्यता स्वीकार करे और चाहे यह मान्यता मार्क्सवाद की विरोधिनी भी हो किन्तु उससे उसका प्रगतिशील गुणों से समन्वित साहित्य प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार की मान्यता अंचलजी की भी है। वह मार्क्सवाद का विस्तृतीकरण चाहते हैं और दूसरे दर्शनों में जो ग्रहणीय है उसे स्वीकार करने में उन्हें बिल्कुल संकोच नहीं है—"प्रगतिवाद मार्क्सवाद को आधार मानकर चलता है यहाँ तक ठीक है। पर दूसरे जीवन-दर्शनों को वह उपेक्षा की दृष्टि से देखता है? गांधीवाद का प्रेम भी और अहिंसा के सिद्धान्त भी मानवता के कल्याण के उतने ही बड़े उपकरण हैं।" इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि अंचलजी ने केवल अपने काव्य के आधार पर ही प्रगतिशील साहित्य की रचना नहीं की है वरन् साहित्य को समझने के लिए एक व्यापक प्रगतिशील दृष्टिकोण भी दिया है।

## डा० नामवरसिंह

डा० नामवरसिंह मार्क्सवादी साहित्यकार होने के कारण कला और साहित्य को समाज के संदर्भ में देखना पसन्द करते हैं। उन्होंने प्रगतिवाद पर विचार करते हुए लिखा है कि प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य एक-दूसरे से भिन्न नहीं है। प्रगतिवाद को भारतीय परिस्थितियों की देन मानवता भी उन्हें अभीष्ट है। "प्रगतिवाद हिन्दी में अपने समय पर ही पैदा हुआ—ऐसे समय जब हिन्दी जाति और साहित्य की जमीन उसके अनुकूल तैयार हो गयी थी।[2]" उनकी यह धारणा सत्य है कि प्रगतिवाद अपने युग की स्वाभाविक आवश्यकता थी जो भारतीय मिट्टी से अंकुरित हो कर पल्लवित हुई। उन्होंने प्रगतिवादी आन्दोलन पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि उसके साहित्य में शोषित जनता के लिए, देश के लिए, यथार्थ परिस्थितियों के लिए, अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए, आर्थिक और सामाजिक जागरूकता के लिए, भाषा और भावों के समन्वय के लिए, प्रेषणीयता के लिए, व्यंग्यपूर्ण भाषा के लिए, लोकतत्त्व और जनवाद के लिए, सामाजिक यथार्थ के लिए तथा व्यक्तिवाद के विरोध के लिए विशेष रूप से जोर दिया गया है। वह यह मानते हैं कि साहित्य को लोकमंगल करना चाहिए तथा जनता को संघर्ष के लिए शक्ति देकर उस संघर्ष में विजय प्राप्त करने का मार्ग दिखाना चाहिए।[3] प्रगतिशील समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने यह मान्यता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी है कि साहित्य को शक्ति जनता से मिलती है। जो साहित्य जनता से जितनी घनिष्ठता के साथ सम्बन्धित होता है, वह उतना ही अधिक सुन्दर, मार्मिक, शक्तिशाली तथा जन-प्रेरक बन जाता है। लेखक में शक्ति जनता से आती है। जनता के साथ उसका

---

1. अंचल : काव्य-संग्रह भाग २, भूमिका : पृ० १२।
2. डा० नामवरसिंह : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां : पृ० ६०।
3. वही, पृ० ६३।

सम्बन्ध जितना ही घनिष्ठ होता है उसमें उतना ही अधिक सौन्दर्य बढ़ता है। इसके विपरीत ज्योंही लेखक अपने उस अक्षय स्रोत से हट जाता है, उसकी सारी शक्ति जवाब दे जाती है।[1] वह मानते हैं कि साहित्य को और श्रेष्ठ साहित्य को जनता का पक्ष-धर्म लेकर चलना चाहिए। यह पक्षधरता इसलिए अनिवार्य है कि समाज में स्वार्थों का संघर्ष है। समाज दो भागों में विभाजित है। एक वर्ग शोषित है तो दूसरा शोषक। मानवता शोषित के साथ जुड़ कर चलती है अतः मानवतावादी लेखक सदव ही शोषित का पक्षपाती होता है।[2] वह यथार्थवादी चित्रण के बड़े पक्ष-पाती हैं! अन्य मार्क्सवादियों के समान वह मानते हैं कि जो रचना जितनी अधिक यथार्थवादी होगी वह उतनी ही महान् और मानवीय सहानुभूति से युक्त होगी। रचना में सौन्दर्य वास्तविकता के अधिक-से-अधिक चित्रण से आती है। अपने दृष्टिकोण-विशेष के बावजूद महान् लेखक अपनी व्यापक मानवीय सहानुभूति के द्वारा वास्तविकता के विविध स्तरों का व्यापक परिचय प्राप्त कर लेते हैं और उनके चित्रण से रचना महान हो उठती है। समाज और साहित्य का सम्बन्ध स्थापित करते हुए वह यह मानते हैं कि जो साहित्य सामयिक परिस्थितियों का चित्रण जितना अधिक करता है उतना ही शाश्वत होता है—"सामयिकता के माध्यम से ही शाश्वत साहित्य की रचना की जा सकती है। अपने समय की समस्याओं से अलग रहकर अथवा भाग कर कोई शाश्वत साहित्य की रचना नहीं कर सकता।[3]' यह उसी साहित्य को प्रगतिशील और यथार्थ मानते हैं जो समाज के नये उभरने वाले तत्त्वों को विकसित करे और ह्रासशील तत्त्वों को गिरता हुआ दिखावे। उन्हें साहित्य की कोई ऐसी कसौटी स्वीकृत नहीं है जो सामाजिकता को छोड़ कर व्यक्तिनिष्ठ मान्यताओं को लेकर चले।[4] समाजवादी यथार्थवाद की विरोधी मान्यता में अति-व्यक्तिवाद के विभिन्न रूप सामने आते हैं जिनका सभी प्रगतिवादी समीक्षकों ने विरोध किया है। डा० नामवरसिंह प्रयोगों के विरोधी नहीं हैं वरन् उनके समर्थक हैं। उन्हें प्रयोगशील प्रगतिवादी कहा जा सकता है। प्रयोगवाद की कुछ मान्यताएँ उन्हें स्वी-कृत हैं और जहाँ तक इस वाद की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है वह उनसे असहमत हैं। उन्होंने प्रयोगवाद का मूल्यांकन समुचित रूप से किया है। यह सही है कि प्रारम्भ में उन्होंने उपस्थापनवादी शैली का अनुकरण किया था किन्तु आगे चल कर उसमें गाम्भीर्य आता चला गया है। उन्होंने इस विवेचन का आधार सैद्धान्तिक रखा है न कि व्यक्तिगत और खण्डन-मण्डन से प्रभावित। प्रयोगवाद को रूपवादी कहकर उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि प्रयोगवादी के पास कौशल

---

1. डा० नामवरसिंह : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ : पृ० ९६।
2. वही, पृ० ९६।
3. वही, पृ० ९८।
4. वही, पृ० ९८।

तो यथेष्ट है किन्तु कहने के लिए कोई बात नहीं है।[1] प्रयोगवाद में प्रयोगों का सम्बन्ध मुख्यत: शैलीशिल्प से है विषयवस्तु से नहीं, अर्थात् वह कथन की शैली को महत्त्व देते हैं, कथ्य को नहीं और यही वह आधार है जिस पर प्रयोगवाद को प्रगतिवादी अस्वीकार कर देता है।[2] इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह एकांगी दृष्टिकोण को स्वीकार करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं ठहराते। वह उसे आंशिक स्वीकृति प्रदान करते हैं क्योंकि उसमें कुछ-न-कुछ सामाजिकता का अंश वर्तमान है। उन्होंने प्रगतिवादी आन्दोलन के अन्तर्गत लिखे जाने वाले साहित्य के शैलीशिल्प के अभाव को स्वीकार किया है और कहा है कि प्रयोगवाद के समान यह भी एकांगी है। "प्रगतिशील काव्य तथा कथासाहित्य के नाम पर भी इसी तरह कोरे मार्क्सवादी विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। क्या विषयवस्तु पर जोर देने का अर्थ यही है? क्या कविता में महान विचारों की अभिव्यक्ति का ढंग यही है? जवाब साफ है। स्वयं इन रचनाओं के कृती कवि और लेखक ही इनको हेय मानेंगे।[3]" प्रतीत यह होता है कि उन्हें कलापक्ष और भावपक्ष का ऐसा समन्वित रूप स्वीकृत है जिसमें कथ्य समाजोपयोगी हो और अभिव्यक्ति उसे ऐसी पद्धति से प्रकट करे जिससे उसकी रागात्मकता बनी रह सके और वह साहित्य की सीमाओं से दूर न पड़ जाय।

उनका मानवतावाद संकुचित सीमाओं का अतिक्रमण करके मूर्त आधार ग्रहण करता है। वह चाहते हैं कि साहित्य अपनी छवियों में सजीव, सहज, स्वाभाविक, संवेदनीय और ओजस्वी होना चाहिए। उसमें युगसत्य का सही और ठोस मूर्तिकरण होना चाहिए, तभी वह मानवतावादी बन पाएगा—"जिसका मानवतावाद जितना ही स्पष्ट और मूर्त होगा, उसके चित्रों और पात्रों में भी उतनी ही सजीवता होगी तथा उसकी भाषा भी उतनी ही सहज, स्वाभाविक, संवेद्य और ओजस्विनी होगी। हम दूसरों को धोका दे सकते हैं लेकिन अपने आपको नहीं और जो साहित्यकार ऐसा करने का प्रयत्न करता है, वह तमाम शिल्पज्ञान के बावजूद अपनी कला को चौपट करता है। इसलिए विषयवस्तु पर जोर देने का सही अर्थ है मूर्त और ठोस रूप में युगसत्य को पहचानना और स्पष्ट रूप से मानव जयवाहिनी का पक्षपाती होना।[4]"

डा० नामवरसिंह ने मार्क्सवाद को एक विशाल आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। उन्हें मार्क्स के द्वन्द्ववादी ऐतिहासिक भौतिकवादी तथा वर्गसंघर्ष की मान्यताएँ स्वीकृत हैं। यह दूसरी बात है कि उन्होंने इन सारी मान्यताओं का अन्य

---

1. ड० नामवरसिंह : इतिहास और आलोचना : पृ० २४।
2. वही, पृ० २५।
3. वही : पृ० २७।
4. वही, पृ० ३१-३२।

प्रगतिशील समीक्षकों के समान हिन्दीकरण करने का लोभ संवरण कर लिया है। इन मान्यताओं के सूत्र उनकी समीक्षाओं में यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं और सबसे बड़ी बात है कि इन मान्यताओं का समीक्षा के क्षेत्र में सफल प्रयोग। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि वह अपने प्रचारवादी स्वर से उतर कर भारतीय संस्कृति और मार्क्सवादी दृष्टिकोण का समन्वय करके हिन्दी की श्रेष्ठ कृतियों का मूल्यांकन करेंगे (जैसा कि उन्होंने कामायनी आदि को लेकर किया भी है) तो ऐसे समीक्षात्मक मानदण्ड उपलब्ध हो जायेंगे जिनसे प्रगतिवादी आन्दोलन स्वस्थ दिशा ग्रहण करेगा। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण को उन्होंने कुछ सीमाओं के साथ हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन में अपनाया है। वह कृतियों के लेखे-जोखे को तब तक उचित आधार पर स्थापित नहीं मानते जब तक कि उसके पीछे ऐतिहासिक दृष्टिकोण न हो। इतनी मोटी सी बात भी लोगों के दिमाग में नहीं आती कि सम्पूर्ण साहित्यकार तथा साहित्यिक कृतियों का लेखा-जोखा ही इतिहास नहीं है, बल्कि किसी एक साहित्यकार अथवा एक साहित्यिक कृति का समुचित मूल्यांकन भी इतिहास हो सकता है, क्योंकि मुख्य प्रश्न ऐतिहासिक परिप्रेक्ष का है। वास्तविक आलोचक किसी एक कृति का मूल्यांकन करते समय परोक्ष रूप से साहित्य की समस्त कृतियों का मूल्यांकन करता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह मूल्यांकन ही नहीं है और उसके अन्तर्गत स्वीकृत होने वाले प्रतिमान असंगत हैं। नामवरसिंह का समीक्षक रूप अभी अपने निर्माणकाल में है। अतः उसके विकास की सम्भावनाएँ हैं। पिछले दिनों उन्होंने प्रयोगशीलता को जिस प्रकार अपनाया है और नयी कविता के समानान्तर नयी कहानी के क्षेत्र में जिस नए सौन्दर्यबोध की चर्चा चलाई है उससे यह आशा की जा सकती है कि वह आज के नवीनतम साहित्य की व्याख्या करके ऐसे सैद्धान्तिक और व्याख्यात्मक आधारों की ओर ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ हो सकेंगे जो भावी समीक्षा के आधार बन सकें।

## मन्मथनाथ गुप्त

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी मन्मथनाथ गुप्त के सम्बन्ध में दिनकरजी ने लिखा है, "मन्मथबाबू इतिहास के पंडित है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के गहरे प्रेमी हैं और प्रगतिवाद के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट रूप से वही मत है जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों का है। अतएव प्रगतिवाद के विरोधी को वह प्रश्रय देना नहीं चाहते। असल में प्रगतिवाद का विरोध उन्हें सत्य और विज्ञान का विरोधी भाषित होता है।[1]" गुप्तजी साहित्य-रचना को प्रेरणा की देन मानते हैं। यह अनुप्रेरणा लेखक के अपने वश में नहीं होती वरन् उस पर उस विचारधारा का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है, जिसको वह जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार कर चुका है। वह प्रगतिवादी

1. मन्मथनाथ गुप्त : साहित्य कला समीक्षा : दो शब्द : पृ० १।

साहित्य उसी को कहना चाहते हैं जो प्रगति समर्थक हो, अथवा सत्साहित्य हो। "प्रगतिवाद का अर्थ वही है कि कवि या लेखक इरादा करके ऐसे कला या साहित्य की रचना करे जो प्रगति में हाथ बँटावे, याने उद्देश्यमूलक सब साहित्य की रचना करे।"[1] प्रगतिवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में लकीर से इधर-उधर होना वह अवैज्ञानिक मानते हैं। वह प्रगतिशीलता को पार्टीबन्दी से परे की वस्तु स्वीकार करते हैं। शिवदानसिंह चौहान और रांगेय राघव से वह सहमत हैं कि प्रगतिशील साहित्य केवल कम्युनिस्ट ही नहीं लिख सकता वरन् अन्य भी लिख सकते हैं। "प्रगतिशीलता पार्टीबन्दी से परे की चीज है पर भारतवर्ष में कई ऐतिहासिक कारणों से इसको एक अंश तक कम्युनिस्ट पार्टी के साथ एक करके देखा गया है। प्रेमचन्द किसी पार्टी के नहीं थे, पर वह इस समय तक हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रगतिशील लेखक बने हुए हैं। इस कारण प्रगतिशील साहित्य से इस आधार पर बिदकना कि वह कम्युनिस्ट साहित्य है, बिल्कुल ऊलजलूल बात है। 'हर को भजे सो हरि का होई'। जो प्रगतिशील उद्देश्यों को साहित्य में अपनी जान में या अनजान में बल पहुँचाता है, उसकी विरोधी शक्तियों को क्षति पहुँचाता है, वही प्रगतिशील साहित्यिक है, चाहे वह कम्युनिस्ट, चाहे सोशलिस्ट, चाहे कांग्रेसी या चाहे कुछ भी क्यों न हो।[2]" वह उसी साहित्य को श्रेष्ठ नहीं मानते जिसमें रोटी-कपड़ा और शोषक शोषित की समस्याएँ उभार कर लायी गयी हों। उन्हें यह मान्यता स्वीकार है कि राजनैतिक सिद्धान्तवाद का प्रचार मात्र ही प्रगतिशीलता नहीं है बल्कि कथ्य की दृष्टि से उपयुक्त होने पर भी उसमें अभिव्यक्ति-पक्ष भी उतना सशक्त नहीं है तो वह सत्साहित्य नहीं कहा जाएगा। साहित्य से पहले साहित्य है और कुछ उसके पश्चात्। यह दूसरी बात है कि बुर्जुआ साहित्य के कलापक्ष की और अनुभूतियों की सच्चाई को अप्रगतिशील होते हुए भी वह प्रशंसा करते हैं और प्रगतिशील साहित्य के कलापक्ष की हीनता की निन्दा गुप्तजी ने 'प्रगतिवाद की रूपरेखा' में उन परम्परा-प्राप्त प्रश्नों का विवेचन करते हुए की है जो हिन्दी साहित्य की प्रगतिशीलता के मुख्य विषय हैं। अतः यहाँ उन प्रश्नों के पुनर्विवेचन की इसलिए आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनमें से सभी पूर्व पृष्ठों में समाहित हो चुके हैं।

लोक-साहित्य जनजीवन के घनिष्ठतम रूप का परिचायक है। उसमें सामान्य जनता की मनोभावनाएँ सीधे-सीधे मार्मिकतापूर्ण शैली में अभिव्यक्ति पाती हैं। गुप्तजी को लोकगीत एक शक्ति के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, जो सभी युगों में इसलिए प्रगतिशील बने रहते हैं कि पीड़ित और पददलित जनता जहाँ एक ओर उनके माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करती है वहाँ दूसरी ओर उनसे प्रेरणा

---

1. मन्मथनाथ गुप्त : पृ० १।
2. वही, पृ० २९।

ग्रहण कर जीवन्त-शक्ति पाती है। गुप्तजी खंडन-मंडन में जितने फंसे हैं उतने न सैद्धान्तिक विवेचन और न व्याख्यात्मक समीक्षा में। वह अपनी व्याख्यात्मक समीक्षाओं में उदाहरण दे-दे कर केवल इतना स्पष्ट करते रहे हैं कि प्रगतिशील समीक्षा का कौनसा तत्त्व यहाँ स्पष्ट हो सका है। कलाकारों एवं उनकी कृतियों का द्वन्द्वात्मक विवेचन देखने पर उनकी असमर्थता स्पष्ट हो जाती है। 'चण्डीदास और विद्यपति' शीर्षक लेख में उन्होंने युग-परिस्थितियों और परिवेशात्मक सापेक्ष साहित्य-परम्पराओं की द्वन्द्वात्मक दृष्टि और इन कवियों का सम्बन्ध न दिखा कर बंगला और हिन्दी में लिखी गई अपने से पूर्व की आलोचनाओं का संकलन मात्र कर दिया है जिससे इन कवियों को समझने में सहयोग के स्थान पर कठिनाई ही अधिक हुई है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने सताही दृष्टिकोण से काम लिया है। जहाँ वह प्रयोगवादी तथा अभिव्यंजनावादी कवियों और उनके यूरोपीय आचार्यों की समीक्षा करते हैं, वहाँ वह उनके अभिव्यक्तिवाद, अनास्था, कुंठा, स्खलन तथा पलायनवाद का खण्डन करने के लिए उनके कथनों के लम्बे-लम्बे उदाहरण देने के पश्चात् उनमें परिव्याप्त असंगतियों का दिग्दर्शन कराके शान्त हो जाते हैं। मन्मथनाथ गुप्त समीक्षक पीछे और प्रचारक पहले हैं। उन्होंने जो थोड़ा-बहुत लिखा है उसमें पूर्वाग्रह यदि न होता तो उसका महत्त्व होता, फिर भी हम इतना तो कह सकते हैं कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण के समीक्षात्मक तथा सृजनात्मक साहित्य को स्पष्ट करने का उन्होंने जो प्रयास किया है उसमें भावी सम्भावनाओं के लिए अनेक नए प्रश्न उपस्थिति कर दिए हैं।

## निष्कर्ष

प्रगतिवादी समीक्षा में जैसा कि इस अध्याय में देखा जा चुका है, सैद्धान्तिक स्तर पर दो वर्ग हैं। एक वर्ग में शिवदानसिंह चौहान, रांगेय राघव, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, नामवरसिंह आदि आते हैं जो यह स्वीकार करके चलते हैं कि मार्क्सवादी मान्यताओं को हमें भारतीय परिवेश, परम्परा एवं संस्कृति के साथ मिला कर और उसमें जहाँ कहीं परिवर्तन और परिवर्द्धन की आवश्यकता हो उसे स्वीकार करके चलना अभीप्सित है। दूसरे वर्ग में डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द गुप्त, अमृतराय आदि हैं जो मार्क्सवादी मान्यताओं को सीधे विवेचन और आस्फालन में आस्था रखते हैं। इसी का परिणाम यह हुआ है कि इन दोनों प्रकार की मान्यताओं के व्याख्याताओं ने दूसरों पर आक्षेप किये हैं—कुत्सित समाजशास्त्रीयता का आन्दोलन चलाया है और इससे न केवल प्रगतिशील समीक्षा-क्षेत्र वरन् सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य बुरी तरह प्रभावित हुआ है। मैं व्यक्तिगत रूप से इस दृष्टिकोण के उन समीक्षकों से सहमति प्रकट नहीं कर सकता, जिन्होंने यह स्वीकार किया है इस कुत्सित समाजशास्त्रीयता के आन्दोलन से भी प्रगतिवादी समीक्षा अग्रसर हुई है। इस समीक्षा-पद्धति में जीवन

और साहित्य को एक-दूसरे के पास लाने का जो भगीरथ प्रयास किया है और साहित्य की उन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया है जिनके द्वारा शोषण-विरोध, यथार्थवाद, जनवाद, लोककल्याण, सामाजिक-आर्थिक दृष्टि, वस्तुगत दृष्टि, उपयोगिता, मानवतावाद, भाषा-समस्या, अतिव्यक्तिवाद का विरोध, साहित्य को जनता के अधिकाधिक सम्पर्क में लाना। लोकतत्त्व तथा लोकसाहित्य को प्रोत्साहित करना, साहित्येतिहास के प्रति नवीन दृष्टिकोण आदि प्रवृत्तियाँ इस व्यापकता के साथ हिन्दी साहित्य में आई हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के मान्य विश्लेषकों के रस की लौकिक स्तर पर मान्यता स्वीकार करनी पड़ी, अस्तित्ववादियों को मध्यवर्गीय चेतना और यथार्थ का आवरण लेकर ही आत्मनिष्ठ कुण्ठाओं के शिल्पगत प्रयोग करने को बाध्य होना पड़ा है और मनोविज्ञान को आधार मानकर चलने वाले साहित्यकारों को एक सीमा तक फ्रायड से आगे जाकर सामाजिकता को स्वीकृति प्रदान करनी पड़ी है। यह कहना समीचीन नहीं होगा कि इस सब का श्रेय प्रगतिवादी आन्दोलन को है। प्रगतिवादी खेमे में यदि विग्रह न होता और उन्होंने सिद्धान्तों के यांत्रिक रूप को अस्वीकार करके स्वस्थ विकासवादी परम्पराएँ अपनायी होतीं तो यह कहा जा सकता था कि अन्य दृष्टिकोण वालों पर इनका प्रभाव उस सीमा तक पड़ा है जहाँ तक कि ऊपर बताया गया है। मैं पहले भी स्पष्ट कर चुका हूँ और पुनः इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि हिन्दी साहित्य में उद्भूत उपर्युक्त सभी प्रगतिशील तत्त्व युग की देन हैं समय की देन तथा परिवेश की देन हैं। कोई प्रवृत्ति न यकायक उत्पन्न होती है और न एक क्षण में उसका पर्यवसान ही सम्भव है। विकास का क्रम नियमानुसार धीरे-धीरे कार्य करता है। प्रगतिवाद भारतीय परिवेश और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की देन है। निःसन्देह इसके प्रमुख साहित्यकारों ने भारतेतर मार्क्सवादी साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है जैसा कि पिछले पृष्ठों में स्थान-स्थान पर इंगित किया गया है, किन्तु यदि भारतीय जन-मानस में इसके लिए अनुकूलता न होती तो यह आन्दोलन चल ही न पाता। १९३६ के लखनऊ अधिवेशन से प्रारम्भ होने वाले इस आन्दोलन के अद्यावधि रूप पर विहगम दृष्टि डाली जाय तो लगेगा कि कथा-क्षेत्र में निःसन्देह इसकी उपलब्धियाँ स्मरणीय हैं। किन्तु, अन्य क्षेत्रों में इसकी नगण्यता स्पष्ट है। जहाँ तक समीक्षा का प्रश्न है सबसे अधिक ऊहापोह तो इसमें हुआ है, किन्तु, दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि इस आन्दोलन में अब तक एक ऐसी समीक्षा-पद्धति नहीं आ पाई है जिससे साहित्य सम्बन्धी सभी प्रश्न सामान्य स्तर पर हल किए जा सकें। आशा है कि मतवादिता का उबाल ठण्डा होने पर मैल ऊपर आ जाएगा, रूढ़ि जल जाएगी और प्रगतिशील साहित्य की निर्मलता हिन्दी साहित्य को स्वस्थ परम्परा प्रदान कर सकेगी।

# प्रयोगवादी आलोचना

छायावाद और प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया में जिन व्यक्तिवादी मान्यताओं पर आधारित नवीन काव्य-दर्शन का जन्म हुआ है उसे अनेक नाम दिये गये हैं तथा दिए जा रहे हैं। इस पर कुछ नये-पुराने फ्रेंच कलावादियों का प्रभाव मनोविज्ञान के सहारे रखा गया है। नेचुरलिज्म, सुररियलिज्म, एक्सपेरीमेन्टलिज्म, एक्जिस्टेन्शियलिज्म, सिम्बोलिज्म, फ्रायड के साइकोऐनेलेसिज, फ्री एसोसिएशन, ड्रीम थियरी तथा शैलीगत नवीन प्रयोगों का समन्वित रूप प्रयोगवाद (आज इसे नयी कविता कहा जा रहा है) माना जा सकता है। इन प्रयोगवादियों के मुख्य मान्य सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं: १. नई राह का अन्वेषण सबका समान उद्देश्य है। २. प्रयोगशीलता के प्रति ललक सब में है। ३. कला का केन्द्र व्यक्ति है। ४. प्रयोगशीलता हमारा गुण है। ५. काव्य सामाजिक महत्त्व की वस्तु है। ६. अहंवाद तथा बुद्धिवाद काव्य-विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। ७. कवि का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई तथा समाज की व्यवस्था के बीच के सम्बन्ध को स्वर देना और उसको शुभ बनाना है। ८. विषय से टेकनीक अधिक महत्त्वपूर्ण है। ९. मुक्त छन्द का प्रयोग वांछनीय है। १०. ध्वनियों का ध्यान रखना चाहिये। ११. कविता और पाठक के बीच सीधा भाव-विनिमय होना चाहिये। १२. काव्य के कारण और हेतु नियम-बन्धनरहित हैं। १३. बिम्बवाद कविता नहीं है। १४. भाषा में प्रादेशिक शब्दावली का अधिकाधिक प्रयोग स्तुत्य है। १५ शब्द की लय का स्थान अर्थ की लय को लेना चाहिये। १६ भदेसपन होना अनिवार्य गुण है। १७. व्यक्ति-सत्य को व्यापक सत्य बनाना कविता का उद्देश्य है। प्रयोग की यही सार्थकता है। १८. यौन वर्जनाएँ सौन्दर्य-चेतना पर सवार होकर काव्य में साकार होती हैं। १९. साधारणीकरण का प्रश्न व्यर्थ है। इन मान्यताओं को स्वीकार करने वाले प्रयोगवादी मौलिक रूप से भिन्न थे। जिस अनायास रूप से वह जुड़े उसी प्रकार अलग भी हुए। दूसरे सप्त महारथियों को नत्थी किया गया, उन्होंने कुछ और नयी मान्यताएं दीं, बिखराहट जो इन संयोगो का गुण था वह दूसरे या तीसरे प्रयत्नों को अपने क्रोड़ में लेने लगा। महारथियों ने काव्य तथा शास्त्र दोनों रचे हैं। वे कवि भी हैं तथा शास्त्रकार भी। शास्त्रकार की दृष्टि से निम्न सिद्धान्तों का निर्धारण और किया गया – १. प्रयोग साधन हैं, साध्य नहीं। २. प्रयोगों का कोई वाद नहीं हो सकता। ३. साधारणीकरण का परम्परागत अर्थ अग्राही है—उसका नया अर्थ हो गया है। ४. नयी कविता में अन्धजड़ता की अभिव्यक्ति है। आज की कुंठा व्यक्तिगत से अधिक सामाजिक है। ५. बौद्धिकता आज की नयी कविता का प्राणतत्त्व है। ६. नयी कविता में परिप्रेक्ष्य, नवीन धरातल, मानववाद, नवीन सौन्दर्यबोध, सामाजिक दायित्व, अहंवाद, आधुनिकता, यांत्रिक विकास, आदि का प्रभाव अनिवार्य है। नये काव्य के यह स्वीकृत तत्त्व हैं।

नई कविता के समर्थक लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपने प्रतिमानों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सर्वप्रथम स्थान दिया है। वह वैज्ञानिक विश्लेषण, बौद्धिक जागरूकता, विघटित मूल्यों का तिरस्कार, आस्था, सत्यानुभूति आदि का समर्थन करते हैं। कवि की ईमानदारी वह जीवन 'तादात्म्य सत्य' को अवतरित करने में मानते हैं। उनका कथन है "जो जीवन के तादात्म्य सत्य को उस महत्त्वपूर्ण अनुभूत क्षण में अवतरित करना चाहती है, जिसमें देश, काल और अन्य मर्यादायें उस सत्य के माध्यम से अभिव्यंजना ग्रहण करने की चेष्टा करती हैं, जिसमें ईमानदारी और सहृदयता दोनों का सामंजस्य रहता है। यह महत्त्वपूर्ण अनुभूति सत्य की सहज सम्भावना नयी कविता का स्तर है।"[1] नयी कविता की यह मान्यता प्रयोगवादियों की उन्मुक्त-प्रवाह-शैली का ही एक रूप है। उन्मुक्त शैली में तारतम्यहीनता सबसे बड़ा गुण (?) होता है, जिसकी रक्षा सैद्धान्तिक रूप से यहाँ की गई है। इसी प्रकार आस्था का नारा लगा कर अनास्था को तथा सामाजिकता के नाम पर कुण्ठा को नियमित मान्यता देकर नवीन मान्यताओं की स्थापना की घोषणा की गयी है, जिन्हें न प्रगतिवादी स्वीकार कर सके हैं और न आदर्शवादी।

मार्क्सवाद में जगत् को भौतिक माना गया, जो निरन्तर द्वन्द्व के आधार पर विकसित हो रहा है। प्रयोगवादी जगत् को मूल्यविहीन, निष्क्रिय और निरपेक्ष मानते हैं। उनकी धारणा है कि जगत् के पदार्थों का मूल्य हम निश्चित कर देते हैं। इसी के आधार पर नैतिक मानदंड निर्मित होते हैं। अतः वे इन्हें मानवीय एवं सापेक्ष कहते हैं। मानदंडों के निर्धारण में उनका मुख्य ध्यान आवश्यकता तथा उपलब्ध तृप्ति पर रहता है।[2] वे ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते, किन्तु मानव को सर्व स्वतंत्र तथा स्वभाग्य-निर्णायक ठहराते हैं, जो मार्क्स की मान्यता के ठीक विपरीत है। मार्क्स मानव को समाज का अंग मानता है और सामाजिक चेतना के विकास में ही मानवीय चेतना का विकास मानता है। आत्मा, सत्ता, प्रकृति तथा संकल्प-शक्ति प्रयोगवादियों की दृष्टि में स्वतंत्र हैं। इसमें विकास को अस्वीकार किया गया है जबकि मार्क्सवाद आत्मा को नहीं मानता। अस्तित्व को भूत का परिणाम तथा प्रकृति को निरन्तर विकसित होने वाला ठहराता है। उसकी दृष्टि में संकल्प-शक्ति परिवेश से निर्धारित होती है। प्रयोगवादी साहित्य में मनोवैज्ञानिक मान्यताओं को स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ है कि उसमें कुण्ठा, ह्रासशील मनोवृत्तियाँ, निराशा, घुरीहीनता, क्षुद्रता, यांत्रिकता, निष्क्रियता, अपंगु, मनोदशा, दुर्बलता, ध्वस्तता, असंतुलन, मानव जीवन की व्यर्थता, यौन-आकर्षणों का घृणापूर्ण चित्रण, आर्थिक अनिश्चय, अनास्था, पलायन तथा लक्ष्यहीनता आदि चित्रण मिलता है। प्रयोगवाद में कहीं-कहीं सामाजिक मान्यताएँ विवेचित हैं, जैसे डा० रघुवंश ने अतिवैयक्तिकता और असामाजिकता का

1. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान : पृ० ३७।
2. सार्त्र : एक्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म : पृ० ३४।

विरोध किया है, किन्तु उनमें यह सब ऊपरी ढाँचा मात्र है। अन्त में वे सामाजिक असामानता की ओर न जाकर व्यक्तिवाद की ओर झुक जाते हैं। शैली को महत्त्व देकर रह जाते हैं। प्रयोगवादी समीक्षकों का एक वर्ग ऐसा है जो विषय की दृष्टि से प्रगतिशीलता को और शिल्प की दृष्टि से नवीन प्रयोगों को स्वीकार करता है। इनकी मान्यताएँ कुछ प्रतिबन्धों के साथ प्रगतिशील समीक्षकों को स्वीकृत हुई हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य का विवेचन करना अनुपयुक्त न होगा—नवीन आशावाद, प्रेम से प्रेरणा ग्रहण करना, शोषितों के प्रति सहानुभूति, राष्ट्र-प्रेम, शान्ति के पक्ष में आग्रह, समाज के प्रति असन्तोष, नूतन समाज निर्माण का अभिनव, आशा, वर्तमान जीवन की परिभाषा, इनके प्यार-दर्द-मनुहार और हाहाकार में व्यक्तिगत तत्त्वों का स्थान सामाजिकता को दिया जाना, स्वाभाविकता, असाम्प्रदायिकता, सार्वभौकिता आदि ऐसे तत्त्व हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि यह समाज की विषमता, परम्पराग्रस्तता, बेकारी, भूख, रोग और अनिश्चितता आदि के कारण इनमें कहीं-कहीं कटुता मिलती है, लेकिन ऐसी निराशा नहीं है जो आस्थाविहीन बनाती हो। यह शारीरिक, मानसिक, प्राकृतिक सौंदर्य के आधीन है जो जीवन को स्वीकृति प्रदान करने का एक लक्षण है। यह लोग वर्गसंघर्ष को स्वीकार करते हैं और शोषक और शोषित की पहिचान करके मानवीय पहलू को उभार कर सामने लाते हैं। इन्हें प्रयोगवादियों की तरह यह भय नहीं है कि वर्ग-रहित समाज की स्थापना हो जाने से उनकी स्वातंत्र्य भावना बन्धन में पड़ जाएगी। इस वर्ग के समीक्षक प्रथम वर्ग की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील, आशावादी और जीवन की स्वीकृति तथा वैविध्यता पर बल देते हैं। अतः प्रगतिवादी समीक्षकों ने इनकी मान्यताओं को स्वीकार किया है और आशा रखी है कि इन्हीं के आधार पर हिन्दी काव्य का विकास होगा।

## अज्ञेय

अज्ञेय की मान्यतायें जैसा कि उनके द्वारा लिखे गये अनेक प्रयोगवादी समीक्षा-ग्रन्थों से स्पष्ट है, परस्पर-विरोधी हैं। सब कुछ मिलाकर उन्हें व्यक्तिवादी, कुण्ठावादी प्रयोगों में विश्वास करने वाला, साधारणीकरण को अधिक महत्त्व न देने वाला, सामाजिक यथार्थ के स्थान पर आत्मशक्ति की दुहाई देने वाला कहा गया है। अज्ञेय की प्रयोगवादी आस्थाओं का आधार टी० एस० ईलियट तथा ज्यांपाल सार्त्र हैं। अज्ञेय ने इन्हीं की मान्यताओं को फ्रायडवाद के साथ जोड़ कर अपनी समीक्षा में प्रस्तुत किया है और अपनी रचनाओं द्वारा इनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अज्ञेयजी पर प्रगतिवादी मान्यताओं का परोक्ष प्रभाव दिखाई देता है। यह दूसरी बात है कि कहीं यह प्रभाव प्रगतिवाद का पक्षपाती है और कहीं उसका विरोधी। विरोधी को भी प्रभाव मानना इसलिए अनिवार्य है कि समाज में मान्यता चल रही है और उसे अस्वीकार करने के लिए ही विरोधी मान्यता प्रस्तुत की गई होगी। प्रयोगवादी

मान्यता भी इसका एक उदाहरण है। प्रगतिवाद में काव्य को सामाजिक अभिव्यक्ति कहा जाता है तो वह काव्य को निजी अभिव्यक्ति कहते हैं। काव्य को सार्वजनिक कसौटी पर कसना उनको अमान्य है—"काव्य रचना मूलतः अपने को अपनी अनुभूति से पृथक् करने का प्रयत्न है—अपने ही भावों के निर्व्यक्तीकरण की चेष्टा। बिना इसके काव्य निरा आत्म-निवेदन है, और सब होकर भी इतना व्यक्तिगत है कि काव्य की अभिधा के योग्य नहीं है। सार्वजनीनता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।"[1] इस उदाहरण से सिद्ध है कि वह सार्वजनीन पक्ष को अस्वीकार करने में असमर्थ हैं। वह कहते है कि कलाकार निरा-व्यक्ति नहीं है बल्कि समाज का एक अंग भी है। समाज के प्रति उसका दायित्व है, किन्तु उसके साथ ही साथ वह यह भी कहते हैं कि कलाकार का कला के प्रति भी उत्तरदायित्व रहता है और सम्भवतः इस कथन द्वारा वह आज के मध्यवर्गीय समाज की विचित्र स्थिति का सही रूप प्रस्तुत करते हैं—"कलाकार निरा व्यक्ति नहीं, सामाजिक भी है, और निःसन्देह उसका समाज के प्रति भी उत्तरदायित्व है, किन्तु जो व्यक्ति और समाज का पचड़ा खड़ा करते हैं वे बहुधा भूल जाते हैं कि व्यक्ति और समाज के प्रति उत्तरदायित्व के अतिरिक्त कलाकार का कला के प्रति भी उत्तरदायित्व होता है।"[2] साधारणीकरण के सिद्धान्त को लेकर अज्ञेय ने विचार किया है और उन्होंने साधारणीकरण को सिद्धान्त के रूप में अपने शब्दों द्वारा स्वीकृति प्रदान की है, किन्तु उसमें परम्परागत के स्थान पर नया अर्थ भरने की चेष्टा की है। साधारणीकरण को लेकर प्रयोगवादियों पर जो आक्षेप किये गये थे उनका उत्तर देते हुए अज्ञेयजी ने लिखा है कि हम इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके नवीन रूप में। आवश्यकता यह है कि कवि—"नये तथ्यों को उनके साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोड़ कर नये सत्यों का रूप दे, उन नये सत्यों को प्रेष्य बना कर उनका साधारणीकरण करे यही नयी रचना है।"[3] अज्ञेयजी रस को परम्परागत सहज-भाव से ग्रहण नहीं करते क्योंकि विशेषीकरण और उक्तिवैचित्र्य पर उनकी दृष्टि रहती है। इसीलिए उन्हें साधारणीकरण की समस्या जटिल प्रतीत होती है—"तारसप्तक के कवियों पर यह आक्षेप किया गया कि वे साधारणीकरण का सिद्धान्त नहीं मानते। यह दुहरा अन्याय है। क्योंकि वह न केवल उस सिद्धान्त को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं। .....यह ध्यान रखना होगा कि राग वहीं रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गई हैं।.....जो आज की वास्तविकता है उससे रागात्मक सम्बन्ध.....स्थापित करके ( वे ) उसे आन्तरिक सत्य बना लेते हैं। और इस विपर्यय से साधारणीकरण

---

1. अज्ञेय : चिन्ता, भूमिका : पृ० ६।
2. वही, शरणार्थी, भूमिका : पृ० २।
3. वही, दूसरा सप्तक, भूमिका : पृ० १२।

की नई समस्यायें आरम्भ होती हैं।"[1] वे कलाकार के मन को एक भंडार मानते हैं जिसमें अनुभूतियाँ, शब्दविचार और चित्र इकट्ठे होते रहते हैं। काव्य अपनी प्रतिभा द्वारा इन सबकी सहायता से काव्य-रचना करता है। "कलाकार का मन एक भंडार है जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ, शब्दविचार, चित्र इकट्ठे होते रहते हैं उस क्षण की प्रतीक्षा में जबकि कवि-प्रतिभा के ताप से एक नया रसायन, एक चमत्कारिक योग नहीं उत्पन्न हो जाएगा।'[2] इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे वे खुलकर सामाजिक प्रभाव न स्वीकार करें, किन्तु अनुभूतियों, शब्दों, विचारों और चित्रों को स्वीकार कर सामाजिकता को ही स्वीकार करते हैं। उन्होंने कला को अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह कहा है। "कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।..... समाज के साधारण जीवन में अपना स्थान पाकर तो वह प्रेरित होना है कि वह स्थान बनाये, अतएव पुरानी लीकों पर चलने की असामर्थ्य ही नयी लीकें बनाने की सामर्थ्य को प्रोत्साहन देती है।"[3] इसमें उन्होंने समाज के साधारण जीवन में अपना स्थान खोजना चाहा है और चूँकि वह पुरानी लकीरों पर नहीं चल सके हैं इसलिए नवीन प्रयोगों की आवश्यकता अनुभव की है। जो कवि समीक्षक स्वान्त सुखाय नहीं लिखता परोक्ष रूप से समझा जा सकता है कि वह लोक के लिए लिखता है। लोक के लिए लिखने वाला प्रगतिवादी मान्यताओं से प्रभावित है जो आज के युग की माँग है। और इससे प्रयोगवादी भी अपने को नहीं बचा पाते हैं। वे सारे संसार की पीड़ा को अपने में सम्मिलित करते हैं एवं फिर जीवन की अनुभूतियों से प्रेरित होकर लिखते हैं।"[4] वे काम-कुण्ठाओं और अव्यक्त मन की गहरी अनुभूतियों से हट कर अमीर-गरीब, सुखी-दुःखी, पीड़ित-पीड़क आदि के सम्बन्ध में भी लिखने का मोह नहीं त्याग सके हैं। यह आज के युग की ऐसी माँग है जिसे अज्ञेय जैसा अतिव्यक्तिवादी समीक्षक भी अस्वीकार नहीं कर पाया है—"कलाकार को अमीर और गरीब, सुखी और दुःखी, पीड़ित और पीड़क, दोनों के बारे में लिखने का समान अधिकार है, यदि वह अपनी कला को अक्षुण्ण रखता है।...क्या कलाकार की अनुभूति इतनी व्यापक और साथ ही इतनी असंलग्न, अनासक्त नहीं हो सकती कि दोनों पक्षों को उनका उचित स्थान दे सके।"[5] मुझे यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि प्रयोगवादी अज्ञेय चाहे जितने बड़े व्यक्तिवादी हों और चाहे जैसे नवीन प्रयोगों द्वारा अनुभूति-सत्य को अभिव्यक्ति देते हों, किन्तु वे काव्य की सामाजिक उपयोगिता से अलग नहीं हट सकते।

---

1. अज्ञेय : दूसरा सप्तक : पृ० १-१०।
2. वही, त्रिशंकु : पृ० ३८।
3. वही, पृ० २६-२७।
4. वही, भग्नदूत : पृ० १५८।
5. वही, त्रिशंकु : पृ० ६८-६९।

वह बार-बार यह घोषणा करते हैं कि मैं अपनी अनुभूतियों को इसीलिए काव्यात्मक अभिव्यक्ति देता हूँ जिससे मेरा अनुभूत समष्टि तक अपनी सम्पूर्णता में पहुँचे। एक प्रयोग जब इस उद्देश्य की पूर्ति करता नहीं दिखायी देता तो वह दूसरा प्रयोग करते हैं। उनकी प्रयोगशीलता का यह रहस्य असामाजिक नहीं है—"जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाय—यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।"[1] अन्त में हम समझ सकते हैं कि अज्ञेयजी उसी को सच्चा कलाकार मानते हैं जिसकी विशाल आत्मा समाज के अन्तर्गत समूचे जगत् को समाहित कर सके। वह सामाजिकता को उस सीमा तक स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं जहाँ व्यक्ति का अपनापन और उसका सचेतनपन होना अस्वीकार कर दिया जाय। वह चाहते हैं कि कलाकार की कृति को सामाजिक स्वीकृति मिले। वह परिस्थितियों से विद्रोह करने तथा सामाजिक परिवेष को बदलने के लिये प्रयत्नशील होना कलाकार का अधिकार मानते हैं। अज्ञेयजी ने अनेक ऐसे नवीन और मौलिक भ्रमों का हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में सूत्रपात किया है, जो उन्हें व्यावहारिकता से परे ले जाकर सामाजिकता का बहिष्कार करा देते हैं। उनमें से कुछ प्रश्न हैं युग और व्यक्ति का सम्बन्ध, परम्परा-मौलिकता का सम्बन्ध, रूढ़ि और प्रयोग का सम्बन्ध, और अतीत के साथ वर्तमान का सम्बन्ध आदि हैं। उन्होंने साहित्य को परम्परा, परिस्थिति और युग की सापेक्षता में रखकर मूल्यांकन करना स्वीकार किया है। वह सामूहिक मन के परिवर्तित और विकसित होने में विश्वास करते हैं।[2] एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अज्ञेयजी साहित्य का मूल्यांकन करते समय पुस्तक पढ़ने वाले सामाजिक, राजनैतिक और अन्य भावों को स्वीकार करते हैं। सामाजिक चेतना की मान्यता अन्य मनोविश्लेषणवादियों की अपेक्षा उन्हें अधिक मान्य है। वह साहित्य को समाज के लिए तो अधिक मानते हैं, लेकिन उसमें लेखक के असन्तोष को भी स्थान देते हैं। उन्हें समाजवादी दर्शन से बहुत चिढ़ है और वे जान-बूझ कर अपनी आलोचनाओं में उससे बचते हैं, यहाँ तक कि प्रगतिशील समीक्षा की शब्दावली का प्रयोग नहीं करते।

## धर्मवीर भारती

धर्मवीर भारती अपने को प्रगतिवादी कहते हैं, किन्तु उन्हें उस प्रगतिवाद में आस्था नहीं है जो कम्युनिस्ट पार्टी के साथ बँध कर चलता है। साहित्यिक मान्यता जब किसी वाद के साथ जुड़ जाती है और वह वाद भी जब साहित्यिक क्षेत्र का होता है तो वह साहित्य को आगे बढ़ाने की आपेक्षा पीछे खींचने लगता है। भारती ने ईमानदार कलाकार, सच्चे मानवतावादी और प्रगति के प्रेमी होने के कारण ही लिखा

1. अज्ञेय : तार सप्तक : पृ० ७५।
2. वही, त्रिशंकु : पृ० ३४।

है। "मानवता को प्यार करने वाले एक ईमानदार कलाकार के नाते प्रगति मेरा ईमान है, मेरी कलम की जवानी है, लेकिन अपनी आत्मा में मैं जिस सत्य का साक्षात् करता हूँ उसे निर्भीकता से आगे रखना मेरा कर्तव्य है। जहाँ तक कम्युनिस्ट प्रगतिवाद का सम्बन्ध है, उसके अन्दर जो कुछ भी संकीर्णता है जहाँ तक अपने में सिमटा हुआ, भारत की सांस्कृतिक परम्परा से दूर, मानव जीवन के विशाल कैनवास से अनजाना एक कट्टर राजनीतिक मजहब का रूप धारण कर लेता है, वहाँ एक ईमानदार साहित्यिक के नाते मैं उसके खिलाफ आवाज उठाने के लिए बाध्य हो जाता हूँ। एक सत्य के खोजी साहित्यिक के लिए मानवीय सत्य का महत्त्व किसी भी वाद से ज्यादा है इसीलिए मुझे वाद का विरोध करना पड़ता है, प्रगति के समर्थन में आवाज उठानी पड़ती है, क्योंकि मैं देख रहा हूँ वाद की जंजीरों ने प्रगति के कदम जकड़ लिये हैं।"[1] इससे सिद्ध होता है कि वह मार्क्सवाद को स्वीकार तो करते हैं किन्तु उसे जीवन का एक प्रयोग मात्र मानते हैं, समाधान नहीं।[2] वह यह भी घोषित करते हैं कि मार्क्स की घोषणाओं को अन्तिम न माना जाय। आज तक इस दिशा में जो काम हुआ है उसके आधार पर यह देखा जाय कि अभी कितने तत्त्व अपूर्ण हैं, उन्हें हम भारतीय संस्कृति से मिला कर इस प्रकार एक पूर्ण जीवन-दर्शन की स्थापना कर सकते हैं।[3] वह मार्क्सवाद को मानवतावादी दृष्टिकोण से देखते हैं और उसी दृष्टि से उसके महत्त्व को स्वीकार करना चाहते हैं।[4] वह अपनी समीक्षा के पूँजीवादी उपयोग के विरोधी हैं। भारती ने वर्गसंघर्ष को स्वीकार किया है और आर्थिक सम्बन्धों के साथ सामाजिक जीवन का सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्हें मार्क्सवादी कलाकार का यह कर्तव्य स्वीकार है कि उसे जनता के साथ रहना चाहिए एवं जनता की भावनाओं, कल्पनाओं तथा उमंगों को मूर्तिमान करना चाहिए। जो साहित्यकार ऐसा नहीं करता वह पतनोन्मुख साहित्य का सृजन करता है। वह प्रतिक्रियावादी है और पलायनवादी भी। "वर्गसंघर्ष आर्थिक ढाँचे की मूल भित्ति है, समाज-व्यवस्था की मूल भित्ति है, शासन-सत्ता की मूल भित्ति है, संस्कृति की मूल भित्ति है और इसीलिए साहित्य की भी मूल भित्ति है। प्रत्येक कलाकार अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, कम-से-कम उस वर्ग का जिससे सहानुभूति रहती है (सहानुभूति शब्द का विशेष महत्त्व है। सम्भव है एक लेखक आर्थिक रूप से सम्पन्न हो लेकिन उसकी सहानुभूति हो बुर्जुआ) इसलिए मार्क्सवादी कलाकार का कर्तव्य है कि वह जनता के साथ अपने को रखे, जनता की भावनाएँ, उमंगें, कल्पनाएँ और सपने कलाकार की भावनाएँ, उमंगें, कल्पनाएँ और सपने बनें। मार्क्सवाद के अनुसार वही कला महान् होती है जिसमें जनता का महान्

---

1. धर्मवीर भारती : प्रगतिवाद एक समीक्षा : पृ० १।
2. वही, पृ० २।
3. वही, भूमिका : पृ० ३।
4. वही, पृ० ४।

आन्दोलन सीना उभारता हुआ नजर आये, जिसमें नयी जिन्दगी अंगड़ाई ले रही हो जिस पर नयी मानवता के सपने अपने उजले पंख फैलाकर छाँव किए हों। जो कलाकार जनता से अपने को अलग कर लेता है वह अपनी वैयक्तिक विकृत्तियों में उलझ कर या तो पतनोन्मुख साहित्य का सृजन करता है, या अपने वर्गस्वार्थ में अन्धा होकर प्रतिक्रियावादी और पलायनवादी साहित्य का।"[1] प्रगतिवादी मान्यताओं के ऊपर भारती ने अपनी प्रगतिवादी समीक्षा-पुस्तक में प्रतिक्रिया व्यक्त की है। इसमें विस्तार से उन प्रश्नों को उठाया गया है जो आज के नव्यमानवतावादी मार्क्सवाद के सम्बन्ध में उठाते हैं। उनकी मान्यताओं में बड़ी तेजी से परिवर्तन हुआ है, फिर भी अज्ञेय के समान नितान्त व्यक्तिवादी और सामाजिक मान्यताओं को एकान्त भाव से अस्वीकार करने वाले नहीं बन पाए हैं। मार्क्सवाद का जो प्रभाव उन पर पड़ा है उसके परिणामस्वरूप आज भी उन्हें मान्य है कि कल्पना और यथार्थ दोनों ही मानव-जीवन के अंग हैं। साहित्य में न कोरी कल्पना ठहर सकती है न कोरा यथार्थ। वह उन दोनो के समन्वयवादी रूप को स्वीकार करते हैं जो एक स्वस्थ दृष्टिकोण माना जा सकता है—"कल्पना और यथार्थ दोनों ही मानव जीवन के अंग हैं। साहित्य में भी केवल यथार्थवादी शैली से मनुष्य कभी सन्तुष्ट नहीं रह सकता और घूम-फिर कर छायावादी शैली का आना आवश्यक है।'[2] यथार्थवाद की समाजवादी मान्यता केवल समस्याओं के यथार्थवादी चित्रण को ही स्वीकार नहीं करती वरन् उसमें वर्तमान समाज की यथार्थ स्थिति के साथ भविष्य के मंगलमय रूप का समन्वय भी स्वीकार किया जाता है। सम्भवतः धर्मवीर भारती को यह मान्यता स्वीकार है। तभी तो उन्होंने यह माना है कि महान् और प्रतिभाशाली कलाकार अपने युग की समस्याओं से अछूता नहीं रह सकता। इन कृतियों में कलाकार की अनुभूत और जनसाधारण का अविच्छिन्न सम्बन्ध स्वीकार हो जाता है—"किसी भी युग का महान् प्रतिभाशाली कलाकार अपने युग की ज्वलन्त समस्याओं की उपेक्षा कर ही नहीं सकता। महान् काव्य की अनुभूति के डोरे कलाकार और साधारण मानव के प्राणों को कभी भी विच्छिन्न होने नहीं देते।"[3] जनजीवन और साहित्य को मान्यता प्रदान करते हुए भारती ने साहित्य को जीवन के (कु) और (सु) दोनों रूपों का स्वीकार करने की बात कही है। वह साहित्य को खण्ड रूप में देखकर समाज के विकास-क्रम अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। वह साहित्य को अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की एक सांस्कृतिक शृंखला मानकर चले हैं। यह सांस्कृतिक शृंखला केवल व्यक्ति के माध्यम से व्यक्त हो सकती है ऐसा वह मानते हैं—"साहित्य का आधार व्यक्ति ही है। जीवन और मौत, दुख और सुख, अन्धेरा और उजाला, अतीत और वर्तमान

1. धर्मवीर भारती : प्रगतिवाद एक समीक्षा : पृ० ८-९।
2. वही, पृ० १३१-३२।
3. वही, पृ० १८९।

सभी की अभिव्यक्ति साहित्य में, व्यक्ति के माध्यम से होती आई है और होती रहेगी।"[1] उन्होंने अपने काव्य-सम्बन्धी विवेचन में स्वीकार किया है कि कलाकार परिस्थितियों को जीवन में आने और उनके चले जाने वाले लोगों, अपने समाज, अपने वर्ग, अपने संघर्ष, अपनी समकालीन राजनीति तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होता है। उसकी कला का रूप-गठन तथ्य के साथ ही साथ युग-यथार्थ को व्यक्त करने वाले रूप ग्रहण करता है—"मेरी परिस्थितियाँ, मेरे जीवन में आने और आकर चले जाने वाले लोग, मेरा समाज, मेरा वर्ग, मेरा संघर्ष, मेरी समकालीन राजनीति और समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ इन सभी का मेरे और मेरी कविता के रूप-गठन और विकास में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भाग रहा है।"[2] साहित्य में मानवीय मनोवृत्तियाँ रस-रूप में ही उन्हें स्वीकार हैं न कि उद्दाम, उच्छृंखल और पाशविक रूप में। परोक्ष रूप से रस को स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है—"शृंगार कविता का अनिवार्य अंग है और नैतिकता के बहुत प्योरिटन और सङ्कीर्ण बंधनों में कविता का रस और सौंदर्य विच्छिन्न हो जाता है। लेकिन हम यह कभी नहीं भूल सकते कि काव्य और साहित्य में शृङ्गार रस बनकर आता है, वासना का उद्दाम उच्छृङ्खल और पाशविक चित्रण कभी भी काव्य और साहित्य को ऊँचाई नहीं दे सकता, न आत्मा का संस्कार ही कर सकता है।"[3] धर्मवीर भारती की मान्यताओं में कुछ और परिवर्तन हुआ है। अभी भी वह मार्क्स-विरोधी तो नहीं हैं, किन्तु मार्क्स-दर्शन को एकांगी मानते हैं, इसीलिए मार्क्सवादी समीक्षा मिथ्या और सतही प्रतीत होती है—"मार्क्स ने कलाकार की समाज-सापेक्ष स्थिति पर और कलाकृति की सामाजिक उपयोगिता पर अधिक ध्यान दिया और अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इस ओर विशेष संकेत किया कि कला-सृजन सामाजिक शक्तियों से प्रभावित होता है। अन्ततोगत्वा वह सृजन व्यक्ति के द्वारा होता है। उसके जटिल, गहन, अनेक स्तरों वाले अन्तर्जगत् से उद्भूत होता है—यदि वह व्यक्ति और उसका जटिल अन्तर्जगत् न हो तो सृष्टि के आदि से लेकर आज तक की समस्त सामाजिक शक्तियाँ और राज-सत्ताएँ महान् कविता की एक भी पंक्ति या एक भी सप्राण या सजीव चित्र नहीं रख सकती थी। समस्त मार्क्सीय कला-समीक्षा का विकास इसी कारण एकांगी होता गया और कलाकार की अन्तःप्रेरणा और उसकी जटिल प्रकृति न समझ पाने के कारण उसके निर्णय अधिकतर मिथ्या या सतही सिद्ध होते रहे हैं।"[4] मार्क्सवादी समीक्षा के समान ही मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-पद्धति को भी वह एकांगी मानते हैं। फ्रायडवाद में कलाकार को रुग्ण मानस वाला व्यक्ति मान लिया जाता है जो उनकी दृष्टि

1. धर्मवीर भारती : प्रगतिवाद एक समीक्षा : पृ० १३६।
2. वही, ठंडा लोहा तथा अन्य कवितायें, भूमिका : पृ० १।
3. वही, प्रगतिवाद एक समीक्षा : पृ० १७६।
4. वही, कला और साहित्य : पृ० ४६-४७।

में नितान्त अनुचित है।[1] भारती ऐसी आलोचनात्मक मान्यताएँ व्यावहारिक मानते हैं जिनमें मार्क्सवाद और फ्रायडवाद का समन्वय हो जाय। इधर वह फ्रांस और इंगलैंड की प्रयोगवादी मान्यताओं से विशेष प्रभावित हुए हैं, एवं वहाँ के कला-समीक्षकों को अपना आदर्श मानने लगे हैं।[2] प्रचारवाद के विरोधी होते हुए भी वह उन मान्यताओं के प्रचारक हैं जिन्हें आज की परिस्थिति में साहित्यिक विकास के लिए आवश्यक समझते हैं।

## लक्ष्मीकान्त वर्मा

लक्ष्मीकान्त वर्मा ने प्रयोगशील नयी कविता को एक सैद्धान्तिक आधार भूमि प्रदान करने का जो शक्तिशाली प्रयास किया है, उसमें उन्होंने मुख्यतः सार्त्र, ईलियट, अज्ञेय तथा देशी-विदेशी अस्तित्ववादी कलाकारों और समीक्षकों का आधार ग्रहण किया है। वर्माजी ने फ्रायड, एडलर और जुंग की मान्यताओं को स्वीकार करके लघु मानव की कुण्ठापूर्ण विकृति तथा दूषित मनोवृत्तियों को काव्य का मुख्य संवेद्य माना है। जहाँ तक प्रयोगों की नवीनता को स्वीकार करने का प्रश्न है, उससे तो प्रगतिवादी भी असहमत नहीं हैं, किन्तु लक्ष्मीकान्तजी ने नयी कविता में जिन तत्त्वों को प्रमुखता प्रदान की है वह चिन्त्य हैं। उन पर विचार करने से पूर्व हमें पूर्वपक्ष के रूप में उनकी मान्यतायें सूत्र रूप में समझ लेना समीचीन होगा। वह इस प्रकार हैं — १. नयी परिप्रेक्ष्यणीयता २. अनुभूतियों के नये रूपांतरण ३. सौंदर्य-बोध के नये धरातल ४. परम्परागत विकृत मूल्यों के परिष्करण ५. मतवादी भ्रांतियों से मुक्ति पाने की कामना ६. तदात्म सत्य की वह परिधियाँ जिनमें हमारा रागात्मक बोध नये आयामों का अन्वेषण करने की सामर्थ्य पाता है। इन मान्यताओं में सभी सूत्र मार्क्सवाद-विरोधी नहीं हैं। जहाँ तक वह रूढ़ियों का विरोध करना चाहते हैं वहाँ तक तो कोई भी प्रगतिवादी उनका विरोध नहीं करेगा। परिप्रेक्ष्य के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इसे मार्क्सवादी समीक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, किन्तु मार्क्सवादियों को परिप्रेक्ष्य जिस ऐतिहासिक भौतिकवादी सन्दर्भ में स्वीकृत है, उसे लक्ष्मीकांत नहीं मानते हैं। वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा अन्य मान्यताएँ समाज के सन्दर्भ में न होने के कारण प्रगतिशील नहीं कही जा सकतीं। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मीकांतजी की मान्यताओं का अधिकांश भाग समाज-विरोधी अतिव्यक्तिवादी और प्रगतिशील मान्यताओं के विपरीत है, आज के जीवन की यांत्रिकता, लघुता, संकीर्णता, शोषण, दमन, विषमता आदि को जो मान्यता नयी कविता में दी गयी है और वर्माजी ने उसका औचित्य स्वीकार किया है उससे कोई भी यथार्थवादी सहमत हो सकेगा, किन्तु इस यथार्थ के पीछे जो अन्य मान्यताएँ हैं, भविष्य में अनास्था

1. धर्मवीर भारती : कला और साहित्य : पृ० ४७-४८।
2. वही, पृ० ४९।

है, क्षणवादी वृत्ति है उस सबका विरोध हुआ है और विरोध होना चाहिए। नयी समीक्षा के ह्रासशील तत्त्व जब तक नष्ट नहीं होंगे और उनका स्थान विकासशील तत्त्व नहीं लेंगे, तब तक समीक्षा-पद्धति से वह आशाएँ पूरी नहीं हो सकतीं जिनके लिए हिन्दी साहित्य और उसके साहित्यकार लालायित हैं।

## डा० जगदीश गुप्त

डा० जगदीश गुप्त ने नयी कविता पर प्रत्यक्षतः नवीन और परोक्षतः कतिपय परम्पराओं से संयुक्त पद्धति से विचार किया है। ये प्रगतिवादियों की शब्दावली को ही नहीं अपनाते वरन् यथेष्ट सीमा तक उनकी मान्यताओं को भी स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। इसी कारण डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय जैसे प्रगतिवादी समीक्षकों ने भी उनकी मान्यताओं को स्वीकार किया है।[1] जगदीश गुप्त स्वीकार करते हैं कि नयी कविता में आज का यथार्थ अभिव्यक्त हुआ है। हमें नयी कविता आधुनिक जीवन की सीधी-सच्ची और सहज अभिव्यक्ति दिखायी देती है।[2] जगदीशजी नयी कविता द्वारा ऐसे नये मनुष्य की कल्पना को मूर्तरूप देना चाहते हैं जो रूढ़ियों से मुक्त, स्वतंत्र, सामाजिक उत्तरदायित्त्व को समझने वाला तथा उसे पूर्ण करने की सामर्थ्य रखने वाला, समानता में विश्वास करने वाला, दैविक शक्तियों को न मानने वाला, आस्थावान तथा इन गुणों से युक्त समाज की रचना करने में संलग्न हो। आज की नयी कविता केवल मनोरंजन और कलाकार की अभिव्यक्ति भर नहीं है वरन् इस महान् उद्देश्य को लेकर चलने वाली प्रक्रिया है कि नवीन मानव रूढ़िग्रस्त चेतना से मुक्त, मानव मूल्य के रूप में स्वातंत्र्य के प्रति सजग, अपने भीतर आरोपित सामाजिक दायित्व का स्वयं अनुभव करने वाला, समाज को समस्त मानवता के हित में परिवर्तित करके नया रूप देने के लिए कृतसंकल्प, कुटिल स्वार्थ-भावना से विरत, मानवमात्र के प्रति स्वाभाविक सह-अनुभूत से युक्त, संकीर्णताओं एवं कृत्रिम विभाजनों के प्रति क्षोभ का अनुभव करने वाला, हर मनुष्य को जन्मतः सम्माननीय मानने वाला, मानव व्यक्तित्व को उपेक्षित, निरर्थक और नगण्य सिद्ध करने वाली किसी भी दैविक शक्ति या राजनैतिक सत्ता के आगे अवनत न होने वाला, मनुष्य की अंतरंग सद्वृत्ति के प्रति आस्थावान, प्रत्येक व्यक्ति के स्वाभिमान के प्रति सजग, दृढ़ एवं संगठित अन्तःकरण संयुक्त, सक्रिय किन्तु अपीड़क, सत्यनिष्ठ तथा विवेक सम्पन्न होगा। अगर कवि के आत्म-रंजन, भावाभिव्यक्ति एवं संवेदना-संप्रेरण के अतिरिक्त कविता का कोई इतर उद्देश्य हो सकता है, और मैं समझता हूँ कि हो सकता है, तो कहना होगा कि ऐसे मनुष्य की प्रतिष्ठा करना ही नयी कविता का उद्देश्य है।[3] जगदीश गुप्त समाज में चलने वाले

---

1. डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कविता : पृ० ५२१।
2. नयी कविता : अंक ४ : पृ० ६।
3. वही, पृ० १२-१३।

दान और धर्म के रूप को अनुचित मानते हैं क्योंकि इनके द्वारा एक ओर अहंकार और दूसरी ओर याचना बढ़ती है। वह चाहते हैं कि आज की दयनीय आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था बदले और सभी मनुष्यों को समान रूप से प्रतिष्ठापूर्वक जीवन-यापन के साधन उपलब्ध हों।[1] उनका यह दृष्टिकोण प्रगतिवादियों को अस्वीकार नहीं हो सकता।

लघु मानव के सम्बन्ध में लक्ष्मीकान्तजी जो अनर्गल घोषणायें करते हैं उनका निराकरण करते हुए जगदीश गुप्त ने लिखा है कि वह लघुता को मानव-मूल्य नहीं मानते, क्योंकि यह लघुता वास्तविक और वरेण्य नहीं है।[2] इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता बहुत स्पष्ट है कि व्यक्ति व्यक्ति के बीच समानता का ही सम्बन्ध होना चाहिए। लघुता अगर वरेण्य हो सकती है तो किसी महानता से सम्बद्ध होकर ही, जैसा भक्तिकाल में दास-भाव के अन्तर्गत हुआ। महानता का विरोध करते हुए उसे वह कदापि वरेण्य नहीं स्वीकार करते, क्योंकि दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अतः मनुष्य वास्तव में महान के आतंक से पूरी तरह तभी मुक्त हो सकेगा जब अपने को लघु कहना छोड़ देगा। व्यक्ति के स्वाभिमान की रक्षा करते हुए यदि कोई स्वाभाविक सम्बन्ध हो सकता है तो वह समानता का ही हो सकता है।[3] वह उन नये समीक्षकों को समयोचित परामर्श देते हैं जो लघुता पर अत्यन्त बल देकर दलित मानवता के सच्चे हमदर्द नहीं हैं। वह यह बताते हैं कि अगर दलित मानवता के प्रति हम सद्-भावना प्रगट न कर सके और अपने को उनके साथ जोड़ कर न देख सके तो इसका अर्थ यह होगा कि हम मानव व्यक्तित्व को मूलतः और अनिवार्यतः लघु मानते हैं—"नयी कविता के प्रतिमानों की खोज में उत्साहवश लघुता पर अत्यधिक बल देना आवश्यक है। जहाँ तक वह उपेक्षित है और दलित मानवता के प्रति हमारी एकता और सद्भावना की द्योतक हो वहीं तक ग्राही है, उससे अधिक नहीं। अन्यथा यह भ्रम हो जाने की सम्भावना है कि हम मानव व्यक्तित्व को मूलतः और अनिवार्यतः लघु मानते हैं।"[4] जगदीश गुप्त ने नवीन मानव में आस्था प्रगट करके अनास्था, भय, निराशा आदि प्रयोगवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध जो उद्घोष किया है वह स्पष्ट करता है कि नयी समीक्षा ऐसे प्रतिमान स्वीकार करती जा रही है जिनसे नवीन मानवता-वाद का जन्म हो सकेगा और यह प्रतिमान प्रगतिशील समीक्षा के निकट आकर ऐसे सार्वभौमिक सिद्धान्तों को जन्म देंगे जिनसे आगामी युग प्रेरणा ग्रहण करेगा।

आज की नयी समीक्षा मार्क्सवादी दृष्टिकोण के समान सार्वभौमिक तत्त्वों को स्वीकार करके चलती है। देश, भाषा, धर्म और जातीयता के भेद उसके लिए महत्त्व-

---

1. नयी कविता : अंक ४ : पृ० १५।
2. वही, पृ० १६।
3. वही, पृ० १६।
4. वही, पृ० १६।

हीन हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि इस समीक्षक को अपनी भाषा और देश से स्नेह नहीं हैं, वरन् वह सच्चा मानवतावादी है। वह मनुष्यमात्र की एकता में विश्वास करता है। जहाँ कहीं इन दोनों मान्यताओं में संघर्ष और विरोध की स्थिति आती है वहाँ वह व्यापक आधार को ग्रहण करके सच्चे अर्थ में प्रगतिशील सिद्ध होता है। नयी समीक्षा में इस प्रगतिशील दृष्टिकोण को सर्वप्रथम जगदीशजी ने स्वीकार किया है--"नये कवि की दृष्टि स्वभावतः सार्वभौमिक है। देश, भाषा, धर्म तथा जातीयता के विभेद उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और न उनके आधार पर वह अनुप्रेरित होता है। अपने देश, अपनी भाषा और अपने साहित्य के प्रति सम्मान एवं स्नेह की भावना उसे मनुष्य मात्र की एकता और साहित्यमात्र की अखंडता की प्रतीति से विरत नहीं करती। इनकी एकात्म भाव-स्थिति उसके लिए प्रेरक सिद्ध होती है। जहाँ दोनों में विरोध होता है वहाँ वह संकीर्णता और परिधिमूलकता के स्थान पर उदारता और व्यापकता का वरण करता है।[1]" जगदीशजी इन मान्यताओं के आधार पर हमें अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं, किन्तु हम उन्हें प्रगतिशील इसलिए घोषित नहीं कर सकते क्योंकि उन्होंने अर्थ की लय तथा रसानुभूति और सह-अनुभूति शीर्षक निबन्धों में जिन मान्यताओं की स्थापना की है वह एक सीमा तक उपर्युक्त दृष्टिकोण के विपरीत हैं। उनके अर्थ-लय की मान्यता पर टी० एस० ईलियट, आई० ए० रिचर्डस, सार्त्र तथा अमेरिकन नव्यमानवतावाद का मिला-जुला प्रभाव है, जिसमें वह परिवेश को अस्वीकार कर देते हैं, कलाकृति को वह अपने में पूर्ण मानकर मूल्यांकन करने के पक्षपाती हैं। उस कृति का उससे इतर अन्य किसी वस्तु का सम्बन्ध मानना अथवा उसके महत्त्व को समझने के लिए उनकी सहायता लेना उन्हें अस्वीकार है। इससे प्रगट है कि जगदीश गुप्त जैसे नयी समीक्षा के स्तम्भ सापेक्षतावाद के विरोधी हैं जिनसे परोक्षतः कलावाद का ही समर्थन होता है।

## निष्कर्ष

प्रयोगवादी या नयी समीक्षा के इस विवेचन के पश्चात् हम समझ सकते हैं कि इस समीक्षा-पद्धति का जन्म द्वितीय महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुई अनावस्थामूलक स्वार्थरत व्यक्तिवादी—जीवनवादी दृष्टि का परिणाम है। नये समीक्षक केवल समीक्षक नहीं हैं वरन् वह कृति साहित्यकार भी हैं, जिन्होंने समीक्षायें अस्तित्त्व रक्षा के लिए लिखी हैं। इससे प्रकट है कि इन समीक्षाओं में पूर्वाग्रहों का आधिक्य है और प्रचार का स्वर मुख्य है। इनमें ऐसे समान आधारों और मान्यताओं का भी आधार है जिनपर सभी एक मत हो सके। अज्ञेय यदि काम-कुण्ठाओं को अभिव्यक्त करना कवि-कर्म मानते हैं और टी० एस० ईलियट की मान्यताओं का हिन्दीकरण करके ही नये समीक्षक की भूमिका की इतिश्री मान लेते हैं तो धर्मवीर भारती उनसे एक कदम और आगे

---

1. नयी कविता : भाग ५-६ : पृ० १।

जाकर मार्क्सवाद और फ्रायडवाद दोनों को एकांगी घोषित कर देते हैं तथा स्वीकार करते हैं कि इन दोनों के समन्वय से ही नयी समीक्षा का जन्म हो सकता है, जो साहित्य का सच्चा मूल्यांकन कर सकती है। लक्ष्मीकान्तजी आज की अनास्था, कुण्ठा, लघुता आदि को शाश्वत जीवन-मूल्यों के रूप में स्वीकार करते हैं, जिन्हें स्वीकार करके मानव के लिए कोई आशा शेष नहीं रह जाती। जगदीश गुप्त एक ओर प्रगतिवादियों की मान्यताओं को एक आडम्बर के रूप में स्वीकार करके चलते हैं वहाँ दूसरी ओर अस्तित्ववादी आस्थाओं से उनका आलोचक आक्रान्त है। वह मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की उस संशयपूर्ण स्थिति के प्रतीक हैं जो आज के पूँजीवादी युग की विशेष देन है। नयी समीक्षा के क्षेत्र में रामस्वरूप चतुर्वेदी, मुक्तिबोध, समशेर विजयदेवनारायण साही आदि भी लिखते रहे हैं, किन्तु उनकी समीक्षाओं में मौलिकता का अभाव तथा पिष्टपेषण मात्र ही अधिक है। हमको आशा करनी चाहिए कि इनका संकीर्णतावादी दृष्टिकोण व्यापक बनेगा और सच्चे मानवतावादी बनकर यह नयी समीक्षा को मानव-हित की दिशा में अग्रसर करेंगे।

## मनोविश्लेषणवादी आलोचना

फ्रायडवादी समीक्षा को मनोविश्लेषणवादी समीक्षा भी कहा जाता है। इसके पीछे फ्रायड की मान्यताएँ सिद्धान्त रूप से काम करती हैं। फ्रायड एक डाक्टर थे, जिनके उपचार-ग्रह्य अनुभवों ने उन्हें अन्तर्मन की ओर अग्रसर किया। उन्होंने मन के दो विभाग करके उन्हें चेतन और अचेतन की संज्ञा दी है। इन दोनों के मध्य में वह एक तीसरा भाग भी स्वीकार करते हैं जिसकी स्थिति चेतन से कुछ पूर्व मानकर उसे पूर्वचेतन कहा है। अचेतन में प्रविष्ट होने के लिए यह पूर्वचेतन द्वार का कार्य करता है। चेतन की अपेक्षा अचेतन अधिक प्रबल और व्यापक है। परिमाण के विषय में फ्रायड विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि चेतन के रूप से कम-से-कम तीन गुना अचेतन है। अचेतन की शक्ति भी इसी अनुपात से है। चेतन वह भाग है जो सामाजिक जीवन में सदैव क्रियाशील रहता है। इसकी समस्त क्रियाओं का ज्ञान मनुष्य को होता रहता है। अचेतन की क्रियाओं का ज्ञान मनुष्य को नहीं रह पाता, किन्तु वह भी निरन्तर क्रियाशील रहता है और हमारी सारी क्रियायें उससे प्रेरित और प्रभावित होती रहती हैं। अचेतन को हम उन इच्छाओं और क्रियाओं का समूह कह सकते हैं जो अनेक कारणों से या समाज के डर से पूर्ण नहीं हो पाती हैं एवं चेतन मन भी संस्कारों या धर्म आदि के डर के कारण उन्हें स्थान नहीं देता है तब वह नीचे चली जाती हैं तथा अचेतन की आकार-वृद्धि करती रहती हैं। ये इच्छाएँ नीचे से अपनी अभिव्यक्ति के लिए समय-समय पर प्रयत्न करती रहती हैं। नीचे से निकलते समय उन्हें अधीक्षक का सामना करना पड़ता है जो उन्हें बाहर निकलने से रोकता रहता है। यह अधीक्षक हमारी सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है। अपने मूल स्वरूप में जब यह नहीं निकल

पाती तो अभिव्यक्ति के लिए छद्मवेश धारण करती हैं एवं बाहर निकल पड़ती हैं। यह छद्मवेश ही स्वप्न, स्वप्नचित्र और कला आदि हैं। स्वप्न की व्याख्या करते हुए फ्रायड बहुत गहराई में चले गये हैं और यह अंग उनके शास्त्र का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है।

मन को तीन विभागों में विभक्त करते हुए आचार्य फ्रायड बताते हैं कि इड, इगो और सुपरइगो जिन्हें इद्, अहं और अतिअहं कहा जाता है, चेतन, अचेतन अधीक्षक से बहुत भिन्न नहीं हैं। रागों के समूह को इद् कहा गया है जिसमें अचेतन प्रमुख है। हम अपनी वासना के समान इसे मान सकते हैं। अहं चेतन मन है जो इद् में नीचे पड़ी हुई कुंठाओं के धक्के खाता हुआ सामाजिक मूल्यों के प्रति सदैव जाग्रत रहता है। अतिअहं पूर्वसंचित सामाजिक मान्यताओं का प्रतिनिधि है जो आलोचना करके अधीक्षण करता रहता है। फ्रायड के अनुसार अहं इद् का वह भाग है जिसका निर्माण ऐन्द्रिक ज्ञानमय चेतन के माध्यम से बाह्य जगत् के सम्पर्क द्वारा हुआ है।

'इद्' को आनन्दवाद से और अहं को वस्तुवाद से प्रेरणा मिलती है। अहं में ज्ञान प्रमुख है और इद् में वासना। हमारा अचेतन मन काम-कुंठाओं का समूह है। ये कुंठाएँ काम के चारों ओर केन्द्रित हैं। इस तरह सिद्ध हो जाता है कि मानव मन की मूल वृत्ति काम है। इस कामवासना को 'लिविडो' कहा जाता है। हमारी सभी व्यक्तिगत क्रियाओं तथा चेष्टाओं में भी काम के सूक्ष्म अन्तर्सूत्र विद्यमान रहते हैं। यह वृत्ति अनेक रूप धारण करती है। फ्रायड ने रोगों का कारण मन की ग्रन्थियाँ मानी हैं और प्रतिपादित किया है कि यदि उन्हें खोल दिया जाय तो रोग ठीक हो जाता है। फ्रायड के अनुसार मुक्त सम्बन्ध अथवा मुक्त सम्बन्ध विचार-प्रवाह-शैलियाँ इसकी अचूक चिकित्सा-पद्धतियाँ हैं। इनके द्वारा मन के अतल गह्वरों में पड़े हुए विचार बाहर निकल आते हैं। अचेतन से चेतन में आ जाने पर मन की गाँठें प्रयत्न द्वारा खोली जा सकती हैं। इसे फ्रायड ने विचारों का उन्नयन कहा है। इस पद्धति को कार्यकारण-वाद के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक कार्य का एक निश्चित कारण है जो ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार का हो सकता है। अकस्मात् होने वाले कार्य भी सर्वथा सकारण होते हैं। उनके कारण हमारे चेतन और अचेतन दोनों में ही रहते हैं। फ्रायड के अतिरिक्त एडलर और जुंग की मान्यतायें भी इस समीक्षा-पद्धति को प्रभावित करती रही हैं। अतः उनका विवेचन भी आवश्यक है।

डाक्टर एल्फ्रेड एडलर के अनुसार जीवन मूल रूप में परम्परा से प्राप्त सोद्देश्य भावनाओं का समूह है जो उसे पूर्णता प्राप्त करने के निश्चित उद्देश्य की ओर अग्रसर करती है। यह क्रिया मुख्य रूप से शक्ति-प्रदर्शन की भावना द्वारा अहं के सहयोग से सम्पादित होती है। जीवन के आरम्भ काल में प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी जीवन-विधि स्वीकार करके उसका विस्तार करता है। जिसका विकसित रूप

ही जीवन में उसको आगे बढ़ाता है। जीवन के तीन तत्त्व हैं जिनकी ओर मनुष्य की यह शक्ति प्रयत्नशील होती है जो सामाजिक सम्बन्ध, प्रेम और विवाह हैं। एडलर के अनुसार यही शक्ति-प्रदर्शन की भावना 'लिविडो' है। एडलर फ्रायड के समान काम की प्रधानता स्वीकार नहीं करता वरन् उसे शक्ति-प्रदर्शन की भावना का एक अंग या सहायक ममझता है। जीवन के प्रारम्भ काल से ही बच्चे को अपने बड़ों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है जिससे उनमें हीनता की भावना उदित हो जाती है। इसे एडलर हीनता-ग्रन्थि कहते हैं जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप शुरू में बच्चा अपूर्व शक्ति संचय करना चाहता है, किन्तु उसकी आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयाँ तथा देश, काल और परिस्थितियों आदि से उत्पन्न विषमताएँ इन भावनाओं को पूर्णरूपेण प्रस्फुटित नहीं होने देती हैं अतः वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए अन्य मार्ग खोजती हैं, जिनमें इस प्रकार के प्रतिबन्ध न हों। दूसरी मूलभूत भावना 'उच्चता की ग्रन्थि' है जो परिवार के बड़े लड़के, राज-पुत्रों, सामन्तों आदि मे अपनी चरम सीमा तक विकसित हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी से उच्च बनना चाहता है। सृष्टि के प्रारम्भ काल से ही पुरुष कुटुम्ब का नेता रहा है और उसी में शक्ति निहित रही है; अतः पुरुषत्व को शक्ति का स्रोत समझ कर ही स्त्रियाँ उनके समकक्ष अपना स्थान बनाने की चेष्टा में व्यस्त हैं और इसलिए बच्चे भी बाप का स्थान ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहते हैं। समान दृष्टियों वाले एडलर और फ्रायड यद्यपि एक ही क्षेत्र के अनुसन्धानकर्ता हैं, किन्तु उनकी उपलब्धियों में कुछ मूलभूत अन्तर भी पाये जाते हैं। जहाँ फ्रायड चेतन को भी मान्यता देता है वहाँ एडलर केवल अचेतन को ही समस्त भावनाओं का उद्गम स्थान बताता है। दूसरे वह काम-भावना को प्रमुख पद प्रदान नहीं करता। बाह्य जीवन की क्रियाओं पर यदि दृष्टि डाली जाय तो फ्रायड सीमित और एडलर सत्य तथा व्यापक दृष्टिकोण वाले मनोवैज्ञानिक सिद्ध हो जाते हैं।

जुंग ने १९२२ में मनोविज्ञान के क्षेत्र में अपनी सर्वोत्तम मान्यता प्रस्तुत की। यद्यपि प्रारम्भ से वह फ्रायड का शिष्य था, किन्तु आगे चलकर उसने समन्वयवादी दृष्टिकोण स्वीकार किया और फ्रायड की काम-भावना तथा एडलर की शक्ति-प्रदर्शन की भावना के अपूर्व संयोग को 'लिविडो' कहा। इसमें संसार भर के व्यक्तियों को दो वर्गों में विभाजित किया है और उन्हें बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी की संज्ञा दी है। बहिर्मुखी वे व्यक्ति होते हैं जिनकी मूल प्रवृत्ति बाहर (बाह्य जगत्) की ओर होती है। उनकी इच्छाओं का केन्द्र बहिर्जगत् है जब कि अन्तर्मुखी इसके विपरीत अपने ही अन्तर्जगत् में अपना केन्द्र स्वीकार कर लेते हैं। अपने जीवन के मुख्य तत्त्व और संतोष वह एक ऐसे कल्पना-लोक में पाता है जिसे वह अपनी इच्छानुकूल निर्मित कर लेता है। जुंग के अनुसार जीवन-शक्ति दो दिशाओं में बहती है, जो बाह्य और आन्तरिक कहलाती है। दोनों प्रकार की जीवन-शक्ति बुद्धिवाद का स्वरूप ग्रहण कर सकती है, जो बाह्य मूल्यों द्वारा संचालित होती है। यह अबुद्धिवादी क्रियाओं का स्वरूप

धारण कर सकती है जो घटना, अवसर-विशेष और बुद्धि से परे की भावनाओं द्वारा संचालित होती है। बुद्धिवादी प्रक्रिया को वह दो रूपों में विभक्त करती है जो विचार और भावना हैं। अबुद्धिवादी या बुद्धि से ऊपर की क्रिया को वह अनुभव और प्रतिभिज्ञान में विभक्त करता है। इनमें से प्रथम तो विचार और भावना-बुद्धि और उसके निर्णयों से संचालित रहते हैं, किन्तु शेष दो अनुभव और प्रतिभिज्ञान ऐन्द्रिकज्ञान की गहनता से संचालित रहते हैं न कि बुद्धि द्वारा। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग (अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी) चार विभागों में विभक्त किया गया है जो क्रमशः विचार, भावना, अनुभव और प्रतिभिज्ञान हैं। लिविडो सम्बन्धी जुंग की मान्यताएँ उसे अध्यात्मवादियों की कोटि तक ले जाती हैं। वह लिविडो को काम-भावना से ऊपर मानते हैं। उदात्त भावनाओं में लिविडो ही बीज रूप में रहती है। लिविडो ही ब्रह्म है, जिसमें सारे विश्व की मूलभूत भावनाओं का बीज है। लिविडो को यदि हम विश्व-भावनाओं का समष्टि रूप कहें तो स्थिति बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। मनोविज्ञान की इन मान्यताओं को जब साहित्य और कला के साथ जोड़ा जाता है तो निम्न तथ्य सामने आते हैं।

१. सारा जीवन आनन्द के लिए प्रयत्नशील है और इसी के अनुसार हमारा साहित्य भी आनन्द हेतु निर्मित किया जाता है। २. बुद्धि और राग दोनों का संघर्ष होता रहता है, जिससे सभ्यता और कला आदि का विकास होता है। विवेक और राग के असामंजस्य के फलस्वरूप विकृतियाँ और कुंठाएँ उत्पन्न होती हैं जिनका निराकरण अहं के समाजीकरण द्वारा होता है। ३. फ्रायड के अवचेतन मन के अन्वेषण ने मानव-मनोविश्लेषण का एक नया संसार निर्मित कर दिया है। व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याएँ जिन पर अब तक अन्धकार था, नया प्रकाश पड़ने लगा है। साहित्य निर्माण तथा मूल्यांकन की नवीन विधाएँ चल निकली हैं। काल की वृत्ति को मूलभूत रूप में स्वीकार कर लेने से रागतत्त्व और रागात्मक सम्बन्धों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। फलस्वरूप जीवन में बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा स्थापित हो सकी है। ४. फ्रायडवाद के प्रभावस्वरूप मनोवैज्ञानिक समीक्षकों ने भावतत्त्व और सहजानुभूति के बीच का सम्बन्ध तत्त्व राग की अपेक्षा बुद्धि को बताया है जिससे उच्च कोटि के काव्य की उपेक्षा हो जाती है। इन समीक्षकों ने फ्रायड आदि का अन्धानुकरण किया है, यहीं दोष आ गया है। ५. मनोविश्लेषण प्रवर्तक होता हुआ भी फ्रायडवाद असामाजिक जीवन-दर्शन है। कॉडवेल उसे परम्परागत चारित्रिक मान्यताओं, धार्मिक दुर्बलताओं, पाखंड आदि की पोल खोलने वाला स्वीकार करते हुए भी भ्रमात्मक मानकर अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं कि फ्रायड का लिविडो अपरिवर्तनीय है। उसके अनुसार प्रवृत्ति का उदात्तीकरण होता है, परिवर्तन नहीं। फ्रायड सभी प्रकार के प्रेम को काम के अन्तर्गत स्वीकार करता है। हमारे शास्त्रों और काव्य में रति के अनेक रूप स्वीकार किये गये हैं, जैसे देशभक्ति, ईश्वर-

भक्ति आदि। क्रॉडवेल फ्रायड के मत को अस्वीकार हुए करते कहते हैं कि मिट्टी का गुलाब बन जाना परिवर्तन है, उदात्तीकरण नहीं है। ६. फ्रायडवाद ने अतिवादी प्रगतिशील कलाकारों और आलोचकों द्वारा साहित्य को प्रचार मात्र होने से बचाया है, तथा उसके अन्तर्मुखी रूप को यथेष्ट बल दिया है। ७ फ्रायड आदि की मुक्त-सम्बन्ध-शैली को समीक्षकों ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है, जिससे बिम्ब पूरे न आकर खंड रूप में और असम्बद्ध होकर आते हैं। ८ एडलर के अनुसार कथा-काव्य में कुछ पात्र हीनभावना-ग्रन्थि और अन्य उच्चभावना-ग्रन्थि के प्रतीक होकर सामने उपस्थित किए जाते हैं। एक सीमा तक यह साहित्य उचित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, किन्तु अपने अतिवादी रूप में गर्हित और अस्पृहणीय बन जाता है। ९. फ्रायड जिस सुपर इगो को कामेच्छा मानता है, जुंग उसी को उच्चस्तरीय मूल चेतन कहता है। इसी को अध्यात्मवादी ब्रह्म कहते हैं। सौंदर्य के उदातीकरण का मूल कारण यही सुपर इगो है। जुंग इसी आधार पर कला को लोकोत्तर बना देता है। जुंग की मान्यता भारतीय अध्यात्मवाद के अनुसार संगतियुक्त है।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-पद्धति से प्रभावित धारा के मुख्य समीक्षक इलाचन्द जोशी, अज्ञेय तथा डा० नगेन्द्र हैं। अज्ञेय और डा० नगेन्द्र के सम्बन्ध में पीछे विवेचन हो चुका है अतः यहाँ इलाचन्द जोशी की साहित्यिक मान्यताएँ विशेष रूप से ध्यातव्य हैं। इलाचन्द जोशी ने प्रगतिवाद के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि प्रगतिवाद एक वाद की तरह स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि वादों में बँध जाने पर साहित्य की निरन्तर विकसित होने वाली शक्ति कुंठित हो जाती है। "कच्ची बुद्धि वाले विषम साम्यवादियों को यह सुझा देना आवश्यक हो गया है कि उनका निश्चित स्थान कहाँ पर है। उन्हें कला के मूल तत्त्व तथा उसके विकास के इतिहास से पूर्णतः परिचित कराने की जरूरत है। उन्हें समझ लेना चाहिए कि चिरन्तन कला का उन्मुक्त स्रोत कभी किसी मतवाद के बाँध द्वारा आबद्ध नहीं किया जा सकता।"[1] उन्हें प्रगतिवादियों से शिकायत है कि वह प्रेम की सुन्दर और मंगलमय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को शोषकवर्गीय अथवा पूँजीवादी प्रवंचना मात्र मानते हैं।[2] वह रोमांटिसिज्म के समर्थक हैं।[3] उन्हें व्यावहारिक जीवन में साम्यवाद की महत्ता स्वीकृत हैं, किन्तु वह समष्टि के नाम पर व्यक्ति की निजता को बलिदान करने के पक्ष में नहीं हैं। जो व्यक्ति, व्यक्ति की अवज्ञा करके कला के क्षेत्र में समिष्टवाद लाना चाहते हैं, उन्हें यह सब निन्दनीय प्रतीत होता है। कला को वे अभिजात्य अभिव्यक्ति मानते हैं। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए उन्होंने मैक्सिम गोर्की की इस मान्यता को प्रस्तुत किया है कि उन्होंने अपनी समीक्षा में प्रोलेतेरियन शब्द का प्रयोग तक नहीं किया है—

---

1. इलाचन्द जोशी : साहित्य-सर्जना : पृ० ६८।
2. वही, पृ० ७२।
3. वही, पृ० ७३-७४।

"व्यावहारिक जगत् में साम्यवाद के सिद्धान्तों की महत्ता को कोई भी समझदार व्यक्ति अस्वीकृत नहीं कर सकता, पर किसी भी समष्टि के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी तथा विशेष सत्ता रखता है। समष्टि में रहकर सम्बद्ध जीवन व्यतीत करने वाले पशुओं से मनुष्यों की विशेषता यहीं पर है। व्यक्ति के इस अपने मन की अवज्ञा करके जो लोग कला के क्षेत्र में भी समष्टिवाद लाना चाहते हैं, वह मानव जाति की चेतना पर मेड़ों की चेतना से अधिक श्रद्धा नहीं रखते, यह निश्चित है। सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्रों में अभिजात्य निन्दनीय तथा परिहार्य है, पर मनुष्य के अन्तर्लोक की कला सम्बन्धी सौन्दर्य-अनुभूत के क्षेत्र में अभिजात्य का भाव ही चरम आदर्श है। इसीलिए बीसवी शताब्दी के प्रोलेतेरियन साहित्य का प्रधान नेता मैक्सिम गोर्की साहित्य तथा कला के क्षेत्र में प्रोलेतेरियन शब्द के प्रयोग से चिढ़ता था।"[1] कला के क्षेत्र में यह दृष्टिकोण होते हुए भी वह यथार्थ को अस्वीकार नहीं करते। साहित्य को सर्वहारा के लिए प्रस्तुत करते समय वह जनता के दैनंदिन जीवन का चित्रण उपयोगी मानते हैं। गोर्की की रचनाओं की वह इसलिए प्रशंसा करते हैं कि उनका सम्बन्ध सामान्य जनता के जीवन से है। "मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि प्रोलेतेरियन जनता के लिए जिस साहित्य की सृष्टि की जाय उसमें उनके रात-दिन के सुख-दुखमय जीवन का कोई उल्लेख ही न हो। प्रोलेतेरियन जीवन के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी रचनाएँ लिखी जा चुकी हैं जिनके कला-कौशल की मोहिनी ने साधारण जनता को विस्मय-विमुग्ध किया है। उदाहरण के लिए गोर्की की रचनाओं का उल्लेख इस सम्बन्ध में किया जा सकता है। गोर्की की प्रायः सभी रचनाएँ प्रोलेतेरियन जीवन से सम्बन्धित हैं।"[2] यथार्थवाद में युग और साहित्य का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित रूप से स्वीकार किया जाता है। प्रगतिवादियों के समान जोशीजी यहाँ श्रेष्ठतम कलाकृतियों की रचना युग-समस्याओं से हट कर स्वीकार नहीं करते। उन्हें कलाकार जीवन यथार्थ की कठोर भूमि से बचकर चलने वाला कभी भी महान् कलाकृति सृजन करता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता। सामयिक समस्याओं के अंकन से कलाकृतियों में रास नहीं उत्पन्न होता वरन् शक्ति आ जाती है—"युग की समस्याओं को लेकर भी श्रेष्ठतम साहित्यिक कलाकृतियों की रचना हो सकती है। केवल कायर कलाकार युग के कठोर यथार्थ जीवन के प्रश्नों से कतराते हैं। उन्नीसवीं शती में पाश्चात्य कलाकारों ने, विशेषकर रूस और फ्रांस के श्रेष्ठ उपन्यासकारों ने, युग की समस्याओं को खुले तौर पर अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। इससे न उनकी कला में कोई त्रुटि आई और न आपेक्षिक स्थायित्व में हमारे यहाँ रवीन्द्रनाथ ने अपने उपन्यासों में युग-समस्याओं को उठाया था।"[3] वह यह मानते हैं कि आज के युग में साहित्यकार का

1. इलाचन्द जोशी : साहित्य-सर्जना : पृ० ७४।
2. वही, पृ० ६१।
3. वही, पृ० ११६।

उत्तरदायित्व पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया है। उन्हें यह भी मान्य है कि हमारे जीवन को आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं ने चतुर्दिक से इस प्रकार आवृत्त कर लिया है कि उससे अछूता बना रहना असम्भव हो गया है। जो साहित्यकार इन समस्याओं से असपृक्त बनेगा वह आत्मघात करेगा। "आज साहित्यकार का उत्तर-दायित्व बहुत अधिक बढ़ गया है। आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं ने आज जीवन को चारों ओर से इस कदर छा लिया है कि चाहने पर भी साहित्यकार उनसे घबराकर भागने का प्रयत्न ही आत्मघाती सिद्ध होगा। एकान्त में वंशी बज कर दिव्य चेतना की अनुभूति में मग्न होकर दैवी जीवन की महत्ता का राग आज प्रलाप के समान सिद्ध होगा।"[1] साहित्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न विशेष रूप से उठाया जाता है कि कोई कलाकृति किन गुणों से युक्त होने पर एक युग की और किन अन्य गुणों से सम्बन्धित हो जाने पर युग-युग की कृति बन जाती है। इस सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण प्रगतिवादियों का है लगभग वही मान्यता इलाचन्द जोशी की है। वह भी मानते हैं कि जो कृति सच्चे रूप में अपने युग की होती है वही युग-युग की हो सकती है। इस सम्बन्ध में केवल इतनी अनिवार्यता है कि साहित्यकार युगीन समस्याओं को जीवन की मूलगत समस्याओं से सम्बद्ध कर सके--"एक युग की समस्याओं से सम्बन्धित रचना आने वाले कई युगों तक भी अपना प्रभाव कायम रख सकती है बशर्ते उसका लेखक विशेष प्रभावशाली हो और अपनी रचनाओं मे उठाई गई युग की समस्याओं को जीवन मूलगत समस्याओं से सम्बद्ध करने की कला में निपुण हो। महाभारत ने युग की समस्याएं अवश्य उठायीं और उनके समाधान की ओर भी पूरा प्रयास किया, पर युग की वह समस्याएँ ही उसकी रचना की अथ और इति बन कर नहीं रह गयीं, उन्हें उसमें सामूहिक मानव प्रकृति के ह्रास और विकास के चक्र के साथ इस तरह सम्बद्ध किया है कि उद्देश्य और विधेय एक-दूसरे के अविच्छिन्न अंग बन गए हैं। यही महाकवि की कला है।"[2] इससे सिद्ध हो जाता है कि इलाचन्द जोशी नीति और उपयोगितावाद से बचने की पूर्ण चेष्टा करते हैं, फिर भी युग-यथार्थ को अस्वीकार नहीं कर सके हैं। उनकी प्रगतिशील साहित्य सम्बन्धी यह मान्यता अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है कि हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकारों को भारतेतर देशों का अन्धानुकरण करने का अधिकार नहीं है क्योंकि उनमें अपने देश और काल की यथार्थ परिस्थितियों पर विचार नहीं हो पाता है। उनकी यह मान्यता यह प्रकट करती है कि वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण को परोक्ष रूप से स्वीकार करके चलते हैं। उन्होंने लिखा है—"यह आवश्यक नहीं है कि हम लोग पाश्चात्य देशों के प्रगतिशील साहित्यकारों के कदमों का अनुकरण करते चले जाएँ। अपने देश और अपने

---

1. इलाचन्द जोशी : विश्लेषण : पृ० ११६।
2. वही, विश्लेषण : पृ० ११७।

काल की परिस्थितियों पर यथार्थवादी दृष्टिकोण से विचार करते हुए हमें स्वयं कला की नयी-नयी शैलियों का उद्भावन करना होगा और उन शैलियों द्वारा आज के बद्ध जीवन और बन्दी जगत् की प्रगति और मुक्ति के सम्बन्ध में नये-नये कलात्मक सुझाव उपस्थित करने होंगे। बिना ऐसा किए हम मानव जीवन के निरन्तर विकासोन्मुख संस्कृति के अन्तिम ध्येय की ओर अग्रसर न हो सकेंगे।"[1] जोशीजी ने मनं वैज्ञानिक यथार्थ को जिस रूप में स्वीकार किया है और उसकी जैसी विस्तृत व्याख्या की है इससे ऐसा लगता है कि वह आनन्दवाद की ऐसी व्यापक भूमिका स्वीकार करना चाहते हैं जिसमें व्यक्तिगत अहंवाद, अश्लीलता, कुत्सित वासना तथा समाज-विरोधी अस्वस्थ मनोविकार आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। इस सम्बन्ध में डा० रामदरश मिश्र ने जो दृष्टिकोण स्वीकार किया है उसे अमान्य नही किया जा सकता—'जोशी जी व्यक्तिगत अहंवाद, अश्लीलता, कुत्सित वासना, समाज-विरोधी अस्वस्थ मनोविकारों के घोर विरोधी हैं वह मानव मन के विश्लेषण द्वारा उसके स्तर-स्तर में छिपी हुई कुरूपताओं को उद्घाटित करने के पक्षपाती हैं, किन्तु वह उन कुरूपताओं को जीवन का सत्य या लक्ष्य न मान कर उनसे बचने की चेष्टाएँ चित्रित करने वाली कला को उच्च मानते हैं।"[2] यह दृष्टिकोण अन्य तटस्थ शोधकर्त्ताओं का भी रहा है जिन्होंने यह माना है कि जोशीजी मार्क्सवाद और मनोविज्ञान दोनों को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं और इन दोनों के समन्वय से ही व्यक्ति और समाज का विकास होना स्वीकार करते हैं—"मार्क्सवाद बाहरी जीवन का विश्लेषण करता है तथा मनोविश्लेषणवाद भीतरी जीवन की चीरफाड़ में व्यस्त है। उनका दृढ़ विश्वास है कि वह एक-दूसरे के पूरक हैं और इनके समन्वय से ही व्यक्ति तथा समाज का वास्तविक विकास हो सकता है।"[3]

## निष्कर्ष

इलाचन्द जोशी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था और वर्गसंघर्ष को स्वीकार करते तो हैं किन्तु उसे जीवन की एकमात्र परिचालिका शक्ति नहीं मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें जीवन, समाज और उसकी इकाई व्यक्ति महानतम् रहस्यों से युक्त प्रतीत होता है जिसका व्यक्तित्व इतना सहज और सरल नहीं है कि उसे इतने स्थूल नियमों में आबद्ध किया जा सके। घटनाओं का तथा विकास के क्रम का जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण है वह उन्हें इसलिए वाह्य मात्र प्रतीत होता है कि समाज और व्यक्ति के भीतर उसकी चेतना उन्हें कुछ अन्य संस्कारों के प्रस्फुटन और विस्फोट द्वारा ऐसे नियमों

---

1. इलाचन्द जोशी : विश्लेषण : पृ० १२२।
2. डा० रामदरश मिश्र : हिन्दी आलोचना का इतिहास : पृ० ३८९।
3. सुषमा भवन : हिन्दी उपन्यास : पृ० २०५।

द्वारा जो अज्ञात हैं, संचालित प्रतीत होती है ।[1] उन्हें लगता है कि मानव जीवन गणित के प्रश्न के समान नहीं है । मनुष्य के मन में जो अगणित दुर्दमनीय वृत्तियाँ सक्रिय रहती हैं उनको अस्वीकार करके वाह्य नियम मात्र से मानव जीवन और चेतना के विषय असंगत और एकांगी लगने के कारण ही वह यह लिखने को विवश हुए हैं कि "मानव की अन्तश्चेतना के अगाध अतल में हिटलर की तरह एकच्छत्र शक्ति प्राप्त करने की जो दुर्दान्त और घातक लालसा आदिकाल से डेरा जमाये हुए है जो लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, हिंसा, क्रूरता और घोर स्वार्थपरायणता आदि की असंख्य पशु-प्रवृत्तियाँ इतने युगों के विवर्तन के बाद भी आज तक सुदृढ़ और सुनिश्चित रूप से स्थिर हैं उनका इलाज क्या आपके डायलेक्टीकल मेटीरियलिज्म से उद्भूत वाह्य जीवन प्रगति कर सकेगी ?"[2] मार्क्सवाद के वह चिन्तक जो विचार को मार्क्स से भी आगे ले जाना चाहते हैं, वह घोषणा कर चुके हैं यदि कोई साहित्यकार निजी जीवन में किसी भी मान्यता को स्वीकार करे, यदि उसके साहित्य में प्रगतिशील तत्व मिलते हैं तो उसे स्वीकृति प्रदान करनी चाहिए । कॉडवेल ने फ्रायड का विवेचन करते हुए स्वीकार किया है कि मानव के हृदय की वृत्तियाँ मनोविज्ञान द्वारा ही समझी जा सकती हैं और उनमें परिवर्तन नहीं होता । इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि प्रगतिवादी समीक्षा आगे चल कर मनोवैज्ञानिक यथार्थ को एक सीमा तक स्वीकार करेगी और इस प्रकार इलाचन्द जोशी आदि का इतिहासिक महत्त्व स्वीकार किया जायगा ।

●

1. इलाचन्द जोशी : प्रेम और छाया : भूमिका ।
2. वही, भूमिका ।

# अध्याय 6

## मार्क्सवादी आलोचना का मूल्यांकन तथा भविष्य

इस प्रबन्ध के पिछले पाँच अध्यायों में भारतेन्दु-युग से लेकर नयी समीक्षा तक की विकास-यात्रा का जो आकलन हुआ उससे यह स्पष्ट हो गया है कि प्रगतिशील समीक्षा के तत्त्व हिन्दी समीक्षा के प्रादुर्भाव काल से ही उसके अविभाज्य अंग रहे हैं, जो आज तक निरन्तर विकसित होकर एक ऐसी परम्परा को जन्म दे गए हैं जिनके कारण हिन्दी समीक्षा में स्थायी रूप से वह तत्त्व सम्मिलित हो गए हैं जिन्हें कुछ लोग भारतेतर देशों की समीक्षा के तत्त्व कहकर विरोध करते रहे हैं तथा कुछ जिन्हें साहित्य का आधारभूत दृष्टिकोण कहकर कट्टर समर्थक बने हैं। हिन्दी समीक्षा की विकास-यात्रा का यह एक सूत्र है। अन्य अनेक सूत्रों में समीक्षा के अन्य रूप भी पनपे हैं, जिनमें सर्वाधिक महत्त्व उन आधारभूत सिद्धान्तों का है जो आचार्य भरत से लेकर अद्यावधि शास्त्रीय समीक्षा के शीर्षक से अभिहित होते रहे हैं। आचार्य भरत का रससिद्धान्त और उसके समान ही महत्त्वपूर्ण ध्वनिसिद्धान्त हिन्दी समीक्षा को ही नहीं वरन् विश्व-साहित्य को मूल्यांकित करने वाले सार्वभौमिक सिद्धान्तों के आधार-सूत्र सिद्ध हो सकते हैं। मुझे यह मानने में तनिक भी संकोच नहीं है कि हिन्दी समीक्षकों का मुख्य उत्तरदायित्व यह नहीं था कि वह केवल मार्क्स, फ्रायड, एडलर, जुंग, सार्त्र, टी० एस० ईलियट, एजरा पाउंड आदि के साहित्य सम्बन्धी विचारों को पूरे या अधकचरे रूप में हिन्दी में अनुवादित करके नित्य नए वायदों के ऊँट छोड़ने की अपेक्षा यदि भारतीय साहित्यिक परम्परा तथा शाश्वत भारतीय काव्यों के रूपों को आज के साहित्य की सीमाओं में आस्फालित किया होता एवं उन्हें भारतेतर देशों के साहित्यकारों और पाठकों तक पहुँचाने का अभिनव अभिक्रम स्वीकार किया होता तो सम्भवत: हिन्दी समीक्षक की गरिमा के अनुकूल सराहनीय प्रयास माना जाता। इस ओर या तो प्रयास हुए ही नहीं हैं या जो छुट-पुट प्रयत्न किए गए हैं वह एकांगी तथा यथार्थ स्थिति को समझाने की अपेक्षा भ्रम में ही अधिक डालते हैं। हम आशा करेंगे कि भारतीय साहित्यकार विशेषत: समीक्षक परस्पर तुच्छ विवादें और ईर्ष्या-द्वेष, भय, आलोचना-प्रत्यालोचना से उपराम ग्रहण कर ऐसी स्वस्थ परम्पराएँ प्रवर्त्तित करेंगे जिनसे न केवल समीक्षा का भविष्य उज्ज्वल होगा वरन् कृती साहित्यकारों और कलाकृतियों के सच्चे मूल्यांकन की दृष्टि विकसित होगी तथा हिन्दी पाठक का रसबोध सही दिशाओं में समृद्ध होगा।

प्रगतिशील आन्दोलन को जिन प्रश्न और साहित्य सम्बन्धी समस्याओं पर बल देना चाहिए था खेद है कि उन पर सबसे कम शक्ति लगी है एवं जिन मतभेदों, दूषित वृत्तियों, कुत्सित समाजशास्त्र आदि को बढ़ावा नहीं मिलना चाहिये था उनके सम्बन्ध में प्रगतिवादी समीक्षा के अधिकाधिक पृष्ठ घिरे हैं। प्रगतिवादी समीक्षा को आदर्शवादी और शास्त्रीय समीक्षा का इतना विरोध नहीं झेलना पड़ा है जितना कि फ्रायडवाद, अस्तित्ववाद अतिवस्तुवाद, प्रयोगवाद, नकेनवाद आदि-आदि का और उसका कारण बहुत स्पष्ट है कि मार्क्सवाद जब अपनी साहित्यिक प्रतिपत्तियों में रूपायित होता है तो वह जीवन सम्बन्धी उसी दृष्टिकोण को स्वीकार करता है जो आदर्शवादी और शास्त्रीय दृष्टिकोण के आस-पास स्थिर हैं। इसके विपरीत अति-व्यक्तिवादी, अस्तित्ववादी, कलावादी, बिम्बवादी, अतियथार्थवादी तथा प्रतीकवादी आदि कला और साहित्य का सम्बन्ध जानबूझ कर जीवन से अलग करते हैं और वे उन दायित्वों को एक स्वर से अस्वीकार करते हैं जिन्हें प्रगतिवादी समीक्षक स्वीकार करने के लिए वचनबद्ध हैं। प्रगतिवादी आन्दोलन इन अतिव्यक्तिवादी मान्यताओं से जूझ कर आगे बढ़ा है और यह आश्चर्य की बात नहीं कि इस संघर्ष में अतिव्यक्तिवादी साहित्यिक वादों को भी शक्ति मिली है, वे पनपे हैं और उन्होंने हिन्दी साहित्य और समीक्षा का एक कोण आच्छन्न कर लिया है, लेकिन इससे उनके वर्तमान रूप और गन्तव्य दिशाओं का परिवर्तन यह स्पष्ट इंगित देता है कि अज्ञेय तथा इक्के-दुक्के पिछलग्गुओं को छोड़कर सभी नई कविता के समर्थक समीक्षकों ने या तो मार्ग बदल कर या अपने वर्तमान रूप में ही कुछ सीमाओं के साथ प्रगतिगामी जीवन-तत्त्वों को स्थान दिया है और अधिक बदलने की तैयारी की सम्भवतः यह पूर्व सूचना है। यदि नये समीक्षक यथार्थवादी नहीं बने, उन्होंने मानवतावाद को स्वीकार नहीं किया, अर्थनीति और राजनीति के एकान्त बहिष्कार को अस्वीकृत करके उन्हें वहाँ तक साहित्याभिव्यक्ति की आज्ञा न दी जहाँ तक कि वह जीवन में स्वीकृत हो चुकी है तो निश्चित ही ये एकांगी मूलोच्छेदित लता की तरह सूख जाएँगे और इनके मूल पर इन तत्त्वों को जीवन में स्थान देने वाले साहित्य और समीक्षा-सिद्धान्त निश्चित रूप से पल्लवित होंगे।

इस सन्दर्भ में यह अंकित करना भी अनुपयुक्त न होगा कि मार्क्सवाद केवल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर ही टिका हुआ है अथवा टिका रहेगा यह सम्भव नहीं है और न अब तक सम्भव रहा है। मार्क्सवाद ने अर्थनीति और राजनीति के क्षेत्र में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के साथ सहअस्तित्व की नीति स्वीकार करके इस दिशा में जो पग उठाये हैं वे सिद्ध कर रहे हैं कि ये मान्यताएँ केवल उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित न रह जाएँगी वरन् उनका व्यापक और सार्वक्षेत्रिक प्रभाव होगा। साहित्य और कला के क्षेत्रों में इस ओर कुछ चरण युगद्रष्टा प्रगतिवादी

समीक्षकों ने पहले से ही उठाना प्रारम्भ किया है, यह दूसरी बात है कि कुछ रूढ़ि और परम्परा में जकड़े रहने के कारण उनके साथियों ने उन्हें सुधारवादी घोषित करके उनकी निन्दा की है एवं लकीर का फकीर बना रहना उन्हें लकीर को छोड़ने की अपेक्षा अधिक सुकर लगता है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी-समीक्षा क्षेत्र में शिवदानसिंह चौहान, रांगेय राघव, हजारी-प्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, सुमित्रानन्दन पन्त प्रभृति समीक्षकों की जीवन-दृष्टि ही व्यापक तथा भारतीय परिवेश के संदर्भ में प्रगतिशील है। सभी वर्गों के, सभी विचारधाराओं के और सभी प्रकार की मान्यताओं को समीक्षा का आधार बनाने वाले जब तक इस तथ्य को न समझेंगे तब तक हिन्दी समीक्षा में वह दृष्टि-कोण की एकता व शक्ति नहीं आ सकेगी। पौपर ने अपनी ऐतिहासिक मान्यताओं के सन्दर्भ में मार्क्सवाद को इसलिए अपूर्ण दृष्टिकोण माना है क्योंकि वह मानव और समाज-चेतना के बहिर्गत मूल्यों का आकलन करता है। मानव व्यक्तित्व इतना सादा और स्पष्ट नहीं है कि केवल आर्थिक और सामाजिक प्रवृत्तियों द्वारा ही समझा जा सके। अनेक बार ऐसा होता है कि आर्थिक और सामाजिक नियम मानव-क्रियाओं, चेष्टाओं तथा शक्यताओं को नहीं समझा पाते। परिणाम यह होता है कि हमें मार्क्स की सीमाएँ स्वीकार करनी पड़ती हैं। अनेक बार ऐसा होता है कि व्यक्ति असाधारण क्षणों में ऐसे कार्य कर देते हैं जिनको मार्क्सवादी दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता। पौपर की इन मान्यताओं में कितना सत्यांश है यह हमारा विवेच्य नहीं, किन्तु इतना स्वीकार करना तो उचित प्रतीत होता है कि मानव-चेतना के अनेक ऐसे अज्ञात पहलू हैं जिनमें से कुछ का ज्ञान मनोविज्ञान आदि के द्वारा उपलब्ध हुआ है, उन्हें एक सीमा तक मान्यता प्रदान किए बिना जो दृष्टिकोण स्वीकार किया जायेगा उसकी वैज्ञानिकता अतर्क्य नहीं मानी जा सकती, स्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कॉडवेल ने जिस मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्र की आधारशिला अपने ग्रन्थों में दृढ़ता के साथ स्थापित की है तीव्रालोचना द्वारा उसे शुरू करने वाले कोर्नफोर्थ जैसे समीक्षक एकांगी बना रहे हैं। आवश्यकता तो इस बात की थी कि इस प्रवृत्ति को और अधिक विकसित किया जाता और समन्वय नीति अपनाकर प्रगतिशील समीक्षा पद्धति को सर्वमान्यता दिलाई जाती।

मार्क्सवादी समीक्षा में विश्लेषणवादी मान्यताओं के अभाव का परिणाम यह हुआ है कि लेखकों के व्यक्तित्व पर तथा साहित्य सृजन की व्यावहारिक समस्याओं पर ध्यान नहीं दिया जा सका है। सामाजिक यथार्थ को आधार मानकर विवेचन करने वाले यह प्रगतिशील समीक्षक यह नहीं सोचते कि यह सामाजिक यथार्थ साहित्य में जिस कलाकार द्वारा प्रस्तुत हुआ है उसका अपना व्यक्तित्व क्या था? प्रत्येक साहित्य साहित्यकार के व्यक्तित्व के असंपृक्त नहीं है तो साहित्यकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण भी प्रगतिवादी समीक्षा को स्वीकार करना चाहिए। भारतीय

रसवाद को जो नवीन व्याख्याएँ हुई हैं उनके अन्तर्गत आचार्य शुक्ल जैसे व्याख्याकारों ने यह स्वीकार किया है कि कलाकार सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराता है। यदि इस उत्तरदायित्व को कलाकार के ऊपर न डाला जाता तब तो यह कहा जा सकता था कि कलाकार के मनोविश्लेषण की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु प्रगतिवादी समीक्षा जब इस सिद्धान्त को शाश्वत साहित्यालोचन का सिद्धान्त स्वीकार करती है तो इस उत्तरदायित्व से नहीं बचा जा सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी भी प्रगतिवादी समीक्षक ने इस दिशा में अपनी रुचि नहीं दिखाई है (शिवदानसिंह चौहान ने ऐसा किया है) किन्तु इस तथ्य को बल प्रदान करने की आवश्यकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मनोविश्लेषणवादी समीक्षकों के समान साहित्य को अहं का विस्फोटमात्र मान लिया जाए और उसकी सामाजिकता को स्वीकृति ही प्रदान न की जाए। उद्देश्य यह है कि दोनों तत्त्वों को यथोचित मात्रा में समन्वित रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए। लेखक का व्यक्तित्व परिवेश का ही परिणाम है, अतः मनोविश्लेषणवादी भी परिवेश से पलायन नहीं कर पाते।

जो मार्क्सवाद को विकास की व्याख्या मानते हैं, सीमा नहीं, वे यह भी स्वीकार करेंगे कि साहित्य-समीक्षा के मानदण्ड भी विकसित हो रहे हैं तथा होते रहेंगे। आज मध्य वित्तवर्गीय समाज में जो नया सौन्दर्यबोध जाग्रत रहो रहा है उसे भी अतिव्यक्तिवाद से मोड़कर स्वस्थ सामाजिक विकास की ओर अग्रसर करना प्रगतिवाद पर ही एक दायित्व है। नयी कविता जिन नवीन शिल्पगत प्रयोगों को आगे ला रही है और भाषा, छन्द, अलंकार तथा एक सीमा तक भावगत रूढ़िवाद का विरोध कर रही है उसे युग की माँग समझकर और यह मानकर कि जब उसकी शक्ति बढ़ रही है तो उसके साथ भी सत्यांश है, उसे स्वीकार करना चाहिए, उसको संतुलित और सैद्धान्तिक समीक्षा के उन चरणों में दृढ़ता लानी चाहिये जिन्हें बहुत मन्द गति से उठाया गया है। प्रगतिवादी कथ्य को प्रयोगशील शिल्प द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयास स्वस्थ दृष्टिकोण है, जिस पर अधिकाधिक बल देकर व्यावहारिक समीक्षा द्वारा उसे निश्चित आधार मिलना चाहिए।

जैसा कि अनेक प्रगतिवादी समीक्षकों ने स्वीकार किया है, प्रगतिवादी आन्दोलन हिन्दी साहित्य का उधार खाता नहीं है, उसकी आधार-शिला यहाँ की अपनी भूमि में स्थित है। इस कथन के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि सन् १७९८ ई० में प्रारम्भ होने वाला अंग्रेजी रोमांटिक आन्दोलन यदि हिन्दी में उधार लिया गया होता तो उन्नीसवीं शताब्दी में उसे हिन्दी कविता को प्रभावित करना चाहिए था, किन्तु १९२२ ई० में लिखी गयी पल्लव की भूमिका उसका प्रादुर्भाव काल माना गया है। इससे हम यह समझ सकते हैं कि छायावाद उधार नहीं लिया गया, वरन् भारतवर्ष में जब वे परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं जिन्होंने इंगलैंड में रोमांटिक आन्दोलन को जन्म दिया था तो यहाँ छायावाद पल्लवित हुआ। इसी प्रकार हम कह सकते हैं

कि प्रगतिवादी मान्यताएँ यूरोप में तथा रूस में बहुत पहले से प्रचलित थीं किन्तु भारतीय साहित्य में वह तभी स्वीकृत हो सकीं जबकि यहाँ की परिस्थितियाँ उनके अनुकूल बन गईं। यदि यह मान्यता औचित्यपूर्ण है तो हमें यह भी सोचना पड़ेगा कि भारतीय परिस्थितियों से उत्पन्न हुए प्रगतिवादी आन्दोलन से प्रभावित समीक्षा-क्षेत्र के सिद्धान्त भी परमुखापेक्षी न रह जायँ। मुझे यह अंकित करते हुए अत्यन्त कष्ट होता है कि प्रगतिवादी समीक्षा के नाम पर जितना साहित्य लिखा गया है उसमें प्रायः तीन-चौथाई या तो विदेशी साहित्य का अनुवाद है अथवा पिष्टपेषण मात्र। यदि भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्पराओं को द्वन्द्ववादी दृष्टि से विवेचित करके एक ऐसे भारतीय काव्यशास्त्र की रचना की जाती जो साहित्य को व्यापक स्तर पर मूल्यांकित करने में समर्थ होता एवं जिससे न केवल भारतीय शास्त्र वरन् विश्व-साहित्य की मीमांसा और मूल्यांकन हो सकता। भारतीय साहित्य में सारे साहित्य को वर्गवादी कहकर उसके अवमूल्यन का जो आरोप प्रगतिवादी समीक्षा पर लगाया गया है उसकी आवश्यकता न थी वरन् होना यह चाहिए था कि विस्तृत दृष्टिकोण से विचार करके व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों तथा साहित्यिक परिस्थितियों पर विचार किया जाता और तब सिद्धान्त निर्धारण होते। इस दिशा में जो कार्य हुआ है उसमें एक सीमा तक यांत्रिकता बरती गयी है। मार्क्सवादी आलोचना पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि वह साहित्यकारों को राजनैतिक-आर्थिक पद्धति-विशेष के अन्तर्गत विशेष दृष्टि से कार्य कराती है, सारे साहित्य को प्रचार मात्र मानती है और सर्वहारा के हाथ का अस्त्र घोषित करती है। इन उद्घोषणाओं का परिणाम यह हुआ है कि साहित्य और साहित्यकार की वह उच्च भूमिका जिसमें एक समय में उसे 'कविर्मनीषी परिभूस्वयंभू' कहा था वह आज राजनीतिज्ञों का पिछलग्गू मात्र बना दिया गया है। यह आरोप सर्वांशतः तो सत्य नहीं है लेकिन हाँ एक सीमा तक इसमें सचाई कही जा सकती है। साहित्यकार युग से और युग-यथार्थ साहित्यकार से प्रभावित होते हैं। साहित्यकार युग-यथार्थ को अपने साहित्य के द्वारा रूपायित करके उसे ऐसे शाश्वत तत्त्वों से समन्वित कर देता है कि वह कृति उस युग की होते हुए भी युग-युग की बन जाती है। दूसरी ओर इस कृति का युग पर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि साहित्यकार के युगद्रष्टा होने के कारण कलाकृति में वे भी आ जाते हैं जो वर्तमान के आदर्श होकर भी भविष्य के यथार्थ सिद्ध होते हैं। इस प्रकार यह मान्यता सही नहीं है कि साहित्यकार को राजनीति का अनुगामी होना चाहिए।

इस विवेचन को 'कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम' वालों की मान्यताओं के विवेचन के बिना समाप्त कर देना उपयुक्त नहीं होगा। यह सांस्कृतिक स्वाधीनता की आवाज लगाने वाले कहते हैं कि आजकल विश्व में समाजवाद और पूँजीवाद आदि के आधार पर वर्गीकरण व्यर्थ है। अब संसार में वर्गसंघर्ष मिट चुका है। वास्तविक जीवन-मूल्य स्वाधीनता है। समाज और पूँजीवाद जिसके घोर शत्रु हैं,

ये यह भी मानते हैं कि अमेरिका स्वाधीनता का समर्थक है और रूस उसका विरोधी है। उनकी पक्षधरता यहाँ तक बढ़ी हुई है कि वह सोवियत संघ के बने हुए अणु बमों के विरोधी होकर अमेरिकन अणु बमों के समर्थक हैं। जेम्स बर्नहम का यह मत ही पक्षपातयुक्त है कि मार्क्सवाद से एक प्रकार के भाग्यवाद को स्थान मिलता है जिससे मानवतावादी मूल्यों का तिरस्कार होता है। यह मान्यताएँ डा० रामविलास शर्मा द्वारा निरस्त हो चुकी हैं इसलिए इन पर अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि हिन्दी साहित्य और समीक्षा में मान्य समीक्षक प्रगतिशीलता को स्वीकार कर चुके हैं।

इस शोध-प्रबन्ध में प्रगतिशीलता तत्त्वों का जो ऐतिहासिक क्रम दिखाया गया है उसके अन्तर्गत यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग में लोकजीवन की समस्याओं के प्रति समीक्षकों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक यथार्थवादी बनने लगा था. वह लोग जागरूक रहकर ऊपर से तो अंग्रेजी शासन-व्यवस्था की प्रशंसा करते हैं और अन्दर से उसे शोषक देश के धन को बाहर ले जाने वाली आदि कहकर जन-जागृति के उद्देश्य को लेकर चलते हैं। वह राज्यभक्त और देशभक्त एक साथ हैं। इस युग की मुख्य धारा इतिहास-प्रधान वैज्ञानिक होने के कारण विकासवाद को समझती है, फलस्वरूप अभिव्यक्ति का साधन खड़ी बोली को स्वीकार करती है। इस युग में समाज-सुधार, शोषण-विरोध, टैक्स-विरोध, स्वदेशी आन्दोलन आदि की उमड़ती हुई भावनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह लोग स्वतंत्रता के लिए पूर्ण जाग्रत भूमिका प्रस्तुत करते हैं। यह औद्योगिक विकास और शिक्षा को इसलिए लेकर चले कि समाज-चेतना जागृत हो सके। साहित्य इस युग में समाज को संगठित करने का माध्यम माना गया। प्रचारात्मकता का प्रभाव इसीलिए अधिक है कि उपयोगितावादी दृष्टिकोण प्रमुख होने लगा है। इस युग ने द्विवेदी-युग के लिए वह वृहद् पीठिका प्रस्तुत की जिसके आधार पर इन तत्त्वों के विकास के साथ ही साथ द्विवेदी-युग में हिन्दी समीक्षा विस्तृत आधार-भूमियों पर प्रतिष्ठित हो सकी। उसमें गहराई चाहे न आ पाई, किन्तु विस्तार इतना आ गया कि उसने अपने क्रोड़ में संस्कृत साहित्य तक को आबद्ध कर लिया। शास्त्रीय समीक्षा जो इस युग से पूर्व तक अविवेच्य रही थी, पहली बार विस्तारपूर्वक हिन्दी में अवतरित हुई। इस युग की समीक्षा में साहित्य को प्रथम बार वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा गया। ऐतिहासिक यथार्थवाद को स्वीकृति मिल जाने से जन-जीवन और साहित्य का सम्बन्ध परिपक्व हुआ। इस युग के समीक्षकों ने प्रथम बार राजनैतिक कारणों का प्रभाव स्वीकार किया और लोकमंगल को प्रमुखता देकर सामाजिक परिवेश और आर्थिक सम्बन्धों को उस सीमा तक स्वीकार किया जिस तक यह भारतेन्दु-युग में स्वीकृत हो चुके थे। इस युग ने साहित्यकारों और उनकी कलाकृतियों का मूल्यांकन समग्र दृष्टि से युग के परिपार्श्व में किया। इस युग की समीक्षा कभी अपने पूर्णरूप में आ सकेगी जब यह

समझ लिया जाय कि इन समीक्षकों ने अंग्रेजी साहित्य और समीक्षा के सिद्धान्त इस लिए स्वीकार नहीं किए कि वह शासकवर्ग से सम्बन्धित थे वरन् उन्हें कला की कसौटी पर कस कर देखा गया और उनमें से केवल उतने ही को स्वीकृति मिल सकी जो उस कसौटी पर खरे उतरे। कालिदास और शेक्सपियर की तुलना करके उन अंग्रेज आलोचकों की पक्षपातपूर्ण मान्यताओं को साहस के साथ चुनौती दी गई, जिन्होंने पक्षपातवश अपने साहित्य और साहित्यकारों को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया था। नारी उत्थान, मानवतावाद, स्वातंत्र्य आन्दोलन, लोकमंगल, विकासवाद, जन-जीवन और साहित्य का अभिन्न सम्बन्ध, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, देशभक्ति, आर्थिक शोषण का विरोध, कलावाद का विरोध, ऐतिहासिक मान्यताओं को स्वीकृति, आदि अनेक ऐसे तत्त्व हैं जो इस युग की समीक्षा में पुष्ट हुए। राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध जो भारतेन्दु-युग में प्रारम्भ हुआ इस युग में आकर और गहरा बन गया। रीतिकालीन मान्यताओं का जो विरोध आंशिक रूप से भारतेन्दु-युग में प्रारम्भ हुआ था वह इस युग में आकर पूर्णता प्राप्त करने लगा। इस युग की समीक्षा हमें पहली बार मनोवैज्ञानिक मान्यताओं का आधार ग्रहण करती दिखायी देती है। परन्तु उसके सामने प्रमुख प्रश्न देवत्व और दानवत्व से अलग हटकर मानवत्व की स्थापना और सुरक्षा का था। सन् १९२० तक आते-आते हमें प्रगतिवादी समीक्षा तत्त्व स्पष्ट रूप ग्रहण करते दृष्टिगोचर होने लगते हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की सामान्य की ओर दृष्टि एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कोण है जिसे समझे बिना प्रगतिवादी आन्दोलन की गतिविधि अस्पष्ट रह जाती है। हिन्दी प्रगतिवादी आन्दोलन को समझाने वाले अधिकांश विद्वानों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है और उसका परिणाम यह निकला है कि इस सम्बन्ध में ऐसी अनेक भ्रान्तियों का सृजन हो गया है जिनके निराकरण में यथेष्ट समय लगेगा। मैं पुनः उस दृष्टिकोण को द्योतित करने वाली पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ जो प्रगतिवादी आन्दोलन को अवतरित करने की दिशा का बोध कराती हैं—"अभी तक वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखानों से निकले हुए मैले मजदूरों को अपने काव्य का नायक नहीं बनाना चाहता था.....परन्तु अब वह क्षुद्रों की भी महत्ता देखेंगे और तभी जगत् का रहस्य विदित होगा.....जो साधारण है वही रहस्यमय है। वही अनन्त सौन्दर्य से युक्त है।"[1] इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि द्विवेदी-युग में भारतेन्दु युगीन प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ एक ओर अपना आकार निश्चित करने लगी थीं वहाँ दूसरी ओर उसने अपने क्षेत्र को युगीन सीमाओं से ऊपर उठा कर व्यापकता प्राप्त की। उसकी इन मौलिक विशेषताओं का आधार भारतीय जन-जीवन के वह तत्त्व थे जिनके आधार पर वह पल्लवित हो रही थीं। इस युग के प्रगतिशील तत्त्वों का आधार युग की माँग

---

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी कविता का भविष्य—सम्पादकीय—सरस्वती—१९२०।

रही है, इस तथ्य को पुनः-पुनः स्मरण करने की आवश्यकता है।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का युग भारतीय प्रगतिशील आन्दोलन का ऐसा चरण है जो उसकी मान्यताओं को स्थिर करने में तथा आंदोलन के सम्बन्ध में नवीन मान्यताएँ स्थापित करने में अनेक आधारभूत तथ्यों को स्पष्ट करता है। इस युग में पूँजीवाद और औद्योगिक विकास का सम्मिलन होने से व्यक्तिवाद सामंतवादी दासत्व और रूढ़ि का विरोध, नारी को भोग्य-पदार्थ की सीमाओं से उठाकर 'सहचरी', 'देवी' की सीमाओं तक पहुँचाना धार्मिक स्थूलता का स्थान आध्यात्मिक सूक्ष्मता को देना, रहस्यवाद, प्रकृतिप्रेम, मानवतावाद, विशिष्ट के स्थान पर सामान्य की स्थापना, जीवन के सम्पूर्ण अंगों में वैयक्तिक स्वतंत्रता आदि की स्थापना हुई। केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के विकास से गृह-उद्योग प्रभावित हुए और किसान तथा उससे सम्बन्धित अन्य ग्रामीण समाज विच्छिन्न होकर श्रमिकवर्ग का कारण बना। इससे पूर्व रूसी क्रांति हो जाने और यूरोपीय साहित्य के माध्यम से तत्सम्बन्धी सूचनाओं का प्रभाव इस युग पर पड़ना स्वाभाविक हुआ। इस संदर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य अंग्रेजी के रोमांटिक आन्दोलन का प्रभाव है जो भारतीय परिस्थितियों में अपनी अनुकूलता पाकर पल्लवित हुआ। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यूरोपीय साहित्य और समीक्षा-सिद्धान्तों का अनुकरण मात्र हिन्दी स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन नहीं है, वरन् वह उन परि-स्थितियों और आर्थिक ऐतिहासिक-स्थितियों का अनिवार्य परिणाम है जिन्होंने भारतीय पूँजीवाद को औद्योगीकरण और स्वतंत्रता की नवीन चेतना के साथ सम्बद्ध करके इसे ऐतिहासिक गठबन्धन का रूप दिया। इस गठबन्धन से वह सभी अनिवार्य परिणाम उत्पन्न हुए जो उत्पन्न होने चाहिए थे। फलस्वरूप द्विवेदी-युग के समीक्षक इस युग-चेतना को समझने में असमर्थ रहे क्योंकि उनकी परम्परा और सौंदर्यबोध उतना अग्र-गामी न था जो युग को अपने में समाहित करके चल पाता। नये साहित्यकारों ने उपयुक्त समीक्षकों के अभाव में उस उत्तरदायित्व को भी ओट लिया। इसीलिए छायावादी कवि जहाँ अपने काव्य में क्रांतिकारी है वहाँ समीक्षा-क्षेत्र में भी उसकी मान्यताएँ मौलिकता से ओतप्रोत हैं। यह युग गांधीवादी और मार्क्सवाद के बीच झूलता चला जिसमें जनता की भावनाएँ प्रदर्शित हुईं। गाँधीवाद और मार्क्सवाद की तात्विक मीमांसा और भारतीय अध्यात्म की अद्वैतवादी त्रिवेणी में स्नात यह सांस्कृति मानवतावादी समीक्षा-पद्धति प्रगतिशीलता की उन सभी अनिवार्य आव-श्यकताओं की पूर्ति करती है जिसकी उससे अपेक्षा की जा सकती थी, या की जा सकती है। इस युग की समीक्षा में कुछ प्रगतिशील मीमांसकों को व्यक्तिवादी मान्य-ताओं का आधिक्य दृष्टिगोचर हुआ है और उन्होंने इसका कारण व्यक्तिवाद पर आधारित प्रगीतात्मकता को ठहराया है। इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में मेरा विनम्र निवे-दन है कि इसे प्रयोगवादी व्यक्तिवाद से बिल्कुल भिन्न करके देखा जाना चाहिए, क्योंकि इसका कारण सामाजिक व्यथा एवं अभाव को अभिव्यक्ति देना है। मार्क्स ने

धर्म में अभिव्यक्त दुःख को व्यक्तिगत दुःख का प्रतिफलन कहा है, इस आधार को इस संदर्भ में स्वीकार करके छायावादी समीक्षा-सिद्धान्तों में व्यक्तिगत दुःखवाद को सामाजिक व्यथा और अभाव का दार्शनिक परिणाम समझा जाना चाहिए। छायावादी समीक्षा की सामाजिकता हमें यह बतलाती है कि साहित्य पर अर्थ-सम्बन्धों का प्रभाव सीधा-सीधा न पड़कर परोक्ष रूप से पड़ता है। छायावादी कवि-समीक्षकों की समीक्षा का जिन प्रगतिशील समीक्षकों ने सीधे-सीधे अंग्रेजी साहित्य से या अर्थ-सम्बन्धों से सम्बद्ध दिखाया है उनसे समीक्षा-क्षेत्र में भ्रांति अधिक फैली है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षा को उस धारा का विकास मानना चाहिए जिसका प्रादुर्भाव भारतेन्दुयुगीन प्रगतिशीलता में हुआ था एवं जिसे द्विवेदीयुगीन व्यापकता ने सुदृढ़ बनाया था।

यहाँ आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्तों का विवेचन तथा उनकी प्रगतिशील दृष्टि का आकलन पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी के पश्चात् किया गया है। इसका कारण यह है कि छायावादी-युग द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया-स्वरूप १९२२ से ही प्रारम्भ हो गया था एवं विकास के इस क्रम को उसी शृंखला में दिखाना औचित्यपूर्ण है। आचार्य शुक्ल द्विवेदी-युग के समीक्षक कहे जाते हैं, किन्तु निश्चित ही उन्हें द्विवेदी-युग की सीमाएँ अपने में आबद्ध नहीं कर पाती हैं। द्विवेदी-युग की समाप्ति के पश्चात् उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया और छायावाद के उपरान्त भी लिखते रहे। उनके द्वारा स्वीकृत दिशा की दृष्टि सीमित होने से न वह छायावादी सौंदर्यबोध को स्वीकार कर पाये न उन्होंने द्विवेदीयुगीन मर्यादा को ही अपनी सीमा-रेखा माना। उन्होंने एक ओर तो विकासवाद और भौतिकवाद को स्वीकार किया और दूसरी ओर हेकेल आदि के समान चैतन्य को द्रव्य का परिणाम मात्र न माना। उनकी आत्मस्थिति की स्वीकृति उन्हें भौतिकता से ऊपर उठाकर आध्यात्मिक स्तर तक ले जाती है। साहित्य और जीवन के सम्बन्धों को स्वीकार करके उन्होंने यथार्थवादी मान्यताओं को स्वीकृति ही प्रदान न की वरन् उन्हें सैद्धान्तिक आधार भी दिया। वह सौंदर्य को गतिशील, सत्य को सापेक्षतावादी और विकास को द्वन्द्वाधारित मानते हैं तथा लोकमंगल को काव्य की कसौटी कहते हैं। उनका लोकसंग्रह देश, काल एवं परिस्थिति-सापेक्ष है। उनकी कसौटी सामान्य जनता है, अभिजात्यवर्ग नहीं। ये ही वह कारण हैं जिनसे वह छायावादी काव्य के अव्यक्त और अगोचर आलम्बन को स्वीकार न कर सके क्योंकि ब्रह्म का सामाजीकृत होना सम्भव नहीं था। सारा जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। यह मानकर ही उन्होंने ब्रह्म की व्याख्या भौतिक आधार पर की है। पहली बार हिन्दी साहित्य में वह रस को लोकोत्तर मान्यताओं से हटाकर लौकिक स्तर पर स्थापित करते हैं। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि रस की अनुभूति लोकोत्तर इस अर्थ में होती है कि इन भावों का सामान्यीकरण हो जाता है। सुखात्मक और दुखात्मक दो वर्गों में मानव अनुभूतियों को विभाजित करके उन्होने साधारणीकरण और रससिद्धान्त की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। साधारणीकरण का उत्तरदायित्व साहित्यकार पर

डाला गया है जिससे सैद्धान्तिक स्तर पर प्रगतिशील मान्यताओं की विवेचन-परम्परा चल निकली है। साधारणीकरण में लोकानुभूति को आश्रय देकर जन-जीवन को सिद्धान्तों का आधार मान लिया गया है। चमत्कारवाद, गांधीवाद, कलावाद, अलंकारवाद तथा हृदय-परिवर्तनवाद का विरोध करके उन्होंने जीवन में सभी प्रकार के भावों की उपयोगिता का आदर्श स्थापित किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि मार्क्सवाद में घृणा को जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है उसके लिए आचार्य शुक्ल का आधार मिल गया। शुक्लजी ने सर्वप्रथम साहित्येतिहास क्षेत्र में क्रांति उपस्थित करते हुए साहित्य और साहित्यिक युगों को राजनैतिक तथा अन्य परिवेशात्मक परिस्थितियों की सापेक्षता में मूल्याङ्कित किया तथा व्याख्यात्मक समीक्षाओं में ऐतिहासिकता को स्थान देकर सामाजिक-ऐतिहासिक दृष्टिकोण को मान्य किया। उनकी ये मान्यताएँ जहाँ एक ओर द्विवेदी-युग को विकसित करती हैं वहाँ छायावाद-युग को भी भौतिकवाद की ओर उन्मुख करने का सफल प्रयास है। आचार्य द्विवेदी ने इस नवीन दृष्टिकोण एवं परिवर्तन की दिशा निर्देशित मात्र की थी, उसे आचार्य शुक्ल ने सैद्धान्तिक और व्याख्यात्मक समीक्षा के स्तर पर रूपायित किया।

प्रेमचन्द ने हिन्दी तथा साहित्य के समान ही वैचारिक क्षेत्र में भी यथार्थवादी मान्यताओं को स्वीकार किया। प्रेमचन्द की विचारधारा के विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उनका आदर्शोन्मुख यथार्थवाद गोर्की के समान समाजवादी यथार्थवाद का भारतीयकरण है। उनके विचारों में एक क्रम मिलता है जो उन्हें गांधीवादी मान्यताओं से खेता हुआ मार्क्सवाद तक पहुँचाता है। साहित्य और जीवन के अन्योन्याश्रयित्व को स्वीकार करते हुए उन्होने परिवेशात्मक स्थिति तथा राजनीतिक आर्थिक संबंधों के साथ जोड़ कर दृढ़ता के साथ यथार्थवादी साहित्य को जीवन का अंग बना दिया। यह एक ऐसी ऐतिहासिक उपलब्धि है जिसमें प्रगतिवादी आंदोलन को दृढ़ आधार प्रदान किया है। नारी संबंधी प्रश्न, हिन्दू-मुसलिम समस्या, लोक-कल्याण उपयोगितावाद, तथा राष्ट्रभाषा आदि के प्रश्नों को व्यावहारिक प्रगतिशील दृष्टिकोण से सुलझाने की दिशा निर्देशित ही नहीं की, वरन् अपने सृजनात्मक साहित्य द्वारा इनका व्यावहारिक पक्ष उपस्थित कर दिया। इसी अध्याय में स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों पर विचार हुआ है। यह सभी वर्तमानकालीन हिन्दी आलोचक किसी-न-किसी रूप में भारतीय काव्यशास्त्र तथा आचार्य शुक्ल की समीक्षात्मक देन से प्रभावित रहे हैं। मानवतावाद, यथार्थवाद, सांस्कृतिक परम्परा, रसवादी दृष्टिकोण, साहित्य और समाज का संबंध आदि ऐसे तत्त्व हैं जिनकी सामान्य भूमिका इन सभी समीक्षकों ने स्वीकार की है। इन्होंने साहित्य और कला की श्रेष्ठता तथा राजनीति की अनिवार्य अनुगामिता जैसे एकांगी तत्त्वों से पृथक् रहने की नीति को मान्यता देकर प्रगतिवादी समीक्षकों को अधिक संयत, संतुलित तथा व्यापक दृष्टिकोण-समन्वित बनाया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे समीक्षकों ने यदि सांस्कृतिक-मानवतावादी

दृष्टिकोण को बल प्रदान किया है तो आचार्य वाजपेयी ने सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण की उपेक्षा पर प्रतिबन्ध लगाया है। डा० नगेन्द्र ने रससिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक स्तर पर मान्यता देकर प्रगतिवादी आन्दोलन में वर्गचेतना तथा व्यक्तिचेतना को मूल्यांकित करने की नवीन वैज्ञानिक सम्भावनाएँ उत्पन्न करायी हैं। डा० सत्येन्द्र ने लोकतात्विक दृष्टिकोण की उपेक्षा होने से रोकी है तथा शान्तिप्रिय द्विवेदी ने भारतीय संस्कृति एवं युगीन परिस्थितियों के आधार पर गांधीवाद एवं मार्क्सवाद के समन्वय द्वारा एक ऐसे नवीन दृष्टिकोण की आवश्यकता अनुभव करायी है जो आज के युग में सर्वोदय आन्दोलन में अभिव्यक्त हो रही है। इससे यह प्रकट है कि इस वर्ग के समीक्षक अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते रहते हैं। यह सभी महानुभाव अभी लिख रहे हैं इसलिए इनके सम्बन्ध में अन्तिम रूप से कुछ कहना असम्भव है और इसी कारण इस अध्याय का मूल्य अधिक भी है।

इस ऐतिहासिक विकास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश मार्क्सवादी आलोचकों से सम्बन्धित विवेचन है। आज के प्रगतिवादी समीक्षक सैद्धान्तिक और वैयक्तिक स्तर पर परस्पर गहरे मतभेदों से युक्त हैं। कुंठित समाजशास्त्र, यांत्रिकता, ट्राटसकीवाद आदि अनेक ऐसी सम्भावनाएँ एक वर्ग ने दूसरे वर्ग की समीक्षा के प्रति प्रकट की हैं जिनके कारण प्रगतिवादी समीक्षा का अधिकांश खंडन-मंडन से दूषित होकर रह गया है। इस वातावरण का प्रभाव केवल प्रगतिवादी समीक्षा-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रह पाया है वरन् उसमें समस्त हिन्दी साहित्य आ गया है। इसके अतिरिक्त इस समीक्षा का दूसरा पहलू भी है जिसमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण को हिन्दी साहित्य और इतिहास के क्षेत्र में लागू किया गया है जिससे अनेक स्वस्थ मान्यताएँ पुष्ट हुई हैं तथा व्यक्तिवादी असामाजिक कलावाद का मूलोच्छेदन होने में यथेष्ट सहायता मिली है। प्रगतिवादी समीक्षक गौणतः दो वर्गों में विभाजित हैं, एक वर्ग स्वीकार करता है कि हमें मार्क्सवादी मान्यताओं को भारतीय परिवेश, परम्परा एवं संस्कृति के साथ संयुक्त करके साहित्य का मूल्यांकन करना चाहिये जब कि अन्य वर्ग मार्क्सवादी मान्यताओं को विवेचन और मूल्यांकन का सीधा आधार मानता है। इस वर्ग के समीक्षक मार्क्स को शाश्वत विचारक के रूप में स्वीकार करके चलते हैं। इस समीक्षा-पद्धति में जीवन और साहित्य को एक-दूसरे के पास लाने का जो प्रयास हुआ है और साहित्य की उन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया गया है जिनके द्वारा शोषण-विरोध, यथार्थवाद, जनवाद, लोककल्याण, सामाजिक-आर्थिक दृष्टि, वस्तुगत दृष्टि, उपयोगितावाद, मानवतावाद, भाषा-समस्या, अतिव्यक्तिवाद का विरोध साहित्य को जनता के अधिकाधिक सम्पर्क में लाना, लोकतत्त्व तथा लोकसाहित्य को प्रोत्साहित करना, साहित्येतिहास के प्रति नवीन दृष्टिकोण आदि प्रवृत्तियाँ व्यापकता के साथ हिन्दी साहित्य में सम्मानित हो सकी हैं।

अन्त में प्रयोगशील प्रगतिवादी तथा मनोविश्लेषणवादी समीक्षा का मूल्यांकन हुआ है। इन दोनों समीक्षा-पद्धतियों की जितनी तीव्र आलोचना हुई है उतनी तीव्र आलोचना की आवश्यकता नहीं थी। प्रगतिवादी समीक्षकों ने इन दोनों कोटि की मान्यताओं को पहले तो एक स्वर से अस्वीकार किया, किन्तु धीरे-धीरे उनमें कुछ सहिष्णुता आई है जिससे उनमें से कतिपय समीक्षकों ने सहानुभूतिपूर्ण स्वर में सैद्धान्तिक स्तर पर इन समीक्षाओं का आकलन किया है। आगे के युग की यह माँग है कि दृष्टिकोण को समन्वयवादी बनाया जाय तथा सभी समीक्षा-पद्धतियों के उन तत्त्वों को प्रगतिशील समीक्षा में स्थान दिया जाय जिन्हें वर्तमान युग की आवश्यकता निराहत नहीं कर सकती। दूसरी ओर यह भी अपेक्षा है कि नये समीक्षक तथा मनोविश्लेषक दोनों ही अपनी सीमाओं से ऊपर उठेंगे और उन प्रगतिशील तत्त्वों को अस्वीकार करते रहने का हठ नहीं दिखावेंगे जिन्हें स्वीकृति मिलनी ही चाहिए।

समाप्त

O. U. L.

# परिशिष्ट (१)

## पुस्तक-सूची

| | |
|---|---|
| अध्ययन | भगीरथ मिश्र |
| अपराजिता | रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' |
| अर्चना | सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' |
| अध्ययन और आस्वाद | गुलाबराय |
| अरस्तु का काव्यशास्त्र | नगेन्द्र |
| अर्धनारीश्वर | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| अनामिका | सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' |
| अग्निशस्य | नरेन्द्र शर्मा |
| अतिमा | सुमित्रानन्दन पन्त |
| अणिमा | सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' |
| अतीत के चलचित्र | महादेवी वर्मा |
| अनुशीलन | रामकुमार वर्मा |
| अरी ओ करुणा प्रभामय | अज्ञेय |
| अशोक के फूल | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| अलंकार मंजूषा | भगवानदीन |
| आस्था और सौंदर्य | रामविलास शर्मा |
| आलोचना के सिद्धान्त | शिवदानसिंह चौहान |
| आत्मनेपद | अज्ञेय |
| आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार | रांगेय राघव |
| आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली | रांगेय राघव |
| आदिकाल | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| आलोचक रामचन्द्र शुक्ल | रामलालसिंह |
| आधुनिक कवि | हरिऔध |
| आलोचनांजलि | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| आकाश-गंगा | रामकुमार वर्मा |

| | |
|---|---|
| आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना | रामविलास शर्मा |
| आचार्य रामचन्द्र शुक्ल | शिवनाथ |
| आधान | शांतिप्रिय द्विवेदी |
| आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान | देवराज उपाध्याय |
| आधुनिक साहित्य | नन्ददुलारे वाजपेयी |
| आधुनिक काव्य-धारा | केशरीनारायण शुक्ल |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य | भोलानाथ |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका | लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय |
| आधुनिक समीक्षा | देवराज |
| आधुनिक हिन्दी नाटक | नगेन्द्र |
| आधुनिक कवि, भाग ३ | रामकुमार वर्मा |
| आधुनिक कवि भाग १ | महादेवी वर्मा |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य | लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय |
| आधुनिक-कथा साहित्य और मनोविज्ञान | देवराज उपाध्याय |
| आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ | नामवरसिंह |
| आधुनिक धारा का सांस्कृतिक स्रोत | केशरीनारायण शुक्ल |
| आधुनिक कथा-साहित्य | गंगाप्रसाद पांडेय |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य | प्रकाशचन्द गुप्त |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य | अज्ञेय |
| आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ | नगेन्द्र |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास | श्रीकृष्णलाल |
| आधुनिक कवि, भाग २ | सुमित्रानन्दन पन्त |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य आर्थिक भूमिका | शिवनाथ |
| आत्मोत्सर्ग | सियारामशरण गुप्त |
| आलोचना के मान | शिवदानसिंह चौहान |
| आलोचक प्रवर रामचन्द्र शुक्ल | गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' |
| आलोचक रामचन्द्र शुक्ल | गुलाबराय तथा स्नातक |
| इनसे | ललिताप्रसाद सुकुल |
| इत्यलम् | अज्ञेय |
| इनसे मिला (दो भाग) | पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' |
| इतिहास के आँसू | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| इतिहास और आलोचना | नामवरसिंह |
| इन्द्रधनुष रौंदे हुए थे | अज्ञेय |

| | |
|---|---|
| उत्तरा | सुमित्रानन्दन पन्त |
| उजली आग | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| एकलव्य | रामकुमार वर्मा |
| प्रगतिवाद एक समीक्षा | धर्मवीर भारती |
| आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि | प्रकाशचन्द्र गुप्त |
| और कुछ | पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी |
| अंधा युग | धर्मवीर भारती |
| अंजलि | रामकुमार वर्मा |
| कल्पलता | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| कला कल्पना और साहित्य | सत्येन्द्र |
| कुछ विचार | प्रेमचन्द |
| कलिकौतुक रूपक | प्रतापनारायण मिश्र |
| कथाकार प्रेमचन्द | मन्मथनाथ गुप्त |
| कला-दर्शन | शचिरानी गुर्टू |
| कबीर | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| करील | रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' |
| कबीरदास | विश्वम्भरनाथ उपाध्याय |
| कबीर का रहस्यवाद | रामकुमार वर्मा |
| कविता-कलाप | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| कवि और काव्य | शांतिप्रिय द्विवेदी |
| कवि प्रसाद आँसू तथा अन्य कृतियाँ | विनयमोहन शर्मा |
| कालिदास की निरंकुशता | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| काव्य की परख | एस० पी० खत्री |
| काव्य के रूप | गुलाबराय |
| काव्यचिंतन | नगेन्द्र |
| काव्य यथार्थ और प्रगति | रांगेय राघव |
| काव्यकला और शास्त्र | रांगेय राघव |
| काव्यशास्त्र | भागीरथ मिश्र |
| काव्य में रहस्यवाद | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल |
| काव्य में उदात्तत्व | नगेन्द्र |
| काव्य में मूल विवेच्य | रांगेय राघव |
| काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध | जयशङ्कर प्रसाद |
| कानन-कुसुम | जयशङ्कर प्रसाद |
| काव्य की भूमिका | रामधारीसिंह 'दिनकर' |

| | |
|---|---|
| काव्य में अभिव्यंजनावाद | लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' |
| कामायनी | जयशङ्कर प्रसाद |
| किरातार्जुनीय (अनूदित) | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| किरण-वेला | रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' |
| किंजल्क | केशरीनारायण शुक्ल |
| कुरुक्षेत्र | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| कुमारसम्भव (अनूदित) | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास | ब्रजरत्नदास |
| गद्यपथ | सुमित्रानंदन पंत |
| गीतिका | सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' |
| ग्राम्या | सुमित्रानंदन पंत |
| गुप्त-निबन्धावली | बालमुकुन्द गुप्त |
| गुप्तजी की कला | सत्येन्द्र |
| गोस्वामी तुलसीदास | श्यामसुन्दर दास |
| गोस्वामी तुलसीदास | रामचन्द्र शुक्ल |
| चयन | सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' |
| चक्रवाल | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| चन्द्रगुप्त | जयशङ्कर प्रसाद |
| चन्द्रकिरण | रामकुमार वर्मा |
| चाबुक | सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' |
| चारिका | शांतिप्रिय द्विवेदी |
| चित्ररेखा | रामकुमार वर्मा |
| चिंतामणि [दो भाग] | रामचन्द्र शुक्ल |
| चित्तौड़ की चिता | रामकुमार वर्मा |
| छायावाद | नामवरसिंह |
| छायावाद युग | शम्भूनाथसिंह |
| छायावाद और रहस्यवाद | गंगाप्रसाद पांडेत |
| छायावाद का पतन | देवराज |
| जायसी ग्रन्थावली | रामचन्द्र शुक्ल |
| ज्योत्स्ना | सुमित्रानंदन पंत |
| ज्योति विहग | शांतिप्रिय द्विवेदी |
| जयशङ्कर प्रसाद | नंददुलारे वाजपेयी |
| जीवन के तत्त्व और सिद्धांत | लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' |

| | |
|---|---|
| झरना | जयशङ्कर प्रसाद |
| ठेले पर हिमालय | धर्मवीर भारती |
| ठण्डा लोहा तथा अन्य कविताएँ | धर्मवीर भारती |
| तार सप्तक | अज्ञेय |
| तीसरा सप्तक | अज्ञेय |
| तुलसीदास का कथाशिल्प | रांगेय राघव |
| द्वन्द्वगीत | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| द्वापर | विश्वम्भरनाथ उपाध्याय |
| द्विवेदी पत्रावली | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ दूसरा सप्तक | अज्ञेय |
| देखा-परखा | इलाचन्द जोशी |
| दृष्टिकोण | विनयमोहन शर्मा |
| धरातल | शांतिप्रिय द्विवेदी |
| ध्वन्यालोक | नगेन्द्र |
| धूप के धान | गिरिजाकुमार माथुर |
| धूप-छाँह | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| नयी कविता के प्रतिमान | लक्ष्मीकांत वर्मा |
| नया साहित्य : नये प्रश्न | नंददुलारे वाजपेयी |
| नया हिन्दी साहित्य | प्रकाशचन्द गुप्त |
| नयी समीक्षा | अमृतराय |
| नयी कविता | विश्वम्भरनाथ उपाध्याय |
| नाट्यशास्त्र | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| नाटक | भारतेन्दु हरिश्चन्द्र |
| नाथ सम्प्रदाय | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| निबन्ध नवनीत | लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय |
| निराला | विश्वम्भरनाथ उपाध्याय |
| निराला | रामविलास शर्मा |
| निशीथ | रामकुमार वर्मा |
| नील कुसुम | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| नैषध-चरित-चर्चा | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| पन्त और पल्लव | सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' |
| पंत का नूतन काव्यदर्शन | विश्वम्भरनाथ उपाध्याय |
| प्रतिष्ठान | शांतिप्रिय द्विवेदी |

| | |
|---|---|
| प्रतापनारायण ग्रंथावली | प्रतापनारायण मिश्र |
| पद्मपराग | पद्मसिंह शर्मा |
| पलाश वन | नरेन्द्र शर्मा |
| पाथेय | सियारामशरण गुप्त |
| पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त | लीलाधर गुप्त |
| प्रसादजी की कला | गुलाबराय |
| प्रसाद का काव्य | प्रेमशंकर |
| प्रगतिवाद | शिवदानसिंह चौहान |
| प्रगतिवाद की रूपरेखा | मन्मथनाथ गुप्त |
| प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें | रामविलास शर्मा |
| प्रगति और परम्परा | रामविलास शर्मा |
| प्रगतिशील साहित्य के मानदंड | रांगेय राघव |
| प्रबन्ध-प्रतिभा | सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' |
| प्रबन्ध पद्य | सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' |
| प्रेमघन-सर्वस्व | बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' |
| प्रेमचन्द और उनका साहित्य | मन्मथनाथ गुप्त |
| प्रेमचन्द और उनका युग | रामविलास शर्मा |
| प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन | नन्ददुलारे वाजपेयी |
| प्रेमचन्द और उनकी कहानी-कला | सत्येन्द्र |
| वट-पीपल | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| बालमुकन्द गुप्त | राजेन्द्र |
| बृजलोक साहित्य का अध्ययन | सत्येन्द्र |
| बिहारी और देव | भगवानदीन |
| बिहारी की सतसई | पद्मसिंह शर्मा |
| विचार-प्रवाह | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| वेणुवन | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| विवेचना | इलाचन्द जोशी |
| बाबरा अहेरी | अज्ञेय |
| भग्न दूत | अज्ञेय |
| भारतेन्दु ग्रन्थावली (तीन भाग) | भारतेन्दु हरिश्चन्द्र |
| भारतेन्दु युग | रामविलास शर्मा |
| भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका | नगेन्द्र |
| भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा | नगेन्द्र |

| | |
|---|---|
| भारतेन्दु विधारधारा | लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय |
| भारतेन्दु साहित्य | रामगोपालसिंह चौहान |
| भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | रामविलास शर्मा |
| भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | ब्रजरत्नदास |
| भारतेन्दु के निबन्ध | केशरीनारायण शुक्ल |
| भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय |
| भारतीय नाट्य साहित्य | नगेन्द्र |
| भाषा साहित्य और संस्कृति | रामविलास शर्मा |
| महादेवी विवेचनात्मक गद्य | महादेवी वर्मा |
| मध्यकालीन धर्म प्रेम-साधना | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| महाकाव्य विवेचन | रांगेय राघव |
| मधूलिका | रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' |
| महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग | उदयभानुसिंह |
| महाकवि सूरदास | नन्ददुलारे वाजपेयी |
| मिट्टी और फूल | नरेन्द्र शर्मा |
| मेरी आत्म-कहानी | श्यामसुन्दरदास |
| मेघदूत | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| मंझधार | मन्मथनाथ गुप्त |
| मानव मूल्य और साहित्य | धर्मवीर भारती |
| युग और साहित्य | शान्तिप्रिय द्विवेदी |
| रवीन्द्र कविता-कानन | सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' |
| रसज्ञ-रंजन | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| रस-मीमांसा | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल |
| रश्मि रथी | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| राधाकृष्ण ग्रन्थावली | राधाकृष्णदास |
| रामधारीसिंह 'दिनकर' | मन्मथनाथ गुप्त |
| रीतिकाल और देव | नगेन्द्र |
| रूपक रहस्य | श्यामसुन्दर दास |
| रोमांटिक साहित्य-शास्त्र | देवराज उपाध्याय |
| लाल चूनर | रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' |
| लोकजीवन और साहित्य | रामविलास शर्मा |
| लेखांजलि | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| व्यक्ति और कलाकार | इलाचन्द जोशी |

| | |
|---|---|
| विचार-विमर्श | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| विचार और विवेचना | नगेन्द्र |
| विचार और विश्लेषण | नगेन्द्र |
| विश्व-साहित्य | पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी |
| विचार और वितर्क | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| विचार और अनुभूति | नगेन्द्र |
| विचार-दर्शन | रामकुमार वर्मा |
| विराम-चिह्न | रामविलास शर्मा |
| विवेचना | इलाचन्द जोशी |
| विश्लेषण | इलाचन्द जोशी |
| विश्लेषण | विनयमोहन शर्मा |
| हरणार्थी | अज्ञेय |
| सियारामशरण गुप्त | नगेन्द्र |
| त्रिशंकु | अज्ञेय |
| स्कन्दगुप्त | जयशंकर प्रसाद |
| स्मृति की रेखाएँ | महादेवी वर्मा |
| संस्कृति के चार अध्याय | रामधारीसिंह 'दिनकर' |
| साहित्य-धारा | प्रकाशचन्द गुप्त |
| साहित्य की समस्याएँ | शिवदानसिंह चौहान |
| साहित्य की झाँकी | सत्येन्द्र |
| साहित्य का उद्देश्य | प्रेमचन्द |
| समवेत | शान्तिप्रिय द्विवेदी |
| स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य | रामविलास शर्मा |
| समालोचना समुच्चय | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| समाज और साहित्य | रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' |
| समीक्षा की समीक्षा | प्रभाकर माचवे |
| समीक्षा-शास्त्र | दशरथ ओझा |
| समीक्षात्मक निबन्ध | विजयेन्द्र स्नातक |
| समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द | महेन्द्र भटनागर |
| साकेत एक अध्ययन | नगेन्द्र |
| साकल्य | शान्तिप्रिय द्विवेदी |
| सामयिकी | शान्तिप्रिय द्विवेदी |
| साहित्य-चिन्तन | इलाचन्द जोशी |
| साहित्य संतरण | इलाचन्द जोशी |

| | |
|---|---|
| साहित्यिकी | शान्तिप्रिय द्विवेदी |
| साहित्य-शास्त्र | रामकुमार वर्मा |
| साहित्य की परख | शिवदानसिंह चौहान |
| साहित्य में संयुक्त मोर्चा | अमृतराय |
| साहित्यानुशीलन | शिवदानसिंह चौहान |
| साहित्यावलोकन | विनयमोहन शर्मा |
| साहित्य-चिन्ता | देवराज |
| साहित्य-कला-समीक्षा | मन्मथनाथ गुप्त |
| साहित्य-समालोचना | रामकुमार वर्मा |
| साहित्य का साथी | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| साहित्य-सन्दर्भ | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| साहित्यसीकर | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| साहित्य का मर्म | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| साहित्य-समीक्षा | गुलाबराय |
| सिद्धान्त और अध्ययन | गुलाबराय |
| सुमन | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| सुमित्रानन्दन पन्त | नगेन्द्र |
| सूर-सुषमा | नन्ददुलारे वाजपेयी |
| सूरदास | विश्वम्भरनाथ उपाध्याय |
| सूरदास | रामचन्द्र शुक्ल |
| सूर-निर्णय | प्रभुदयाल मित्तल |
| सूर-सन्दर्भ | नन्ददुलारे वाजपेयी |
| सूर-साहित्य | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| संकेत | रामकुमार वर्मा |
| संचारिणी | शान्तिप्रिय द्विवेदी |
| संस्कृति और साहित्य | रामविलास शर्मा |
| संगम और संघर्ष | रांगेय राघव |
| संचयन | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| संतुलन | प्रभाकर माचवे |
| हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास | अयोध्यासिंह उपाध्याय |
| हिन्दी साहित्य की भूमिका | हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| हिन्दी नाट्य-विमर्श | गुलाबराय |
| हरी घास पर क्षण भर | अज्ञेय |
| हमारी साहित्यिक समस्याएँ | हजारीप्रसाद द्विवेदी |

| | |
|---|---|
| हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास | रामकुमार वर्मा |
| हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष | शिवदानसिंह चौहान |
| साहित्यालोचन | श्यामसुन्दरदास |
| हिन्दी कविता में युगान्तर | सुधीन्द्र |
| हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास | भागीरथ मिश्र |
| हिन्दी भाषा और साहित्य | श्यामसुन्दरदास |
| हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद | विजयशंकर मल्ल |
| हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा | प्रकाशचन्द गुप्त |
| हिन्दी के आलोचक | शचीरानी गुर्टू |
| हिन्दी को मराठी सन्तों की देन | विनयमोहन शर्मा |
| हिन्दी काव्यधारा | राहुल सांकृत्यायन |
| हिन्दी कहानियों का शिल्प तथा विकास | लक्ष्मीनारायण लाल |
| हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास | गुलाबराय |
| हिन्दी साहित्य का इतिहास | रामचन्द्र शुक्ल |
| हिन्दी काव्य का विकास | शम्भूनाथ सिंह |
| हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी | नन्ददुलारे वाजपेयी |
| हिन्दी नाटक | दशरथ ओझा |
| हिन्दी साहित्य में विविधवाद | प्रेमनारायण शुक्ल |
| हिन्दी साहित्य का इतिहास | लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय |
| हिन्दी काव्य-विमर्श | गुलाबराय |
| हिन्दी साहित्य की नवीन धाराएँ | मन्मथनाथ गुप्त |
| हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग | नामवरसिंह |
| हिन्दी भाषा का इतिहास | हरिऔध |
| हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम | नगेन्द्र |
| हिन्दी कालिदास की आलोचना | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास | भगवत्स्वरूप मिश्र |
| हिन्दी आलोचना का इतिहास | रामदरश मिश्र |
| हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि | विश्वम्भरनाथ उपाध्याय |
| हिन्दी के विविधवाद | विश्वम्भरनाथ उपाध्याय |
| हिन्दी साहित्य अनुशीलन | रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' |
| हिन्दी भाषा की उत्पत्ति | महावीरप्रसाद द्विवेदी |
| हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद | त्रिभुवनसिंह |
| हिन्दी साहित्य | हजारीप्रसाद द्विवेदी |


—: o :—

## पत्र-पत्रिकाएँ (२)

आनन्द कादम्बिनी

कवि-वचन-सुधा

नागरी प्रचारिणी पत्रिका

ब्राह्मण

विशाल भारत

भारतमित्र

मतवाला

माधुरी

सरस्वती

सम्मेलन पत्रिका

समालोचक

साहित्य-सन्देश

सुधा

हरिश्चन्द्र चन्द्रिका

हरिश्चन्द्र मैगज़ीन

हिन्दी अनुशीलन

हिन्दी प्रदीप

## संस्कृत-पुस्तक-सूची (३)

| | |
|---|---|
| अभिनव भारती | अभिनव गुप्त |
| अलंकार सर्वस्वम् | रुय्यक |
| औचित्य विचार चर्चा | क्षेमेन्द्र |
| काव्य-प्रकाश | मम्मट |
| काव्यादर्श | दंडी |
| काव्य-मीमांसा | राजशेखर |
| काव्यालंकार | भामह |
| काव्यालंकार | रुद्रट |
| काव्यालंकार सार | उदभट |
| दशरूपकम् | धनंजय |
| ध्वन्यालोक | आनन्दवर्द्धन |
| नाट्य शास्त्रम् | भरतमुनि |
| रस गंगाधर | पंडितराज जगन्नाथ |
| व्यक्तिविवेक | महिम भट्ट |
| साहित्य-दर्पण | विश्वनाथ |
| सरस्वती कंठाभरणम् | भोजदेव |
| हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम् | कुंतक |
| हिन्दी काव्यालंकार | वामन |

# *List of English Books*

| | |
|---|---|
| Aesthetics. | Benedetto Croce. |
| A History of literary Criticism in the Renaissance | J. E. Spingarn. |
| A History of Criticism and literary Taste in Europe Volume I and II | George Saintsbury. |
| A History of English Criticism. | George Saintsbury. |
| An introduction to the study of literature | W.H. Hudson. |
| Ancient law | Henery Maine. |
| A Literary History of Russia | Alexander Brueckner. |
| A History of Russian Literature | D.S. Misky. |
| Artists in Uniform | Eastman Max. |
| An outline of Russian literature | Maurince Barilg. |
| An introduction to Russian literature | Helen Muchnic. |
| An outline of modern Russian literature | E.J. Simmons. |
| An introduction to the Russian Novel | Janke Lavrin. |
| A treasury of Russian literature | B.G. Gwerney. |
| A guide to Russian literature | M.J. Olgin. |
| Anarchism or Socialism | Stalin. |
| An Introduction to the Principles of Criticism | Abercrombie |
| Art and Society | M. Read. |
| Art and Society | Sidney Trinkel Stein. |
| Articles on India | Karl Marx |
| Articles and Pamphlets | Gorkey. |
| Art and social life | G.V. Plekhanov. |
| A study of literary Judgment | I.A. Richards. |

| | |
|---|---|
| Bases of Criticism in the arts | S.C. Popper. |
| Capital (Three volumes) | Karl Marx. |
| Encyclopaedia of literature | J.T. Shikley. |
| Cuture and the people | Gorkey. |
| Culture in and changing world A marxism approach | V.J. Varome. |
| Contemporary Russian literature | D.S. Mirsky. |
| Critical thoughts in critical days | F.L. Lucas. |
| Communist Manifesto | Marx and Engles. |
| Collected Essays in literary critlcism | Herbert Read. |
| Contribution to the critique to the political Economy | Karl Marx. |
| Concerning Marxism in linguistics | J.V. Stalin. |
| Dialectical Materialism (3 parts) | M. Cornforth. |
| Dialectical Materialism and Science | Maurice Cornforth. |
| Dialects of Nature | Frederick Engles. |
| Dialectical and Historical materialism | Stalin. |
| Dictionary of World Literature | J.T. Shikley. |
| Dictionary of world literary terms | Edited by T. Shikley. |
| Discovery of India | Jawahar lal Nehru. |
| Encyclopaedia Americana | |
| Encyclopaedia of Literature | |
| Encyclopaedia Britanica | |
| Essays in critcism | Mathew Arnold. |
| Essays in the History of materialism | G.V. Plekhanov. |
| Essays in Materialism | G.V. Plekhanov. |
| Essays literary and critical | Mathew Arnold. |
| Essays on Leo Tolstoy | V.I. Lenin. |
| Fifty years of english literature | R. A. Scott James. |
| From the third programme A ten years anthology of B.B.C. | Edited by John Morris. |

| | |
|---|---|
| Fundamental problems of Markxim | Plekhanov. |
| Further studies in dying culture | C. Caudwell. |
| Glimpses of world history | Jawaharlal Nehru. |
| Gudgment of literature | W.B. Worfold. |
| History of Dharam shastra | P.V. Kane. |
| Hindu Jurisprudence | P.N. Sen. |
| Hindu society at cross roads | K.M. Pannikar. |
| Historical Materialism | Bukharin. |
| Hindu social organisation | Prabhunath Bhandari. |
| Idea of great poetry | Abercrombie. |
| Illusion and reality | C. Caudwell. |
| Indelevee of Materialism | Plekhanov. |
| Idea of History | C. Wood. |
| Indian Aesthetics | Ramaswami Sastri. |
| Internationalism and Nationalism | Snatchi. |
| Karl marx | Bottoware and Rubel. |
| Karl Marx | Lenin. |
| Life and literature | Gorky, Maxim. |
| Life and literature | Maxim Gorky. |
| Literature and society | David Daiches. |
| Literature and Art | Karl Marx E. Engles. |
| Literature and Marxism | A. Flores. |
| Literary portraits | Maxim Gorky. |
| Literature and Reality | Howard Trust. |
| Literature and psychology | Lucas F.L. |
| Literature and Marxism | |
| Lenin Selected works (in two parts) | Lenin. |
| Lenin on art and Literature | Lenin. |
| Land marks in Russian Literature | Maurice Baring: |
| Literatue and Revolution | L. Trotskey. |
| Marx engles marxism | V.I. Lenin. |
| Materialism Historical Matrialism | J.V. Stalin. |
| Materialistic conception of History | G.V. Plekhanov. |
| Materialism and Empiro. | Lenin. |

| | |
|---|---|
| Marxism and poetry | George Thomson. |
| Marx and Engels selected works (in two parts) | Marx and Engles. |
| Marxist glossary | L. Harry Gowld. |
| Modern American Art | John J.M. Bain. |
| Modern Political Theory | C.E.M. Joad. |
| On contradiction | Mao Tse Tuug. |
| On Literature | M. Gorky. |
| On poetry and parts | T.S. Eliot. |
| Origin of Spicies | Charles Davin. |
| Our Economic Problem | P.A. Wadia (K.T. Merchant) |
| Principles of criticism | W.B. Worsfold. |
| Principles of Literary criticism | I.A. Richards T.A. |
| Poetry organization party literature | Lenin. |
| Prictical criticism | I.A. Richards. |
| Preface to Lyrical Ballads | Wordsworth. |
| Problems of art of literature | Mao Tse Tung. |
| Problems of soviet literature | M.G. Scolt. |
| Problems in soviet Literature | A. Zhadamov. |
| Problems of soviet literature | K. Radek. |
| Popular poetry in Soviet Russia | G Z. Patrick. |
| Religion and society | S. Radha Krishanan. |
| Revolutionary Art | A symposium. |
| Russian Literature from Pushkin to the present day | Richard Hare. |
| Russian Literature since the Revolution | Joshna Kunitz. |
| Russian literature | P.A. Kropotkin. |
| Romanticism | Abercrombie Laxcellas. |
| Selected Philosphical works | Cherny shusky. |
| Selected philosphical works | V.G. Balinsky. |
| Selected psose | T.S. Eliot. |
| Selected Essays | T.S. Eliot. |
| Sarvodaya and communist | Randive. |
| Studies in dying culture | C. Caudwell. |
| Studies in European Realism | George Lukas. |
| Socialism and Religion | V.I. Lenin. |

| | |
|---|---|
| Some Aspects of Alankar Sastra | Raghavan. |
| Soviet Philosophy | Summer villa. |
| Soviet Literary theory and Practice during the first five year plan (1928-1932) | Harriet Borland. |
| Soviet Literature Art, Music | M. Grindea. |
| Soviet literature today | George Reavey. |
| Talks as yenon ofrm on art and literatue | Mao-tse-tung. |
| The Materialist conception of History | Plekhanov. |
| The Illusion of the epock | H.B. Aeton. |
| The philosophy of art of Karl Marx | M. Khail. |
| The Novel and the people | Relph Fox. |
| The sacred wood (Essays on poetry and critic) | T.S. Eliot. |
| The role of the individual in the History | Plekhanov. |
| The epic of Russian Literature | Marx Solnim. |
| The use of poetry and the use of criticism | T.S. Eliot. |
| The tasks of literary criticism | Fadeyer. |
| The idealogical content of Soviet Literature | A.M. Egolin. |
| The spirit of Russia. Studies in History literature and philosophy | T.G. Masayk. |
| What is marxism | Emil Burno. |
| 25 Years of Soviet Russian Literature | Gleb Struve. |

# *List of Magazines and Periodicals*

Soviet Literature.

Chinese Literature.

Science and Society.

Kommunist.

Communist Review.

Modern quarterly.

New Age.

Marxism Today.

World Marxist Review.

Inquiry.

Literary Review.